अनुक्रम

पहला प्रवचन

जीवन के द्वार की कुंजी

शांति पाठ

ओम्, शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवर्त्यमा। शं न इंद्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुक्रमः।

नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वादिष्यामि। ऋत वादिष्यामि। सत्यं वादिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्।

ओम शांतिः शांतिः शांतिः।

ओम्, हमारे लिए सूर्य देवता कल्याणकारी हों। वरुण कल्याणकारी हों, अर्यमा कल्याणकारी हों,

इंद्र और बृहस्पति भी कल्याणकारी हों, विष्णु कल्याणकारी हों।

उस ब्रह्म को नमस्कार हो। हे वायु! तुम्हारे लिए नमस्कार है, क्योंकि तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो।

मैं तुम्हें ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा; सत्य और ऋत के नाम से भी कहूंगा।

वे मेरी रक्षा करें। आचार्य की भी रक्षा करें।

ओम शांतिः शांतिः शांतिः।

मैं वही कहूंगा जो मैं जानता हूं; वही कहूंगा जो आप भी जान सकते हैं। लेकिन जानने से मेरा अर्थ है, जीना। जाना बिना जीए भी जा सकता है। तब ज्ञान होता है एक बोझ। उससे कोई डूब तो सकता है, उबरता नहीं। जानना जीवंत भी हो सकता है। तब जो हम जानते हैं, वह हमें करता है निर्भार, हलका, कि हम उड़ सकें आकाश में। जीवन ही जब जानना बन जाता है, तभी पंख लगते हैं, तभी जंजीरें टूटती हैं, और तभी द्वार खुलते हैं अनंत के।

लेकिन जानना कठिन है, ज्ञान इकट्ठा कर लेना बहुत आसान। और इसलिए मन आसान को चुन लेता है और कठिन से बचता है। लेकिन जो कठिन से बचता है वह धर्म से भी वंचित रह जाएगा। कठिन ही नहीं, जो असंभव से भी बचना चाहता है, वह कभी भी धर्म के पास नहीं पहुंच पाएगा। धर्म तो है ही उनके लिए, जो असंभव में उतरने की तैयारी रखते हैं। धर्म है जुआरियों के लिए, दुकानदारों के लिए नहीं। धर्म कोई सौदा नहीं है। धर्म कोई समझौता भी नहीं है। धर्म तो है दांव। जुआरी लगाता है धन को दांव पर, धार्मिक लगा देता है स्वयं को। वही परम धन है। और जो अपने को ही दांव पर लगाने को तैयार नहीं, वह जीवन के गुह्य रहस्यों को कभी भी जान नहीं पाएगा।

सस्ते नहीं मिलते हैं वे रहस्य, ज्ञान तो बहुत सस्ता मिल जाता है। ज्ञान तो मिल जाता है किताब में, शास्त्र में, शिक्षा में, शिक्षक के पास। ज्ञान तो मिल जाता है करीब-करीब मुफ्त, कुछ चुकाना नहीं पड़ता। धर्म में तो बहुत कुछ चुकाना पड़ता है। बहुत कुछ कहना ठीक नहीं, सभी कुछ दांव पर लगा दे कोई, तो ही उस जीवन के द्वार खुलते हैं। इस जीवन को जो दांव पर लगा दे उसके लिए ही उस जीवन के द्वार खुलते हैं। इस जीवन को दांव पर लगा देना ही उस जीवन के द्वार की कुंजी है।

लेकिन ज्ञान बहुत सस्ता है। इसलिए मन सस्ते रास्ते को चुन लेता है; सुगम को। सीख लेते हैं हम बातें, शब्द, सिद्धांत, और सोचते हैं जान लिया। अज्ञान बेहतर है ऐसे ज्ञान से। अज्ञानी को कम से कम इतना तो पता है कि मुझे पता नहीं है। इतना सत्य तो कम से कम उसके पास है।

जिन्हें हम ज्ञानी कहते हैं, उनसे ज्यादा असत्य आदमी खोजने मुश्किल हैं। उन्हें यह भी पता नहीं है कि उन्हें पता नहीं है। सुना हुआ, याद किया हुआ, कंठस्थ हो गया धोखा देता है। ऐसा लगता है, मैंने भी जान लिया।

मैं आपसे वही कहूंगा जो मैं जानता हूं। क्योंकि उसके कहने का ही कुछ मूल्य है। क्योंकि जिसे मैं जानता हूं, अगर आप तैयार हों, तो उसकी जीवंत चोट आपके हृदय के तारों को भी हिला सकती है। जिसे मैं ही नहीं जानता हूं, जो मेरे कंठ तक ही हो, वह आपके कानों से ज्यादा गहरा नहीं जा सकता। जो मेरे हृदय तक हो, उसकी ही संभावना बनती है, अगर आप साथ दें तो वह आपके हृदय तक जा सकता है।

आपके साथ की तो फिर भी जरूरत होगी; क्योंकि आपका हृदय अगर बंद ही हो, तो जबरदस्ती उसमें सत्य डाल देने का कोई उपाय नहीं है। और अच्छा ही है कि उपाय नहीं है। क्योंकि सत्य भी अगर जबरदस्ती डाला जाए तो स्वतंत्रता नहीं बनेगा, परतंत्रता बन जाएगा।

सभी जबरदस्तियां परतंत्रताएं बन जाती हैं। इसलिए इस जगत में सभी चीजें जबरदस्ती आपको दी जा सकती हैं, सिर्फ सत्य नहीं दिया जा सकता; क्योंकि सत्य कभी भी परतंत्रता नहीं हो सकता; सत्य का स्वभाव स्वतंत्रता है। इसलिए एक चीज भर है इस जगत में जो आपको कोई जबरदस्ती नहीं दे सकता; जो आपके ऊपर थोपी नहीं जा सकती; जो आपको पहनाई नहीं जा सकती, ओढ़ाई नहीं जा सकती। आपका राजी होना अनिवार्य शर्त है; आपका खुला होना, आपका ग्राहक होना, आपका आमंत्रण, आपका अहोभाव से भरा हुआ हृदय। जैसे पृथ्वी वर्षा के पहले पानी के लिए प्यासी होती है और दरारें पड़ जाती हैं--इस आशा में पृथ्वी जगह-जगह अपने ओंठ खोल देती है कि वर्षा हो--ऐसा जब आपका हृदय होता है, तो सत्य प्रवेश करता है। अन्यथा... अन्यथा सत्य आपके द्वार से भी आकर लौट जाता है। बहुत बार लौटा है, बहुत जन्मों-जन्मों में।

आप कुछ नए नहीं हैं। इस पृथ्वी पर कुछ भी नया नहीं है, सभी बहुत पुराने हैं। आप बुद्ध के चरणों में भी बैठ कर सुने हैं, आपने कृष्ण को भी देखा है, आप जीसस के पास भी उठे-बैठे हैं, लेकिन फिर भी वंचित रह गए हैं! क्योंकि कभी भी आपका हृदय तैयार नहीं था। आपके पास से बुद्ध की सरिता बहती निकल गई है, महावीर की सरिता बहती निकल गई है, आप प्यासे रह गए हैं।

आनंद रो रहा था, जिस दिन बुद्ध के प्राण छूटने को थे, और छाती पीट रहा था। और बुद्ध ने उससे कहा कि तू रोता क्यों है? जरूरत से ज्यादा मैं तेरे पास था, चालीस वर्ष! और अगर चालीस वर्ष में भी नहीं हो पाई वह घटना, तो अब रोने से क्या होगा! मेरे मिटने से इतना परेशान क्यों हो रहा है?

तो आनंद ने कहा है, इसलिए परेशान हो रहा हूं कि आप मौजूद थे और मैं न मिट पाया। अगर मैं मिट जाता तो आपको मेरे भीतर प्रवेश मिल जाता। चालीस साल नदी मेरे पास बहती थी और मैं प्यासा रह गया हूं। और अब मैं रोता हूं, क्योंकि जरूरी नहीं है कि यह नदी कब, किस जन्म में दुबारा मुझे मिलेगी।

आप कुछ नए नहीं हैं। आपने बुद्धों को दफनाया, महावीरों को दफनाया, जीसस, कृष्ण, क्राइस्ट, सबको आप दफना कर जी रहे हैं। वे हार गए आपसे, आप काफी पुराने हैं। जब से जीवन है, तब से आप हैं। अनंत-अनंत यात्रा है।

कहां हो जाती होगी चूक?

बस यहीं हो जाती है कि आप खुले ही नहीं हैं, बंद हैं।

मैं तो आपसे वही कहूंगा, जो मैंने जाना है। अगर आप भी अपने को एक खुलापन बना सकें, तो आप भी उसे जान लेंगे। और ऐसा नहीं है कि कोई कठिनाई है बहुत! एक ही कठिनाई है और वह आप हैं। कुछ लोग कुतूहल से चलते हैं। जैसे राह चलते बच्चे पूछ लेते हैं, इस वृक्ष का नाम क्या है? और अगर आप उत्तर न दें, तो तत्क्षण भूल जाते हैं कि उन्होंने पूछा भी था! वे दूसरी बात पूछने लगते हैं कि यह पत्थर यहां क्यों पड़ा है?

पूछने के लिए पूछते हैं, जानने के लिए नहीं पूछते। बिना पूछे नहीं रह सकते हैं, इसलिए पूछते हैं; जानने के लिए नहीं पूछते।

जो लोग कुतूहल से जी रहे हैं, वे अभी भी बचकाने हैं। अगर आप ऐसे ही पूछ लेते हैं कि ईश्वर क्या है, जैसे कि कोई बच्चा राह चलते दुकान देख कर पूछ लेता हो कि यह खिलौना क्या है, तो आप अभी बच्चे हैं। और बच्चा तो माफ किया जा सकता है, आप माफ नहीं किए जा सकते।

कुतूहल नहीं चलेगा। धर्म कोई खिलवाड़ नहीं है बच्चों का। और फिर उत्तर भी मिल जाए तो उससे कोई प्रयोजन नहीं है। बच्चे का मजा पूछने में है। उसने पूछा, यही उसका मजा है। आप उत्तर देंगे भी, तो उस उत्तर में उसे कोई बहुत रस नहीं है। क्या बात है?

मनसविद कहते हैं कि बच्चे नया-नया बोलना सीखते हैं, तो अपने बोलने का अभ्यास करते हैं पूछ-पूछ कर। जैसे बच्चा नया-नया चलना सीखता है, तो बार-बार उठ कर चलने की कोशिश करता है। बोलना सीखता है, तो बार-बार बोलने की कोशिश करता है। इसलिए बच्चे एक ही बात को कई दफा कहते हैं। इसीलिए कई दफा कहते हैं, क्योंकि उन्हें बोलने का एक नया अनुभव, एक नया आयाम मिला है। उस नए आयाम में वे तैर कर अभ्यास कर रहे हैं। इसलिए कुछ भी पूछते हैं, कुछ भी बोलते हैं।

अगर आप भी धर्म की दुनिया में कुछ भी पूछ रहे हैं, कुछ भी बोल रहे हैं, कुछ भी सोच रहे हैं--और कोई गहरी जिज्ञासा नहीं है, बस कुतूहल है--तो अभी आप और कुछ बुद्धों को दफनाएंगे! अभी और न मालूम कितने बुद्धों को आपके साथ मेहनत करनी पड़ेगी!

कुतूहल से सत्य का कोई संबंध नहीं है।

कुछ लोग कुतूहल से थोड़ा आगे बढ़ते हैं और जिज्ञासा करते हैं। जिज्ञासा में थोड़ी ज्यादा गहराई है। लेकिन बस थोड़ी ज्यादा। जिज्ञासा भी बहुत गहरी नहीं है, वह भी उथली है; क्योंकि जिज्ञासा है केवल बौद्धिक। और बुद्धि भी ऐसी है, जैसी खाज होती है। खुजलाएं, तो थोड़ा रस आता है। ऐसा बुद्धि को भी खाज होती रहती हैः ईश्वर है? आत्मा है? मोक्ष है? ध्यान क्या है? करने के लिए नहीं; ईश्वर क्या है, जानने के लिए नहीं--चर्चा के लिए, बातचीत के लिए। एक बौद्धिक मजा है, एक बौद्धिक व्यायाम है!

तो लोग ऊंची बातें करते हैं, लेकिन उन बातों पर कभी भी कोई दांव नहीं लगाते। ईश्वर है या नहीं, इससे कोई प्रयोजन नहीं है। और ईश्वर हो तो, ईश्वर न हो तो, वे जैसे हैं वैसे ही बने रहते हैं।

यह बड़े मजे की बात है। एक आदमी मानता है कि ईश्वर है और एक आदमी मानता है कि ईश्वर नहीं है, और दोनों की जिंदगी बराबर एक सी! कोई गाली दे तो उसे भी क्रोध आता है जो मानता है कि ईश्वर है और उसे भी क्रोध आता है जो मानता है कि ईश्वर नहीं है! बल्कि कई दफा तो यह देखा जाता है कि जो मानता है ईश्वर है, उसे ज्यादा क्रोध आता है! क्योंकि जो मानता है कि ईश्वर नहीं है, वह ज्यादा से ज्यादा क्या कर सकता है आपका? गाली दे सकता है, मार सकता है, हत्या कर सकता है! लेकिन जो मानता है ईश्वर है, वह आपको नर्क तक में सड़ा सकता है! उसके पास ज्यादा उपाय हैं क्रोधित होने के।

अगर ईश्वर के मानने और न मानने से कोई भी अंतर जीवन में न पड़ता हो, तो उसका अर्थ है कि यह ईश्वर से कोई संबंध नहीं है, बौद्धिक बातचीत है। ऐसी जिज्ञासा हो तो आदमी दार्शनिक हो जाता है, चिंतन-मनन करने लगता है, शास्त्र अध्ययन करने लगता है, बहुत सिद्धांत इकट्ठे कर लेता है, पक्ष में, विपक्ष में सोच लेता है, वाद-विवाद करता है, शास्त्रार्थ करता है, लेकिन जीता कभी नहीं।

अगर आप भी सिर्फ जिज्ञासा से भरे हैं, तो यात्रा नहीं होगी। जिज्ञासा से भरे हुए लोग वे हैं, जो मील के पत्थर के पास बैठ जाते हैं और पूछते हैं, मंजिल क्या है? कितनी दूर है? और सदा यही पूछते हैं, लेकिन कभी उठ कर चलते नहीं।

जानते तो आप भी कितना हैं! क्या कमी है जानने में! करीब-करीब सभी कुछ जानते हैं। जो बुद्ध ने जाना हो, महावीर ने, कृष्ण ने जाना हो, वह सभी आप भी तो जानते हैं! गीता में पढ़ कर आपको ऐसा नहीं लगता कि ये बातें तो हमें भी मालूम हैं?

मालूम आपको भी हैं, पर सिर्फ बुद्धि तक हैं। आपके हृदय तक उनका बीज नहीं पहुंचा है। और बुद्धि पर रखे हुए विचार वैसे ही होते हैं, जैसे पत्थर पर कोई बीज को रख दे। बीज तो होता है, लेकिन पत्थर पर रखा रहता है। अंकुर नहीं फूट सकता। अंकुर फूटना हो तो बीज को पत्थर से गिरना पड़े, जमीन खोजनी पड़े। और जमीन की भी ऊपर की सतह ठीक नहीं है, क्योंकि और गीली जगह चाहिए। तो थोड़ा जमीन के भीतर पहुंचना पड़े; जहां थोड़ी पानी की सुविधा हो, थोड़ा रस बहता हो।

बुद्धि पर पत्थर की तरह बीज रख जाते हैं। हृदय तक जब तक न गिर जाएं, तब तक गीली जगह नहीं मिलती। हृदय में थोड़ा रस बहता है; थोड़ा प्रेम। वहां थोड़ा पानी है। वहां कोई बीज गिरे तो अंकुरित होता है, नहीं तो कभी अंकुरित नहीं होता।

जिज्ञासु व्यक्तियों के पास बहुत कुछ होता है, लेकिन पत्थर पर रखे हुए बीजों की भांति। जमीन भी ज्यादा दूर नहीं होती, लेकिन थोड़ी यात्रा भी मुश्किल है। चलना बिल्कुल नहीं है, तो पत्थर पर ही बीज रखा रह जाता है। इतनी यात्रा तो करनी ही पड़ेगी कि बीज पत्थर से नीचे गिरे, जमीन पर आए, जमीन में जगह खोजे, थोड़ी गीली भूमि को पाए, थोड़ा छिप जाए अंधेरे में।

ध्यान रहे, जगत में जो भी जन्म पाता है, वह गहन मौन, एकांत, अंधेरे को चाहता है। बुद्धि में तो जितनी चीजें रखी हैं, वे सब खुले प्रकाश में रखी हैं। वहां अंकुर नहीं होते। हृदय आपके भीतर गीली जमीन है, छिपी हुई। वहां कुछ पैदा होता है।

इसलिए जो सिर्फ जिज्ञासा से जीते हैं, वे विद्वान बन जाते हैं, पंडित बन जाते हैं, ज्ञानी बन जाते हैं, लेकिन कुछ अंकुरित नहीं होता उनके भीतर; कोई नया जन्म, कोई नया जीवन, कोई नए फूल--कुछ भी नहीं।

एक और--जिससे संबंध है हमारा--एक और भी दिशा है खोज की; उसे हम कहते हैं, मुमुक्षा। जानने की फिक्र नहीं है, जीने की फिक्र है। जानने की फिक्र नहीं है, होने की फिक्र है। यह सवाल नहीं है कि ईश्वर है, सवाल यह है कि क्या मैं ईश्वर हो सकता हूं? अगर ईश्वर हो भी और मैं ईश्वर न हो सकूं, तो कोई सार नहीं है। सवाल यह नहीं है कि मोक्ष है, सवाल यह है कि क्या मैं भी मुक्त हो सकता हूं? अगर मैं मुक्त हो ही न सकूं और मोक्ष हो भी कहीं, तो क्या अर्थ है? यह बात नहीं है कि आत्मा है भीतर या नहीं, हो या न हो, सवाल असली यह है कि क्या मैं आत्मा हो सकता हूं?

मुमुक्षा है होने की खोज। और जब कोई होना चाहता है, तब दांव पर लगना पड़ता है। इसलिए कहता हूं, धर्म है जुआरियों का काम। वही कहूंगा जो मैं जानता हूं, जो जीया है। अगर आप तैयार हुए दांव पर लगाने को, तो जो मेरा अनुभव है वह आपका अनुभव भी बन सकता है।

अनुभव किसी के नहीं होते, जो भी लेने को तैयार हो, उसी के हो जाते हैं। सत्य पर किसी का कोई अधिकार नहीं। जो भी मिटने को राजी है, वही उसका मालिक हो जाता है। सत्य तो उसका है, जो भी उसे मांगने की तैयारी दिखलाता है; जो भी अपने हृदय के द्वार खोलता है और उसे पुकारता है।

इस उपनिषद को इसीलिए चुना है। यह उपनिषद अध्यात्म का सीधा साक्षात्कार है। सिद्धांत इसमें नहीं हैं, इसमें सिद्धों का अनुभव है। इसमें उस सब की कोई बातचीत नहीं है जो कुतूहल से पैदा होती है, जिज्ञासा से पैदा होती है। नहीं, इसमें तो उनकी तरफ इशारे हैं जो मुमुक्षा से भरे हैं, और उनके इशारे हैं जिन्होंने पा लिया है।

कुछ ऐसे लोग भी हैं कि जिन्होंने नहीं पाया, लेकिन फिर भी मार्ग-दर्शन देने का मजा नहीं छोड़ पाते। मार्ग-दर्शन में बड़ा मजा है। सारी दुनिया में अगर सबसे ज्यादा कोई चीज दी जाती है, तो वह मार्ग-दर्शन है! और सबसे कम अगर कोई चीज ली जाती है, तो वह भी मार्ग-दर्शन है! सभी देते हैं, लेता कोई भी नहीं है! जब भी आपको मौका मिल जाए किसी को सलाह देने का, तो आप चूकते नहीं। जरूरी नहीं है कि आप सलाह देने योग्य हों। जरूरी नहीं है कि आपको कुछ भी पता हो, जो आप कह रहे हैं। लेकिन जब कोई दूसरे को सलाह देनी हो, तो शिक्षक होने का मजा छोड़ना बहुत मुश्किल हो जाता है।

शिक्षक होने में मजा क्या है? आप तत्काल ऊपर हो जाते हैं मुफ्त में और दूसरा नीचे हो जाता है। अगर कोई आपसे दान मांगने आए, तो दो पैसे देने में कितना कष्ट होता है! क्योंकि कुछ देना पड़ता है जो आपके पास है। लेकिन सलाह देने में जरा भी कष्ट नहीं होता; क्योंकि जो आपके पास है ही नहीं, उसको देने में कष्ट क्या! आपका कुछ खो ही नहीं रहा है। बल्कि आपको कुछ मिल रहा है। मजा मिल रहा है। अहंकार मिल रहा है। आप भी सलाह देने की हालत में हैं आज, और दूसरा लेने की हालत में है। आप ऊपर हैं, दूसरा नीचे है।

इसलिए कहता हूं कि इस उपनिषद में कोई सलाह, कोई मार्ग-दर्शन देने का मजा नहीं है, बड़ी पीड़ा है। क्योंकि उपनिषद का ऋषि जो दे रहा है, वह जान कर दे रहा है। वह बांट रहा है कुछ--बहुत हार्दिक, बहुत आंतरिक। संक्षिप्त इशारे हैं, लेकिन गहरे हैं। बहुत थोड़ी सी चोटें हैं, लेकिन प्राण-घातक हैं। और अगर राजी हों, तो तीर सीधा हृदय में चुभ जाएगा और जान लिए बिना न रहेगा। जान ही ले लेगा।

इसलिए थोड़ा सावधान! थोड़ा सचेत! क्योंकि यह सौदा ही खतरनाक है। इसमें पागल हुए बिना कोई मार्ग ही नहीं है। इसमें अपने को मिटाए बिना पाने का कोई उपाय ही नहीं है। यहां तो खोने वाले ही बस पाने वाले बनते हैं। और इसीलिए इस उपनिषद को भी चुन लिया है। ऐसे तो सीधा ही आपसे कह सकता हूं, कोई कारण इस उपनिषद को चुनने का नहीं है--बहाना! आड़! क्योंकि तीर सीधा मारो, आदमी बच सकता है; उपनिषद की आड़ से थोड़ी सुविधा रहेगी। इसलिए चुन लिया है कि आपको ऐसा भी पता नहीं लगेगा कि मैं कोई सीधा ही आपको तीर मार रहा हूं! तो बचने का जरा उपाय कम हो जाता है। सभी शिकारी जानते हैं कि थोड़ी आड़ से शिकार ठीक होता है। यह उपनिषद सिर्फ आड़ है, और इससे कुछ लेना-देना ज्यादा नहीं है।

जो मैंने जाना है वही कहूंगा, लेकिन उसमें और उपनिषद में कोई अंतर नहीं है; क्योंकि इस उपनिषद के ऋषि ने जो कहा है वह जान कर ही कहा है।

यह उपनिषद अध्यात्म के सूक्ष्मतम रहस्यों का उदघाटन है। लेकिन अगर मैं उपनिषद पर ही बात करता रहूं तो डर है कि बात बात ही रह जाए। इसलिए चर्चा तो पृष्ठभूमि होगी, इस चर्चा के साथ-साथ प्रयोग! जो कहा है, जो इस ऋषि ने देखा है या जो मैं कहता हूं मैंने देखा है, उस तरफ आपके चेहरे को मोड़ने की कोशिश, उस तरफ आपकी भी आंखें उठानीं, उस तरफ आपकी भी आंखें उठाने का प्रयास--वही मुख्य होगा। उपनिषद की बात तो सिर्फ हवा पैदा करने के लिए होगी कि आपके चारों तरफ वे तरंगें पैदा हो जाएं कि आप भूल जाएं बीसवीं सदी को, पहुंच जाएं उस लोक में जहां यह ऋषि रहा होगा। मिट जाए यह जगत जो चारों तरफ बहुत बेरौनक और बहुत कुरूप हो गया है, और याद आ जाए उन दिनों की जब यह ऋषि जिंदा रहा होगा। एक हवा, एक वातावरण, बस उसके लिए उपनिषद। पर उतना काफी नहीं है--जरूरी है, काफी नहीं है।

तो जो मैं कहता हूं, अगर आप उसको सुन कर ही रुक जाते हैं, तो मैं मानूंगा आपने सुना भी नहीं; क्योंकि सुन कर जो चलता नहीं है, मैं नहीं मान सकता कि उसने सुना है। अगर आप सोचते हैं कि सुन कर आपकी समझ में आ गया--इतनी जल्दी मत करना। सुन कर समझ में आता होता तो हम कभी के समझ गए होते। सुन कर ही समझ में आता होता तो इस दुनिया में समझदारों की कमी न होती; नासमझ खोजना मुश्किल हो जाता। मगर नासमझ ही नासमझ हैं!

सुन कर कुछ भी समझ में नहीं आता। सुन कर सिर्फ शब्दों पर मुट्ठियां बंध जाती हैं। सुन कर नहीं, करके ही समझ में आता है। इसलिए सुनना करने के लिए--समझने के लिए नहीं। सुनना करने के लिए, करना समझने के लिए। सुन कर ही सीधा मत सोच लेना कि समझ गए। वह बीच की कड़ी के बिना कोई भी उपाय नहीं है, कोई भी रास्ता नहीं है। लेकिन मन कहता है कि समझ गए, अब करने की क्या जरूरत है!

मंजिलें चल कर पहुंची जाती हैं। सब भी समझ लिया हो, यात्रा-पथ पूरा स्मृति में आ गया हो, पूरा नक्शा जेब में हो, फिर भी बिना चले कोई मंजिल तक कभी पहुंचता नहीं है।

लेकिन सपना देखा जा सकता है। कोई आदमी यहीं सो जाए, और सपना देख सकता है कहीं भी पहुंचने का। मन सपना देखने में बड़ा कुशल है।

और ऐसा मत सोचना कि आप ही ऐसे सपने देखते हैं। जिनको आप बहुत बुद्धिमान कहते हैं, वे भी इसी तरह के सपने देखते रहते हैं। साधु हैं, संन्यासी हैं, महात्मा हैं; वर्षों-वर्षों से खोज में लगे हैं, लेकिन कहीं इंच भर नहीं पहुंचते। यात्रा ही नहीं करते! वे जो वर्षों से खोज में लगे हैं, वह सारी की सारी खोज वर्तुलाकार है। बुद्धि में ही वर्तुल बन जाता है, भंवर बन जाता है। उसी भंवर में घूमते रहते हैं। फिर उस भंवर में सब समा जाता है--वेद समा जाते हैं, उपनिषद समा जाते हैं; कुरानें, बाइबिलें समा जाती हैं--उस भंवर में सब समा जाता है, लेकिन एक इंच भी गति नहीं होती।

उपनिषद की हम चर्चा करेंगे--उपनिषद समझाने के लिए नहीं, उपनिषद बन जाने के लिए। यहां सुन कर कुछ कंठस्थ हो जाए और आप भी बोलने लगें, तो मैंने आपका नुकसान किया; मैं फिर आपका मित्र साबित न हुआ। यहां सुन कर आप, जो सुना है वह बोलने लग जाएं, तो कोई मूल्य नहीं है। यहां सुन कर आपको भी वह हो जाए, आप भी वह देख लें, वह आंख आपकी भी खुल जाए--तो ही।

ऐसा समझें, एक कवि गीत गाता है किसी फूल के संबंध में। गीत में बड़ा माधुर्य हो सकता है, छंद हो सकता है, लय हो सकती है, संगीत हो सकता है। गीत की अपनी खूबी है।

लेकिन गीत कितना ही गाए उस फूल को, और कितना ही गुनगुनाए, तो भी गीत गीत है, फूल नहीं है। और लाख हो गति, और लाख हो छंद, तो भी गीत गीत है, फूल की सुगंध नहीं है। और आप उसी गीत से तृप्त हो जाएं तो आप भटक गए।

उपनिषद गीत है किसी फूल का, जिसे आपने देखा नहीं अभी। गीत गजब का है, गाने वाले ने देखा है। पर गीत से तृप्त मत हो जाना, गीत फूल नहीं है।

ऐसा भी हो जाता है कि कभी-कभी आप फूल के पास भी पहुंच जाते हैं--कभी-कभी! कभी-कभी फूल की एक झलक भी मिल जाती है--अचानक, आकस्मिक! क्योंकि फूल कोई विजातीय नहीं है, आपका स्वभाव है; आपके बिल्कुल निकट है, किनारे-किनारे है। कभी-कभी छू जाता है--बिना आपके, बावजूद आपके। कभी-कभी फूल एक झलक दे जाता है। कोई बिजली कौंध जाती है। किसी क्षण में, आकस्मिक, अनुभव में आ जाता हैः कुछ और भी है इस जगत में, यही जगत सब कुछ नहीं है। इस पथरीले जगत के बीच कुछ और भी है, जो पत्थर नहीं फूल है--जीवंत, खिला हुआ। जैसे किसी स्वप्न में देखा हो या अंधेरी रात में चमकी हो बिजली और कुछ दिखा हो और फिर खो गया हो--ऐसा कभी-कभी आपके जीवन में भी हो जाता है। कवियों के जीवन में अक्सर हो जाता है। चित्रकारों के जीवन में अक्सर हो जाता है। फूल की झलक बिल्कुल पास आ जाती है।

फिर भी, फूल कितने ही पास हो और कितनी ही झलक मिल गई हो, पास होना भी दूर होना ही है। और कितने ही पास आ जाए फूल, तो भी फासला तो बना ही रहता है। और मैं बिल्कुल हाथ से भी छू लूं फूल को, तो भी पक्का नहीं है कि जो अनुभव मुझे होता है वह फूल का है, क्योंकि हाथ खबर लाने वाला है। और हाथ अगर बीच में गलत खबर दे दे, तो कुछ भरोसा नहीं। और हाथ सही ही खबर देगा, इसको मानने का कोई कारण

नहीं। फिर हाथ जो खबर देगा, वह फूल के संबंध में कम और हाथ के संबंध में ज्यादा होगी। फूल ठंडा मालूम पड़ता है, जरूरी नहीं कि फूल ठंडा हो। हो सकता है हाथ गरम हो, इसलिए फूल ठंडा मालूम पड़ता है। खबर हाथ के संबंध में है; क्योंकि खबर जब भी किसी माध्यम से आती है तो सापेक्ष होती है। पक्का नहीं हुआ जा सकता।

पोपोफ का मैं एक संस्मरण पढ़ रहा था। पोपोफ एक साधिका थी और गहरी साधिका थी। और पियोत्तर दिमित्रोविच आसपेंस्की के पास साधना करती थी। एक दिन बैठी थी पास, एक सज्जन ने आकर आसपेंस्की से पूछा कि ईश्वर है या नहीं? तो आसपेंस्की ने कहा कि ईश्वर? नहीं, ईश्वर नहीं है!

फिर आसपेंस्की थोड़ी देर रुका और उसने कहा, लेकिन मैं कोई गारंटी भी नहीं कर सकता, क्योंकि जो भी मैं जानता हूं वह सब माध्यम से जाना गया है। कभी आंख से देखा है, लेकिन आंख का भरोसा क्या! कभी कान से सुना है, लेकिन कान गलत सुन सकते हैं! कभी हाथ से छुआ है, लेकिन हाथ का क्या कहना! अभी तक सीधा नहीं देखा है। अभी तक आमने-सामने नहीं हुआ हूं; इसलिए कोई गारंटी भी नहीं है। अभी तक जो भी जाना है, उसमें मुझे ईश्वर का कोई अनुभव नहीं हुआ। लेकिन जरूरी नहीं है कि ईश्वर न हो। इससे सिर्फ मेरी खबर मिलती है कि मेरे अनुभव क्या हैं। इसलिए मैं कोई गारंटी नहीं कर सकता कि नहीं ही है। इसलिए मुझ पर भरोसा करके मत रुक जाना, खोजना।

जब भी माध्यम से कुछ घटता है, तो भरोसे का नहीं है। अगर फूल के बिल्कुल पास भी पहुंच जाएं, तो भी आंख देखती है, हाथ छूते हैं, सुगंध नाक में आती है, यह भी दूरी का अनुभव है।

तो कभी-कभी कोई कवि उस परम फूल के इतने पास पहुंच जाता है कि उसके गीत में उतर आती है गूंज उसकी। लेकिन फिर भी बुद्ध नहीं है वह, महावीर नहीं है वह।

महावीर कौन है? बुद्ध कौन है?

बुद्ध है वह चैतन्य, जो फूल ही हो गया; इतनी भी दूरी न रही कि फूल को देखा हो--फूल ही हो गया। फूल होकर ही पूरी तरह जाना जा सकता है, क्या है।

उपनिषद के ऋषि की बात है। गीत है किसी फूल के संबंध में। उसे गुनगुनाना। मिठास है बड़ी उसमें, स्वाद है उसमें बहुत। लेकिन वह फूल नहीं है, गीत ही है। अगर प्रयास करेंगे तो कभी-कभी झलक भी मिलेगी।

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं, ध्यान में बड़ी झलक मिली, लेकिन फिर खो गई। अनंत प्रकाश हो गया था, फिर खो गया। आनंद ही आनंद हो गया था, लेकिन अब कहां है? अब खोजते हैं और नहीं मिलता।

झलक का मतलब है, पास पहुंच गए थे। झलक तो खो ही जाएगी। इसलिए ध्यान ज्यादा से ज्यादा झलक ही दे सकता है। उस पर भी मत रुक जाना, कि उसी झलक को पकड़ कर बार-बार खोजते रहना है। ध्यान का तो मूल्य ही इतना है कि झलक मिल जाए। फिर आगे जाना है समाधि में, ताकि आप फूल ही हो जाएं।

ध्यान में है झलक, समाधि में है हो जाना। झलकों पर मत रुकना। झलकें बड़ी प्रीतिकर हैं। सारा जगत बासा मालूम पड़ने लगता है--एक झलक ध्यान में मिल जाए उस जीवंत की, फूल की, उस खिलावट की जो भीतर है, तो सारा जगत फीका और व्यर्थ हो जाता है।

लेकिन फिर कुछ लोग झलकों को पकड़ लेते हैं और उन्हीं को दोहराने लगते हैं और सोचते हैं सब हो गया। नहीं, जब तक आप ही न हो जाएं, ईश्वर ही जब तक आप न हो जाएं, तब तक भरोसा मत करना कि ईश्वर है। हो सकते हैं; क्योंकि हैं ही। खोलना है जरा, उघाड़ना है जरा; छिपे हैं, मौजूद हैं अभी और यहीं; थोड़े से वस्त्र हैं, और बड़े झीने वस्त्र हैं कि चाहें तो अभी उतार कर फेंक दें और नग्न हो जाएं, और ईश्वर हो जाएं। लेकिन बड़ी पकड़ है; झीने तो हैं, लेकिन पकड़ गहरी है।

क्यों है यह पकड़ इतनी? यह पकड़ है, क्योंकि हम सोचते हैं, ये वस्त्र ही हमारा होना है, यही हम हैं; इसके अलावा हमें कुछ और किसी अस्तित्व का पता नहीं।

इस उपनिषद में इशारे होंगे उस अस्तित्व के, जो वस्त्रों के पार है। और इस उपनिषद के साथ-साथ हम करेंगे ध्यान, ताकि मिले झलक। और आशा बांधेंगे समाधि की, ताकि हम भी हो जाएं वही, जिसे हुए बिना न कोई संतोष है, न कोई शांति है, न कोई सत्य है।

उपनिषद शुरू होता है प्रार्थना से। प्रार्थना है समस्त जगत से।

'सूर्य कल्याणकारी हों। वरुण, अर्यमा, इंद्र और बृहस्पति, विष्णु कल्याणकारी हों। उस ब्रह्म को नमस्कार हो। हे वायु! तुम्हारे लिए नमस्कार, क्योंकि तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। मैं तुम्हें ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा। सत्य और ऋत, वे सब मेरी रक्षा करें, आचार्य की भी।'

इस प्रार्थना से शुरू होता है।

धर्म की यात्रा प्रार्थना से शुरू होगी ही।

प्रार्थना का अर्थ है--आस्था, आशा।

प्रार्थना का अर्थ है--इस सारे जगत के साथ हमारे जुड़े हुए होने का भाव।

प्रार्थना का अर्थ है--मुझ अकेले से क्या होगा!

मुझ अकेले से होता तो हो गया होता। मुझ अकेले से तो क्षुद्र भी नहीं सध पाया! चाहा था धन मिल जाए, वह भी नहीं मिला! चाहा था पद मिल जाए, वह भी नहीं मिला! कैसी-कैसी चाहें की थीं, बड़ी छोटी थीं, वे भी पूरी न हुईं। मुझ अकेले से तो संसार भी न सधा, तो सत्य की यह महायात्रा मुझ अकेले से हो सकेगी? अकेले-अकेले तो मैं संसार में भी हार गया हूं।

सभी हारे हुए हैं संसार में। जो जीते हुए दिखाई पड़ते हैं, वे भी। बस वे दूसरों को जीते हुए दिखाई पड़ते हैं, खुद तो बिल्कुल हारे हुए हैं।

आप भी अपने को हारे हुए दिखाई पड़ते होंगे, औरों को तो आप भी जीते हुए दिखाई पड़ते हैं। आपसे भी पीछे लोग हैं, जो आपको समझते हैं, पा लिया आपने, जीत गए संसार में। लेकिन भीतर से अगर हम आदमी को देखें तो एक-एक आदमी हारा हुआ है।

संसार पराजय की लंबी कथा है; वहां जीत होती ही नहीं। वहां जीत हो ही नहीं सकती; वह संसार का स्वभाव नहीं है। वहां हार ही नियति है। किसी की नहीं, किसी व्यक्ति की नहीं, संसार में होने की नियति ही हार है। वहां हारना ही होगा। वहां कोई कभी जीतता नहीं है।

वहां हम नहीं जीत पाए जहां क्षुद्र था, स्वप्न था, शंकर कहते हैं माया है। वह माया में भी हार गए! सपना था, भ्रम था, वहां भी तो जीत न पाए! जब भ्रम में भी हार गए, सपने में भी न जीते, तो यथार्थ में, सत्य में अकेले से क्या होगा?

प्रार्थना का अर्थ है, संसार में पराजित हुए व्यक्ति का यह अनुभव कि जन्मों-जन्मों तक चेष्टा करके मैं हार गया क्षुद्र में, तो विराट में मेरी सामर्थ्य?

इसलिए प्रार्थना।

इसलिए सारे जगत को पुकारा है ऋषि ने कि मुझे साथ देना।

सूर्य को पुकारा है, वरुण को पुकारा है।

ये सब नाम हैं, प्रतीक हैं जीवन की समस्त शक्तियों के।

सूर्य को पहले पुकारा है, क्योंकि सूर्य हमारा जीवन है। उसके बिना हम नहीं होंगे। हमारे भीतर सूर्य ही जीता है, जलता है। उधर सूर्य बुझ जाए, यहां हम बुझ जाएं। सूर्य ही हमारा प्राण है, इसलिए पुकारा।

कहाः 'वायु को नमस्कार है।'

विशेष रूप से वायु को नमस्कार कहा है इस प्रार्थना में।

'क्योंकि तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो।'

अजीब सी बात है! थोड़ा सोचें। बड़े मजे की बात है; क्योंकि वायु है बिल्कुल अप्रत्यक्ष, और सब चीजें प्रत्यक्ष हैं। सूर्य को कहा होता प्रत्यक्ष ब्रह्म हो, जीते-जागते, जलते, प्रखर--समझ में आता। सूर्य को नहीं कहा प्रत्यक्ष ब्रह्म, कहा वायु को जो बिल्कुल दिखाई पड़ती नहीं, बिल्कुल अप्रत्यक्ष है।

कहां है प्रत्यक्ष वायु? सिर्फ अनुमान है कि है, लगता है कि है, भासता है कि है, दिखाई तो पड़ती नहीं; आंख के सामने कहां है? प्रत्यक्ष का मतलब है, आंख के सामने है जो। आंख के सामने वायु बिल्कुल नहीं है। पत्थर, पहाड़, सब आंख के सामने हैं, वायु नहीं है।

लेकिन ऋषि कहता हैः 'हे वायु! नमस्कार तुम्हें, क्योंकि तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो।'

इसलिए कहा कि वायु जैसे दिखाई नहीं पड़ती और है, और आंख को दिखाई नहीं पड़ती फिर भी आंख को छू रही है प्रतिपल--ऐसा ही परम सत्य है, दिखाई नहीं पड़ता, छू रहा है प्रतिपल।

वायु दिखाई नहीं पड़ती, क्योंकि हमारे पास देखने वाली आंख नहीं है। वायु तो यहां है। वायु के बिना तो हम भी नहीं हो सकते हैं। वही तो हमारी श्वास में हमें सम्हाले है। उसका ही आवागमन तो हमारा सारा जीवन है। जो इतनी निकट है, श्वास है जो हमारी, वह भी दिखाई नहीं पड़ती; क्योंकि हमारे पास आंखें बड़ी स्थूल हैं। तो हम जो बहुत मोटा-मोटा है, स्थूल-स्थूल है, वह देख लेते हैं; जो सूक्ष्म है, वह हमें दिखाई नहीं पड़ता।

वायु सूक्ष्मतम है, हमारे सामने मौजूद है; भीतर मौजूद है, बाहर मौजूद है; रोएं-रोएं में मौजूद है--और दिखाई नहीं पड़ती! इसलिए कहा कि तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो, तुम ठीक ब्रह्म जैसी हो। वह भी यहां मौजूद है और दिखाई नहीं पड़ता! और रोएं-रोएं में वही समाया है, रोआं-रोआं वही है और फिर भी उसका कोई पता नहीं चलता! इसलिए वायु को नमस्कार किया है, कि हम वायु को तो जानते हैं, ब्रह्म को नहीं जानते। वायु से एक धागा जोड़ा है कि ब्रह्म भी ठीक वायु जैसा है।

'इसलिए मैं तुम्हें प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा', ऋषि कहता है वायु को, 'सत्य और ऋत के नाम से भी कहूंगा।' क्योंकि तुम ठीक उस जैसी हो--जो है और जिसका हमें पता नहीं है; जो हम स्वयं हैं और जिसका हमें पता नहीं है; जो अभी और यहां सदा से मौजूद है और हमें उसका पता नहीं है। लेकिन यह खोज पूरी हो सके, अगर सब देवता रक्षा करें।

देवता से अर्थ है, सदा से, जीवन की अनंत-अनंत शक्तियां। और जीवन है एक विराट जाल अनंत शक्तियों का। आपका होना भी एक विराट जाल है अनंत शक्तियों का। मिलता है आपमें सूर्य, मिलता है वरुण, मिलता है इंद्र, मिलती है वायु, मिलती है अग्नि, मिलती है पृथ्वी, सब कुछ मिलता है, आकाश, सब आपमें मिलते हैं। अगर एक व्यक्ति को हम पूरा का पूरा जान लें, तो हमने बीज-रूप में समस्त अस्तित्व को जान लिया। सब कुछ उसमें है। सबका दान उसमें है। सब मिल कर ही उसका अस्तित्व है। इन सबकी सहायता की प्रार्थना है।

लेकिन क्या सूर्य सहायता करेगा? यह सवाल उठता ही है। प्रार्थना भी की तो क्या सूर्य सहायता करेगा? प्रार्थना भी की तो क्या वायु सहायक हो जाएगी? प्रार्थना भी की तो पृथ्वी क्या सहायता करेगी?

पृथ्वी की सहायता और सूर्य की सहायता का सवाल नहीं है; आपने प्रार्थना की, यही बड़ी सहायता है। इसे थोड़ा ठीक से समझ लें। कोई सूर्य आकर आपको सहायता नहीं करेगा। लेकिन आपने प्रार्थना की, इसका जो परिणाम है वह सूर्य पर नहीं होगा, आप पर होगा। क्योंकि प्रार्थना करने वाला चित्त हो जाता है विनम्र। प्रार्थना करने वाला चित्त हो जाता है असहाय। प्रार्थना करने वाला चित्त स्वीकार कर लेता है इस बात को कि मुझ अकेले से नहीं होगा। प्रार्थना करने वाला चित्त मिटने को तैयार हो जाता है। प्रार्थना करने वाला चित्त अपने अहंकार को, इस भाव को कि मैं कर सकता हूं, छोड़ देता है। इसके परिणाम होते हैं।

प्रार्थना का सारा परिणाम आप पर होता है। प्रार्थना से सूर्य नहीं बदलता, आप बदलते हैं। प्रार्थना से जगत नहीं बदलता, आप बदलते हैं। लेकिन आपके बदलते ही दूसरे जगत में आपका प्रवेश हो जाता है।

प्रार्थना आमतौर से जब आप करते हैं तो यही सोचते हैं कि कोई कुछ करेगा, इसलिए प्रार्थना कर रहे हैं। न, प्रार्थना है एक उपाय, एक डिवाइस। हाथ तो आप जोड़ते हैं किसी और के सामने, लेकिन जो परिणाम होता है वह होता है भीतर--जिसने हाथ जोड़े हैं, उस पर।

इसलिए बड़ी कठिनाई होती है। अगर आप वैज्ञानिक के सामने कहें कि हे सूर्य, सहायता कर! तो वह कहेगा, मूढ़ता की बात है; क्या सूर्य तुम्हारी सहायता करेगा? और कब किसकी सहायता की? कि हे इंद्र, वर्षा कर! पागल हो गए हो? प्रार्थनाओं से कहीं वर्षाएं हो गई हैं?

वैज्ञानिक ठीक कहता है। न तो सूर्य आपकी सुनेगा, न बादल आपकी सुनेंगे, न हवा आपकी सुनेगी; कोई आपकी नहीं सुनेगा। लेकिन आपने पुकारा, यह आपको बदल जाएगा। आपने कितनी जोर से पुकारा, उतनी गहरी हूक आपके भीतर प्रवेश हो जाएगी। अगर आपके पूरे प्राण पुकार उठे, तो आप दूसरे ही आदमी हो जाएंगे।

इसलिए है प्रार्थना।

दूसरा प्रवचन

परमात्मा मझधार है

अंतः शरीरे निहतो गुहायामज एको नित्यमस्य। पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमंतरे संचरन यं पृथिवी न वेद। यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरे संचरन यमापो न विदुः। यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरे संचरन यं तेजो न वेद। यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरे संचरन यं वायुर्न वेद। यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरे संचरन यमाकाशो न वेद। यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरे संचरन यं मनो न वेद। यस्य बुद्धिः शरीरं यो बुद्धिमन्तरे संचरन यं बुद्धिर्न वेद। यस्याहंकारः शरीरं योऽहंकारमन्तरे संचरन यमहंकारो न वेद। यस्य चित्त शरीरं यश्चित्तमन्तरे संचरन यमचित्तं न वेद। यस्याव्यक्तं शरीरं योऽव्यक्तमन्तरे संचरन यमव्यक्तं न वेद। यस्याक्षरं शरीरं योऽक्षरमन्तरे संचरन यमक्षरं न वेद। यस्य मृत्युः शरीरं यो मृत्युमन्तरे संचरन यं मृत्युर्न वेद। स एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव नारायणः। अहं समेति यो भावो देहाक्षाद्यवनात्मनि। अध्यासो यं निरस्तव्यो विदुषा ब्रह्मनिष्ठया।। 1।।

शरीर के भीतर हृदय रूपी गुहा में एक अजन्मा नित्य रहता है। इसका शरीर पृथ्वी है, वह पृथ्वी के भीतर रहता है, पर पृथ्वी उसे जानती नहीं। जल जिसका शरीर है और जल के अंदर जो रहता है, पर जल जिसे जानता नहीं। तेज जिसका शरीर है और जो तेज के भीतर रहता है, तो भी तेज जिसको जानता नहीं। जो वायु के भीतर रहता है और वायु जिसका शरीर है, पर वायु जिसे जानता नहीं। आकाश जिसका शरीर है और जो आकाश के भीतर रहता है, पर आकाश जिसे जानता नहीं। मन जिसका शरीर है और जो मन के भीतर रहता है, तो भी मन जिसको जानता नहीं। बुद्धि जिसका शरीर है और बुद्धि के भीतर जो रहता है, तो भी बुद्धि जिसको जानती नहीं। अहंकार जिसका शरीर है और जो अहंकार के भीतर रहता है, तो भी अहंकार जिसको जानता नहीं। चित्त जिसका शरीर है और चित्त के भीतर जो रहता है, तो भी चित्त जिसको जानता नहीं। अव्यक्त जिसका शरीर है और अव्यक्त के भीतर जो रहता है, तो भी अव्यक्त जिसको जानता नहीं। अक्षर जिसका शरीर है और अक्षर के भीतर जो रहता है, तो भी अक्षर जिसको जानता नहीं। मृत्यु जिसका शरीर है और मृत्यु के अंदर जो रहता है, तो भी मृत्यु जिसे जानती नहीं। वही इन सर्वभूतों का अंतरात्मा है, उसके पाप नष्ट हो गए हैं और वही एक दिव्य देव नारायण है।

देह, इंद्रियां, आदि अनात्म पदार्थ हैं, इनके ऊपर मैं-मेरा ऐसा जो भाव होता है, वह अध्यास (भ्रम) है, इसलिए विद्वान को ब्रह्मनिष्ठा द्वारा इस अध्यास को दूर करना चाहिए।

सागर की मछली सागर से अपरिचित रह जाती है। इसलिए नहीं कि सागर बहुत दूर है, इसीलिए कि सागर बहुत निकट है। जो दूर है वह दिखाई पड़ता है, जो निकट है वह आंख से ओझल हो जाता है। दूर को जानना कठिन नहीं, निकट को जानना ही कठिन है। और जो निकट से भी निकट है, उसे जानना असंभव है। इसे थोड़ा हम ठीक से समझ लें; क्योंकि अंतर्यात्रा में अत्यंत अपरिहार्य है जानना इसे।

पूछते हैं लोग, कहां खोजें परमात्मा को? पूछते हैं कि जो भीतर ही छिपा है, वह भूल कैसे गया है? पूछते हैं कि जो इतना करीब है कि हृदय की धड़कन भी उतनी करीब नहीं, श्वासें भी उतनी पास नहीं स्वयं के, वह भी बिछुड़ कैसे गया है? जो मैं स्वयं ही हूं, उससे भी विस्मृति कैसे हो गई है?

और उनका पूछना तर्कयुक्त मालूम पड़ता है। प्रतीत होता है, वे जो पूछते हैं, ठीक ही पूछते हैं। और लगता है कि होना नहीं चाहिए था ऐसा। जो मेरे भीतर ही छिपा है, उसे ही मैं नहीं जान पाता हूं! जो मैं ही हूं,

वह भी अपरिचित रह जाता है! तो फिर परिचय किससे होगा? पहचान किससे होगी? ज्ञान किसका होगा? जब पास ही छूट जाता है हाथ से, तो दूर को हम कैसे पा सकेंगे!

और ऐसा नहीं कि वह आज पास हो गया हो, वह सदा से ही पास है, अनंत-अनंत काल से पास है। उससे क्षण भर को भी हमारा छूटना और दूर होना नहीं हुआ है। हम जहां भागें, वह हमारे साथ भागता है। हम जहां जाएं, वह हमारे साथ जाता है। नर्कों में भी वह हमारे साथ यात्रा करता है और स्वर्गों में भी। पाप में भी वह हमारे साथ उतना ही खड़ा होता है, जितना पुण्य में। यह कहना भी ठीक नहीं कि साथ खड़ा होता है, क्योंकि जो हमारे साथ होता है उससे भी थोड़ी दूरी होती है। हमारा होना और उसका होना एक ही बात है।

अगर यह सच है, तो इस जगत में बड़ा चमत्कार हो गया कि हम अपने को ही खो बैठे! जो असंभव मालूम पड़ता है, अपने को कैसे खोया जा सकता है! अपनी छाया तक को खोना मुश्किल है। हम अपनी आत्मा को खो बैठे हैं, यह कैसे हो सकता है!

पर यह हुआ है। उसके होने की घटना कैसे घटती है, वही इस सूत्र का सार है। इस सूत्र में प्रवेश करने के पहले इसके बुनियादी आधार समझ लें।

आंख की सीमा है, एक परिधि है। उससे ज्यादा दूर हो तो आंख नहीं देख पाती, उससे ज्यादा पास हो तो भी आंख नहीं देख पाती। आंख के देखने का एक विस्तार है। किसी चीज को आंख के बहुत पास ले आएं, फिर आंख नहीं देख पाएगी; बहुत दूर ले जाएं तो भी आंख नहीं देख पाएगी। तो एक क्षेत्र है जहां आंख देखती है। और इस क्षेत्र के उस पार या इस पार आंख अंधी हो जाती है। और आप तो इतने निकट हैं कि आंख के पास ही नहीं हैं, आंख के पीछे हैं। यही अड़चन है।

ऐसा समझें कि दर्पण के सामने खड़े हैं, तो एक खास दूरी से दर्पण पर ठीक प्रतिबिंब बनता है। अगर बहुत दूर चले जाएं तो फिर दर्पण पर प्रतिबिंब नहीं बनेगा। बहुत पास आ जाएं, कि आंख को दर्पण से ही लगा लें, तो प्रतिबिंब दिखाई नहीं पड़ेगा। लेकिन यहां मामला ऐसा है कि आप दर्पण के पीछे खड़े हैं; इसलिए दर्पण पर प्रतिबिंब बनने का कोई उपाय ही नहीं है।

आंख आगे है, आप पीछे हैं। आंख देखती है उसको जो आंख के आगे हो। आंख उसको कैसे देखे जो आंख के पीछे है? कान सुनते हैं उसको जो कान के बाहर है। कान उसको कैसे सुनें जो कान के भीतर है? आंख बाहर खुलती है; कान भी बाहर खुलते हैं। मैं आपको छू सकता हूं, अपने को कैसे छुऊं? और अगर अपने शरीर को भी छू लेता हूं इसीलिए, तो वह इसीलिए कि शरीर भी मैं नहीं हूं, वह भी पराया है, इसलिए छू लेता हूं। लेकिन जो मैं हूं, जो छू रहा है, उसे कैसे छुऊं? उसे किससे छुऊं?

इसलिए हाथ सब छू लेते हैं और खुद को नहीं छू पाते हैं; आंख सब देख लेती है और खुद को नहीं देख पाती है। अपने लिए हम बिल्कुल अंधे हैं। हमारी कोई इंद्रिय काम की नहीं है। जिन इंद्रियों से हम परिचित हैं, वे कोई भी काम की नहीं हैं। अगर कोई और इंद्रिय का उदघाटन न हो जो भीतर देखती हो, अगर कोई और आंख न खुल जाए जो भीतर देखती हो, जो पीछे देखती हो, जो उलटा देखती हो, कोई कान न खुल जाए, जिस पर भीतर की ध्वनि-तरंगें भी प्रभाव लाती हों, तब तक हम स्वयं को देख और जान और सुन न पाएंगे। तब तक स्वयं को छूने का कोई उपाय नहीं है।

जो निकट है वह चूक जाता है। जो निकट से भी निकट है वह असंभव है। इसीलिए मछली सागर को नहीं जान पाती।

दूसरी बात, सागर में ही पैदा होती है, सागर में ही जीती है, सागर ही उसका भोजन, सागर ही उसका पेय, सागर ही उसका प्राण, सागर ही सब कुछ। फिर सागर में ही मरती और लीन हो जाती है। जानने के लिए मौका नहीं मिलता, क्योंकि दूरी नहीं मिलती, फासला नहीं मिलता। मछली को सागर का पता चलता है, अगर

कोई उठा कर उसे सागर के किनारे फेंक दे, तभी। यह बड़ी उलटी बात हुई! सागर का पता तब चलता है जब सागर से दूर हो जाए।

तो मछली तड़पती है रेत पर, धूप में, तब उसे सागर का पता चलता है। क्योंकि इतनी दूरी तो चाहिए पता चलने के लिए। पैदा होने के भी पहले जो मौजूद था और मरने के बाद भी जो मौजूद रहेगा, और जिसमें ही पैदा हुए और जिसमें ही लीन हो गए, उसका पता कैसे चलेगा? पता चलने के लिए थोड़ी बिछुड़न, थोड़ा बिछोह होना चाहिए। इसलिए मछली को सागर का पता नहीं चलता। किनारे पर कोई फेंक दे तो पता चलता है।

आदमी की और भी मुसीबत है। परमात्मा सागर ही सागर है; उसका कोई किनारा नहीं जिस पर आपको फेंका जा सके, जहां आप तड़पने लगें मछली की तरह। ऐसा कोई किनारा होता तो बड़ी आसानी हो जाती। ऐसा कोई किनारा नहीं, परमात्मा सागर ही सागर है। इसीलिए तो जो परमात्मा में किनारा खोजते हैं, वे उसे कभी नहीं खोज पाते। जो परमात्मा की मझधार में डूबने को राजी हैं, उनको ही उसका किनारा मिलता है।

किनारा है ही नहीं; खोजने का कोई उपाय नहीं है। और किनारा हो भी कैसे! सब चीजों का किनारा हो सकता है, समस्त का किनारा नहीं हो सकता; क्योंकि किनारा बनता है किसी और चीज से। नदी का किनारा बनता है, सागर का किनारा बनता है, किसी और चीज से। परमात्मा के अतिरिक्त कुछ और नहीं है, जिससे किनारा बन सके। परमात्मा का अर्थ ही इतना है कि जिसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

परमात्मा का मतलब कोई आकाश में बैठे हुए किसी व्यक्ति का नहीं है, जो जगत को चला रहा हो। ये तो बच्चों की कहानियां हैं। परमात्मा से अर्थ है उस तत्व का, जिसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यह उसकी वैज्ञानिक परिभाषा हुई। परमात्मा का अर्थ हैः समस्त, सर्व, सब कुछ, जो भी है।

जो भी है उसका कोई किनारा नहीं हो सकता; क्योंकि उसके अतिरिक्त कुछ किनारा बनने को बचता नहीं है। इसलिए परमात्मा मझधार है। वहां कोई किनारा नहीं है। जो डूबने को राजी है, वह उबर जाता है; जो उबरने की कोशिश करता है, बुरी तरह डूबता है। कोई किनारा हो तो पता भी चल जाए। इसीलिए हमें पता नहीं चला है। उसी में हम हैं। जिसे हम खोजते हैं, उसी में हम हैं। जिसे हम पुकारते हैं, उसे पुकारने की जरा भी जरूरत नहीं है; क्योंकि इतनी भी दूरी नहीं है कि हमारी आवाज हमें जोर से पुकारनी पड़े।

इसलिए कबीर ने कहा है कि क्या तुम्हारा खुदा बहरा हो गया है जो तुम इतनी जोर से अजान पढ़ते हो? क्या तुम्हारा ईश्वर बहरा हो गया है जो तुम इतनी जोर से पुकारते हो? इतने पास है कि आवाज देने की भी तो जरूरत नहीं! अगर मौन भी कुछ भीतर होगा तो वह भी सुन लिया जाएगा, इतने पास है!

दूसरे को पुकारना हो तो आवाज देनी पड़ती है, खुद को पुकारने के लिए आवाज देने की भी क्या जरूरत है! दूसरे का तो तब ही सुनाई पड़ता है जब शब्द ध्वनित हो, स्वयं का तो मौन भी सुनाई पड़ता है।

इतने जो निकट है, वही कठिनाई है। इसे ठीक से ख्याल में ले लें कि सत्य से हम इसलिए चूक गए हैं, क्योंकि हम उसी में पैदा होते हैं। उसी से बनती है हमारी मांस-मज्जा, उसी से निर्मित होती हैं हमारी हड्डियां। वही है हमारी श्वास, वही है हमारा प्राण, वही सब कुछ है। अनेक-अनेक रूपों में, अनेक-अनेक द्वारों से हम उसी का जोड़ हैं, उसी का खेल हैं। फासला बिल्कुल नहीं है। इसलिए स्मरण नहीं आता। इसलिए स्मरण असंभव हो गया है। इसलिए संसार तो बहुत दिखाई पड़ता है, सत्य बिल्कुल दिखाई नहीं पड़ता। संसार दूर है; जगह है दोनों के बीच में; इसलिए संसार की वासना जगती है।

वासना का अर्थ क्या है? वासना का अर्थ है, जिससे हमें दूरी मालूम पड़ती हो, उससे दूरी मिटाने की कोशिश। वासना का अर्थ है, जिससे हमें दूरी मालूम पड़ती हो, उससे दूरी मिटाने की कोशिश।

इसलिए परमात्मा की कोई वासना नहीं है, क्योंकि दूरी ही मालूम नहीं पड़ती। या कभी कोई परमात्मा को खोजता भी मालूम पड़ता है तो झूठी वासना मालूम पड़ती है। परमात्मा के नाम से कुछ और खोजता मालूम पड़ता है। नाम परमात्मा का लेता है, चाहता कुछ और है। शक्ति चाहता हो, सिद्धि चाहता हो, धन चाहता हो, पद चाहता हो--कुछ और!

एक मित्र मुझे आकर कहते थे कि जब से आपके शिविर में साधना में लीन होने लगे हैं, बड़ा लाभ हो रहा है! मैंने पूछा, क्या लाभ हो रहा है? तो उन्होंने कहा, अभी आध्यात्मिक तो नहीं हो रहा, लेकिन आर्थिक शुरू हो गया है।

ठीक! आध्यात्मिक की इतनी जल्दी भी क्या है! टाला जा सकता है, स्थगित किया जा सकता है। आर्थिक तत्काल है।

हम खोजते कुछ और हैं, नाम कुछ और देते हैं। जहां-जहां हमने परमात्मा लिख छोड़ा है, अगर जरा हम लेबल उखाड़ें, तो भीतर कुछ और पाया जाएगा। हम कुछ और चाहते हैं। जो आदमी कुछ और चाहता है परमात्मा के नाम से, वह आदमी उससे ज्यादा बेईमान है जो सीधा संसार चाहता है। कम से कम एक आनेस्टी, एक ईमानदारी है, एक प्रामाणिकता है।

एक आदमी कहता है, मैं धन चाहता हूं; एक आदमी कहता है, मैं कामवासना चाहता हूं; एक आदमी कहता है, मुझे पद चाहिए, अहंकार की तृप्ति चाहिए। एक आदमी कहता है, मैं तो परमात्मा चाहता हूं। लेकिन परमात्मा की चाह में मन उसका कुछ ऐसा ही है कि एक दिन दुनिया को दिखा दूं कि मेरी मुट्ठी में परमात्मा भी है!

इसलिए परमात्मा के खोजी को अगर ख्याल से देखें, अगर उसका अहंकार बढ़ता जाए, तो समझना कि उसकी खोज किसी और चीज की है। अहंकार क्षीण होता जाए, टूटता जाए, विसर्जित होता जाए, तो ही समझना कि खोज परमात्मा की है।

संन्यासियों की अकड़ जाहिर है। महात्माओं की अकड़! बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ भी मात हो जाएं उस अकड़ से। राजनैतिक की तो खोज ही, ठीक है, उसी अकड़ के लिए है। बात सीधी-साफ है; उसमें कोई जाल नहीं है ज्यादा। कुछ होने का मजा ही सारी बात है। लेकिन महात्मा की बात कुछ और है। वह कहता है, हम ना-कुछ होने की खोज में हैं; और फिर कुछ होता चला जाता है। दो महात्मा मिल जाएं तो उनको एक तख्त पर बिठाया नहीं जा सकता; क्योंकि ऊंचा-नीचा कौन बैठे, कहां बैठे! इसीलिए महात्मा मिलते ही नहीं एक-दूसरे से; क्योंकि बड़ी दिक्कतें आती हैं!

एक मित्र, पागल हैं थोड़े। पागल ऐसे कि महात्माओं को मिलाने की कोशिश करते हैं। वे मुझसे कहने लगे कि बड़ी मुसीबतें आती हैं। यहां तक सवाल उठता है कि अगर दो महात्माओं को मिलाया तो नमस्कार में पहले हाथ कौन जोड़े।

कठिन है मामला! संसारी भी इतने संसारी नहीं मालूम होते। न भी जोड़ना चाहते हों हाथ, तो भी जोड़ लेते हैं। मन में भला होता हो कि दूसरा ही पहले जोड़ता है; लेकिन फिर भी इसको छिपा कर चलते हैं। अभद्र मालूम पड़ता है। लेकिन महात्माओं को अभद्र भी नहीं मालूम पड़ता। कुछ महात्मा तो नमस्कार करते ही नहीं! उन्होंने व्यवस्था ही बंद कर रखी है। वे सिर्फ आशीर्वाद देते हैं!

ऐसे ही एक महात्मा को मिलाने के लिए कोई मित्र कोशिश में थे किसी दूसरे महात्मा से। तो उस दूसरे महात्मा ने कहा, और सब तो ठीक है, लेकिन हम नमस्कार न करें और वे आशीर्वाद दे दें तो इसमें सब खराब हो जाएगा!

यह हमारी खोज कुछ और है। धर्म से कुछ, परमात्मा से कुछ लेना-देना नहीं है। हम कुछ और चाह रहे हैं; हम कुछ और मांग रहे हैं; लेकिन बेईमान हैं, और हमने शब्द कुछ और ओढ़ रखे हैं।

परमात्मा की खोज कैसे हो? क्योंकि दूरी नहीं है। दूरी हो तो वासना जगती है। फासला हो तो दिल होता है, दौड़ें। फासला हो तो जीतने की आकांक्षा पैदा होती है। कठिनाई हो तो अहंकार को रस आता है पराजित करने का, जीतने का। फासला ही नहीं, दूरी ही नहीं--परमात्मा मिला ही हुआ है।

ऐसी हालत है, जैसे कि तेनसिंग या हिलेरी एवरेस्ट पर चढ़ते हैं, तो मजा क्या है? पहला आदमी मनुष्य के इतिहास में एवरेस्ट पर खड़ा हो जाता है! और तो एवरेस्ट पर कुछ भी नहीं है। लेकिन एवरेस्ट पर पहला आदमी इतिहास का खड़ा हो जाता है तो अहंकार को एक ऐतिहासिकता मिल जाती है। अब दुनिया में जब तक एवरेस्ट है, तब तक हिलेरी और तेनसिंग का नाम मिटाना मुश्किल है।

अभी चांद की इतनी दौड़ चलती थी। तो बड़े मजे की बात है कि चांद पर हम क्या छोड़ आए? जो गए वे ईसाई हैं, लेकिन जीसस की मूर्ति नहीं छोड़ आए, झंडा छोड़ आए हैं अमरीका का! थोड़ा सोचें, झंडे असली हैं, जीसस वगैरह सब झूठे हैं! ख्याल भी नहीं आया अमरीका के यात्रियों को कि जीसस की एक छोटी मूर्ति भी ले जाएं कम से कम। झंडा ले गए! झंडा है असली आदमी का अहंकार। और जीसस का भी अगर कभी-कभार नाम ले लेते हैं, तब उसका मतलब भी झंडा ही होता है, और कुछ मतलब नहीं होता। जब लड़ना हो, झंडा ऊंचा रहे हमारा; तब! तब जीसस, राम, कृष्ण, बुद्ध, सब आ जाते हैं। मगर उनका भी उपयोग झंडे से ज्यादा नहीं है। वे भी आदमी के अहंकार पर लगाई गई पताकाएं हैं।

चांद पर हम छोड़ आए हैं झंडे। आदमी इस आकांक्षा में लगा रहता है कि कुछ मैं कर दिखाऊं जो मैं ही कर पाऊं, ताकि मेरा मैं एक ऐतिहासिकता ले ले। पर अगर आप एवरेस्ट पर ही पैदा हुए हों! तब बड़ी मुश्किल में पड़ जाएंगेः झंडा भी कहां लगाएं?

आदमी परमात्मा पर ही पैदा हुआ है; वहीं है। आप वहां हैं ही, वहां से आपका कभी जाना नहीं हुआ। वही है आपकी भूमि जहां आप खड़े हैं। इसलिए परमात्मा के पाने में कोई अहंकार के लिए दौड़ नहीं है, गुंजाइश नहीं है; कोई तरह का रस नहीं मालूम पड़ता। फिर परमात्मा की वासना ही न हो तो अभीप्सा, प्यास कैसे जगे?

परमात्मा की प्यास बड़े उलटे ढंग से जगती है। इसे ख्याल में ले लें, क्योंकि उसके अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं है। संसार की प्यास जगती है दूरी से। और अगर अलंघ्य दूरी हो तो आकर्षण भारी हो जाता है। और इसलिए संसार में जो चीजें भी पा ली जाती हैं, उनका मजा चला जाता है; क्योंकि दूरी खतम हो जाती है।

आप एक स्त्री को पाना चाहते थे, फिर पा लिया; आप एक मकान बनाना चाहते थे, बन गया; आप सोने का शिखर चढ़ाना चाहते थे अपने मकान पर, वह चढ़ गया; अब? जो मिल जाता है, वह व्यर्थ हो जाता है; क्योंकि वह पास आ जाता है। उसमें दूरी नहीं रह जाती। दूर हो, कठिनाई हो, कोई न पा सके, आप ही पा सकें, तो ही मजा होता है।

अमीरी का मजा अमीरी में नहीं है, बहुत लोगों की गरीबी में है। अगर सब लोग अमीर हो जाएं--बात खराब हो जाती है। अमरीका में वही परेशानी है। अमीर का मजा कम हुआ जा रहा है। गरीब भी वही कपड़े पहन रहा है, उन्हीं कारों में चल रहा है, उन्हीं मकानों में रह रहा है। गरीब और अमीर के बीच अब कोई बहुत बुनियादी फासला नहीं है। अमीर का मजा किरकिरा हुआ जा रहा है। अमीर परेशान है। वह कुछ और तरकीबें खोज रहा है, जो वही कर सके और सभी लोग न कर पाएं।

परमात्मा में ही हम हैं, इसलिए परमात्मा में कोई अहंकार के लिए बुलावा नहीं है; कोई निमंत्रण नहीं है; कोई चोट, कोई चुनौती, कोई चैलेंज नहीं है। फिर परमात्मा की अभीप्सा कैसे पैदा होती?

संसार की अभीप्सा पैदा होती है दूरी से, बुलावे से, चुनौती से; परमात्मा की अभीप्सा होती है संसार की असफलता से।

इसे ख्याल कर लें। जब आप सब तरफ दौड़ चुकते हैं और सब तरफ हार जाते हैं; सब पा लेते हैं और सब व्यर्थ हो जाता है; खोज पूरी हो जाती है और पूरे होते ही नकार हो जाता है; सब शून्य हो जाता है। हाथ में आते ही सब चीजें मिट्टी सिद्ध होती हैं, दूर सब सोना मालूम पड़ती हैं। जितनी हो दूरी उतना स्वर्ण शुद्ध मालूम पड़ता है। जैसे-जैसे पास आता है, अशुद्ध होने लगता है। और पास आता है, मिट्टी होने लगता है।

यूनानी कथा मिदास की है। कथा में बड़ा व्यंग्य है। कथा है कि मिदास ने ऐसी सिद्धि पा ली, ऐसा वरदान पा लिया कि जो भी छुए, सोना हो जाए। हम सब मिदास से उलटे हैं; जो भी छुएं, मिट्टी हो जाए! लेकिन बड़ा मजा है। मिदास भी मुश्किल में पड़ गया था तो हमारी मुश्किल का तो क्या अंत!

मिदास जो भी छूता, सोना हो जाता। उसने अपनी पत्नी को छुआ, वह सोना हो गई! उसने भोजन छुआ, वह सोना हो गया! उसने पानी पीने को उठाया, ओंठ तक पानी गया और सोना हो गया! मरा मिदास! बड़ी मुश्किल में पड़ गया, क्योंकि सोने से प्यास नहीं बुझती। और कितनी ही लोग बातें करें--कनक जैसा शरीर, स्वर्ण जैसा शरीर; सोने के शरीर से कोई तृप्ति होने वाली नहीं। कोई कितना ही कहे कि मेरी प्रेयसी की जो काया है, कनक-काया है, स्वर्ण-काया है; लेकिन हो जाए तब पता चले! तब सिर धुनें बैठ कर कि यह क्या हो गया! इससे तो वही काया बेहतर थी।

तो मिदास इस मुश्किल में पड़ गया; कवियों की बातों में आ गया। वरदान मांग बैठा। पत्नी हो गई सोने की। पानी सोना हो गया। भोजन सोना हो गया। लोग उससे भागने लगे। खुद के बेटे-बेटी दूर रहने लगे। कहीं वह छू न दे! कोई मित्र पास न आए कि कहीं छू न दे। मिदास अकेला हो गया। भरा-पूरा जगत था उसका; सम्राट था; अकेला हो गया। वजीर पास न आएं। सदा एक फासला रखें, कि बचने का उपाय रहे, भागने की सुविधा रहे। अगर वह छू ही दे! और मिदास भूखा मरने लगा। पानी मिले न, भोजन मिले न। वह चिल्लाने लगा, चीखने लगा कि हे भगवान! वापस कर दे, वही ठीक था। यह तो वरदान अभिशाप हो गया।

मिदास की यह हालत हो गई, सब चीजें सोना होने लगीं; तब हमारी क्या हालत होगी, जब जो भी छूते हैं मिट्टी हो जाता है! पत्नी दूर थी तो सोने की मालूम पड़ती थी। जिस दिन विवाह किया, उसी दिन मिट्टी की होनी शुरू हो गई। दो-चार साल बाद मिट्टी रह जाती है, कुछ नहीं है उसमें। सब चीजें मिट्टी हो जाती हैं। जो भी छुएं मिट्टी हो जाता है।

जिस दिन आपको यह अनुभव होता है कि सब दौड़ व्यर्थ है, उस दिन आप उसी जगह खड़े रह जाते हैं जहां परमात्मा है। जिस दिन आपको पता चलता है कि दौड़ कर कुछ भी नहीं मिला, कुछ भी नहीं पाया, उस दिन दौड़ते नहीं हैं। और न दौड़ने की वजह से वह दिखाई पड़ जाता है, जो दौड़ने की वजह से दिखाई नहीं पड़ रहा था। दौड़ने की धुन थी सवार तो दूर की चीजें दिखाई पड़ती थीं। दौड़ना व्यर्थ हो जाए तो दूर से आंख पास लौट आती है।

और अगर सारी ही दौड़ व्यर्थ हो जाए तो आंख उलटी हो जाती है; अब तक बाहर देखती थी, अब भीतर देखने लगती है। दर्पण घूम जाता है, जब संसार में देखने योग्य कुछ भी नहीं लगता, पाने योग्य कुछ भी नहीं लगता, खोजने योग्य कुछ भी नहीं लगता; जब संसार वासना नहीं रह जाती।

इसीलिए इतना जोर दिया है बुद्ध ने, महावीर ने और उपनिषदों ने कि निर्वासना द्वार है।

वासना है दूर जाने की व्यवस्था, निर्वासना है पास आने का द्वार।

इस सूत्र को अब हम ख्याल में ले लेंः

'शरीर के भीतर छिपा है वह अजन्मा नित्य।'

कभी पैदा नहीं हुआ जो--और सदा है, और सदा है, और सदा है। ऐसा जो अजन्मा नित्य है, वह इसी शरीर के भीतर छिपा है, लेकिन शरीर को उसका कोई पता नहीं। शरीर है पृथ्वी का अंग, वह पृथ्वी के भीतर छिपा है, पर पृथ्वी को उसका कोई पता नहीं।

इसी की पुनरुक्ति है, इसी सूत्र की।

अग्नि के भीतर छिपा है, अग्नि को पता नहीं। सब जगह छिपा है; और जहां छिपा है, जिसके भीतर छिपा है, उसे ही पता नहीं। क्यों? क्योंकि जिसके भीतर छिपा है, वह बाहर दौड़ रहा है।

आपने कभी अनुभव किया? शरीर की भीतर की तरफ दौड़ अगर आप अनुभव कर लें, तो समाधि उपलब्ध हो जाए। आपने शरीर की बाहर की तरफ दौड़ अनुभव की है। एक सुंदर काया दिखाई पड़ती है, शरीर दौड़ने लगा, पुलक आ गई; शरीर का रोआं-रोआं भागने लगा। एक सुंदर फूल दिखाई पड़ा, आंखें भागने लगीं। एक सुंदर ध्वनि सुनाई पड़ी, कान भागने लगे।

शरीर भागता है सदा बाहर की तरफ। कभी आपने अनुभव किया कि भीतर की तरफ भी शरीर भागा हो? कभी अनुभव नहीं किया। तो शरीर को पता भी कैसे चले कि कौन भीतर छिपा है! जहां शरीर जाता ही नहीं, जहां शरीर कभी देखता नहीं, सुनता नहीं, खोजता नहीं। शरीर को पता कैसे चले? शरीर अपरिचित रह जाता है उससे ही, जिसका वह शरीर है।

सब दौड़ बाहर की तरफ है, इसलिए भीतर अज्ञान छा जाता है।

यह सूत्र अनेक-अनेक द्वारों से एक ही बात की पुनरुक्ति है।

वायु के भीतर जो छिपा है, वायु उसे जानती नहीं। मन जिसका शरीर है, मन उससे अपरिचित। अहंकार जिसकी देह है, अहंकार उसके प्रति अनजान। चित्त जिसका शरीर है, अक्षर, अव्यक्त जिसका शरीर है, वे भी उसे जानते नहीं जो भीतर छिपा है। मृत्यु भी उससे अपरिचित रह जाती है, जिसकी मृत्यु घटित होती है, जो मरता है। यह जरा अजीब वाक्य है; क्योंकि जो मरता है, मृत्यु उससे अपरिचित रह जाती है! जो मरता है, वह मरता ही नहीं!

मृत्यु जब घटती है तो कौन मरता है? कोई भी नहीं मरता। क्योंकि शरीर सदा से मरा हुआ है; उसके मरने का कोई उपाय नहीं। और शरीर के भीतर जो छिपा है, वह सदा से अमृत है; उसके मरने का कोई उपाय नहीं। सिर्फ संबंध टूटता है। अमृत का और मृत का संबंध टूटता है मृत्यु में। लेकिन मृत्यु इतने निकट भी आकर उससे अपरिचित रह जाती है, वह जो अमृत है।

इसीलिए तो हम कितनी बार मर चुके और हमें अब तक पता नहीं चला कि हमारे भीतर वह भी है जो मरता नहीं है। इस अपरिचय की प्रक्रिया ही यही है कि निकट आकर भी भीतर देखना नहीं हो पाता, देखना बाहर ही होता रहता है। मरता हुआ आदमी देखें। मरने को पड़ा है, लेकिन बाहर ही देखता रहेगा। अभी भी भीतर जाने का मन नहीं हो रहा उसका। मृत्यु उसे धकाती है, हटाती है शरीर से, लेकिन वह पकड़ रहा है--जोर से पकड़ रहा है; और भी जोर से पकड़ रहा है, जैसा उसने कभी नहीं पकड़ा था।

इसलिए वृद्ध आदमी कुरूप हो जाते हैं, जवान सुंदर मालूम पड़ते हैं। उसका कारण गहरे में शरीर ही नहीं है। जवान शरीर को पकड़ता नहीं; अभी आश्वस्त है। बूढ़ा शरीर को पकड़ने लगता है। उस पकड़ने से सब कुरूपताएं पैदा हो जाती हैं। बूढ़ा डरने लगता है कि अब मरे! अब मरे! अब मौत करीब है! जितना मौत से डरता है, उतना जीवन को जोर से पकड़ता है। और जितना जोर से पकड़ता है, उतना ही जीवन कुरूप हो जाता है।

बच्चे इतने प्यारे लगते हैं। पकड़ते ही नहीं बिल्कुल। अभी उन्हें पता ही नहीं कि मौत भी है। पशु-पक्षी देखे? कितना ही बूढ़ा हो जाए पशु, कितना ही बूढ़ा हो जाए पक्षी... ।

उनकी बात कर रहा हूं जिनका आदमी से सत्संग नहीं है। आदमी तो बिगाड़ ही देता है।

तो बड़ी हैरानी होती है! जंगल में पशु और पक्षी बूढ़े नहीं होते मालूम पड़ते। जैसा बुढ़ापा आदमी को पकड़ता है, ऐसा पशु-पक्षियों को पकड़ता नहीं मालूम पड़ता। बच्चे ही बने रहते हैं। किसी गहरे तल पर उन्हें पता ही नहीं कि मौत होने वाली है। इसलिए कोई शरीर की पकड़ नहीं आती।

बच्चे में जो ताजगी है, जीवन सहज है, मौत की पकड़ नहीं है कोई। बुढ़ापे में कठिनाई आ जाती है। मौत साफ होने लगती है। जिंदगी अब चेष्टा है। अब प्रयास से जीता है आदमी। अब इंच-इंच सोच कर चलता है कि कहीं मौत न आ जाए। इससे दुविधा पैदा हो जाती है, तनाव बढ़ जाता है भीतर। और पूरे समय चिंता, संताप पकड़ लेता है। वही चित्त को कुरूप कर जाता है।

मौत भी नहीं जान पाती उसको जो भीतर छिपा अमृत है। कारण एक ही है कि भीतर देखने की घटना ही तब घटती है जब बाहर देखने का सारा सिलसिला व्यर्थ हो जाए।

इसे थोड़ा हम समझ लें। व्यर्थ कई बार होता मालूम पड़ता है, फिर भी होता नहीं। ऐसा नहीं है कि आपको व्यर्थ नहीं हो जाता, आपको भी व्यर्थ हो जाता है। एक कार खरीदने का सोचते थे, खरीद ली। जब नहीं खरीदी थी तो रात उसके सपने भी आते थे। जिस दिन कार की डिलीवरी मिलने वाली थी उस दिन रात सो भी नहीं सके थे--रात भर!

ओटेगा वाई गासिप ने लिखा है अपने एक मित्र के बाबत कि उसने एक बहुत खूबसूरत गाड़ी फरारी खरीदी। बड़ी कीमती गाड़ी। और पहले ही दिन लेकर उसे निकला और एक जरा सी खरोंच लग गई।

बच्चा नहीं था मित्र, पचास साल का आदमी था! गैर पढ़ा-लिखा नहीं था, युनिवर्सिटी का प्रोफेसर था! साधारण विषय का प्रोफेसर नहीं था, फिलासफी का प्रोफेसर था!

ओटेगा वाई गासिप ने लिखा है कि मैंने अपने उस मित्र को अपनी मां के कंधे पर सिर रख कर रोते देखा। फरारी में खरोंच लग गई। कार थी कीमती, न मालूम कितने सपने देखे होंगे! जो खरोंच थी, वह भीतर तक चली गई, आत्मा तक प्रवेश कर गई होगी, तभी रोया है। रोते आप सब भी हैं। वह आदमी जरा ईमानदार रहा होगा। खुली सड़क पर, मां के कंधे पर सिर रख कर रोने लगा।

लेकिन कितने दिन चलेगा यह? दो-चार दिन में फरारी पुरानी पड़ जाएगी। महीने, दो महीने में यह आदमी इसी गाड़ी में बैठेगा, इसे पता भी नहीं चलेगा कि किस गाड़ी में बैठा है। इस गाड़ी से ऊब जाएगा, लेकिन गाड़ियों से नहीं ऊबेगा। दूसरी गाड़ी को सपना पकड़ लेगा। सोचेगा एक रॉल्स रायस हो जाए; कुछ और हो जाए। एक स्त्री से ऊब जाएगा मन, एक पुरुष से ऊब जाएगा, लेकिन स्त्रियों से नहीं ऊबेगा, पुरुषों से नहीं ऊबेगा।

ऊबते हम भी हैं, लेकिन हमारी ऊब वस्तुओं से बंधी होती है। हमारी ऊब दर्शन नहीं बनती; हमारी ऊब दृष्टि नहीं बनती। एक चीज से ऊबते हैं तो ठीक वैसी ही दूसरी चीज से पकड़ जाते हैं। और यह सिलसिला जारी रहता है।

इतना ही फर्क है आप में और किसी बुद्ध में कि आप एक स्त्री से ऊबते हैं, दूसरी स्त्री में रस बना रहता है। अपनी स्त्री से ऊब जाते हैं, दूसरे की स्त्री में रस बना रहता है। जो पास है वह व्यर्थ हो जाता है, लेकिन जो दूर है वह सार्थक मालूम रहता है। वह भी कल पास आकर व्यर्थ हो जाएगा। लेकिन सभी चीजें पास नहीं आ पातीं, कुछ चीजें तो दूर बनी ही रहती हैं। इसलिए रस बना ही रहता है, वासना दौड़ती ही रहती है। बुद्ध एक स्त्री में ऊब कर समस्त स्त्रियों से ऊब जाते हैं। बुद्ध एक महल में रह कर सब महलों में रह लेते हैं। बुद्ध के लिए एक घटना काफी है।

यह वैज्ञानिक बात है, एक पानी की बूंद अगर जान ली जाए तो सब सागर जान लिए गए। वह पागल होगा वैज्ञानिक जो पूरे सागरों की जांच करता रहे और कहे कि जब मैं सब पानी की बूंदों की जांच कर लूंगा, तब वक्तव्य दूंगा कि पानी हाइड्रोजन और आक्सीजन से बनता है। हम सब वैसे ही पागल हैं।

एक वैज्ञानिक एक बूंद को परख लेता है, खोल लेता है, तोड़ लेता है--पा लेता है कि एच टू ओ; ये उदजन और आक्सीजन के अणुओं का ऐसा जोड़ है। खतम हो गए, सब सागर व्यर्थ हो गए; सब सागर जान लिए गए। अब कहीं भी होगा पानी, न केवल इस पृथ्वी पर, वैज्ञानिक कहते हैं कि कोई पचास हजार पृथ्वियां होंगी सारे विस्तार में, इन पचास हजार पृथ्वियों पर कहीं भी अगर पानी होगा, तो भी एच टू ओ; तो भी वह बनेगा इसी व्यवस्था से। सारा पानी जान लिया गया एक बूंद को जान कर।

एक वासना की व्यवस्था को समझ कर सारी वासना को जो जान लेता है, वह बुद्ध हो जाता है। एक वासना को पहचान कर उसकी व्यर्थता को, उसकी अनिवार्य व्यर्थता को, उसकी अपरिहार्य असफलता को जो देख लेता है, उसकी वासना गिर जाती है। उसकी वासना ऐसे गिर जाती है, जैसे लंगड़े की बैसाखियां अचानक गिर जाएं। उनसे ही वह चलता था; पैर तो थे नहीं चलने के, बैसाखियों से चलता था, लकड़ी के पैर थे। अचानक बैसाखियां गिर जाएं और लंगड़ा वहीं गिर पड़े, ठीक ऐसी ही घटना घटती है जब वासना की बैसाखियां गिर जाती हैं।

संसार में चलने के कोई पैर थोड़े ही हैं! लकड़ी के पैर हैं, नकली पैर हैं, वासनाओं से निर्मित हैं। वासना के गिरते ही बैसाखियां गिर जाती हैं और आदमी अचानक अपने को वहां पाता है जहां से वह कभी हटा ही नहीं था; जहां वह सदा था, जहां होना उसका स्वभाव है। वही है परमात्म, वही है अध्यात्म।

इस सूत्र का आखिरी हिस्सा उसकी खबर हैः

'मृत्यु जिसका शरीर है और मृत्यु के अंदर जो है, और मृत्यु जिसे जानती नहीं, वही इन सर्वभूतों का अंतरात्मा, उसके पाप नष्ट हो गए हैं और वही एक दिव्य देव नारायण है।'

'देह, इंद्रियां आदि अनात्म पदार्थ हैं; इनके ऊपर मैं-मेरा ऐसा जो भाव है, वह अध्यास (भ्रम) है, इसलिए विद्वान को ब्रह्मनिष्ठा द्वारा इस अध्यास को, इस भ्रम को दूर करना चाहिए।'

आखिरी बात इस सूत्र में। यह जो वासनाओं की दौड़ है, यह इसीलिए है कि हमें दिखता है दूर कहीं कोई सपना पूरा होता हुआ। जैसे मरुस्थल में कोई देखता है, दूर मालूम होता है जल का सरोवर। दौड़ता है, जल के लिए दौड़ता है। वहां जाकर पाता है, नहीं है कुछ, रेत ही रेत है। लेकिन तब तक कहीं और जल का सरोवर दिखाई पड़ने लगता है। भ्रम है, अध्यास है।

सूर्य की किरणें जब तपती हैं जोर से रेत के ऊपर और वापस लौटती हैं, रिफ्लेक्ट होती हैं, जब वापस लौटने लगती हैं; तो कंपती हुई सूर्य की किरणें जब वापस लौटती हैं तो उनके कंपन के कारण भ्रम पैदा होता है कि लहरें कंप रही हैं। और वह कंपन इतना सतत होता है और कंपन की एक धारा बन जाती है कि अगर पास में कोई वृक्ष खड़ा हो तो उस कंपन में उस वृक्ष की छाया नीचे दिखाई पड़ने लगती है, वह कंपन दर्पण का काम करने लगता है।

और जब आपको दूर से दिखाई पड़ता हो पानी भी, और न केवल पानी, आकाश में उड़ती हुई बदलियों की नीचे प्रतिच्छाया भी दिखाई पड़ती हो, तो भरोसा भी कैसे न करें! आकाश में उड़ते हों कबूतर या आकाश में उड़ती हो बगुलों की कतार और नीचे पानी में भी उसकी छाया हो जाती हो, पास में खड़े वृक्ष भी नीचे दिखाई पड़ते हों, तो फिर भरोसा पक्का हो जाता है कि पानी होना चाहिए--न केवल लहरें दिखाई पड़ती हैं, लहरों में प्रतिबिंब भी दिखाई पड़ता है! पास जाकर, जैसे-जैसे पास पहुंचते हैं, वैसे-वैसे तिरोहित होने लगती हैं छायाएं। बिल्कुल पास पहुंच कर रेत हाथ लगती है।

अध्यास का अर्थ है, जो नहीं है उसका दिखाई पड़ना। शंकर के लिए यह बड़ा प्यारा शब्द है और उपनिषदों के लिए बड़ा आधारभूत। अध्यास का अर्थ हैः प्रोजेक्शन, प्रक्षेपण, जो नहीं है उसका दिखाई पड़ना। वह जो दिखाई पड़ता है, वहां है नहीं, आप अपने भीतर से आरोपित करते हैं। आप ही कारणभूत हैं उसे

आरोपित करने के। एक चेहरा आपको सुंदर लगता है। वह सौंदर्य वहां है या आप आरोपित करते हैं? क्योंकि कल वही चेहरा आपको कुरूप लग सकता है। हो सकता है कल तक सुंदर न लगा हो, आज अचानक आपका दिव्य-चु खुल गया और आपको सुंदर दिखाई पड़ने लगा! और आपके मित्रों को अभी भी दिखाई नहीं पड़ता।

कहते हैं लैला सुंदर नहीं थी, मजनू को दिखाई पड़ती थी। सारा गांव परेशान था। और लोगों ने समझाया मजनू को कि तू पागल है! इससे बहुत सुंदर लड़कियां गांव में हैं, तू व्यर्थ ही दीवाना हुआ जाता है। तो कहा है मजनू ने कि लैला को देखना हो तो मजनू की आंख चाहिए।

यह अध्यास है। सवाल लैला नहीं, सवाल मजनू की आंख है। सवाल वह नहीं है जो दिखाई पड़ रहा है, सवाल वह है जो देख रहा है।

तो मजनू ने कहा, मेरी आंख से देखो, तब तुम्हें लैला दिखाई पड़ेगी।

लेकिन इसमें खतरा है, मजनू की आंख से दिखाई पड़ेगी। अगर सच में मजनू की आंख उधार मिल जाए, तो लैला जैसी मजनू को दिखाई पड़ती है, वैसी आपको दिखाई पड़ेगी। आंख भी एक चश्मा है। चश्मे के रंग उतर जाते हैं विषयों पर।

आपकी सारी इंद्रियां प्रक्षेपण कर रही हैं। आप अपने चारों तरफ एक जगत निर्माण कर रहे हैं। आपका मन केवल ग्राहक नहीं है, निर्माता है। आप बना रहे हैं एक दुनिया अपने चारों तरफ--सौंदर्य की, सुगंध की, इसकी, उसकी। आप एक दुनिया निर्मित कर रहे हैं।

यह दुनिया वैसी नहीं है, जैसी आप देखते हैं। यह आप पर निर्भर है। और आप बदल जाते हैं तो दुनिया इसीलिए तो बदल जाती है। जवान दूसरी दुनिया देखता है, बूढ़ा दूसरी दुनिया देखता है, बच्चे दूसरी दुनिया देखते हैं। क्या, फर्क क्या पड़ जाता है? दुनिया वही है!

लेकिन बच्चों के पास वह आंख नहीं है, जो जवान के पास है। बच्चे अभी कंकड़-पत्थर बीन रहे हैं। रंगीन होना काफी है। जवान कहता है, फेंको भी इनको, इनमें क्या रखा है! इनकी कीमत क्या है! जवान के लिए अर्थ मूल्यवान हो गया; धन समझ में आने लगा। अब सिर्फ कंकड़-पत्थर बीनने से काम नहीं चलेगा; तितलियों के पीछे दौड़ने से कुछ हल होने वाला नहीं है। बच्चे तितलियां पकड़ रहे हैं, तितलियां स्वर्ग मालूम पड़ती हैं। जवान बच्चों को नासमझ समझते हैं।

फिर आदमी बूढ़ा हो जाता, इंद्रियां थक जातीं, अनुभव तिक्त होते, कडुवे होते, मुंह उनकी बेस्वाद धारा से भर जाता। जवान भी उसको दिखते हैं कि ये भी दूसरी तरह की तितलियां पकड़ रहे हैं। तितलियां बदल गई हैं। तितलियां नहीं बदली हैं, बस और तरह की तितलियां पकड़ रहे हैं।

बूढ़े कहे जाते हैं, समझाए चले जाते हैं, कोई जवान उनकी सुनता नहीं। उन्होंने भी अपने बाप-दादों की नहीं सुनी थी। नहीं सुनने का कारण है, आंखें दूसरी हैं। बूढ़े की आंख अगर जवान को मिल जाए तो उसे भी ऐसा ही दिखाई पड़ेगा। और ध्यान रखो कि मजा यह है कि अगर अभी बूढ़े को फिर जवान की आंख मिल जाए तो वह सब अनुभव भूल जाएंगे! वह जो ज्ञान बता रहे हैं, वह सब भूल जाएगा। फिर जगत रंगीन हो जाएगा।

सुना है मैंने, अमरीका की सुप्रीम कोर्ट का एक चीफ जस्टिस, न्यायाधीश, जब जवान था तब पेरिस आया था। शादी करके सीधा पेरिस आया था। फिर तीस साल बाद, जब बूढ़ा हो गया, और बेटों की शादियां हो गईं, और बेटे पेरिस हो आए, तब फिर दुबारा अपनी पत्नी को लेकर आया। उसका नाम था, पीयरे। पेरिस देख कर उसने अपनी पत्नी से कहा, वह बात न रही पेरिस में, सब फीका-फीका हो गया! कहां वे दिन जब हम पहली दफा पेरिस आए थे! बात ही और थी, पेरिस कुछ और था!

उसकी पत्नी ने कहा, माफ करें, आप भूल रहे हैं। पीयरे और था, पेरिस तो वही है, पेरिस तो अब भी वही है। जवान की आंख से देखें, पेरिस अब भी वही है। पेरिस क्या बदलता है! लोग बदल जाते हैं, दृष्टि बदल जाती है।

दृष्टि के बदलने से अगर जगत बदल जाता है तो समझना कि आपने जो जाना था वह अध्यास था। वह दृष्टि की वजह से पैदा हुआ था, वह जगत नहीं था। क्या ऐसा भी कोई उपाय है कि बिना दृष्टि के जगत देखा जा सके? अगर हो, तो ही जगत देखा जा सकता है, नहीं तो नहीं।

दृष्टियां अध्यास हैं। इसलिए ख्याल रखें, दर्शन का मतलब दृष्टि नहीं है। दर्शन का मतलब है वैसी अवस्था, जब सब दृष्टियां शांत हो जाती हैं; कोई दृष्टि नहीं रह जाती, तब देखना। जब अपनी कोई आंख नहीं रह जाती थोपने को, और अपना कोई भाव नहीं रह जाता आरोपित करने को, अपनी कोई आकांक्षा नहीं रह जाती। मरुस्थल को तब देखना, जब भीतर कोई प्यास नहीं होती, फिर मरुस्थल धोखा नहीं दे सकता। प्यास की वजह से धोखा हो जाता है। पानी की चाह होती है, और नहीं मिलता तो चाह और बढ़ जाती है। और जब चाह ज्यादा बढ़ जाती है तो मन विक्षिप्त हो जाता है, और जो नहीं है उसे भी मानने का मन होने लगता है।

लेकिन एक ऐसी स्थिति भी है जब सब दृष्टियां क्षीण हो जाती हैं और दर्शन का उदय होता है।

कब होती हैं दृष्टियां क्षीण? दृष्टियां तभी क्षीण होती हैं, जब सभी वासनाएं क्षीण हो जाती हैं; क्योंकि हर दृष्टि वासना का खेल है, वासना का फैलाव है।

यह सूत्र कहता हैः 'देह, इंद्रियां आदि अनात्म पदार्थ हैं, इनके ऊपर मैं-मेरा ऐसा जो भाव होता है, वह अध्यास है। इसलिए बुद्धिमान को ब्रह्मनिष्ठा द्वारा इस अध्यास को दूर करना चाहिए।'

ब्रह्मनिष्ठा द्वारा, अपने में निष्ठा द्वारा।

हमारी निष्ठा हमेशा पराए में है, किसी और में है, अपने में नहीं है। दौड़ कहीं और है, अपने में नहीं है। जा कहीं और रहे हैं एक जगह को छोड़ कर, वह जगह जो भीतर है। ब्रह्मनिष्ठा का अर्थ है कि वासनाओं की दौड़ हट गई, आदमी अपने में खड़ा हो गया। आदमी वहीं खड़ा हो गया जहां कोई मन नहीं है, कोई इंद्रियां नहीं हैं, कोई शरीर नहीं है; सिर्फ शुद्ध चैतन्य है। उसमें प्रतिष्ठित होते ही सब अध्यास टूट जाते हैं। और तब संसार नहीं है, ब्रह्म ही है।

जब मैं हिंदी में बोल रहा हूं, बहुत लोगों को हिंदी समझ में नहीं आती, लेकिन वे भी उपयोग कर सकते हैं। जिन्हें हिंदी समझ में नहीं आती, वे आंख बंद कर लें और केवल ध्वनि सुनें; शांत बैठ जाएं, जैसे ध्यान में हों। और बहुत बार जो शब्द समझ कर भी समझ में न आता, वह मात्र ध्वनि सुनने से समझ में आता है।

जब मैं अंग्रेजी में बोल रहा हूं, जिन मित्रों को अंग्रेजी समझ में नहीं आती, वे ऐसा न सोचें कि उनके काम का नहीं है। आंख बंद कर लें और जो मैं बोल रहा हूं उसकी ध्वनि पर ध्यान करें, समझने की कोशिश न करें। जो भाषा समझ में नहीं आती, समझने की कोशिश ही मत करें। बिल्कुल नासमझ होकर शांत बैठ जाएं, सिर्फ ध्वनि का आघात ध्यान करें; सिर्फ सुनें। वह सुनना ध्यान बन जाएगा और उपयोगी होगा।

बड़ा सवाल समझना नहीं है, बड़ा सवाल शांत होना है। बड़ा सवाल सुनना नहीं है, बड़ा सवाल मौन होना है। तो कई बार तो यह होता है, जो बात आपकी समझ में आ जाती है वह आपके भीतर विघ्न बन जाती है, क्योंकि उससे विचार शुरू हो जाते हैं। कई बार तो अच्छा है कि जो बात बिल्कुल समझ में नहीं आती, उसको सुनें, क्योंकि फिर विचार नहीं चल सकते। जो समझ में नहीं आए तो विचार के चलने का कोई उपाय नहीं है, विचार रुक जाते हैं।

इसलिए कभी तो वृक्षों के बीच से गुजरती हुई हवा को सुनना, कभी पक्षियों की आवाज सुनना, कभी पानी की कल-कल धारा से उठता निनाद सुनना ऋषि-मुनियों को सुनने से भी ज्यादा बेहतर है। असली उपनिषद वहां बह रहे हैं। पर वे आपकी समझ में नहीं आएंगे। पर समझने की कोई जरूरत भी नहीं है, सुनना काफी है। और जब समझ में न आए और आप सुन सके, तो थोड़ी देर में बुद्धि शांत हो जाती है, क्योंकि उसका कोई काम ही नहीं होता। और जब बुद्धि शांत हो जाती है तो आप वहां पहुंच जाते हैं, जिसकी तलाश है।

तीसरा प्रवचन

नेति-नेति

ज्ञात्वा स्वयं प्रत्यगात्मनं बुद्धितद्वृत्तिसाक्षिणम्।
सौऽहमित्येव तद्वृत्या स्वान्यत्रात्ममतिं व्यजेत्।। 2।।
लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्तनम्।
शास्त्रानुवर्तनम त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं करु।। 3।।
स्वात्मन्येव सदा स्थित्या मनो नश्यति योगिनः।
युक्त्या श्रुत्या स्वानुभूत्या ज्ञात्वा सावत्मि्यमात्मनः।। 4।।
निद्राया लोकवार्तायाः शब्दादेरात्मविस्मृतेः।
क्वचिन्नावसरं दत्वा चिन्तयात्मानमात्मनि।। 5।।

अपने को बुद्धि और उसकी वृत्ति का साक्षी-प्रत्यगात्मा जान कर वह मैं ही हूं--ऐसी वृत्ति द्वारा(अपने सिवाय) सब पदार्थों के ऊपर से आत्म-बुद्धि का त्याग करना।

लोक का अनुसरण करना छोड़ कर देह का अनुसरण भी छोड़ देना, इसके पश्चात शास्त्र का अनुसरण छोड़ कर आत्मा के ऊपर का अध्यास भी छा.ेड़ देना।

अपनी ही आत्मा में स्थित होकर युक्ति, श्रवण तथा स्वानुभव द्वारा अपने को ही सबका आत्मरूप जान कर योगी का मन नाश होता है।

निद्रा को, लोगों की बातों को, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि विषयों को तथा आत्मा के विस्मरण को किसी स्थल पर अवसर दिए बिना हृदय में आत्मा का चिंतन करना।

कैसे कोई सत्य में प्रवेश करे, कैसे उस परम रहस्य को जान पाए; जो निकट है फिर भी नहीं जाना जाता; और जो सदा से पास है फिर भी खो गया है; उस तक हम कैसे पहुंचें, उस तक कोई भी कभी कैसे पहुंचा है, इस सूत्र में उस विज्ञान की व्याख्या है, उस मार्ग की विधि है।

अध्यास के संबंध में थोड़ी बात हमने समझी। अध्यास का अर्थ है, जैसा नहीं है वैसा देखना। और सत्य का अर्थ है, जैसा है वैसा ही देखना। हम जो भी देखते हैं, वह अध्यास है। हमारी दृष्टि में हम सम्मिलित हो जाते हैं और जो भी हमारा अनुभव है, वह वस्तुगत, आब्जेक्टिव नहीं होता, सब्जेक्टिव, आत्मगत हो जाता है। जो वहां बाहर है, जैसा है, वैसा ही हम तक नहीं पहुंचता; हमारा मन उसे विकृत कर लेता है। सजा-संवार लेता है; सजावट कर देता है; आभूषण पहना देता है; काट-छांट कर देता है; छोटा, बड़ा, बहुत-बहुत रूपों में उसे रूपांतरित कर देता है।

जो बड़े से बड़ा रूपांतरण है, जो गहरे से गहरा अध्यास है, वह हैः हम प्रत्येक चीज के साथ अपने को जोड़ लेते हैं, जिससे हम जुड़े हुए नहीं हैं। जुड़ते ही चीज की जो वस्तु-स्थिति है वह खो जाती है और जो स्वप्न-स्थिति है वह सही मालूम पड़ने लगती है।

जैसे, जहां-जहां हम कहते हैं मेरा... कहते हैं, मेरा मकान! मकान हम न थे तब भी था; हम न होंगे तब भी होगा। जो हमारे होने से पहले हो सकता है, और जो हमारे होने के बाद भी बना रहेगा, और जो हमारे मिटने के साथ मिटता नहीं है, वह मेरा कैसे हो सकता है? मैं इसी क्षण मर जाऊं तो मेरा मकान मिटता नहीं है। मेरे मकान को मेरे मिटने का पता भी नहीं चलेगा।

तो मुझ से जोड़ ही क्या है मेरे मकान का? संबंध क्या है? कल कोई और रहेगा उस मकान में और वह भी उसे मेरा कहेगा। कल कोई और रहता था, वह भी उसे मेरा कहता था। न मालूम कितने लोगों ने अपने मैं को उस मकान पर चिपकाया है और विदा हो गए हैं! लेकिन वह मैं चिपक नहीं पाता, वह मकान किसी का हो नहीं पाता। मकान हो भी नहीं सकता किसी का। मकान अपना है, मकान खुद का है।

इस जगत में प्रत्येक वस्तु स्वयं है। इसे हम ठीक से समझ लें तो अध्यास को तोड़ने में आसानी हो जाएगी। जमीन का एक टुकड़ा है, आप कहते हैंः मेरा खेत, मेरा बगीचा। आज नहीं कल, चांद पर दावा खड़ा होगा। अमरीका कहेगा मेरा या रूस कहेगा मेरा। कल तक चांद किसी का भी न था। बस चांद था। चांद का ही था। लेकिन अब कोई न कोई दावा होगा। और आज नहीं कल, संघर्ष खड़ा होगा। अभी सूरज सिर्फ सूरज का है, कल उस पर भी दावा हो सकता है।

आदमी जहां भी पैर रखता है वहीं अपने मैं की छाप लगा देता है। प्रकृति उसकी छाप को मानती नहीं; लेकिन दूसरे आदमियों को मानना पड़ता है, अन्यथा संघर्ष खड़ा होता है। और वे दूसरे लोग भी इसीलिए मानते हैं उस छाप को कि वे भी वैसी छाप लगाना चाहते हैं। तो मकान किसी का हो जाता है; जमीन किसी की हो जाती है।

और हमारी इतनी आतुरता क्यों होती है कि हम इस मैं की छाप को कहीं लगा दें? आतुरता इसलिए होती है कि जितनी जगह हम यह छाप लगा देते हैं, हस्ताक्षर कर देते हैं, जितना हमारा मेरे का विस्तार बड़ा हो जाता है, उतना ही बड़ा मैं हमारे भीतर हो जाता है। मैं उतना ही बड़ा होगा, जितनी चीजों पर उसकी छाप लगी है। अगर कोई आदमी कहता है कि एक एकड़ जमीन मेरी, तो निश्चित ही उसके पास उतना बड़ा मैं कैसे होगा! दूसरा आदमी कहता है, एक हजार एकड़ जमीन मेरी। मेरे के विस्तार के साथ मैं बड़ा होता मालूम पड़ता है। मेरे का विस्तार कम होता है तो मैं छोटा, कम होता है। तो मैं की एक-एक ईंट मेरे से निर्मित होती है। तो जितना ज्यादा मैं कह सकूं मेरा, उतना बड़ा मैं का महल खड़ा हो जाता है।

इसलिए सारे जीवन हम एक ही दौड़ में होते हैं कि कितनी ज्यादा चीजों पर छाप लगा दें अपनी, कह पाएं कि मेरी हैं। इस छाप लगाने-लगाने में चीजों पर छाप लग भी जाती है और हम छाप लगाते-लगाते विदा हो जाते हैं। और जिसे हमने कहा था मेरा, उस पर कोई और छाप लगाना शुरू कर देता है।

वस्तुएं अपनी हैं, किसी की भी नहीं। उपयोग उनका हो भी सकता है, मालकियत नहीं हो सकती। मालकियत भ्रम है। और उपयोग जब हम करते हैं तब अनुग्रह का भाव होना चाहिए, क्योंकि जो हमारा नहीं है उसका हम उपयोग कर रहे हैं। लेकिन जब हम कहते हैं मेरा तो अनुग्रह का भाव भी चला जाता है और मेरे का एक जगत निर्मित हो जाता है। उसमें धन है, पद है, प्रतिष्ठा है, शिक्षा है, सब सम्मिलित है।

और ये ही सम्मिलित हों तो भी आश्चर्य नहीं, जिन चीजों का मैं से कोई भी संबंध नहीं होता, वे भी सम्मिलित हो जाती हैं। हम कहते हैंः मेरा धर्म, मेरा ईश्वर, मेरा देवता, मेरा मंदिर; जिनसे कि मैं का कोई भी संबंध नहीं हो सकता। और अगर हो, तो फिर इस जगत से छुटकारे का कोई उपाय नहीं। क्योंकि अगर धर्म भी मेरा और तेरा हो सके, और ईश्वर भी मेरा और तेरा हो सके, तब तो बड़ी कठिनाई है; फिर तो इस मेरे के बाहर जाने का मार्ग कहां मिलेगा! ईश्वर भी इसके भीतर आ जाता हो, तो फिर बाहर जाने के लिए कोई जगह भी नहीं बचती। लेकिन हम मेरे की छाप मंदिर और मस्जिद पर भी लगा देते हैं, हम ईश्वर पर भी लगा देते हैं। आदमी जहां भी जाता है, वहां मेरे को लेकर पहुंच जाता है।

और इसके अनुषांगिक हिस्से समझ लेंः मैं बड़ा होता है मेरे से; लेकिन जितना मेरे का फैलाव होता है, उतना दुख भी बढ़ जाता है। अकेला मैं ही बड़ा होता, तब भी कोई कठिनाई न थी। मैं की बढ़ती दुख की भी बढ़ती है; क्योंकि मैं है एक घाव। और जितना बड़ा मैं होता है, उतने ही आप चोट के लिए खुले हो जाते हैं;

उतनी बड़ी जगह हो जाती है जिस पर चोट की जा सकती है। जैसे कि बड़ा घाव हो तो उस पर दिन भर चोट लगे; कहीं से भी उठें-बैठें और चोट लगे। घाव है बड़ा, जगह है बड़ी, कुछ भी इशारा चोट बन जाता है। जितना बड़ा मैं हो, उतनी बड़ी चोट लगने लगती है, उतना दुख होता है।

मेरे के विस्तार से मैं बढ़ता है, रस आता है। मैं बढ़ता है, दुख भी बढ़ता है। इधर लगता है सुख बढ़ रहा है, उधर साथ-साथ दुख भी बढ़ता जाता है। जितना हम सुख बढ़ाते हैं, उतना दुख बढ़ता चला जाता है। और इन दोनों के बीच में एक अध्यास, एक भ्रम चल रहा है। जहां मेरे का कोई उपाय नहीं कहने का, वहां हम व्यर्थ ही, झूठ ही मेरा कहे चले जा रहे हैं।

यह हाथ जिसको आप मेरा कहते हैं, शरीर जिसको आप मेरा कहते हैं, यह भी आपका नहीं है। आप नहीं थे तब भी इस हाथ की हड्डी, इस हाथ की चमड़ी, इस हाथ का खून कहीं था; और आप नहीं होंगे तब भी यह होगा। आपके शरीर में जो हड्डियां हैं, वे न मालूम कितने शरीरों में हड्डियां रह चुकी हैं। जो आज आपका खून है, कल किसी पशु में बहता था, परसों किसी वृक्ष में बहता था। और न मालूम कितनी लंबी यात्रा है उसकी अरबों-खरबों वर्षों की। आप नहीं होंगे तब भी आपके शरीर में एक-एक कण कोई भी नष्ट होने वाला नहीं है। वह सब बना रहेगा। वह किन्हीं और शरीरों में बहेगा।

इसे ऐसा समझें कि जो सांस अभी आपके भीतर है, एक क्षण पहले आपके पड़ोसी के भीतर थी। जो आपके पास में बैठा है, उसने जो सांस छोड़ दी है, वह अब आपकी सांस हो गई है। क्षण भर पहले वह कहता था मेरी सांस, क्षण भर बाद उसकी नहीं रही, किसी और की हो गई है। और अब दूसरा भी कह न पाएगा मेरी सांस कि दूसरे की हो जाएगी।

जिंदगी प्रतिपल किसी का दावा स्वीकार नहीं करती, बही चली जाती है। और हम दावे ठोंकते चले जाते हैं। यह दावे का जो भ्रम है, यह मनुष्य का गहरे से गहरा अध्यास है। तो जब भी कोई आदमी कहता है मेरा, तब अज्ञान में गिरता है।

यह सूत्र इस अध्यास को तोड़ने के लिए है।

जमीन तो मेरी है ही नहीं, मकान तो मेरा है ही नहीं, धन तो मेरा है ही नहीं, शरीर भी मेरा नहीं है। आपका जो शरीर है वह आपके मां और पिता के अणुओं से बना है। वे आपके पहले थे। और वे अणु लंबी यात्रा करके आ रहे हैं; वे आपके माता-पिता के माता-पिता के पास थे। हजारों-लाखों वर्षों की यात्रा उन अणुओं की है। उनसे आपका शरीर बना है। वह शरीर भी एक क्षेत्र है, एक जमीन है, जिसमें आप स्थापित हैं, लेकिन आप हैं नहीं। आप वही नहीं हैं, उससे अलग हैं।

यह सूत्र कहता है, मनुष्य शरीर भी नहीं है। इतना ही नहीं, यह सूत्र और गहरे जाता है और कहता है, मनुष्य मन भी नहीं है। क्योंकि मन भी तो संग्रह है।

आपके पास कोई भी ऐसा एक विचार है जो आपका हो? जिसको आप कह सकें मेरा?

कोई विचार नहीं है। कोई परंपरा से आया, कोई शास्त्र से आया, कोई किसी से सुन कर, कहीं से पढ़ कर, कहीं न कहीं से आया है। अगर आप अपने एक-एक विचार की जन्मपत्री की खोज करें, और एक-एक विचार की यात्रा देखें, तो आप पाएंगे आपके पास एक भी विचार अपना नहीं है, सब विचार उधार हैं; सब कहीं से आए हैं।

कोई विचार मौलिक नहीं होता, ओरिजनल नहीं होता, सब विचार उधार होते हैं। पर विचार को भी हम कहते हैं, मेरा! वहां भी हम... ।

ध्यान रहे, श्वास तक मेरी नहीं कही जा सकती, विचार और भी सूक्ष्म बात है। लेकिन उसे भी मेरा नहीं कहा जा सकता। इस विश्लेषण में गहरे उतरते-उतरते कहां पहुंचता है आदमी? उपनिषद कहां पहुंचे हैं? बुद्ध कहां पहुंचते हैं? महावीर कहां पहुंचते हैं?

इस विश्लेषण को करते-करते, इस काट को करते-करते--यह भी मैं नहीं हूं, यह भी मैं नहीं हूं, यह भी मैं नहीं हूं--आखिर में जब काटने को कुछ भी नहीं बचता; जब कुछ भी नहीं बचता जिसको मैं सोच भी सकूं कि मेरा है या नहीं, तब भी जो बच रहता है; जब सब काट डाला जाता है और काटने का कोई उपाय नहीं रह जाता; जब सब तोड़ दिए जाते हैं संबंध और कोई संबंध बचता नहीं जिसे तोड़ा जाए, तब भी जो बच रहता है, उसी को उपनिषद साक्षी कहते हैं; वही है विटनेस।

यह बड़ा संसार है चारों तरफ, यह मेरा नहीं है। और सिकुड़ कर पास आता हूं, यह शरीर भी मेरा नहीं है। और भीतर उतरता हूं, यह मन भी मेरा नहीं है। फिर कौन है जिसको मैं कहूं मैं? या कि मेरे भीतर कोई भी नहीं है जिसको मैं कहूं मैं! मैं हूं या नहीं हूं? सब मेरे को तोड़ते-तोड़ते शुद्धतम क्या बचता है भीतर? एक चीज बच रहती है जो नहीं कटती। जिसको काटने का कोई भी उपाय नहीं है।

पश्चिम में एक विचारक हुआ, देकार्त। गहरा विचारक था। और उसने तय किया कि तब तक कोई बात न मानूंगा जब तक कि असंदिग्ध सत्य उपलब्ध न हो जाए; जिस पर संदेह न किया जा सके। तो उसने चिंतन शुरू किया। बड़ी मेहनत की उसने और सारी चीजें संदिग्ध मालूम पड़ीं। कोई कहे ईश्वर है, संदेह किया जा सकता है। हो या न हो, लेकिन संदेह तो किया जा सकता है। कोई कहे स्वर्ग है, मोक्ष है, संदेह किया जा सकता है। देकार्त कहता था कि मैं तो जिस पर संदेह ही न किया सके--ऐसा नहीं कि जिसको सिद्ध किया जा सके, तर्क किया जा सके--नहीं, संदेह ही न किया जा सके; इनड्युबिटेबल, असंदिग्ध हो, तभी मानूंगा।

बहुत खोज करके, लेकिन एक जगह आकर वह भी रुक गया। उसने सब इनकार कर दिया; ईश्वर, स्वर्ग, नर्क, सब फेंक दिए; लेकिन एक जगह आकर अटक गया--मैं। मैं हूं या नहीं?

देकार्त ने कहा, इस पर संदेह नहीं किया जा सकता। क्योंकि अगर मैं यह भी कहूं कि मैं नहीं हूं, तो यह कहने के लिए भी मेरे होने की जरूरत पड़ जाती है। यह तो ऐसे ही होगा, जैसे घर के भीतर कोई आदमी हो और वह आपसे कहे कि मैं अभी बाहर गया हूं या मैं अभी घर पर नहीं हूं, आप थोड़ी देर बाद आएं तब मैं आपको मिलूंगा, तब तक मैं घर लौट आऊंगा। तो उसका यह कहना ही उसके होने का प्रमाण हो जाएगा। इसलिए मेरे होने की तो स्थिति असंदिग्ध है। इतना तो साफ है कि मैं हूं। लेकिन क्या हूं, यह इतना साफ नहीं है। शरीर हूं कि मन हूं, क्या हूं, यह इतना साफ नहीं है।

उपनिषद इसी की खोज में चलते हैं। साफ करते चले जाते हैं; एक-एक चीज को अलग करते जाते हैं, जैसे कोई प्याज के छिलके को उघाड़ता चला जाए। और जब तक छिलके बचते हैं, उघाड़ते ही चले जाते हैं। अगर प्याज के छिलके उघाड़ते चले जाएं तो पीछे आपके हाथ कुछ भी न लगेगा। प्याज छिलका ही छिलका है, वस्त्र ही वस्त्र; निकालते चले जाएं तो भीतर कुछ भी न मिलेगा। जैसे किसी ने कपड़ों की एक गुड़िया बनाई हो, और हम एक-एक कपड़ा निकालते चले जाएं। एक कपड़े को निकालें, दूसरा कपड़ा बचे। उसे निकालें, तीसरा निकल आए। निकालते चले जाएं, लेकिन कपड़े की ही गुड़िया हो तो आखिर में सब कपड़े निकल जाएंगे, गुड़िया पीछे बचेगी नहीं। आखिर में शून्य हाथ लगेगा।

तो बड़ी खोज यही है मनुष्य की कि आदमी भी कहीं पर्तों का ही एक जोड़ तो नहीं है? कि हम उघाड़ते चले जाएं और भीतर फिर कुछ बचे ही न! कह दें कि शरीर भी मैं नहीं हूं और मन भी मैं नहीं हूं; और यह भी नहीं और यह भी नहीं; फिर कहीं ऐसा न हो कि प्याज की कहानी हो जाए! आखिर में कुछ भी न बचे जिसको हम कह सकें कि मैं हूं।

लेकिन उपनिषद कहते हैं, अगर यह भी हो तो भी सत्य को जान लेना जरूरी है। अगर यह भी सत्य हो कि भीतर कुछ भी नहीं है, तो भी जान लेना जरूरी है; क्योंकि सत्य को जान लेने के परिणाम महत्वपूर्ण हैं।

लेकिन खोज करने पर अंततः पता चलता है कि नहीं, वस्त्रों का जोड़ ही नहीं है आदमी, मात्र पर्त और पर्त और पर्त ही नहीं है, पर्तों के भीतर भी कुछ है जो पर्तों से भिन्न है। लेकिन उसका पता तभी चलता है जब हम सब पर्तों को उखाड़ कर भीतर पहुंच जाएं।

उस तत्व का नाम उपनिषद कहते हैं साक्षी। यह बड़ा कीमती शब्द है, और बड़ा मूल्यवान। और पूरब का सारा चिंतन, सारी मनीषा, सारी प्रतिभा, इस एक छोटे से शब्द में निहित हो गई है। इससे महत्वपूर्ण शब्द पूरब ने दूसरा दुनिया को नहीं दिया है--साक्षी।

साक्षी का मतलब क्या है? साक्षी का मतलब हैः देखने वाला, गवाह।

मैं शरीर नहीं हूं, ऐसा किसको अनुभव होता है? मैं मन नहीं हूं, ऐसा किसको अनुभव होता है? ऐसा कौन इनकार करता चला जाता है कि मैं यह नहीं हूं, मैं यह नहीं हूं, मैं यह नहीं हूं?

एक तत्व है हमारे भीतर दर्शन का, दृष्टि का, द्रष्टा का, देखने का। हम देख रहे हैं; हम जांच रहे हैं।

वह जो देख रहा है, वही है साक्षी; जो दिखाई पड़ रहा है, वही है जगत। जो देख रहा है, वही हूं मैं; और जो दिखाई पड़ रहा है, वही है जगत। अध्यास का अर्थ है कि जो देख रहा है, वह भूल से यह समझ लेता है कि जो दिखाई पड़ रहा है वह मैं हूं। यह अध्यास है।

एक हीरा मेरे हाथ में रखा है। उसे मैं देख रहा हूं। अगर मैं यह कहने लगूं कि मैं हीरा हूं तो अभ्यास होगा। क्योंकि हीरा मेरे हाथ पर रखा है, दिखाई पड़ रहा है, आब्जेक्ट है, एक विषय है, और मैं देखने वाला हूं, अलग हूं। देखने वाला सदा ही अलग है उससे जो दिखाई पड़ता है। देखने वाला कभी भी दृश्य के साथ एक नहीं है। देखने वाला सदा ही दिखाई पड़ने वाले से भिन्न है। मैं आपको देख रहा हूं क्योंकि आपसे भिन्न हूं, आप मुझे देख रहे हैं क्योंकि मैं आपसे भिन्न हूं। जो भी दिखाई पड़ता है वह आपसे भिन्न है। उसको ही अपने से अभिन्न समझ लेना अध्यास है। जिसको आप देख रहे हैं उसके साथ इतने मोहित हो जाना कि लगने लगे यह मैं ही हूं, यही भ्रांति है। इस भ्रांति को तोड़ना है और अंततः उस शुद्ध तत्व को खोज लेना है जो सदा ही देखने वाला है और कभी दिखाई नहीं पड़ता।

यह थोड़ा कठिन है। जो देखने वाला है वह कभी दिखाई नहीं पड़ सकता। क्योंकि वह किसको दिखाई पड़ेगा? आप सारी चीजों को देख सकते हैं जगत की, सिर्फ अपने को छोड़ कर। आप अपने को कैसे देखिएगा? क्योंकि देखने में दो की तो जरूरत पड़ेगी ही--जो देखे और जो दिखाई पड़े। आप सब कुछ देख सकते हैं, अपने भर को आप नहीं देख सकते हैं। कैसे देखिएगा? किसी चमीटे से हम उसी चमीटे को पकड़ने की कोशिश करने लगें! सब पकड़ सकते हैं उस चमीटे से, सिर्फ उसी चमीटे को पकड़ने की कोशिश असफल जाएगी। और तब बड़ी मुश्किल होगी कि यह चमीटा भी कैसा पागल है! सब कुछ पकड़ लेता है तो अपने को क्यों नहीं पकड़ पाता?

हम सब कुछ देख लेते हैं, अपने को नहीं देख पाते। देख भी नहीं पाएंगे। और जिसको भी हम देख लेंगे, जान लेना कि वह हम नहीं हैं। तो जिस चीज को भी आप देखने में समर्थ हो जाएं, आप समझ लेना कि इतनी बात तय हो गई कि यह मैं नहीं हूं। कोई आदमी अगर ईश्वर का दर्शन कर ले, तो समझ लेना एक बात पक्की हो गई कि आप ईश्वर नहीं हैं। आपको भीतर प्रकाश का दर्शन हो जाए, तो समझ लेना एक बात पक्की हो गई कि आप प्रकाश नहीं हैं। आपको भीतर आनंद का अनुभव हो जाए, तो आप एक बात पक्की समझ लेना कि आप आनंद नहीं हैं। जिस चीज का भी अनुभव हो जाए वह आप नहीं हैं। आप तो वह हैं जिसको अनुभव होता है।

तो जो भी चीज अनुभव बन जाती है, उसके आप पार हो जाते हैं। इसलिए एक कठिन बात समझ लेनी उपयोगी होगी, कि अध्यात्म कोई अनुभव नहीं है। दुनिया में सब चीजें अनुभव हैं, अध्यात्म कोई अनुभव नहीं है। अध्यात्म तो उसकी तरफ पहुंच जाना है जिसको सब अनुभव होता है और जो स्वयं कभी अनुभव नहीं बनता--अनुभोक्ता, साक्षी, द्रष्टा।

आपको मैं देखता हूं; उधर आप हैं, इधर मैं हूं। उधर आप हैं जो दिखाई पड़ रहा है; इधर मैं हूं जो देख रहा है। ये दो हैं। अपने को बांटने का कोई उपाय नहीं है कि मैं अपने को दो टुकड़े में कर लूं, और एक देखे और एक दिखाई पड़े। अगर टुकड़ा हो सके--दो टुकड़े हो सकें--तो जो टुकड़ा देखेगा, वही मैं हूं; और जो टुकड़ा दिखाई पड़ेगा, वह मैं नहीं रहा। वह बात समाप्त हो गई। वह मुझसे टूट गया। वह अलग हो गया।

उपनिषद की व्यवस्था, प्रक्रिया, विधि यही हैः नेति-नेति। जो भी दिखाई पड़ जाए, कहो कि यह भी नहीं। जो भी अनुभव में आ जाए, कहो यह भी नहीं। और हटते जाओ पीछे, हटते जाओ पीछे, हटते जाओ पीछे। उस समय तक हटते जाओ, जब तक कि कोई भी चीज इनकार करने को बाकी रहे।

एक ऐसी घड़ी आती है, सब दृश्य खो जाते हैं। एक ऐसी घड़ी आती है, सब अनुभव गिर जाते हैं--सब। ध्यान रखना, सब। कामवासना का अनुभव तो गिरता ही है, ध्यान का अनुभव भी गिर जाता है। संसार के, राग-द्वेष के अनुभव तो गिर ही जाते हैं, आनंद, समाधि, इनके भी अनुभव गिर जाते हैं। बच रहता है खालिस देखने वाला। कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता, शून्य हो जाता है चारों तरफ। रह जाता है केवल देखने वाला और चारों तरफ रह जाता है खाली आकाश। बीच में खड़ा रह जाता है द्रष्टा, उसे कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता; क्योंकि उसने सब इनकार कर दिया। जो भी दिखाई पड़ता था, हटा दिया मार्ग से। अब उसे कुछ भी अनुभव नहीं होता। हटा दिए सब अनुभव। अब बच रहा अकेला, जिसको अनुभव होता था।

जब कोई भी अनुभव नहीं होता, और कोई दर्शन नहीं होता, और कोई दिखाई नहीं पड़ता, और कोई विषय नहीं रह जाता, और जब साक्षी अकेला रह जाता है, तब कठिनाई है भाषा में कहने की कि क्या होता है। क्योंकि हमारे पास अनुभव के सिवाय कोई शब्द नहीं है। इसलिए इसे हम कहते हैं आत्म-अनुभव, लेकिन अनुभव शब्द ठीक नहीं है। हम कहते हैं चेतना का अनुभव या ब्रह्म-अनुभव। लेकिन यह शब्द, कोई भी शब्द ठीक नहीं है; क्योंकि अनुभव उसी दुनिया का शब्द है, जिसको हमने तोड़ डाला। अनुभव उस द्वैत की दुनिया में अर्थ रखता है जहां दूसरा भी था, यहां अब कोई अर्थ नहीं रखता। यहां सिर्फ अनुभोक्ता बचा, साक्षी बचा।

इस साक्षी की तलाश ही अध्यात्म है।

ध्यान देना, ईश्वर की तलाश अध्यात्म नहीं है। पुराने योग-सूत्रों ने ईश्वर की चर्चा ही नहीं की, बात ही नहीं उठाई; कोई जरूरत न थी। बाद में योग-सूत्रों ने ईश्वर की चर्चा भी की तो उसको भी एक अध्यात्म की खोज का साधन कहा, साध्य नहीं। उसे भी कहा कि यह साधना में सहयोगी होता है इसलिए ईश्वर को मान लेना अच्छा है। साधना में सहयोगी होता है, अध्यात्म की खोज में, इसलिए मान लेना अच्छा है। एक उपकरण है, ईश्वर भी एक विधि है, बस।

इसलिए बुद्ध ने इनकार कर दिया, महावीर ने ईश्वर को इनकार कर दिया। उन्होंने दूसरी विधियां खोज लीं। उन्होंने कहा, इस विधि की कोई भी जरूरत नहीं है। अगर विधि ही है ईश्वर, तो फिर दूसरी विधियों से भी काम चल सकता है।

लेकिन बुद्ध और महावीर भी साक्षी को इनकार नहीं कर सकते; ईश्वर को इनकार कर सकते हैं। सब कुछ इनकार किया जा सकता है, लेकिन अध्यात्म की जो आत्यंतिक आधारशिला है वह साक्षी है, उसे इनकार नहीं किया जा सकता। इसलिए चाहे ईसाइयत, चाहे इस्लाम, चाहे हिंदू, चाहे जैन, चाहे बौद्ध, एक बात आप खोज लेनाः अगर किसी भी धर्म में साक्षी की कोई बात हो, तो समझना कि वह धर्म है; अगर साक्षी की बात ही न हो, तो समझना कि उसका धर्म से कोई भी संबंध नहीं है। और सब बातें गौण हैं; और सब बातें उपयोगी, गैर-उपयोगी हैं; और सब बातों में मतभेद हो सकता है, साक्षी के मामले में मतभेद नहीं हो सकता।

इसलिए अगर किसी दिन दुनिया में धर्म का विज्ञान निर्मित होगा तो उसमें ईश्वर, आत्मा, ब्रह्म, इन सबकी चर्चा नहीं होगी, क्योंकि ये सब स्थानीय बातें हैं, कोई धर्म मानता है, कोई नहीं मानता; लेकिन साक्षी की चर्चा जरूर होगी, क्योंकि साक्षी स्थानीय घटना नहीं है। धर्म ही नहीं हो सकता बिना साक्षी के। तो साक्षी भर एक वैज्ञानिक आधारशिला है समस्त धर्म-अनुभव की, समस्त धर्म की खोज और यात्रा की। और इस साक्षी पर ही सारे उपनिषद घूमते हैं, इर्द-गिर्द। सारे सिद्धांत और सारे इशारे इस साक्षी को दिखाने के लिए हैं।

थोड़ा हम समझने की कोशिश करें। क्योंकि शब्द से तो समझ में आ जाता है कि साक्षी का क्या मतलब है, लेकिन साधना में बड़ी जटिल बात है।

हमारा जो मन है वह एक तीर की तरह है, जिसमें एक तरफ फल लगा हुआ है तीर का। तीर को आपने देखा है? तीर दो तरफ नहीं चल सकता। अगर आप तीर को चला दें, तो एक ही तरफ जाएगा। या कि आप सोचते हैं दो तरफ भी जा सकता है? तीर के दो तरफ जाने का कोई भी उपाय नहीं है। तीर जाएगा अपने निशाने की तरफ, एक तरफ।

तो जब प्रत्यंचा पर कोई तीर को चढ़ाता है, और प्रत्यंचा से तीर छूटता है, तो दो बातें ख्याल में ले लें। प्रत्यंचा, जहां वह चढ़ा था, वहां से छूट जाता है, दूर हटने लगता है; और जहां वह नहीं था--साध्य, लक्ष्य--उस तरफ बढ़ने लगता है। एक स्थिति यह थी कि प्रत्यंचा पर चढ़ा था तीर, दूर बैठा था पक्षी वृक्ष पर, उसकी छाती में नहीं चुभा था तीर, तीर था प्रत्यंचा पर, पक्षी पर नहीं था; फिर छूटा तीर, प्रत्यंचा से दूर होने लगा और पक्षी के पास होने लगा। फिर एक स्थिति आई कि पक्षी की छाती में चुभ गया; प्रत्यंचा खाली रह गई और तीर पक्षी की छाती में हो गया।

ध्यान, पूरे समय हम यही कर रहे हैं कि जब भी हमारे ध्यान का तीर छूटता है तो हमारी प्रत्यंचा से खाली हो जाता है, भीतर से; और जिसकी तरफ जाता है उस पर जाकर टिक जाता है।

कोई चेहरा आपको सुंदर लगा, तीर छूट गया ध्यान का। भीतर नहीं है अब तीर; अब ध्यान भीतर नहीं है; अब ध्यान भागा और दौड़ा और सुंदर चेहरे से जाकर लग गया। सड़क पर हीरा पड़ा है, तीर छूट गया प्रत्यंचा से। अब ध्यान भीतर नहीं है; अब ध्यान भागा, दौड़ा और जाकर चुभ गया हीरे की छाती में। अब ध्यान हीरे में है, अब आप में नहीं है; या ध्यान अब कहीं और है। तो आपके सब ध्यान के तीर कहीं, कहीं, कहीं, कहीं जाकर छिद गए हैं। आपके पास भीतर कोई ध्यान नहीं है, हमेशा बाहर जा रहा है।

तीर तो इकतरफा ही हो सकते हैं, लेकिन ध्यान दोतरफा हो सकता है। और वही हो जाए, तो साक्षी का अनुभव होता है। ध्यान का तीर दोतरफा हो सकता है; उसमें दो फल हो सकते हैं। और जब आपका ध्यान किसी की तरफ जाए, तो आप अगर इतना कर पाएं, तो आपको साक्षी का अनुभव किसी न किसी दिन हो जाएगा।

जब आपका ध्यान किसी पर जाए, रास्ते से गुजरी कोई सुंदर युवती, कोई सुंदर युवक--आपका ध्यान अटक गया। तब आप अपने को बिल्कुल भूल गए। यहां भीतर ध्यान न रहा। अब आप होश में नहीं हैं। अब आप बेहोश हैं, क्योंकि आपका होश तो किसी और के पास चला गया। अब आपका होश तो उसकी छाया बन गया। अब आप होश में नहीं हैं।

अगर आप यह काम कर सकें कि कोई आपको सुंदर दिखाई पड़ा, ध्यान उस पर गया, उस समय इस पर भी भीतर ध्यान जाए जहां से प्रत्यंचा से तीर छूट रहा है; उसकी तरफ भी हम एक साथ ही अगर देख पाएं; जहां से ध्यान जा रहा है वह स्रोत और जिसकी तरफ ध्यान जा रहा है वह लक्ष्य, अगर दोनों हमारे ध्यान में एक साथ आ जाएं, तो आपको पहली दफा पता चलेगा कि साक्षी का क्या अर्थ है। कहां से ध्यान जा रहा है, उस स्रोत का अनुभव होना चाहिए--कहां से ध्यान पैदा हो रहा है!

वृक्ष हमें दिखाई पड़ता है; शाखाएं दिखाई पड़ती हैं; फूल-पत्ते दिखाई पड़ते हैं; फल लग जाते हैं वे दिखाई पड़ते हैं; जड़ें हमें नहीं दिखाई पड़तीं, जड़ें अंधेरे में छिपी हैं। लेकिन वहीं से वृक्ष रस ले रहा है।

आपका ध्यान फैलता है चारों तरफ, जगत का बड़ा वृक्ष निर्मित हो जाता है। लेकिन जहां से ध्यान निकलता है, जिस स्रोत से, जिस चैतन्य के सागर से निकलता है, उस तरफ का आपको कोई भी पता नहीं है। उन जड़ों का भी बोध साथ-साथ होने लगे, एक साथ आपको दोनों बात दिखाई पड़ने लगें... ।

इसे ऐसा समझें। मैं बोल रहा हूं, तो आपका ध्यान मेरे बोलने पर लगा है। इसको दोहरा तीर बना लें। यह दोहरा तीर अभी, इसी वक्त भी बन सकता है। जब मैं बोल रहा हूं, तो आप केवल मैं जो बोल रहा हूं वही न सुनें, आपको यह भी स्मरण रहे कि मैं सुन रहा हूं। बोलने वाला कोई और है, वह बोल रहा है; मैं सुनने वाला हूं, मैं सुन रहा हूं। अगर आप एक क्षण को भी--अभी, यहीं--ये दोनों बातें एक साथ कर लेंः सुनें भी और सुनने वाले का स्मरण भी, रिमेंबरिंग भी भीतर बनी रहे कि मैं सुन भी रहा हूं।

शब्द दोहराने की जरूरत नहीं है। अगर आप कहें कि मैं सुन रहा हूं, तो उतनी देर में आप सुन न पाएंगे; जो मैंने कहा वह चूक जाएगा। भीतर शब्द बनाने की जरूरत नहीं है कि मैं सुन रहा हूं, मैं सुन रहा हूं। अगर आपने ऐसा किया तो उतनी देर आप बहरे हो जाएंगे। उस सेकेंड आप अपनी भीतर की आवाज सुनेंगे कि मैं सुन रहा हूं, लेकिन जो मैं बोल रहा हूं यहां से वह आपको सुनाई नहीं पड़ेगा।

मैं जो बोल रहा हूं वह सुनाई पड़ता रहे, और साथ ही आपको यह भी स्मरण हो जाए--शब्दों में नहीं--यह भी आपकी प्रतीति साफ हो जाए कि इधर सुनने वाला भी बैठा है। इधर सुनने वाला है, उधर बोलने वाला है। ये दोनों एक साथ आपकी चेतना में झलक जाएं, तत्क्षण आपको साक्षी का अनुभव हो जाएगा कि साक्षी क्या है।

साक्षी वह है जो इन दोनों को देख रहा है।

और थोड़ा भीतर प्रवेश करें। आप सुन रहे हैं, मैं बोल रहा हूं, साक्षी वह है जो दोनों का अनुभव कर रहा है कि बोला जा रहा है, सुना जा रहा है। जब आपकी चेतना का तीर दोहरा हो जाता है तो तत्क्षण आप तीसरे बिंदु पर खड़े हो जाते हैं।

मैंने बोला; यह एक बिंदु हुआ। साधारणतः आपका ध्यान इसी पर लगा रहता है। आपने सुना भी, आप सुनने वाले हैं, ऐसी भी आपको प्रतीति हुई, एहसास हुआ, अनुभव हुआ; यह दूसरा बिंदु हो गया। यह दूसरा बिंदु पाना बहुत कठिन है। अगर यह दूसरा बिंदु आपको मिल जाए तो तीसरा बिंदु पाना बहुत सरल है। वह तीसरा बिंदु यह है कि बोलने वाला है अ, सुनने वाला है ब, फिर आप कौन हैं भीतर जो कि दोनों को अनुभव कर रहे हैं--बोलने वाले को भी और सुनने वाले को भी! आप तीसरे हो गए, दि थर्ड प्वाइंट। वह जो तीसरा बिंदु है, वही साक्षी है।

इस तीसरे के पार नहीं जाया जा सकता। यह तीसरा आखिरी बिंदु है। और यह है त्रिकोण जीवन का। दो बिंदुः विषय और विषयी। और तीसरा बिंदुः दोनों का साक्षी; दोनों को अनुभव करने वाला; दोनों को भी देख लेने वाला; दोनों का भी गवाह।

इस सूत्र को अब हम समझें।

'अपने को बुद्धि और उसकी वृत्ति का साक्षी जान कर वह मैं ही हूं, ऐसी वृत्ति द्वारा सब पदार्थों के ऊपर से आत्म-बुद्धि का त्याग करता है।'

खोजी, इस सत्य का अन्वेषक, मुमुक्षु, ऐसा अनुभव करके कि मैं सदा साक्षी हूं, कभी कर्ता नहीं, सदा साक्षी हूं, कभी भोक्ता नहीं, समस्त चीजों के ऊपर से अपनी वासना का, अस्मिता का, मेरे-पन का भाव छोड़ देता है। हटता जाता है भीतर उस बिंदु तक, जिसके आगे हटने का फिर और कोई उपाय नहीं।

'लोक का अनुसरण करना छोड़ कर... ।'

ऐसा व्यक्ति फिर लोक का अनुसरण करना छोड़ देता है।

लोक का अर्थ हैः समाज, संस्कृति, सभ्यता; लोग जो आपके चारों तरफ हैं, भीड़।

जब तक आपको साक्षी का अनुभव न हो, तब तक लोक का अनुसरण छोड़ना खतरनाक भी है; क्योंकि लोक के साथ जुड़ी है नीति, जुड़ा है नियम, जुड़ी है मर्यादा, जुड़ी है व्यवस्था, अनुशासन। तो जो अभी अपना मालिक नहीं है, निश्चित ही, समाज उसका मालिक होगा। जो अपना ही मालिक नहीं है, किसी को उसे नियंत्रित करना होगा। कोई अनुशासन चाहिए, अन्यथा विक्षिप्त हो जाएगी अवस्था, अराजक हो जाएगी। लेकिन जिसे अपने होने का अनुभव हो गया, जिसे साक्षी का अनुभव हो गया, इस जगत में अब वह अपना मालिक स्वयं है।

यह बड़े मजे की बात है। जो सब मालकियत छोड़ देता है, वह अपना मालिक हो जाता है; और जो सब मालकियत इकट्ठी करता रहता है, वह केवल खबर देता है कि अपनी मालकियत उसके पास नहीं है।

इसका मतलब यह हुआ कि जो इस कोशिश में लगा है कि मेरा हो मकान, मेरी हो जमीन, मेरा हो राज्य, मेरा हो यह, मेरा हो वह, एक बात पक्की है कि वह खुद का नहीं है; क्योंकि जिसे अपने भीतर का राज्य मिल जाए, उसे फिर सब राज्य फीके और व्यर्थ हो जाते हैं; और जो अपने साम्राज्य को पा ले, फिर उसकी कोई आकांक्षा किसी साम्राज्य की नहीं रह जाती। उसके पास साम्राज्य भी हो, तो भी व्यर्थ हो जाता है। अगर उसकी बाहर के साम्राज्य की वासना प्रबल है तो वह इस बात की खबर है, इंगित है, इशारा है, कि भीतर के मालिक का उसे कुछ भी पता नहीं; उसी की कमी पूर्ति कर रहा है। भीतर मालिक नहीं है, चीजों की मालकियत बना कर भरोसा बिठा रहा है अपने पर कि मैं मालिक हूं। देखो, इतनी है मेरी जमीन! इतना है मेरा धन! इतना है मेरा फैलाव! ऐसा करके वह अपने को भरोसा दिला रहा है कि नहीं, कौन कहता है कि मैं मालिक नहीं हूं? इतनी चीजों का मालिक हूं!

यह मालकियत झूठी है, क्योंकि चीजों का कोई जगत में कभी मालिक नहीं होता।

भर्तृहरि राज्य छोड़ कर चला गया। तो बड़ी मीठी घटना घटी। राज्य छोड़ कर जंगल में चला गया; साधना करने लगा; ध्यान में लीन रहने लगा। एक दिन अचानक ऐसा हुआ कि बैठा है अपनी गुफा के द्वार पर, एक घुड़सवार अचानक रास्ते पर आया। उसके आते देरी भी नहीं हुई थी कि एक दूसरा घुड़सवार भी दूसरे मार्ग से उसी के सामने गुफा के द्वार पर आ गया। दोनों की तलवारें एकदम खिंच गईं! भर्तृहरि को कुछ समझ में न आया। दोनों की तलवारें जमीन पर टिक गईं, तब उसने नीचे की तरफ गुफा से देखा, वहां एक बड़ा हीरा पड़ा है! पहले घुड़सवार ने कहा कि नजर मेरी पहले पड़ी, इसलिए हीरा मेरा है! दूसरे घुड़सवार ने कहा कि मेरी तलवार की तरफ देखते हो! मेरी भुजाओं की तरफ देखते हो! नजर कब किसकी पड़ी, इससे क्या लेना-देना है? जो मालिक हो सकता है, वह मालिक है! मालिक मैं हूं!

तलवारें खिंच गईं! गर्दनें कट गईं! क्षण भर बाद ही दोनों गर्दनें जमीन पर कटी हुई पड़ी थीं; दोनों शरीर रक्त से भरे हुए जमीन पर पड़े थे; हीरा अपनी जगह पड़ा था!

भर्तृहरि ने कहा कि बड़ी हैरानी की बात है! जिस हीरे के लिए दोनों ने मालकियत की और दोनों मिट गए, उस हीरे को पता भी नहीं होगा कि क्या-क्या हो गया उसके आस-पास! और पता नहीं इस हीरे के आस-पास कितना-कितना नहीं हो गया होगा! और हीरा वहीं पड़ा है! और कितने लोग कटते-पिटते रहेंगे उस हीरे के लिए! और हीरा वहीं पड़ा रहेगा!

मालकियत की कोशिश वस्तुओं पर इस बात की खबर है कि अपने पर मालकियत नहीं है। और जब कोई व्यक्ति साक्षी का अनुभव करने लगता है तो अपना मालिक हो जाता है; मालकियत की वासना गिर जाती है।

अब वह किसी का मालिक नहीं होना चाहता, क्योंकि वह जानता है, कोई उपाय ही नहीं है किसी और के मालिक होने का। इसे दोहरा दूं, कोई उपाय ही नहीं है किसी और के मालिक होने का।

पति अगर सोचता हो कि पत्नी का मालिक है, तो विक्षिप्त है। पत्नी अगर सोचती हो कि पति की मालिक है, तो उसके मस्तिष्क के इलाज की जरूरत है। कोई मालिक किसी का हो नहीं सकता, क्योंकि सभी अपने मालिक पैदा हुए हैं। स्वभाव से सबकी मालकियत भीतर छिपी है। उसे किसी भी हिसाब से हटाया नहीं जा सकता। और जब तक वह हटे न, तब तक दूसरा कोई मालिक कैसे हो सकेगा!

इसलिए एक मजे की घटना घटती है। पति सोचता है मैं मालिक हूं, पत्नी हंसती है भीतर मन ही मन में और वह जानती है कि मालिक मैं हूं। इसीलिए कलह है, चौबीस घंटे कलह है। वह कलह इसी बात की है कि प्रतिपल तय करना पड़ता है कि मालिक कौन है? कौन है अधिकार में? भरोसा पक्का नहीं है। कभी भी पक्का भरोसा नहीं है। किसी चीज का कोई भरोसा नहीं है, तो व्यक्तियों का तो बिल्कुल भरोसा नहीं है। हीरे तक की मालकियत नहीं हो सकती, तो जीवित व्यक्ति की मालकियत कैसे हो सकती है!

साक्षी जिसको अनुभव हुआ, वह सब मालकियत छोड़ देता है; क्योंकि अपना मालिक हो जाता है। जो मालकियत हो सकती है, वह उसकी हो जाती है; जो नहीं हो सकती, उस पागलपन में वह नहीं पड़ता। ऐसी अवस्था में वह लोक की चिंता छोड़ दे सकता है; छोड़ देता है। क्योंकि अब कोई नियंत्रण उसके ऊपर नहीं है; अपना नियंता है। अब अपने पैर से ही यात्रा कर सकता है; अब अपने ही प्रकाश में चल सकता है; अब किसी उधार प्रकाश की कोई भी जरूरत नहीं है।

'लोक का अनुसरण करना छोड़ कर वह देह का अनुसरण करना भी छोड़ देता है।'

दूसरों का अनुसरण तो छोड़ ही देता है, जैसे ही साक्षी की प्रतीति गहरी होती है, वह देह की गुलामी भी छोड़ देता है। फिर देह उससे नहीं कहती कि ऐसा करो तो वह करे। उसे जो करना होता है वही करता है, और देह छाया की तरह उसके पीछे चलती है।

अभी आपकी देह छाया की तरह नहीं चलती, आप छाया की तरह देह के पीछे चलते हैं। देह कहती है ऐसा करो, वैसा आपको करना पड़ता है। देह कहती है ऐसा मत करो, वैसा आपको रोकना पड़ता है। देह मालिक है; उसके इशारे आपको चलाते हैं। होगी ही। क्योंकि जो अपना मालिक नहीं है, समाज उसका मालिक होगा, और प्रकृति उसकी मालिक होगी। समाज है हमारे चारों तरफ फैला हुआ मनुष्यों का समूह, और देह है हमारी पृथ्वी से, प्रकृति से जुड़ी हुई। जो अपना मालिक हुआ वह लोगों के समूह की व्यवस्था से भी मुक्त हो जाता है और प्रकृति की व्यवस्था से भी। फिर देह उसे नहीं बताती कि ऐसा करो; फिर वही चलता है और देह उसका अनुसरण करती है।

देह के अनुसरण करने की घटना बड़ी मूल्यवान है। हमें तो ख्याल में भी नहीं आ सकता कि देह कैसे अनुसरण कर सकती है! हम सोच भी नहीं सकते कि जब देह को भूख लगेगी--तो महावीर को भी तभी भूख लगेगी न जब देह को भूख लगेगी! और जब देह कहेगी कि भूख लगी है, तभी तो महावीर भोजन की तलाश पर निकलेंगे भिक्षा के लिए! देह कैसे पीछा करेगी? क्या महावीर कह देंगे कि ठीक, अब मुझे भूख लगी है, तो देह को भूख लग जाएगी? क्या मतलब देह के अनुसरण का?

गहरी कीमिया है। निश्चित ही, महावीर जब तक राजी न हों तब तक देह को भूख नहीं लगेगी। नहीं लगने का क्या मतलब है? देह को क्या होता है, देह को क्या प्रतीतियां होती हैं, यह महावीर जब सुनने को राजी होंगे, तभी देह बता पाएगी।

महावीर तय करते हैं कि मैं एक महीना उपवास करूंगा। आप तय करें कि मैं आज उपवास करूंगा, तो आप चौबीस घंटे भोजन करेंगे; मन ही मन में भोजन चलेगा। क्योंकि देह कहेगी, मालिक कौन है? मुझसे बिना

पूछे उपवास! तो ठीक है। तो देह चौबीस घंटे खबर देगी--भूख, भूख, भूख। और आपकी पूरी चेतना भूख से आच्छादित हो जाएगी। ऐसे भूखे रहने में ज्यादा देह दिक्कत नहीं देगी; अगर एक दिन भोजन न करें, तो देह इतना परेशान न करेगी। सुबह से तय कर लें... ।

यह बड़े मजे की बात है। अगर आप रोज एक बजे भोजन करते हैं, तो सुबह से एक बजे तक तो भोजन करते ही नहीं हैं, रोज एक बजे भोजन करते हैं। कल सुबह छह बजे उठ कर तय कर लें कि आज उपवास करेंगे, सुबह छह बजे से ही भोजन शुरू हो जाएगा! एक बजे तक तो रुकना चाहिए था देह को कम से कम! लेकिन देह को इशारा मिल गया कि आप मालकियत करने की कोशिश कर रहे हैं। देह सुबह से ही उपद्रव शुरू कर देगी, एक बजना तो बहुत दूर का मामला है। कभी ऐसा न होता था, एक बजे ही भूख लगती थी; आज सुबह छह बजे से शुरू हो जाएगी! देह की मालकियत पुरानी है, हजारों-हजारों जन्मों की है। और जिसकी भी मालकियत हो, कोई अपनी मालकियत इतनी आसानी से नहीं छोड़ता।

महावीर कहते हैं महीने भर उपवास करूंगा, तो महीने भर के लिए देह चुप हो जाती है; कोई खबर नहीं देती। देह अनुसरण करती है, इसका अर्थ यह है, देह कोई खबर नहीं देती। महीने भर के बाद ही देह खबर देगी कि भूख लगी कि नहीं लगी; महीने भर तक देह चुप होगी।

मगर इसका क्या मतलब है? क्या अभ्यास करने से ऐसा हो जाएगा? कि रोज-रोज अभ्यास करते रहें, जैसा कोई व्यायाम करता है, ऐसा रोज-रोज अभ्यास करते रहें उपवास का तो धीरे-धीरे आदत हो जाएगी? इस गलती में मत पड़ना। अभ्यास और आदत का सवाल नहीं है, साक्षी के अनुभव का सवाल है।

अगर साक्षी का अनुभव होगा तो देह, महीना नहीं अगर साल भर के लिए भी महावीर कह दें, तो देह चाहे सूख जाए, मर जाए, समाप्त हो जाए, लेकिन महावीर को खबर पहुंचाने की जरूरत नहीं होगी, हिम्मत नहीं होगी, कि महावीर को खबर पहुंचाए कि भूख लगी है। यह काम देह का नहीं है कि वह खबर पहुंचाए। यह तो एक दफे तय करने की बात है कि मालिक कौन है। जब तक देह को पता है कि मालिक मैं हूं, तब तक वह मालकियत करती है, जब आपका साक्षी अनुभव में आ जाता है, देह की मालकियत तत्क्षण मिट जाती है। कानून ही बदल जाता है भीतर का। देह आपके पीछे चलने लगती है। और तब बड़े अनूठे अनुभव हैं।

महावीर के पीछे हजारों लोगों ने उपवास किए, लेकिन महावीर जैसे उपवास की बात मुश्किल है। न मालूम कितने जैन साधु उपवास में लगे हुए हैं! लेकिन महावीर का शरीर देखा? उनकी मूर्ति देखी? जैन साधुओं के शरीर को उनके सामने रखें, तो पता चलेगा कि मामला--फर्क कहां होगा। इनकी देह तो पूरी खबर दे रही है। उनको ही नहीं, आप तक को खबर दे रही है कि भूख लगी है! महावीर की देह खबर नहीं देती। उनको तो खबर देती ही नहीं, आपको भी खबर नहीं देती कि भूख लगी है।

महावीर जैसी सुंदर काया खोजनी मुश्किल है। वह सुंदर काया कह रही है कि भीतर कोई मालिक हो गया है और अब देह परेशान करने का सामर्थ्य नहीं रखती है। अब देह कुछ कह नहीं सकती है कि ऐसा करो, वैसा मत करो। यह देह का मामला नहीं है, यह भीतर के जानने वाले का मामला है। वह जैसा तय करे, जो तय करे। निर्णय उसके हाथ में है। वह मरना चाहे तो मरे, जीना चाहे तो जीए; लेकिन देह बीच में अड़ंगा नहीं डाल सकती। वह सिर्फ छाया की तरह पीछा करेगी।

'लोक का अनुसरण छूट जाता है। देह का अनुसरण भी छोड़ देता है। इसके पश्चात शास्त्र का अनुसरण छोड़ कर आत्मा के ऊपर का अध्यास भी छोड़ देता है।'

ऐसे छोड़ता चला जाता हैः लोक को, देह को, शास्त्र का अनुसरण छोड़ देता है। जिसको साक्षी का अनुभव हुआ, उसके लिए शास्त्र व्यर्थ हो जाते हैं। यह जरा जटिल मामला है। इसे हम उलटा भी कह सकते हैं कि

जिसे साक्षी का अनुभव हुआ, उसके लिए शास्त्र सार्थक हो जाते हैं। ऐसा भी कह सकते हैं कि जिसको साक्षी का अनुभव हुआ, उसके लिए शास्त्र व्यर्थ हो जाते हैं।

और इन दोनों का मतलब एक है। इनका मतलब एक इसलिए है कि जब तक आपको साक्षी का अनुभव नहीं हुआ, तब तक आपके लिए कोई भी शास्त्र सार्थक नहीं है। आप कंठस्थ कर ले सकते हैं, आपको पूरा वेद कंठस्थ हो सकता है, लेकिन सार्थक नहीं है; क्योंकि अर्थ शब्द में नहीं होता, अर्थ अनुभव में होता है। आपको खुद का कोई अनुभव नहीं है। आप तोते की तरह रटते रह सकते हैं कि साक्षी, साक्षी, साक्षी। जब आप रट रहे हैं, तब भी कोई साक्षी भीतर नहीं है जो इसको सुन रहा हो।

शास्त्र तब तक व्यर्थ है, जब तक आपको अपना अनुभव नहीं हुआ; लेकिन तभी तक सार्थक मालूम पड़ता है, जब तक आपको अपना अनुभव नहीं हुआ। जिस दिन आपको अपना अनुभव हो जाता है, तब आप स्वयं ही शास्त्र हो जाते हैं। जब आप अपने स्वयं ही शास्त्र हो गए, तो अब शास्त्र की क्या सार्थकता?

तो शास्त्र जिस दिन सार्थक होता है उसी दिन व्यर्थ हो जाता है। जान लिया आपने ही वह, जो शास्त्र जनाते हैं। अब शास्त्र का क्या मूल्य है? पहुंच गए मंजिल पर, हो गई यात्रा। तो वह जो नक्शा ढोए रखते थे अब तक, उसका अब क्या अर्थ! उसको फेंक दे सकते हैं। उस नक्शे को अब क्या करिएगा?

बुद्ध कहा करते थे कि कोई नदी पार करता है नाव पर। पार होते ही नदी, नाव व्यर्थ हो जाती है। फिर उसे वहीं छोड़ कर चल देता है। लेकिन बुद्ध कहते थे कि एक दफा चार गंवारों ने भी नदी पार की। तो पार कर ली उन्होंने, फिर उतर कर नाव अपने सिर पर रख ली। गांव के लोगों ने बहुत समझाया कि हमने और पार करने वाले भी देखे, नाव वहीं छोड़ देते हैं, यह तुम क्या करते हो? तो उन्होंने कहा, जिसने इतना सहारा दिया, उसको हम ऐसे ही छोड़ दें? हम ऐसे गंवार नहीं!

फंस गए! नाव ने नदी तो पार करवा दी, अब नाव कैसे पार हो? अब उसको सिर पर लिए घूमने लगे! अब उस नाव से छुटकारा न हो।

और ऐसा मत सोचना कि वे लोग मर गए! वे मर गए, लेकिन उनकी औलाद! वह नावों को ढोती रहती है! वे कहते हैं, हमारे बाप इसी शास्त्र को ढोते थे; हम भी इसको ढोएंगे! उनके बाप के बाप ने भी यही किया था, अब हम क्या कर सकते हैं, मजबूरी है! यह सदा हमारे बाप-दादों के सिर पर रहा, हम भी इसको सिर पर रखेंगे! और फिर यह शास्त्र नाव है, इससे कितने ऋषि-मुनि पार नहीं हो गए हैं!

जिस दिन स्वयं का अनुभव होता है, उस दिन शास्त्र में कुछ भी नहीं बचता--यह भी ठीक है; उसी दिन शास्त्र सार्थक होता है--यह भी ठीक है। क्योंकि उसी दिन पता चलता है, जो शास्त्र ने कहा था वह ठीक है।

यह पैराडाक्सिकल, विरोधाभासी वक्तव्य मालूम पड़ेगा। जिस दिन शास्त्र पता चलता है सही है, उसी दिन बेकार हो जाता है। उसको छोड़ देता है, असली अध्यात्म का पथिक शास्त्र को छोड़ देता है।

और अंतिम बात उपनिषदों ने कमाल की कही है। सिर्फ बुद्ध ने उतनी हिम्मत की और कह दिया कि आत्मा भी मैं नहीं हूं। उपनिषद का यह आखिरी सूत्र अदभुत है। इसमें बुद्ध का सारा सार आ गया है।

'और अंत में जब शास्त्र भी छोड़ देता है तो आत्मा के ऊपर का भी अध्यास छोड़ देता है।'

फिर वह यह भी नहीं कहता कि मैं आत्मा हूं। मैं मकान नहीं हूं, यहां से शुरू हुई थी बात। मैं शरीर नहीं हूं, मैं मन नहीं हूं, यहां गहरी गई थी। यह आखिरी छलांग है कि मैं आत्मा भी नहीं हूं। इसका क्या मतलब होगा? इसका मतलब यह होगा कि अब मैं कोई भी अपनी सीमा बनाऊं, वह नासमझी है।

जब हम कहते हैं मैं आत्मा हूं, तो आपकी आत्मा अलग हो जाती है, मेरी अलग हो जाती है। जब मैं कहता हूं मैं आत्मा हूं, तो मैं व्यक्ति हो जाता हूं और यह सारी समष्टि मुझसे अलग हो जाती है। आखिरी अध्यास यह भी टूट जाता है कि मैं अलग हूं, कि मैं व्यक्ति हूं। तब यह सारी समष्टि और मेरे बीच के सारे फासले, सारी

सीमाएं गिर जाती हैं। तब बूंद सागर हो जाती है। तो बूंद यह भी कैसे कहे कि मैं बूंद हूं! तब बूंद गिर कर सागर हो जाती है। तो बूंद कैसे कहे कि मैं बूंद हूं! आखिर में जब सब छूट जाता है तब यह भी छूट जाता है कि मैं आत्मा हूं।

इसका अर्थ? इसका अर्थ यह नहीं कि आत्मा नहीं है। इसका यह अर्थ है कि मैं परमात्मा हूं। आत्मा भी होने से काम नहीं चल सकता है।

यह घोषणा बड़ी कठिन है। और यह घोषणा जब भी कि जाती है, तब कठिनाई खड़ी हो जाती है।

अलहिल्लाज मंसूर ने कहा मुसलमानों से कि मैं परमात्मा हूं। उन्होंने फौरन उसे सूली दे दी कि कैसी कुफ्र की बात करते हो! पाप की बात करते हो! तुम और परमात्मा! कितने ही ऊंचे हो जाओ, सिद्ध से सिद्ध हो जाओ, लेकिन कोई परमात्मा नहीं हो सकता; क्योंकि परमात्मा होने का मतलब है आखिरी बात! आदमी मिट्टी से पैदा हुआ, इतनी ऊंची उड़ान! यह नहीं होगा।

तो मंसूर को उन्होंने काट डाला। और जब मंसूर काटा जा रहा था, तब भी मंसूर हंस रहा था। किसी आदमी ने भीड़ में से पूछा कि तुम क्यों हंस रहे हो? तो मंसूर ने कहा, मैं इसलिए हंस रहा हूं कि जिसे ये काट रहे हैं, उसको तो मैं पहले ही कह चुका था कि मैं नहीं हूं। ये किसको काट रहे हैं? यह तो हम पहले ही कह चुके नासमझो, कि यह मैं नहीं हूं। और जब हम यह कहे, तभी तो हमें पता चला कि हम परमात्मा हैं। मैं परमात्मा हूं।

वह मरते दम तक, आखिरी दम तक उसकी जुबान से अनलहक, अनलहक--मैं हूं ब्रह्म, मैं हूं ईश्वर--ये आखिरी शब्द उसके मुंह से गूंजते रहे।

सरमद हुआ एक फकीर। सूफी सरमद को बड़े आदर से देखते हैं। और आदमी भी, दो-चार-दस, इने-गिने आदमियों में एक हुआ जमीन पर। औरंगजेब के पास शिकायत पहुंची सरमद की, कि वह जरा अजीब सी बातें कहने लगा है।

मुसलमानों का मंत्र हैः कोई नहीं अल्लाह के सिवाय, एक अल्लाह ही है। लेकिन यह जो सरमद था, यह सिर्फ इतना ही कहता थाः कोई नहीं अल्लाह। आधा। यह तो उलटा ही हो गया मतलब! कोई नहीं अल्लाह के सिवाय, एक ही अल्लाह है--यह पूरा सूत्र है। और सरमद इतना ही कहता थाः कोई नहीं अल्लाह। यह क्या हुआ मामला! यह तो सब बात ही बिगड़ गई!

औरंगजेब ने सरमद को बुला कर कहा कि हद हो गई! तुम सूफी कहते हो अपने को! फकीर कहते हो! ईश्वर का प्रेमी कहते हो! और तुम कहते हो, कोई नहीं अल्लाह!

तो सरमद ने कहा, हम अभी यहीं तक पहुंचे हैं, आगे अभी यात्रा करनी है। आप पूरा सूत्र कहते हैंः कोई नहीं अल्लाह के सिवाय, एक ही अल्लाह है। अभी हम वहां तक नहीं पहुंचे हैं। बढ़ने दो, धीरे-धीरे शायद पहुंच जाएं। बाकी जहां तक हम पहुंचे हैं, वहीं तक हम बोलते हैं। और झूठ हम न बोलेंगे। अभी हमें इतना ही पता चला हैः 'कोई नहीं अल्लाह।' वह--'के सिवाय, एक ही है अल्लाह'--जरा रुको, कोशिश करने दो। और तुम्हें पता चल गया हो पूरा, तो बोलो!

निश्चित ही, यह कुफ्र की बात थी। और यह आदमी नास्तिक है। और इस नास्तिक के पीछे न मालूम कितने और लोग बरबाद हो रहे हैं। सरमद की बड़ी प्रतिष्ठा थी दिल्ली में। लाखों लोग उसके चरण छूते थे इस आदमी के, जो कहता था कोई नहीं अल्लाह! इसको कहते हैं चमत्कार! जब कोई आदमी कहता है कोई नहीं अल्लाह, और लाखों आदमी उसमें अल्लाह को देख लेते हैं!

ऐसा हुआ है। बुद्ध के साथ हुआ, महावीर के साथ हुआ, सरमद के साथ हुआ। महावीर ने कहा कोई नहीं परमात्मा, और लाखों लोगों ने महावीर को कहा भगवान। और बुद्ध ने कहा कोई न परमात्मा है, न कोई

आत्मा, और लाखों लोगों ने बुद्ध के चरणों में सिर रख कर पूछा कि रास्ता बताओ, कैसे पहुंचें उस जगह, जहां न कोई आत्मा है, न कोई परमात्मा!

सरमद को औरंगजेब ने कहा कि तीन दिन का समय देता हूं, सुधार कर लो; और यह वाक्य पूरा कर लो, नहीं तो हम गर्दन कटवा देंगे।

सरमद ने कहा कि तीन दिन का क्या भरोसा, हम बचें न बचें और तुम गर्दन काटने से वंचित रह जाओ! और यह भी कुछ पक्का नहीं कि हम तीन दिन में पहुंच पाएं पूरे सूत्र तक, और जब तक न पहुंचें तब तक यह जबान दोहराने वाली नहीं। अनुभव हो तो ही हम कहेंगे। तो तुम आज ही कटवा दो।

और कहते हैं कि सरमद ने कहा कि यह भी हो सकता है कि गर्दन कटने से, जो बाकी यात्रा है, वह पूरी हो जाए। वह जो हमें अभी आगे का पता नहीं है, शायद यह गर्दन ही बाधा बन रही है।

औरंगजेब तो शायद ही समझा होगा! सम्राटों और अकल का वैसे कोई संबंध नहीं है! उसने उसी दिन कटवा दी गर्दन सरमद की। दिल्ली में जो जामा मस्जिद है, उसमें उसकी गर्दन काटी गई। और जामा मस्जिद की सीढ़ियों पर जब उसकी गर्दन गिरी और सीढ़ियों पर लुढ़कने लगी, तो हजारों लोगों ने यह आवाज सुनी जो वहां गवाह थे, कि वह गर्दन चिल्ला कर कह रही थीः कोई नहीं अल्लाह के सिवाय, एक ही है अल्लाह। इसके चश्मदीद गवाह हैं। लाखों लोगों ने सामने सुनी यह आवाज।

औरंगजेब बहुत पछताया, लेकिन तब तो कोई उपाय न था। सरमद के शिष्यों से उसने पूछा। तो वे हंस रहे थे और वे कह रहे थे, सरमद कहता था कि जब तक मैं बचा हूं थोड़ा भी, तब तक आगे की बात कैसे हो सकती है! अल्लाह तो उस दिन होगा, जिस दिन मैं न रहूंगा। तो यह गर्दन थोड़ी बाधा है, यह कट जाए। औरंगजेब की बड़ी कृपा है, कटवाए देता है। ऐसे तो हम भी काट लेते, लेकिन वक्त लगता। वह जल्दी किए दे रहा है।

आदमी जब मिटता है पूरा, तो यह भी नहीं कहता कि आत्मा है। तब आखिरी अध्यास भी गिर जाता है। जब तक आपको पता न चल जाए कि आप परमात्मा हो, तब तक जानना अध्यास बाकी है, भ्रम बाकी है। जब तक यही अनुभव न हो जाए कि मैं ही ब्रह्म हूं, तब तक समझना कि अभी अज्ञान बाकी है, और उसे काटते ही चले जाना। लोक से छूट जाना, देह से छूट जाना, शास्त्र से छूट जाना--और फिर अपने से भी, और फिर स्वयं से भी छूट जाना।

'अपने में ही स्थित होकर, युक्ति, श्रवण और स्वानुभव के द्वारा अपने को ही सबका आत्मरूप जान कर योगी का मन नाश होता है।'

मन दब तो जाता है, कठिनाई पड़ती है दबाने में भी; छिप तो जाता है, छिपाना भी मुश्किल है मामला। लेकिन नाश, मनोनाश, आखिरी बात है।

आपका मन शांत भी हो जाए, तो कल फिर अशांत हो जाता है; फिर जाग आता है; जाग-जाग आता है। बार-बार अंकुर फूट जाते हैं; बीज बना ही रहता है। कितना ही ध्यान करें, कितनी ही प्रार्थना, कितना ही प्रभु-स्मरण, कितना ही नाम। कभी लगता है सब ठीक, और क्षण भर में लगता है सब बिगड़ गया। कभी लगता है आ गई जगह, आ गया मकान, और फिर सब खो जाता है।

यह खेल ऐसा मालूम होता है, जैसे बच्चे खेलते हैं लूडो का खेल। उसमें सीढ़ियां भी रहती हैं और सांप भी रहते हैं। सीढ़ियों पर से चढ़ते हैं, और फिर किसी सांप के मुंह पर पड़ गए, वापस लौट कर नीचे उतर आए। ऐसा होता ही रहता है, चढ़ते हैं, उतरते हैं।

करीब-करीब मन के साथ ऐसा ही चलता है। कभी लगता है चढ़ गए--सब ठीक, बिल्कुल ठीक। ऐसा लगता है पहुंच गए, यही तो कहा है संतों ने। यहीं, इसी जगह की बात कही। और इतना ख्याल भी नहीं आया

कि संतों का नाम ख्याल में आया कि पकड़े सांप के मुंह में, आ गए नीचे। पता चला हम वहीं हैं। वे संत वगैरह सब झूठ ही कहते रहे होंगे, कि वहम हो गया होगा। एक ख्याल आ गया था कि सब ठीक हो गया, यह तो सब गड़बड़ है!

मेरे पास निरंतर, रोज-रोज सीढ़ियों से चढ़ने वाले, सांपों से उतरने वाले लोगों की भीड़ है। एक दिन आकर मुझे खबर देते हैं, गजब हो गया! फैंटेस्टिक! बस अब कुछ करने को नहीं रहा। दूसरे दिन सुबह कुटे-पिटे चले आ रहे हैं! वह हर सीढ़ी के पास सांप टिका हुआ है।

मन, बहुत बार लगेगा कि गया, और लौट आएगा। झलकें मिलेंगी। इतनी देर को भी जाता है, तो भी मन के पार की जरा सी झलक मिलती है। जरा सी देर को भी मन हट जाता है, तो जगह खाली हो जाती है। उस खाली जगह में से खुला आकाश और आकाश के तारे दिखाई दे जाते हैं, एक खिड़की खुल जाती है। लेकिन ज्यादा देर यह नहीं चलता।

योगी तो तभी सिद्ध होता है जब मनोनाश हो जाता है। मनोनाश तभी होता है जब ऐसा अनुभव में आ जाए कि मैं आत्मा भी नहीं हूं।

जब तक मुझे ऐसा लगता है कि नहीं शरीर, नहीं मन, लेकिन आत्मा तो मैं हूं; जब तक मेरे मैं को कोई भी सहारा बाकी है, तब तक मेरा मन बीज-रूप में बना रहेगा। जब तक मेरे मैं को कोई भी सहारा, कोई भी सहारा बाकी है, कि आत्मा, तो भी मेरा मन बीज-रूप में बना रहेगा। और कभी भी वर्षा की एक बूंद पड़ेगी और बीज चिटक जाएगा; और अंकुर निकल जाएंगे; और वृक्ष बड़ा होने लगेगा। जब मैं ही नहीं बचता हूं, तब ही मन मिटता है। धन छोड़ना आसान, पद छोड़ना आसान; शरीर के साथ भी मोह छोड़ लेना आसान; मन के साथ भी मोह छोड़ लेना आसान; लेकिन आखिर में अपने ही साथ, अपनी निजता के साथ, मेरे होने के साथ भी मोह को तोड़ लेना अति कठिन है। उसके टूटते ही मनोनाश हो जाता है।

बुद्ध के पास सारिपुत्त गया। तो सारिपुत्त ने कहा कि मेरी मुक्ति कैसे हो?

तो बुद्ध ने कहा, तू यहां आ ही मत, तू कहीं और जा। क्योंकि हम तेरी मुक्ति करवा ही नहीं सकते; तुझसे मुक्ति करवा सकते हैं। बुद्ध ने कहा, मेरी मुक्ति नहीं होती, मुझसे मुक्ति होती है। तू अगर तेरी मुक्ति चाहता है, तो तू कहीं और जा। हां, अगर तू तुझसे ही मुक्ति चाहता है, तो ठीक जगह आ गया है। हम तुझे छुड़ा देंगे तुझसे ही। तो यह मत पूछ कि मेरा मोक्ष कैसे होगा? तू कहां बचेगा मोक्ष में! तू यह पूछ कि इस मेरे से छुटकारा कैसे हो? इस मैं से मोक्ष कैसे मिले?

इसलिए बुद्ध ने मोक्ष शब्द को पसंद नहीं किया। उन्होंने शब्द चुना निर्वाण। क्योंकि मोक्ष में ऐसा लगता है, मेरा! इतना तो बचेगा कम से कम कि आत्मा बचेगी, और सिद्धशिला पर बैठे हुए मोक्ष का आनंद ले रहे हैं! हम ही, वही सज्जन जो यहां दुकान करते थे, वही अब मोक्ष में सिद्धशिला पर बैठ कर आनंद ले रहे हैं! आप तो बचे ही रहेंगे, यह तो मन में रस बना ही रहता है, कि हम तो बचे हैं।

है क्या आपमें बचने योग्य? और बचाने योग्य भी क्या है, कभी सोचा आपने? कभी हिसाब लगाया अपना कि मेरे पास ऐसा क्या है जिसको मैं शाश्वत रूप से बचाने का आग्रह करूं? ऐसी कौन सी सुगंध है मेरे पास जो सदा रहे ऐसा मैं कह सकूं? ऐसा कौन सा स्वर है मेरे पास जिसको मैं अमृत पिला सकूं? ऐसा मेरे व्यक्तित्व में क्या है जिसको मैं कहूं यह सदा रहे? ऐसा कुछ भी नहीं मालूम पड़ता।

बुद्ध कहते हैं, यह भी वासना है। लस्ट फार लाइफ! यह भी जीवेषणा है, मैं बचूं, बिना कारण।

कोई वजह नहीं मालूम पड़ती, आप किसलिए बचें! और क्या है आपमें जो बचे तो जगत का कुछ कल्याण हो! कुछ भी नहीं है।

तो बुद्ध कहते हैं, मोक्ष नहीं; यह शब्द ठीक नहीं है। तो उन्होंने शब्द चुना निर्वाण।

यह सूत्र निर्वाण का सूत्र है। निर्वाण कहते हैं दीए के बुझ जाने को। दीया जब बुझता है, तो आप बता सकते हैं ज्योति कहां चली गई?

कहीं नहीं जाती, बस बुझ गई, खो गई, लीन हो गई। अब कहीं आप खोज न पाएंगे उस ज्योति को जो बुझ गई। अब लोक-लोक में, कहीं भी अनंत में, उस ज्योति को आप न खोज पाएंगे जो बुझ गई। वह लीन हो गई। इतनी लीन हो गई कि अब उसे वापस इस अनंत से नहीं लौटाया जा सकता। वह निराकार में इतनी चली गई कि अब उसका आकार फिर से नहीं बन सकता। मिट गई।

तो बुद्ध कहते हैं, ऐसे ही तुम भी मिट जाओगे, जैसा दीया बुझ जाता है। इसलिए उन्होंने शब्द चुना निर्वाण। वे कहते हैं, तुम्हारा निर्वाण हो जाएगा; मोक्ष नहीं, तुम्हारा निर्वाण हो जाएगा। यह जो दीए की ज्योति तुम में टिमटिमा रही है, यह बुझ जाएगी।

यह बड़ी घबड़ाने वाली बात मालूम पड़ती है। तो फिर सार ही क्या है? अपने दीए में और मिट्टी का तेल डाल कर किसी तरह इसकी ज्योति को जगाए रखें। यह सार क्या है?

लेकिन बुद्ध कहते हैं, जब तुम मिटोगे, तभी तुम जान पाओगे कि तुम क्या हो। और जब तुम खोओगे, तभी तुम्हें पता चलेगा, तुम खोए नहीं, तुमने सब पा लिया, तुम सब हो गए।

आत्मा भी छूट जाती है।

'निद्रा को, लोगों की बातों को, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि विषयों को तथा आत्मा के विस्मरण को किसी स्थल पर अवसर दिए बिना हृदय में आत्मा का चिंतन करना।'

सब छूटता चला जाता है। निद्रा छूट जाती, बेहोशी छूट जाती। यह अपने को हम भूल गए हैं, इसे निद्रा कहते हैं उपनिषद। यह जो हमें अपना विस्मरण हो गया है कि हम कौन हैं; यह जो हमें पता नहीं है कि मैं परमात्मा हूं; इसे कहते हैं निद्रा। जिस दिन यह निद्रा क्षण भर को भी नहीं पकड़ती, जिस दिन कोई उपाय नहीं रह जाता इस बेहोशी के ऊपर छा जाने का, यह धुआं फिर घिरता ही नहीं, ये बादल फिर चारों तरफ मंडराते ही नहीं, आकाश निरभ्र, खुला हो जाता है; ये बदलियां फिर कभी नहीं घेरतीं और अंधेरा कभी नहीं उतरता, तब एक सतत स्मरण... ।

स्मरण शब्द ठीक नहीं है। शब्द सभी गलत हैं, उपनिषद जिसे कहना चाहते हैं, उसे कहने के लिए। पर मजबूरी है, शब्दों के सिवाय कहने को कोई और उपाय नहीं है। स्मरण कहना ठीक नहीं, क्योंकि स्मरण का मतलब ही यह होता है कि जिसका बीच-बीच में विस्मरण हो जाता हो। सतत स्मरण का मतलब यह हुआ कि जिसका विस्मरण नहीं होता।

ऐसा हुआ, एक तिब्बत में फकीर हुआ, नारोपा। अनेक लोग उसके पास आते थे। बड़े हैरान होते थे; क्योंकि उसकी ख्याति थी कि वह परमात्मा में लीन है, पर लोगों ने कभी उसको ईश्वर का नाम स्मरण करते नहीं देखा। कभी! कभी भी किसी ने नहीं देखा! तो शिष्य उससे अक्सर पूछते कि लोग तो कहते हैं आप परमात्मा में लीन हैं, लेकिन आप कभी स्मरण नहीं करते?

तो नारोपा ने कहा है कि स्मरण कैसे करूं, उसका विस्मरण ही नहीं होता! और जिस दिन स्मरण करूं तो समझना कि नारोपा पतित हो गया। जिस दिन स्मरण करूं, पुकारूं, ईश्वर! उस दिन समझ लेना कि नारोपा पतित हो गया; इसे विस्मरण हो गया, नींद आ गई। आती ही नहीं नींद, स्मरण भी कैसे करूं? उसका विस्मरण ही नहीं होता है।

ऐसी अवस्था में उस परम गुह्य गुहा में प्रवेश होता है, जो हम सब के भीतर है।

चौथा प्रवचन

अमृत का जगत

मातापित्रोर्मलोद्भूतं मलमांसमयं वपुः।
त्यक्त्वा चण्डालवद्दूरं ब्रह्मभूयं कृती भव।। 6।।
घटाकाशं महाकाशं इवात्मानम परात्मनि।
विलाप्याखंडभावेनं तूयणीं भव सदा मुने।। 7।।
स्वप्रकाशमधिष्ठानं स्वयंभूय सदात्मना।
ब्रह्मांडमपि पिंडांडं त्यज्यतां मलभांडवत्।। 8।।
चिदात्मनि सदानन्दे देहरूढामहंधियम्।
निवेश्य लिंगमुत्सृज्य केवलो भव सर्वदा।। 9।।
यत्रैष जगदाभासो दर्पशान्तः पुरं यथा।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा कृतकृत्यो भवानघ।। 10।।

यह शरीर माता-पिता के मैल में से उत्पन्न हुआ है और मल तथा मांस से ही भरा है, इसलिए इसे चंडाल की तरह त्याग कर ब्रह्मरूप होकर तू कृतार्थ हो।

हे मुनि! महाकाश में घटाकाश की तरह परमात्मा में आत्मा को एकरूप करके अखंड भाव से सदा शांत रहो।

स्वयं ही अपने आप, स्वयं प्रकाश और अधिष्ठान-ब्रह्मरूप होकर पिंडांड तथा ब्रह्मांड का भी विष्ठा-पात्र के समान त्याग कर दे।

देह के ऊपर आरूढ़ हुई अहंकार बुद्धि को सदैव आनंदरूप चिदात्मा में स्थापित करके लिंग शरीर को त्याग और सर्वदा केवल आत्मारूप हो।

हे निर्दोष! दर्पण में जैसे शहर दिखाई दे, वैसे ही जिसमें इस जगत का भास दिखाई पड़ता है, वही ब्रह्म मैं हूं, इस प्रकार जान कर तू कृतार्थ हो।

शरीर को भी हम बाहर से ही जानते हैं। जैसे कोई किसी महल के बाहर घूम ले, दीवालों का बाहरी रूप देख ले और समझे कि यही महल है, ऐसा ही हम अपने शरीर को भी बाहर से देखते हैं।

बाहर से दिखाई जो पड़ता है, शरीर वही नहीं है। शरीर को भीतर से देख कर तत्क्षण शरीर से छुटकारा हो जाता है। बाहर से तो शरीर का जो रूप दिखाई पड़ता है, वह ढंका हुआ, आवृत रूप है। भीतर से शरीर की वस्तुस्थिति दिखाई पड़ती है; जैसा शरीर है।

बुद्ध अपने साधकों को भेजते थे मरघट--लाशों को देखने के लिए, हड्डियों को देखने के लिए, खोपड़ियों को देखने के लिए। शरीर भीतर से वैसा है। सब ढंका है चमड़ी के आवरण में। अन्यथा शरीर से इतनी आसक्ति, इतना मोह, इतना ममत्व पैदा न हो।

कभी शरीर को भीतर से देखने का प्रयास करें, तो यह सूत्र समझ में आ सकेगा। कभी अस्पताल में चले जाएं, कभी आपरेशन की टेबल पर खड़े हो जाएं, देखें सर्जन को शरीर का आपरेशन करते हुए, तो भीतर जो दिखाई पड़े, शरीर की वस्तुस्थिति वही है।

यह सूत्र ध्यान के लिए बड़ा सहयोगी है। शरीर की कोई निंदा नहीं है इस सूत्र में, इसे ठीक से समझ लें। धर्म किसी की भी निंदा में उत्सुक नहीं है; न ही किसी की प्रशंसा में उत्सुक है; धर्म तो जैसा है उसे जानने में उत्सुक है।

तो जब यह कहते हैं कि शरीर हड्डी, मांस, मज्जा, मल-मूत्र, इन सबका जोड़ है; तो ध्यान रखना, कहीं भी निंदा का कोई भाव नहीं है। यह कोई शरीर को नीचा दिखाने की चेष्टा नहीं है; शरीर ऐसा है। शरीर का जो होना है, उसको ही खोल कर रख देने की बात है।

यह सूत्र कहता हैः 'यह शरीर माता-पिता के मैल से उत्पन्न हुआ, मल तथा मांस से भरा है। इसका, जैसे अपने ही पास, अपने ही निकट चंडाल खड़ा हो, शूद्र खड़ा हो, और उसका कोई त्याग करके दूर हट जाए, ऐसा ही इस शरीर का त्याग करके तू ब्रह्मरूप होकर कृतार्थ हो।'

चंडाल, शूद्र, बड़े मूल्यवान शब्द हैं। प्राचीन भारतीय मनोविज्ञान कहता है कि जो व्यक्ति भी अपने को शरीर मानता है, वह शूद्र है। शूद्र का अर्थ है जिसने अपने को शरीर मान रखा है। ब्राह्मण का अर्थ है जिसने अपने को ब्रह्म जान लिया।

ब्राह्मण कोई ब्राह्मण के घर में पैदा होने से नहीं होता, न ही कोई शूद्र किसी शूद्र के घर में पैदा होने से शूद्र होता है। शूद्रता का और ब्राह्मणत्व का कोई भी संबंध घरों से नहीं है, परिवारों से नहीं है। शूद्र एक मनोदशा है, ब्राह्मण भी एक मनोदशा है। सभी लोग शूद्र की तरह पैदा होते हैं, कुछ ही लोग ब्राह्मण की तरह होकर मर पाते हैं। सारा जगत शूद्र है। शूद्र अर्थात जगत में सभी लोग अपने को शरीर मान कर जीते हैं। ब्राह्मण को खोजना बहुत मुश्किल है। ब्राह्मण के घर में पैदा होना कोई कठिन बात नहीं, ब्राह्मण होना बहुत मुश्किल है।

उद्दालक ने अपने बेटे श्वेतकेतु को कहा है कि श्वेतकेतु, तू जा ऋषि के आश्रम में और ब्राह्मण होकर लौट। श्वेतकेतु ने पूछा, लेकिन ब्राह्मण मैं हूं ही, ब्राह्मणों का पुत्र हूं! तो उद्दालक ने बड़े मीठे वचन कहे हैं, और बड़े तीखे। उद्दालक ने कहा, हमारे घर में ऐसा कभी नहीं हुआ कि कोई सिर्फ हमारे घर में पैदा होने से ब्राह्मण हुआ हो, हम वस्तुतः ही ब्राह्मण होते रहे हैं। तो तू जा गुरु के आश्रम में और ब्राह्मण होकर वापस लौट। बाप से कहीं ब्राह्मणत्व मिला है? गुरु से मिलता है। और हमारे घर में नाम-मात्र का ब्राह्मण कभी भी नहीं हुआ, हम सदा ही ब्राह्मण होते रहे हैं। तू जा और जब ब्राह्मण हो जाए तो वापस लौट आना।

यह सूत्र कहता हैः शूद्र की भांति, चंडाल की भांति, इस शरीर से दूर हट जाओ।

दूर हटना भी नहीं पड़ता, समझ में आ जाए कि दुर्गंध है, समझ में आ जाए मल-मूत्र है, समझ में आ जाए मांस-मज्जा है, दिखाई पड़ जाए, दूर हटना शुरू हो जाता है। हम खिंचते हैं वहां, आकर्षित होते हैं वहां, जहां सोचते हैं सुगंध है, सुवास है। हटने लगते हैं वहां से, विकर्षित होते हैं वहां से, जहां लगता है दुर्गंध है।

शरीर के पास रहने का जो मन है हमारा, वह शरीर के संबंध में हमारे अज्ञान के कारण ही है। हमें पता ही नहीं कि शरीर हमारा क्या है।

तो शरीर को भीतर से देखें। अपने ही सर्जन बन जाएं, अपने को ही उघाड़ें। चमड़ी बहुत मोटी नहीं है, बहुत पतली है। और चमड़ी के भीतर जो छिपा है, उससे हम कितना राग बना लेते हैं! और इस भांति जीने लगते हैं, जैसे वही हमारा सब कुछ होना है! तो जुड़ जाते हैं, बंध जाते हैं।

शरीर की ठीक-ठीक स्थिति ख्याल में आने लगे, तो आप पाएंगे, दूर हटना शुरू हो गया; हटना भी नहीं पड़ता है, हटना शुरू हो जाता है। फिर तो पास आना हो तो चेष्टा करनी पड़े। लेकिन हम शरीर के पास हैं, उसका एक ही अर्थ है कि हमने कभी शरीर को भीतर से देखा नहीं।

हम भी अपने शरीर को दर्पण में देख कर जानते हैं। दर्पण में जो दिखाई पड़ता है, वह हमारे शरीर का बाह्य आवरण है। बड़ा अच्छा हो कि विज्ञान ऐसे यंत्र ईजाद कर सके, जैसे एक्सरे की मशीन है। आज नहीं कल,

विज्ञान ऐसे यंत्र बना ले कि उनके सामने आदमी खड़ा हो जाए तो जैसा वह भीतर से है पूरा का पूरा--हड्डी, मांस, मज्जा, मल-मूत्र--सब दिखाई पड़ जाए, तो वैसे यंत्र बड़े काम के हो सकते हैं।

आपको अपने शरीर की पूरी स्थिति पता चल जाए, आप तत्क्षण पाएंगे, आपमें और शरीर के बीच फासला हो गया। वे जो सेतु थे, टूट गए; जो जुड़ाव था, वह मिट गया; और दूरी बढ़ने लगी।

उपनिषद के ऋषियों ने वह आंख पैदा करने की कोशिश की है जिससे आप भीतर झांक सकें, चमड़ी के भीतर झांक सकें--अपनी ही चमड़ी के भीतर झांक सकें।

सत्य मुक्तिदायी है। स्वयं के शरीर का सत्य पता चल जाए तो भी मन मुक्त होना शुरू हो जाता है। असत्य बंधन है। नहीं हम जिसे जानते, उससे हम बंध जाते हैं।

'हे मुनि! महाकाश में घटाकाश की तरह परमात्मा में आत्मा को एकरूप करके अखंड भाव से शांत हो जा।'

जब शरीर की व्यर्थता दिखाई पड़े, शरीर का असार होना दिखाई पड़े, और शरीर केवल एक गंदगी का ढेर मालूम होने लगे, और जब शरीर से दूरी बढ़ने लगे--तभी परमात्मा से निकटता होनी शुरू होती है। शरीर के जितने निकट, परमात्मा से उतने दूर। शरीर से जितने दूर, परमात्मा के उतने निकट। शरीर से जितने जोर से हम बंधे हैं, उतने ही उस अशरीरी चैतन्य से हमारा फासला है। जब शरीर की तरफ पीठ हो जाती है, और जब शरीर से दूरी बढ़ने लगती है, तो शरीर से दूरी बढ़ने का एक ही मतलब होता है कि आत्मा से निकटता बढ़ने लगती है।

आत्मा है एक छोर, शरीर है दूसरा छोर, बीच में हम हैं। शरीर के बहुत पास होते हैं, आत्मा से बहुत दूर हो जाते हैं; शरीर से दूर हटने लगते हैं, आत्मा के बहुत पास हो जाते हैं। इसलिए शरीर से दूर हटने को ध्यान की एक प्रक्रिया की तरह लिया गया है। इसके कई दुष्परिणाम भी हुए, क्योंकि जब पश्चिम में भारतीय शास्त्रों का पहली दफा अनुवाद हुआ, तो उन्हें लगा कि ये तो शरीर के दुश्मन मालूम पड़ते हैं।

ऐसा है नहीं। यह सिर्फ उपाय है। शरीर की वस्तुस्थिति जानने से तत्काल चेतना भीतर की यात्रा पर निकल जाती है। शरीर का ठीक-ठीक बोध होते ही शरीर पर पकड़ ढीली हो जाती है। वह पकड़ ढीली हो सके, इसलिए इस बोध को तीव्र करना जरूरी है।

मृत्यु पर चिंतन, शरीर की वस्तुस्थिति पर मनन, उघाड़ कर शरीर का जो रूप है उसे आंख के सामने कर लेना--विधियां हैं ध्यान की। इनसे आदमी भीतर की तरफ सरकना शुरू हो जाता है। और वह सरकना सहज हो जाता है, उसके लिए चेष्टा नहीं करनी पड़ती। अगर आप शरीर को बिना समझे भीतर की तरफ जाना चाहते हैं तो अति कठिनाई होगी, क्योंकि मन तो शरीर में लगा ही रहेगा, जुड़ा ही रहेगा।

बुद्ध का एक भिक्षु एक गांव से निकलता है। सुंदर है बहुत; ध्यान ने उसके सौंदर्य को और भी गरिमा दे दी है। मौन भीतर सघन हुआ है, तो उस मौन की किरणें उसकी आंखों और उसके चेहरे से और भी प्रकट होने लगी हैं। वह आभामंडित हो गया है। एक वेश्या उस पर मोहित हो जाती है।

रवींद्रनाथ ने एक बहुत मधुर गीत इस घटना पर लिखा है।

वह वेश्या उतर कर अपने महल से नीचे आती है और उस भिक्षु को निवेदन करती है कि उसके महल में एक रात विश्राम कर ले। वह भिक्षु कहता है, निमंत्रण अस्वीकार करना हमारा नियम नहीं। आऊंगा! लेकिन अभी समय नहीं आया। जब तुम्हारे शरीर की वास्तविक स्थिति प्रकट हो जाएगी, तब मैं आऊंगा। अभी तुम भूल में हो। जिस दिन तुम जगोगी, मैं आऊंगा।

वेश्या को कुछ समझ में नहीं आता। वेश्या का मतलब ही यह है कि शरीर की भाषा के अतिरिक्त जिसे और कोई भाषा समझ में नहीं आती। इसलिए यह मत सोचना कि कोई पत्नी है, तो वेश्या नहीं है। शरीर की ही भाषा समझ में आती हो तो वेश्या ही है। जब तक आत्मा की भाषा समझ में न आए तब तक कोई वेश्या होने से

ऊपर उठ नहीं सकता। और वेश्या का मतलब स्त्री मत समझना; वेश्य भी। शरीर की भाषा समझ में आए, और शरीर से ही मोल-तोल चलता हो, इतना ही मतलब है वेश्या का। शरीर पर ही सब टिका हो मन, वही हो व्यवसाय।

भिक्षु ने कहा, आऊंगा जरूर, लेकिन जब तुम्हारा शरीर अपनी वस्तुस्थिति में आ जाएगा। उस वेश्या ने कहा, पागल हो गए हो! यही है समय, अभी मैं हूं युवा, अभी सौंदर्य है अपने शिखर पर। शरीर इससे बेहतर हालत में फिर कभी न होगा। उस भिक्षु ने कहा, बेहतर की चिंता नहीं है, वास्तविक की चिंता है; जब वास्तविक होगा, आ जाऊंगा। उस वेश्या ने कहा, मैं कुछ समझ नहीं पा रही हूं, थोड़ा स्पष्ट करके कह दें। उस भिक्षु ने कहा कि जब कोई भी तुम्हारे पास न आएगा तब मैं आ जाऊंगा, क्योंकि तब शरीर वास्तविक स्थिति में होगा। तब शरीर बाहर भी वैसा ही दिखाई पड़ने लगेगा, जैसा भीतर है। अभी भीतर जैसा है, वैसा बाहर नहीं दिखाई पड़ता। जब कोई भी तुम्हारे पास न आएगा, तब मैं आ जाऊंगा।

फिर बहुत वर्ष बीत गए; वेश्या वृद्ध हो गई; सारे शरीर पर कोढ़ फैल गया; अंग-अंग उसके गलने लगे। गांव ने उसे उठा कर बाहर फेंक दिया। यह वही गांव था, जो उसके द्वार के आस-पास मंडराता था! ये वही लोग थे, जिनको उसके मकान में प्रवेश नहीं मिलता था; जो उसकी दूर से झलक ले लेते थे तो भी अपने को तृप्त, अहोभागी समझते थे। उन्होंने उसे गांव के बाहर फेंक दिया।

अंधेरी अमावस की रात है, वह प्यासी गांव के बाहर तड़प रही है, कोई उसे पानी पिलाने को भी नहीं है। उस रात वह भिक्षु आया है, और उस भिक्षु ने उसके सिर पर हाथ रख कर कहा कि मैं आ गया। अब शरीर अपनी वास्तविक स्थिति में है। अब कोई तुम्हारे पास आता नहीं! अब शरीर बाहर भी वैसा ही हो गया है, जैसा भीतर है। अब बाहर-भीतर का फासला टूट गया। बीच की चमड़ी ने जो अवरोध डाले थे, वे मिट गए। अब भीतर की जो मांस-मज्जा है, वह बाहर भी झलकने लगी। भीतर की जो गंदगी है, वह बाहर भी आ गई। अब तुम बाहर-भीतर एक हो गई हो। अब मैं आ गया हूं। इसी दिन के लिए मैंने वादा किया थाः जब कोई भी नहीं आएगा, तब मैं आ जाऊंगा।

रही मेरी बात, उस भिक्षु ने कहा, मुझे तो उस दिन भी यह दिखाई पड़ता था जो आज बाहर आ गया। तुम्हें नहीं दिखाई पड़ता था। मैं तो उस दिन भी तुम्हारे घर मेहमान हो सकता था; मुझे कोई अड़चन न थी। तुम्हें भ्रांति और बढ़ जाती कि अब तो भिक्षु भी मेरे घर मेहमान होने लगे हैं! मेरी कोई अड़चन न थी, उस दिन भी आ जाता, क्योंकि उस दिन भी मैं यही देख रहा था जो आज तुम्हें दिखाई पड़ रहा है। जो आज पूरे गांव ने देख लिया है, वह मैंने उस दिन भी देख लिया था।

लेकिन वह वेश्या वहां बाहर पड़ी भी अपने शरीर को नहीं देख रही, आंख बंद करके वह उन्हीं दिनों का स्मरण कर रही है, जब शरीर सुंदर था; जब गांव में गरिमा थी, गौरव था!

बुढ़ापे में भी लोग जवानी का चिंतन करते हैं! शरीर भी अपनी सचाई को प्रकट कर देता है तो मन से ढांकते रहते हैं। चमड़ी भी साथ नहीं देती अब, तो आंखें बंद कर लेते हैं; और भीतर, वह जो बीत गया, उसका रस लेते रहते हैं!

बूढ़ा भी जब जवानी का रस लेता है तो समझना कि वह शूद्र ही मरेगा; और जब जवान भी बुढ़ापे को आने के पहले ही शरीर में देख लेता है तो समझना कि ब्राह्मण होकर मरेगा। मरता हुआ आदमी भी जब जीवन की ही वासना लिए रहता है तो समझना कि शूद्र है। और भरी जवानी में भी आदमी जब मृत्यु को देखने लगता है तो समझना कि ब्राह्मण का जन्म शुरू हो गया। और यह जरूरी है कि शरीर की यह वास्तविकता हमें दिख जाए, तो हमारी पीठ हो जाए इसकी तरफ और मुंह हमारा उस तरफ हो जाए जहां चैतन्य है।

'हे मुनि! महाकाश में घटाकाश की तरह परमात्मा में आत्मा को एकरूप करके अखंड भाव से सदा शांत रहो।'

मोड़ लो मुंह अपना शरीर से और फिर देखो उस महा आकाश की तरफ। वह महा आकाश निकट ही है। एक घड़ा रखा हो। जमीन पर हम उसे उलटा रख दें। तो घड़ा आकाश की तरफ देखे; पर उसे दिखाई पड़ेगी केवल मिट्टी की देह, आकाश दिखाई नहीं पड़ेगा। घड़े को उलटा रख दिया जमीन पर, वह आकाश की तरफ देखे, उसे क्या दिखाई पड़ेगा? उसे दिखाई पड़ेगी अपनी ही मिट्टी की पर्त, अपनी देह, अपना शरीर--आकाश दिखाई नहीं पड़ेगा।

फिर घड़े को हम सीधा रख दें, और घड़ा आकाश की तरफ देखे--मुंह आकाश की तरफ है अब, तो अब घड़ा देख पाएगा कि देह मैं नहीं हूं। और अब घड़ा यह भी देख पाएगा कि जो छोटा सा आकाश मेरे भीतर है, वही आकाश बाहर है, और हम दोनों के बीच कहीं भी कोई अंतराल नहीं है; हम दोनों अविच्छिन्न हैं; सतत मैं ही फैलता चला गया हूं इस आकाश में; सतत यह आकाश ही मुझ तक चला आया है और बीच में कहीं कोई अवरोध, कहीं कोई सीमा, कहीं कोई दीवाल नहीं है।

ठीक ऐसी ही घटना घटती है। जब आप शरीर की तरफ देख रहे होते हैं, तो आप उलटे घड़े की तरह रखे हैं। आपको शरीर दिखाई पड़ता है। जब आप शरीर से मुंह मोड़ते हैं, आप सीधे घड़े की तरह हो गए। अब आपका मुंह आकाश की तरफ खुलता है। जैसे ही कोई व्यक्ति शरीर से मुड़ता है, तत्क्षण आकाश की तरफ उन्मुख हो जाता है। और पहली दफे उसे दिखाई पड़ता है कि जो विराट फैला हुआ है उसमें और मुझ में कहीं भी कोई, कहीं भी कोई रत्ती भर का भेद नहीं है। मैं ही विराट हो गया हूं, विराट मुझ तक आ गया है।

'हे मुनि! महाकाश में घटाकाश की तरह परमात्मा में आत्मा को एकरूप करके अखंड भाव से शांत रहो।'

और जैसे ही यह दिखाई पड़ता है, शांति घटित हो जाती है।

अशांति क्या है? क्या है हमारी बेचैनी? हमारी बेचैनी यह है कि हम बहुत बड़े हैं और बहुत छोटे में कैद हैं। हमारी बेचैनी यह है कि जैसे एक बड़े आदमी को एक बच्चे के कपड़े पहना दिए हों! वह हिल-डुल भी न सकता हो; और जगह-जगह बंध गया हो; और कपड़े भी कपड़े के न हों, लोहे के हों; तो जो अड़चन मालूम होगी, वही हम सब की अड़चन है।

हम हैं बड़े--बड़े नहीं, विराट--और बहुत छोटी देह में कैद हैं। घर बहुत छोटा है, निवासी बहुत बड़ा है। सब जगह अड़चन मालूम पड़ती है; सब जगह सीमा और सब जगह उपद्रव मालूम पड़ता है। कहां से निकलें, निकलने की कोई जगह नहीं मालूम पड़ती। और कठिनाई बढ़ गई है; क्योंकि जो हमारा कारागृह है, उसे हमने अपना घर समझ लिया है। तो हम उसको सजाने में लगे हैं। हम उसकाशृंगार कर रहे हैं। हम जगह-जगह से उसकी सजावट कर रहे हैं। हम कारागृह के भीतर सोने-चांदी का इंतजाम कर रहे हैं। हम कारागृह की दीवालों को सुंदर कर रहे हैं, आभूषण दे रहे हैं।

और उसी कारागृह में हम बंद हैं। और हमारा मुंह दीवालों की तरफ है, द्वार की तरफ नहीं।

रहेगा! मुंह उस तरफ रहता है जिस तरफ आकर्षण हो। जहां आकर्षण, वहां मुंह। जहां विकर्षण, वहां पीठ। जब तक शरीर में आकर्षण है, मुंह दीवाल की तरफ रहेगा। और जैसे ही शरीर में विकर्षण पैदा हुआ, मुंह शरीर की तरफ नहीं रह जाता, पीठ हो जाती है।

आपके शरीर में भी द्वार है एक। लेकिन वह द्वार आपको तभी दिखाई पड़ेगा, जब शरीर से आकर्षण खो जाए। शरीर में द्वार है। उस द्वार को ही हृदय कहा है। जिसको आप हृदय कहते हैं, उसको हृदय नहीं कहा है। आप तो हृदय उसको कहते हैं जहां फेफड़ा धड़क रहा है। वहां कोई द्वार नहीं है। वहां तो केवल पंपिंग, श्वास का इंतजाम है। वहां तो खून और वायु का मिलन होता रहता है। उससे हृदय धड़क रहा है। वह हृदय नहीं है।

हृदय, योग की भाषा में आपके भीतर उस द्वार का नाम है कि जब आप शरीर की तरफ से पीठ कर लेते हैं, जब आप शरीर को देखने के लिए भी उत्सुक नहीं रह जाते, जब कि शरीर में कोई भी रस नहीं रह जाता और विराग का जन्म होता है, तब अचानक आप उस जगह खड़े हो जाते हैं जहां हृदय है; जहां से द्वार है; जहां से घड़ा आकाश की तरफ खुलता है।

आपके शरीर में बहुत तरह के द्वार हैं। लेकिन द्वारों का पता तभी चलता है, जब आप द्वारों पर पहुंचें। जब तक आप न पहुंचें तब तक पता नहीं चलता। छोटा बच्चा है। उस छोटे बच्चे को कोई भी पता नहीं कि उसके भीतर शरीर में एक काम-द्वार है, एक यौन-द्वार है; उसे कोई पता नहीं। अभी वह बड़ा होगा, जवान होगा, और एक दिन अचानक उसे काम-द्वार का पता चलेगा। उस काम-द्वार के द्वारा वह संसार में प्रवेश कर सकता है। वह भी शरीर के बाहर जाने का एक मार्ग है। और ध्यान रहे, इसीलिए कामवासना की इतनी आतुरता है। उससे क्षण भर को हम शरीर के बाहर बह पाते हैं। लेकिन क्षण भर को ही। क्षण भर को शरीर भूल जाता है और हम प्रकृति में डूब जाते हैं।

एक द्वार है मनुष्य का प्रकृति की तरफ, नीचे की तरफ। और एक द्वार है मनुष्य का परमात्मा की तरफ, ऊपर की तरफ। जब कामवासना से चित्त भरता है तो हम शरीर के निकटतम होते हैं। और जब हम शरीर के निकटतम होते हैं तो वह द्वार खुलता है जिससे हम और शरीरों के जगत में प्रवेश कर जाते हैं। जब हम शरीर के प्रति विरस हो जाते हैं और शरीर से दूर होते हैं, तब वह द्वार खुलता है जहां से हम आत्माओं के जगत में प्रविष्ट हो जाते हैं। शरीर में दोनों द्वार हैं। शरीर में वह द्वार है जो पदार्थ की तरफ जाता है और वह द्वार भी जो परमात्मा की तरफ।

लेकिन शरीर के प्रति विरस हो जाएं, ऐसा सोच-सोच कर नहीं होगा। ऐसा आप मन में सोचते रहें कि शरीर हड्डी, मांस, मज्जा है--कुछ भी नहीं। सोचने से नहीं होगा। सोचना तो बताता है कि आपको पता नहीं है, इसलिए सोच रहे हैं।

अनेक लोग, जिंदगी हो गई, यही भाव करते रहते हैं बैठ कर कि शरीर में क्या रखा है! लेकिन उनको मालूम है कि रखा है। तभी यह भाव करते हैं। यह बार-बार कहने की जरूरत क्या है कि शरीर में क्या रखा है? यह वे अपने को ही समझा रहे हैं, अपने ही मन को समझा रहे हैं कि मन, मत पड़ शरीर की बातों में! शरीर में कुछ रखा नहीं है। लेकिन यह मन कौन है जो शरीर में लग रहा है? यह वे ही हैं; वे खुद। और मन का रस अभी कायम है, इसीलिए तो समझाना पड़ता है।

नहीं, यह सूत्र समझाने का नहीं है। इसको आप दोहराना मत। इसको बैठ कर आंख बंद करके आप दोहराना मत। यह सूत्र उदघाटन का है। इस सूत्र को समझ कर आंख बंद करके शरीर के भीतर खोजना कि क्या यह सूत्र सच कहता है कि मांस-मज्जा है? इसको मान मत लेना। इसको मान कर खतरा हो जाएगा, आप दोहराने लगेंगे। इसकी खोज करना, तलाश करना। हो सकता है ऋषि मजाक कर रहा हो; हो सकता है झूठ बोल रहा हो।

ऋषियों ने जो भी कहा है, वह विश्वास करने के लिए नहीं है, खोजने के लिए है। अपने भीतर खोजना। टटोलना अपनी हड्डियों को। अपने मांस में अपने पंजों को गपाना और खोजना। अपनी खोपड़ी को छूना और देखना वहां क्या है। और सब तरफ से अपने शरीर से परिचित होना। जिस दिन यह परिचय हो जाएगा... । और इसमें देर क्या है? यह तो आज हो सकता है। यह शरीर तो आपको मिला ही हुआ है। लेकिन आपने कभी इसकी खोज नहीं की, इसको आपने कभी जांचा-परखा नहीं।

और ऐसा अजीब है आदमी कि आपको तो माफ भी किया जा सकता है; मैं ऐसे डाक्टर्स को जानता हूं, जिनका सारा अध्ययन, जिनकी सारी शिक्षा हड्डी, मांस, मज्जा की है। वे भी इतने ही मोहित हैं शरीर में। एक डाक्टर का भी शरीर में मोहित होना चमत्कार है। इसका मतलब है, अंधापन गजब का है, अंधेपन का कोई हिसाब नहीं। यह सर्जन की तरह यह डाक्टर टेबल पर शरीरों को काटता रहता है और फिर भी मजनुओं की

तरह लैलाओं के गीत गाता रहता है! तो चमत्कार इसको कहना चाहिए। ये ताबीज वगैरह निकाल देते हैं साईंबाबा, यह कोई चमत्कार नहीं है। चमत्कार यह है कि यह आदमी रोज काटता है मांस-मज्जा को, और जब शरीर को खोलता है तो दुर्गंध की वजह से नाक बंद कर लेता है। एक-एक हड्डी से, एक-एक नस से परिचित है। भीतर सुंदर जैसा कुछ भी नहीं है।

लेकिन बड़े मजे की घटनाएं घटती हैं। मैं एक डाक्टर को यह कह रहा था, मित्र हैं। वे कहने लगे, आप कहते हैं तो मुझे ख्याल आया। मैं एक स्त्री का आपरेशन कर रहा था। और जब मैंने उसका पेट खोला, तो नासिया, बहुत मन विकार, वह सब जो दिखाई पड़ा, उससे मन बहुत विकृत हो गया और बड़ी घबड़ाहट भीतर मालूम होने लगी! यह एक तरफ चल रहा है और उस डाक्टर ने मुझे कहा--ईमानदार आदमी हैं--कि यह एक तरफ चल रहा है और पास में मेरे नर्स खड़ी है, उसमें मेरा रस भी चल रहा है! इधर पेट खोल कर रखा हुआ हूं, इसको जल्दी किसी तरह निपटाऊं, क्योंकि उस नर्स के साथ मुझे सिनेमा देखने जाना है!

यह है आदमी का मन! हम अपने को धोखा देने में इतने कुशल हैं। यह भी वही करेगा, यह जाकर अभी नर्स का हाथ हाथ में ले लेगा और बिल्कुल भूल जाएगा कि हाथ क्या है!

तो आम आदमी को तो माफ किया जा सकता है। लेकिन डाक्टर की तुलना में कह रहा हूं; माफ किया नहीं जा सकता, क्योंकि शरीर हमारे पास है और हम उससे भी परिचित नहीं हो पाए! और लोग आत्मा की खोज में निकल जाते हैं! और शरीर तक से परिचित नहीं हो पाए और आत्मा की खोज में निकल जाते हैं!

लोग पूछते हैं, आत्मा को कैसे पाएं? कृपा करके पहले शरीर को तो ठीक से जान लें; जो बहुत निकट और करीब है, इससे तो परिचित हो जाएं। और इससे परिचित होना ही आत्मा की तरफ उठने की सीढ़ी बन जाती है। क्योंकि जो इससे परिचित हुआ, वह फिर इसकी तरफ विमुख हो जाता है। और जो शरीर से होता है विमुख, वह आत्मा की तरफ उन्मुख हो जाता है। तब उसका मुंह आत्मा की तरफ हो जाता है। और जब आकाश मिलता है भीतर के इस छोटे से घटाकाश से, तो जो घटना घटती है, उसका नाम शांति है।

अशांति है इस कारागृह में बंद होना, शांति है इस कारागृह के बाहर विराट के साथ एक होने का अनुभव। ईश्वर से मिले बिना कोई भी शांत कभी हुआ नहीं है। इसलिए जब जितने भी आप उपाय करते हैं शांत होने के, वे व्यर्थ जाएंगे। कमोबेश अशांति हो सकती है, कभी अशांति ज्यादा, कभी कम--बस। जिसको आप शांति कहते हैं, वह कम अशांति का ही नाम है, इससे ज्यादा नहीं। नार्मल अशांति, साधारण अशांति हो तो आदमी कहता है सब शांत है, सब ठीक चल रहा है। अशांति थोड़ी बढ़ जाती है तो थोड़ी दिक्कत मालूम होती है।

मनसविद कहते हैं कि हमारा धंधा कुल इतना है कि हम तुम्हें सामान्य रूप से पागल, सामान्य रूप से पागल रख सकें। दो तरह के पागल हैं दुनिया में। बस दो ही तरह के आदमी ही हैंः असाधारण रूप से पागल, उनको हमें पागलखाने में रखना पड़ता है; साधारण रूप से पागल, दुकानों में, दफ्तरों में, सब जगह बैठे हुए हैं। इनके बीच जो फर्क है वह डिग्री का, मात्रा का है। इनमें से कोई भी उचक कर दुकान से एकदम पागलखाने में जा सकता है, कोई अड़चन नहीं है! जरा मात्रा बढ़ाने की जरूरत है।

और आप रोज कई दफा पागलखाने के करीब हो जाते हैं। जब आप क्रोध से भर जाते हैं, तो आप क्षण भर के लिए पागल हो गए। आपमें और पागल में कोई फर्क नहीं है। आप वह काम करेंगे जो पागल करता है। बस, फर्क इतना ही है कि आप कभी-कभी ऐसा होते हैं; यह पागलपन जो है आपका, कभी-कभी आता है। किसी का स्थिर हो गया है; जाता ही नहीं, ठहर गया है। आप थोड़े तरल पागल हैं, लिक्विड; बहते रहे हैं। कोई ठोस हो गया, बर्फ की तरह जम गया।

मनसविद कहते हैं कि हमारा कुल काम इतना है कि जो जरा ज्यादा आगे चले गए पागलपन में, उनको जरा पीछे ले आना और सामान्य भीड़ के साथ खड़ा कर देना। इससे ज्यादा हम कुछ कर नहीं सकते; एडजेस्टमेंट

कर सकते हैं, कि वापस। साल, दो साल समझा-बुझा कर, दवा-दारू से वापस बिठा देना वहीं, जहां वह पहले अपनी दुकान में बैठे थे। इतना पागलपन जिससे कि काम में बाधा न पड़े, काम चलता जाए।

अशांति हमारा स्वभाव बन गई है। और स्वाभाविक है ऐसा होना, क्योंकि शांत होने का एक ही अर्थ है, जब गंगा सागर में गिरती है, उन दोनों के बीच जो घटना घटती है, उसका नाम है शांति। जब आपकी सरिता भी सागर में गिरती है, तब जो घटना घटती है उस मिलन के क्षण में उसका नाम है शांति।

परमात्मा से मिले बिना कोई शांति नहीं है।

'स्वयं ही अपने आप, स्वयं प्रकाश और अधिष्ठान-ब्रह्मरूप होकर पिंडांड तथा ब्रह्मांड का भी विष्ठा-पात्र के समान त्याग कर दे।'

न केवल इस शरीर को त्याग कर देना है, बल्कि यह जो विराट शरीर दिखाई पड़ रहा है ब्रह्मांड, यह जो बड़ा जगत दिखाई पड़ रहा है... ।

छोटे रूप में आदमी तस्वीर है बड़े जगत की। आपके बाहर फैला हुआ एक शरीर है, वह आपकी देह। भीतर छिपी हुई चिदात्मन ज्योति है आत्मा की। ठीक ऐसे ही इस पूरे विराट का शरीर है जगत, और उसके भीतर छिपा हुआ है ब्रह्म। इस शरीर का तो त्याग कर ही देना है, यह जो बाहर विराट शरीर फैला हुआ है, यह भी इसी के साथ व्यर्थ हो जाता है, इसका भी त्याग कर देना है।

जब कोई व्यक्ति अपने शरीर से विमुख होता है तो उसे आत्मा का अनुभव होता है। इस शब्द को ठीक से समझ लें। जब कोई व्यक्ति अपने शरीर से विमुख होता है तो उसकी आंखों में पहली दफे जो झलक आती है, वह अपनी ज्योति की है, आत्मा की है, घटाकाश की है। और जब कोई व्यक्ति सारे जगत के ब्रह्मांड शरीर से भी विमुक्त हो जाता है, तब उसे जो अनुभव होता है, वह ब्रह्म-ज्योति का है।

आत्मा और परमात्मा में इतना ही फर्क है। आत्मा का मतलब है, आपको छोटी सी ज्योति का अनुभव हुआ। परमात्मा का अर्थ है, अब आप महासूर्य के समक्ष खड़े हो गए। अपने शरीर से छूट कर आत्मा का अनुभव होता है और ब्रह्मांड से छूट कर परमात्मा का अनुभव होता है। पर दोनों में मात्रा का ही फर्क है। इसलिए जो आत्मा तक पहुंच गया, उसे कोई अड़चन नहीं है, उसे कोई बाधा नहीं है, वह दूसरी छलांग भी आसानी से ले सकता है।

'देह के ऊपर आरूढ़ हुई अहंकार बुद्धि को सदैव आनंदरूप चिदात्मा में स्थापित करके लिंग शरीर को त्याग और सर्वदा केवल आत्मारूप हो।'

सतत यह मुख आकाश की तरफ बना रहे, यही संन्यास का अर्थ है। गृहस्थ चेष्टा करके कभी-कभी एक झलक पा लेता है, फिर लौट आता है अपने घर में।

गृहस्थ का मतलब आप समझ लेना; गृहस्थ का मतलब शरीर में जो लौट-लौट आता है। गृह से मतलब उस घर का नहीं है जिसमें आप रहते हैं, गृह से अर्थ इस घर का है जिसमें आप पैदा हुए हैं। इसमें जो ठहर गया है, उसका नाम है गृहस्थ। कभी-कभी झलक भी मिल जाती है, फिर लौट-लौट आता है। कभी-कभी घड़ा सीधा भी हो जाता है, फिर उलटा हो जाता है, फिर ठहर जाता है। उलटा होना आदत हो गई है। आदत की वजह से उलटा होना सीधा मालूम पड़ता है, आदत की वजह से! इतने दिन तक उलटे रहे हैं कि आदत की वजह से वही ठीक मालूम पड़ता है।

अगर एक आदमी को जन्म के साथ शीर्षासन करवा दिया जाए, और वे शीर्षासन किए ही बड़े किए जाएं, तो किसी दिन अगर उनको सीधा खड़े होने को कहा जाए तो वह कहेगा, क्या उलटा खड़ा करवा रहे हैं! स्वभावतः, क्योंकि उनकी आदत तो एक पड़ गई है कि सिर के बल खड़ा होना।

एक छोटी सी जाति है दक्षिण अमरीका में; एक छोटे पहाड़ पर तीन सौ लोगों का कबीला है। एक मक्खी है वहां, जिसके काटने से सभी लोग अंधे हो जाते हैं। तो वे तीन सौ लोग ही अंधे हैं। छोटी सी आदिवासियों की जाति है। सब बच्चे आंख वाले पैदा होते हैं, लेकिन तीन महीने के भीतर अंधे हो जाते हैं, क्योंकि तीन महीने के भीतर वह मक्खी काट ही लेती है। इसलिए उस कबीले को पता ही नहीं कि आंखें होती हैं। और तीन महीने के बच्चे को तो क्या पता चलेगा कि आंख है, बाकी तो सब अंधे हैं। तीन महीने के भीतर हर बच्चा अंधा हो ही जाएगा।

अगर उस कबीले में कभी कोई आंख वाला पैदा हो जाए, तो निश्चित ही उस कबीले के डाक्टर उसकी आंखों का आपरेशन कर देंगे; क्योंकि बिल्कुल अस्वाभाविक मालूम पड़ेगाः आंख कहीं होती है! किसको होती है? किसी को नहीं होती। तो कुछ भूल हो गई प्रकृति की। आपरेशन कर देना जरूरी हो जाए। अंधा होना स्वाभाविक है। आदत बन गई।

हम जैसे हैं वह स्वाभाविक लगता है, जरूरी नहीं कि स्वाभाविक हो। इसे थोड़ा ठीक से समझ लें। आदत स्वभाव मालूम पड़ सकती है, लेकिन आदत स्वभाव नहीं है। आदत और स्वभाव में फर्क क्या है? आदत का मतलब है, जिसे हम करते रहे हैं इसलिए करते चले जा रहे हैं। स्वभाव का अर्थ है कि हम अपना सब करना भी छोड़ दें तो वह होता रहेगा; उसे करना नहीं पड़ता।

आदत है हमारी शरीर के साथ बंधे होने की जन्मों-जन्मों की, अनंत जन्मों की। यह स्वभाव नहीं है। इसलिए एक दफा आपको ठीक अनुभव हो जाए स्वभाव का, तो यह आदत टूट जाएगी। लेकिन झलकें मिल सकती हैं। और झलक मिलती है तो उससे कोई अंतर नहीं पड़ता। झलक, जैसे बिजली कौंध जाए, फिर अंधेरा घना हो जाता है। पुरानी आदत में फिर हम वापस सेटल हो जाते हैं, फिर स्थापित हो जाते हैं।

संन्यासी का अर्थ है जिसने यह निर्णय लिया कि अब मैं सतत घर की ओर पीठ ही रखूंगा, और सतत खुले आकाश को स्मरण रखूंगा, और निरंतर मेरी चेष्टा जारी रहेगी, उठते-बैठते, जागते--सोते भी--जहां तक मेरा बस चलेगा, वहां तक मैं ख्याल रखूंगा कि मेरा मन शरीर से न जुड़े, मेरी आत्मा उस विराट सागर में प्रवाहित होती रहे, बहती रहे। और जब मैं कहता हूं, बहती रहे, तो सिर्फ शब्द नहीं कह रहा हूं। जब आप इसका प्रयोग करेंगे तो आपको लगेगा ही कि आप सतत बह रहे हैं। जैसे ही आपका मुंह आत्मा की तरफ होगा, आपको लगेगा, आप सतत उंडेले जा रहे हैं, आप गंगा की तरह सागर में गिर रहे हैं, गिर रहे हैं। यह स्मरण बना रहे; यह सतत स्मरण बना रहे।

'हे निर्दोष! दर्पण में जैसे शहर दिखाई दे, वैसे ही जिसमें इस जगत का भास दिखाई पड़ता है, वही ब्रह्म मैं हूं, इस प्रकार जान कर तू कृतार्थ हो।'

जैसे दर्पण में प्रतिबिंब दिखाई पड़ता है! लेकिन दर्पण में जो प्रतिबिंब दिखाई पड़ता है वह वास्तविक नहीं है, वास्तविक तो दर्पण है जिसमें प्रतिबिंब दिखाई पड़ता है। लेकिन आपको ख्याल हो या न हो, जब आप दर्पण देखते हैं तो दर्पण नहीं दिखाई पड़ता, प्रतिबिंब दिखाई पड़ता है। जब आप दर्पण के सामने खड़े होते हैं, तो आपने कभी ख्याल किया कि आप दर्पण देख रहे हैं? आप चेहरा देख रहे होते हैं, दर्पण नहीं देख रहे होते। और जो चेहरा दिखाई पड़ता है वह बिल्कुल नहीं है, वह वहां बिल्कुल नहीं है, और जो है वह बिल्कुल दिखाई नहीं पड़ता।

अगर ऐसा दर्पण बनाया जा सके, जिसमें आपको चेहरा न दिखाई पड़े तो दर्पण आपको दिखाई ही नहीं पड़ेगा। वह तो चेहरा दिखाई पड़ता है, इससे आप अनुमान करते हैं कि दर्पण है। दर्पण आप अनुमान करते हैं कि है, क्योंकि चेहरा दिखाई पड़ रहा है। लेकिन दिखाई चेहरा पड़ता है, दर्पण दिखाई नहीं पड़ता। हां, दर्पण में

कुछ अशुद्धि हो तो बात अलग। जितना शुद्ध दर्पण हो, उतना कम दिखाई पड़ेगा। अगर हम बिल्कुल निर्दोष दर्पण बना सकें तो वह हमें दिखाई ही नहीं पड़ेगा।

महाभारत की सारी कथा ऐसे ही निर्दोष दर्पण के बनने से हुई। किया था मजाक, मजाक महंगा पड़ा। दुर्योधन और उसके सारे भाई अंधे बाप के बेटे थे। तो मजाक किया था। मजाक अच्छा भी नहीं था, क्योंकि जिस मजाक से दूसरे को चोट पहुंचे, वह मजाक कम हिंसा ज्यादा हो जाती है।

तो पांडवों ने बनाया था एक मकान, निमंत्रित किया था अपने चचेरे भाइयों को। मकान में ऐसे दर्पण लगाए थे जो बड़े निर्दोष थे। दर्पण इतने निर्दोष थे कि दिखाई ही नहीं पड़ते थे कि दर्पण हैं। तो अगर दर्पण दरवाजे के सामने लगा था तो दरवाजा दिखाई पड़ता था, दर्पण दिखाई नहीं पड़ता था।

दुर्योधन बेचारा, उन दरवाजों से निकलने की कोशिश में सिर टकरा गया उसका, गिर पड़ा। द्रौपदी हंसी, उस हंसी से सारा महाभारत पैदा हुआ। उस हंसी का बदला। ऐसी कोई बड़ी बात न थी, लेकिन छोटी सी हंसी भी बड़ी हिंसा हो सकती है।

इसलिए द्रौपदी को फिर भरी सभा में नग्न करने की कोशिश का जिम्मेवार अकेला दुर्योधन नहीं है, द्रौपदी की हंसी भी उसमें सम्मिलित है। मूल कारण वही है। अंधे का बेटा है, इसलिए दिखाई नहीं पड़ता है। होगा ही ऐसा, क्योंकि अंधे का बेटा है। इसलिए हंसी कि गिरोगे ही; जहां दरवाजा नहीं, वहां दरवाजा देख रहे हो! पर बात कुल इतनी थी कि बहुत निर्दोष दर्पण का उपयोग किया गया था। तो दर्पण तो दिखाई नहीं पड़ता, जो प्रतिबिंब पड़ता है वही दिखाई पड़ता है।

ऋषि कहता है, हे निर्दोष! दर्पण में जैसे प्रतिबिंब दिखाई दे, वैसे ही जिसमें इस जगत का भास दिखाई पड़ता है... ।

भीतर जो हमारी आत्मा है वह निर्दोष दर्पण है; यह सारा जगत उसमें दिखाई पड़ता है। तो हम इस जगत को पकड़ने दौड़ पड़ते हैं; लेकिन वह दर्पण हम नहीं देखते जिसमें यह दिखाई पड़ता है, जिसमें यह झलकता है।

एक हीरा दिखाई पड़ रहा है; कोहिनूर रखा है, वह दिखाई पड़ रहा है। तो आप कोहिनूर की तरफ दौड़ते हैं। आपको यह ख्याल में भी नहीं आता कि जिसको यह दिखाई पड़ रहा है, जिसमें यह कोहिनूर की छवि बन रही है, वह कौन है? वह दर्पण क्या है मेरे भीतर जो कोहिनूर को मेरे भीतर तक प्रतिबिंबित कर देता है? चांद दिखाई पड़ता है आकाश में, भीतर वह कौन है जिसमें यह चांद प्रतिबिंबित हो जाता है?

मेरे भीतर एक घूमता हुआ दर्पण है, जो सारे जगत को देखता रहता है। जब तक आप जगत को पकड़ने जा रहे हैं, तब तक आप प्रतिबिंबों को पकड़ रहे हैं। जिस दिन आप दर्पण को पकड़ने लगेंगे, आपका प्रवेश हो गया उस जगत में जो सत्य का है। और दर्पण को जो पकड़ लेगा, फिर वह प्रतिबिंबों के मोह में नहीं पड़ता। ऐसा नहीं कि फिर प्रतिबिंब बनने बंद हो जाएंगे, प्रतिबिंब बनते रहेंगे। लेकिन तब पकड़ने का आग्रह छूट जाता है। और दर्पण प्रतिबिंबों से कभी विकारग्रस्त नहीं होता। तो चाहे आप कितने ही कितने संसारों में भटकते रहे हों, आपका दर्पण निर्दोष बना रहता है।

इसे थोड़ा समझ लें। इसीलिए कहा है, हे निर्दोष! यह आपसे कहा है, हे निर्दोष! आपको भी शक होगा कि ऋषि से कोई भूल तो नहीं हो गई! हमसे, और कहा, हे निर्दोष!

नहीं, पर कारण से कहा है। चाहे कितने ही दोष हो जाएं, वह दर्पण निर्दोष ही रहता है। एक दर्पण के सामने आप कुछ भी खड़ा कर दें; गंदगी रख दें, मल-मूत्र रख दें, दर्पण उसका प्रतिबिंब बना देगा। लेकिन क्या आप सोचते हैं कि दर्पण उस गंदगी से दोषी हो गया? गंदगी हटा लें, दर्पण वैसा का ही वैसा है, कहीं कोई रेखा भी न छूट जाएगी उस गंदगी की।

तो आपके दर्पण के सामने बहुत कुछ घटता रहा है, लेकिन सामने ही घटता रहा है, दर्पण में कुछ भीतर जाता नहीं; जा सकता नहीं। इसलिए कहा, हे निर्दोष!

यह एक बहुत बुनियादी फर्क है। ईसाइयत कहती है कि अपने दोष छोड़ो। हिंदू चिंतन कहता है, जानो कि तुम निर्दोष हो ही। ईसाइयत कहती है, छोड़ो पाप, छोड़ो दोष, हटाओ! हिंदू चिंतन कहता है, हटाना क्या है! तुम दर्पण हो, यह भर जान लो, फिर सब हट गया; तब तुम निर्दोष हो ही।

बात एक ही है। अगर कोई हटाने में भी लग जाए, तो सामने से दर्पण के अगर सब दोष हटा दिए जाएं, तो दर्पण निर्दोष मालूम पड़ेगा। वह था ही। इस छोर से भी शुरू किया जा सकता है। जैन और हिंदू चिंतन का भी फर्क यही है।

इसलिए बहुत मजे की बात है। जैन का भी जोर है दोष को हटाने पर; हटा दो दोष को। तो जितने दोष हट जाएंगे, अगर दोष सब हट जाएंगे, तो दर्पण तो निखालिस है ही, वह निखालिस मालूम पड़ जाएगा। हिंदू चिंतन का जोर है, क्यों व्यर्थ मेहनत करते हो दोष के साथ! दर्पण हो, इस सत्य को पहचान लो; फिर पड़े भी रहें दोष सामने, तो भी तुम निर्दोष हो।

इसलिए जैनों को ऐसा लगता रहा है, ईसाइयत को भी लगता है, कि हिंदू विचार थोड़ा खतरनाक है। क्योंकि इसमें फिर नीति, पाप-पुण्य के लिए बहुत जगह नहीं रह जाती।

खतरनाक है। जितना गहरा सत्य होगा, उतना खतरनाक हो जाता है; क्योंकि जितना गहरा सत्य हो, उतना शक्तिशाली हो जाता है। और शक्ति में खतरा है। और गलत आदमी के हाथ पड़ जाए तो बहुत खतरा है। और अक्सर गलत आदमी शक्ति की तलाश में होते हैं, उनके हाथ में पड़ जाती है। पर हिंदू विचार है बहुत गहन। और बात इसकी है कि भीतर जो तुम्हारा चैतन्य है वह मात्र दर्पण है; जस्ट ए मिरर, मात्र दर्पण। उसमें तुमने जो भी देखा है वह बाहर है, भीतर कभी कुछ गया नहीं है। हालांकि भीतर दिखाई पड़ता है। दर्पण के सामने कोई चीज रखो तो जितनी बाहर होती है उतनी भीतर दिखाई पड़ती है। किरणों के अनुपात का नियम, जितनी बाहर होती है उतनी भीतर दर्पण में दिखाई पड़ती है।

तो एक बड़े मजे का सूत्र आप ख्याल में ले लेंः जो बात आपको जितनी भीतर दिखाई पड़े, जान लेना आप से उतनी ही बाहर है। अगर कोई बात आपको बिल्कुल भीतरी मालूम पड़े तो बिल्कुल पक्का समझ लेना कि इससे ज्यादा बाहरी चीज खोजनी मुश्किल है। जैसा अक्सर होता है, लोग कहते हैं प्रेम बहुत भीतर है। उसका मतलब, यह सबसे बाहरी चीज है; सबसे दूर का मामला है। जब आप कहते हैं कि किसी का प्रेम मेरे बिल्कुल हृदय में प्रवेश कर गया है, तब समझ लेना कि आप बहुत दूर की चीज छूने की कोशिश में लगे हैं। इसका मतलब यह हुआ कि कोई बहुत दूर है आपसे और इसलिए दर्पण में इतने भीतर दिखाई पड़ रहा है।

पास की चीजें पास दिखाई पड़ेंगी, दूर की चीजें गहरी दिखाई पड़ेंगी। और जरूरी नहीं है, दर्पण में कोई चीज कितने भीतर दिखाई पड़ती है, इससे भीतर होने का कोई संबंध नहीं है। छोटी सी तलैया में भी चांद दिखाई पड़ता है उतना ही गहरा, जितना आकाश में दूर है। उतनी गहराई भी नहीं है उस तलैया में! आपके दर्पण की कितनी गहराई होती है? दर्पण को रख दें नीचे जमीन पर, चांद दिखाई पड़ेगा--उतनी ही गहराई में जितना दूर चांद है।

बाहर के प्रतिबिंब कितने ही भीतर चले जाएं, भीतर नहीं जाते। भीतर कुछ गया ही नहीं है कभी; जा भी नहीं सकता; मालूम पड़ता है, क्योंकि भीतर एक दर्पण है। चैतन्य एक दर्पण है; शुद्धतम दर्पण है। इतना शुद्धतम है! क्योंकि कांच कितना ही शुद्धतम हो, तो भी कांच तो होता ही है। उतना पदार्थ तो होता ही है। लेकिन शुद्धतम चैतन्य!

अगर हम कभी वायु का दर्पण बना पाएं, तो वह भी इतना शुद्धतम नहीं होगा, जितना चैतन्य का दर्पण शुद्धतम होगा। अगर हम वायु का दर्पण बना पाएं और उसमें कोई चीज प्रतिबिंबित हो सके, तो हम बराबर प्रतिबिंब को खोजने निकल जाएंगे, दर्पण कोई बाधा भी नहीं देगा; वायु का दर्पण है, आप आर-पार चले जाएंगे। चैतन्य का दर्पण और भी शुद्धतम है, क्योंकि चेतना इस जगत में सबसे ज्यादा सूक्ष्म घटना है। सबसे ज्यादा सूक्ष्म! शुद्धतम शक्ति है। उसमें यह जगत फलित होता है।

ऋषि कहता है, हे निर्दोष! दर्पण में जैसे प्रतिबिंब दिखाई पड़ते हों, ऐसे इस जगत का भास तेरे भीतर होता है। इसे छोड़ कर, इसे जान कर, इसे पहचान कर, मैं ब्रह्म हूं--मैं दर्पण हूं; वह नहीं जो प्रतिफलित होता है, बल्कि वह हूं जिसमें प्रतिफलित होता है--तू कृतार्थ हो।

इसके बिना और कोई कृतार्थता है भी नहीं। जब तक कोई अपनी चेतना की शुद्धता को नहीं पहचानता, तब तक अकृतार्थ है। वह कुछ भी करता रहे, कुछ भी पाता रहे, सब पाया हुआ व्यर्थ होगा; सब किया अनकिया हो जाएगा; सब दौड़-धूप ऐसी ही होगी, जैसी कोई पानी पर लकीरें खींचता रहे। खींच भी नहीं पाता कि मिट जाती हैं। फिर-फिर खींचता रहे, मिटती जाती हैं।

जिंदगी के आखिर में, जिन लोगों ने प्रतिबिंबों की तलाश की है, मौत के क्षण में उन्हें पता चलता है, पानी पर लकीरें खींचते रहे हैं। सब खो जाता है। सब प्रतिष्ठा, सब पद, सब धन, सब संग्रह--सब खो जाता है। मौत के क्षण में पता लगता है कि बड़ी भूल हो गई, हमने सोचा था ग्रेनाइट पर लकीरें खींच रहे हैं, पानी पर खींच रहे थे! लेकिन तब पता चलता है जब कुछ किया नहीं जा सकता।

इसका पता अगर आज चल जाए, अभी चल जाए, तो कुछ हो सकता है। पानी पर लकीरें खींचना बंद हो सकता है। और जो आदमी हाथ खींच लेता है पानी पर लकीरें खींचने से, उस आदमी का दूसरे जगत में प्रवेश हो जाता है--उस जगत में, जहां कुछ भी कभी नहीं मिटता है।

एक है जगत मृत्यु का, एक है जगत अमृत का। मृत्यु से जो हट जाता है, वह अमृत को उपलब्ध होता है।

पांचवां प्रवचन

वासना का नाश ही मोक्ष है

अहंकारग्रहान्मुक्तः स्वरूपमुपपद्यते।
चंद्रवत्विमलः पूर्ण सदानन्दः स्वयंप्रभः।। 11।।
क्रियानाशाद्भवेच्चिन्तानाशो तस्माद्वासनाक्षयः।
वासनाऽपक्षयोमोक्षः स जीवन्मुक्तिरिष्यते।। 12।।
सर्वत्र सर्वतः सर्व ब्रह्ममात्रावलोकनम्।
सद्भावभावनादार्ढ्याद्वासनालश्यमनुते।। 13।।
प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्तव्यः कदाचन।
प्रमादो मृत्युरित्याहुर्विद्यायां ब्रह्मवादिनः।। 14।।
यथाऽपकृष्टं शैवालं क्षणमात्र न तिष्ठति।
आवृणोति तथा माया प्राज्ञां वाऽपि परांगमुखम्।। 15।।

अहंकार को पकड़ने से मुक्त हुआ मनुष्य ही आत्म-स्वरूप को प्राप्त करता है, और फिर चंद्रमा जैसा निर्मल होकर, सदा आनंदरूप और स्वयं-प्रकाश बनता है।

क्रिया का नाश होने से चिंता का नाश होता है, और चिंता का नाश होने से वासना का नाश होता है। वासना-नाश ही मोक्ष है, और यही जीवन्मुक्ति कहलाती है।

सर्वत्र, सब तरफ, सबको केवल ब्रह्मरूप देखना--ऐसी सदभावना दृढ़ होने से वासना का नाश होता है।

ब्रह्मनिष्ठा में कभी प्रमाद न करना, क्योंकि यही मृत्यु है, ऐसा ब्रह्मवादी कहते हैं।

जिस प्रकार शैवाल को पानी से कुछ हटा भी दिया जाए तो भी वह पानी को बिना ढंके नहीं रहता, इसी प्रकार समझदार व्यक्ति भी ब्रह्मनिष्ठा से थोड़ा भी विमुख हो जाए तो माया फिर उसे लिप्त कर देती है।

इस सूत्र में बहुत सी मूल्यवान बातें कही गई हैं। मूल्यवान ही नहीं, मौलिक भी।

'अहंकार को पकड़ने से मुक्त हुआ मनुष्य ही आत्म-स्वरूप को प्राप्त होता है।'

बड़ी गहरी बात इसमें है।

अहंकार ने आपको नहीं पकड़ा हुआ है, आपने अहंकार को पकड़ा हुआ है। संसार ने आपको नहीं पकड़ा हुआ है, आपने संसार को पकड़ा हुआ है। दुख नहीं आपको जकड़े हैं, आपकी ही कृपा का फल है। दुख आपका पीछा नहीं कर रहे हैं, दुखों ने कुछ ठान नहीं रखी है आपको दुख देने की, आपके निमंत्रण पर ही आते हैं।

साधारणतः हम ऐसा सोचते नहीं। साधारणतः हम सोचते हैं, क्यों है दुख? क्यों है यह संसार का कष्ट? क्यों है यह आवागमन? क्यों यह अहंकार सताता है? कैसे इससे छुटकारा हो? निरंतर हमारे मन में यह बात चलती है, कैसे इससे छुटकारा हो? आप सबके मन में कभी न कभी यह प्रश्न उठता ही रहा होगा--अन्यथा यहां आना असंभव था--कैसे इससे छुटकारा हो?

लेकिन यह सूत्र आपको बड़ा निराश करेगा। क्योंकि यह सूत्र कहता है, छुटकारे का सवाल ही नहीं है। क्योंकि अहंकार ने आपको पकड़ा नहीं है; संसार ने आपको रोका नहीं है; जन्मों ने आपको बुलाया नहीं है; यह आपकी मर्जी है।

इसलिए यह पूछना गलत है कि कैसे छुटकारा हो, यही पूछना उचित है कि किस भांति, किस तरकीब से हमने इस सब दुख, उपद्रव को पकड़ रखा है। छुटकारे का सवाल ही नहीं उठाना चाहिए। सवाल यही होना चाहिए कि कौन सी है हमारी व्यवस्था, कौन सा है हमारा ढंग, कि हम दुख को पकड़ लेते हैं, कि हम दुख को पकड़ते ही चले जाते हैं, कि अपने ही हाथ से हम आरोपित करते चले जाते हैं--और नए संसार, और नए जन्म, और नए जीवन। वासना के नए-नए विस्तार, नए आकाश हम कैसे निर्मित करते चले जाते हैं--इसे ही समझना जरूरी है।

इसके बहुत अंतर्निहित अर्थ होंगे। इसका एक अर्थ तो यह होगा कि मोक्ष कोई ऐसी उपलब्धि नहीं है जो पाने को है। संसार जरूर खोने को है, लेकिन मोक्ष पाने को नहीं है। अगर आप संसार को छोड़ने में राजी हो जाएं, तो मोक्ष पाया ही हुआ है। इसका यह अर्थ हुआ कि मुक्त तो आप हैं ही, बड़ी तरकीब से आप बंधन में पड़े हैं।

कभी अगर देखा हो, तोतों को पकड़ते हैं जंगलों में, रस्सी बांध देते हैं। तोता रस्सी पर बैठता है, वजन से उलटा लटक जाता है; रस्सी घूम जाती है। फिर तोता समझता है कि पकड़े गए। उलटा लटका तोता समझता है कि पकड़े गए, बुरी तरह फंसे! पैर फंस गया, अब निकलना मुश्किल है।

जोर से रस्सी को तोता ही पकड़े होता है, रस्सी बिल्कुल पकड़े नहीं होती। लेकिन तोते का मानना भी ठीक है कि जिस रस्सी ने उलटा दिया, लटका दिया, जरूर पकड़े गए होंगे! वह लटका रहता है! वह हर तरह की कोशिश करता है कि सीधा हो जाऊं तो उड़ जाऊं, लेकिन सीधा वह हो नहीं सकता। सीधा होने का कोई उपाय नहीं है। रस्सी पर वह सीधा नहीं बैठ सकता। रस्सी है पतली और तोता है वजनी। वह कितने ही उपाय करे, बार-बार चक्कर खाकर नीचे लटक जाएगा। जितने उपाय करेगा, उतना भरोसा मजबूत होता जाएगा कि अब छूटना मुश्किल है।

अगर वह चाहे तो उसी क्षण छोड़ कर उड़ सकता है, लेकिन पहले वह सीधे होने की कोशिश करता है। उलटा ही अगर छोड़ दे तो अभी उड़ सकता है, क्योंकि रस्सी ने उसे पकड़ा नहीं है। लेकिन तोता कभी उलटा उड़ा नहीं है; जब भी उड़ा है सीधा बैठा है, तब उड़ा है। उड़ने की उसे एक ही तरकीब पता है कि पहले दो पैर पर सीधे बैठ जाओ, फिर उड़ जाओ। वह सोचता है कि उड़ने का कोई अनिवार्य संबंध दो पैर पर सीधे बैठने से है।

उलटा लटका हुआ तोता कैसे समझे कि मैं भी उड़ सकता हूं, अभी और यहीं! और कहीं भी मैं पकड़ा नहीं गया हूं। लेकिन उलटा लटके होने की वजह से यह भी उसे डर लगता है कि अगर छूट जाऊं, तो जमीन पर गिरूं, हड्डी-पसली चकनाचूर हो जाए! तो जोर से उस रस्सी को पकड़ता है। कितनी ही देर बाद उसको पकड़ने वाला आए, उसे पाएगा वहीं; वह वहीं लटका हुआ मिलेगा।

करीब-करीब आदमी की चेतना की स्थिति ऐसी है। किसी ने भी आपको पकड़ा नहीं है। किसको इसमें रस आएगा, आपको पकड़ने में! और इस जगत को कोई उत्सुकता नहीं है कि आपको पकड़े रखे। प्रयोजन भी क्या है? आपको पकड़ रखने से जगत को मिलता भी क्या है?

नहीं, किसी की कोई उत्सुकता आपको पकड़ रखने में नहीं है। आप पकड़े गए हैं, अपने ही द्वारा। कुछ भ्रांतियां हैं, जो आपको ख्याल देती हैं कि मैं पकड़ा गया हूं। और बड़ी भ्रांति तो यही है कि आप अपने को इतना मूल्यवान समझते हैं कि सारा जगत आपको पकड़ने को उत्सुक है। यह भी अहंकार है कि सारे दुख आपकी तरफ ही चले आ रहे हैं। इतने दुख! इतना ध्यान देते हैं आप पर! सारे नर्क आपके लिए निर्मित किए गए हैं! आपके

लिए! आप केंद्र में बैठे हैं! जैसे यह सारे जगत की व्यवस्था आपके लिए चल रही है। और आप केवल रस्सी में लटके हुए एक तोते हैं!

पर यह भ्रांति होने के ठीक वैसे ही कारण हैं, जैसे तोते को हो जाते हैं।

आदमी का जैसे ही जन्म होता है, कई दुर्घटनाएं घट जाती हैं। अनिवार्य हैं, इसलिए घट जाती हैं। छोटा बच्चा पैदा होता है, तो आदमी का बच्चा बिल्कुल असहाय पैदा होता है। ऐसा किसी पशु का बच्चा असहाय पैदा नहीं होता। जानवरों के बच्चे पैदा होते हैं और पैदा होते ही दौड़ने लगते हैं। पशुओं के बच्चे, पक्षियों के बच्चे पैदा होते हैं, पैदा होते ही अपने भोजन की तलाश में निकल जाते हैं। आपका बच्चा पैदा होगा, पच्चीस साल लगेंगे, तब भोजन की तलाश पर निकल पाएगा! पच्चीस साल!

आदमी का बच्चा सबसे कमजोर है। बायोलाजिस्ट कहते हैं कि कुछ भूल हो गई है। जीवशास्त्री कहते हैं कि आदमी के बच्चे को अगर पूरा पैदा करना हो तो इक्कीस महीने गर्भ में रहना चाहिए। मगर आदमी की मादा कमजोर है, इक्कीस महीने बच्चे को गर्भ में रख नहीं सकती। इसलिए कुछ जीवशास्त्रियों के हिसाब से पूरी मनुष्य-जाति गर्भपात है। कोई बच्चा पूरा पैदा नहीं होता, सभी बच्चे अधूरे पैदा होते हैं। जानवरों के बच्चे पूरे पैदा होते हैं। मगर यह सौभाग्य भी है--दुर्भाग्य भी और सौभाग्य भी।

इस जगत में किसी भी चीज का एक पहलू नहीं होता, हर चीज के दोहरे पहलू होते हैं। यह दुर्भाग्य है कि आदमी का बच्चा कमजोर है और यही सौभाग्य है, क्योंकि इसी कमजोरी के कारण आदमी सारे पशुओं से श्रेष्ठ हो गया है। उसके कारण हैं गहरे। क्योंकि बच्चा आदमी का बिल्कुल ही कमजोर पैदा होता है, उसको बड़े सहारे की जरूरत होती है; नहीं तो बच्चा बचेगा ही नहीं। उसी सहारे के लिए परिवार का जन्म हो गया, नहीं तो परिवार की कोई जरूरत नहीं है।

पशुओं में परिवार नहीं है, क्योंकि उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। आदमी का बच्चा तो मर ही जाएगा बिना परिवार के। इसलिए मां है, पिता है, परिवार है, परिवार की पवित्र संस्था है। वह सब की सब बच्चे की कमजोरी से पैदा हुई है। न केवल परिवार, फिर परिवार के आधार पर समाज और देश और सारी सभ्यता का जाल निर्मित हुआ। और चूंकि बच्चा असहाय पैदा होता है, उसके पास मूल वृत्तियां नहीं होतीं। सब जानवरों के बच्चे पैदा होते हैं, उनके पास बुद्धि होती है--पैदा होते ही। उतनी बुद्धि होती है, जितने से उनका जीवन चल जाएगा। आदमी के बच्चे के पास कोई बुद्धि नहीं होती। जीवन चलने का सवाल ही नहीं है, वह सांस भी नहीं ले पाएगा। उसे हम वैसे ही छोड़ दें तो वह मरेगा। कोई उपाय उसके बचने का नहीं है।

इसलिए इस बच्चे को शिक्षित करना पड़ता है। किसी जानवर के बच्चे को शिक्षा की कोई भी जरूरत नहीं है। आदमी के बच्चे को सिखाना पड़ता है। वह खुद कुछ लेकर आता ही नहीं, सब सिखाना पड़ता है। इसलिए कालेज है, यूनिवर्सिटी है, ये आदमी की कमजोरी से पैदा हुई संस्थाएं हैं। सारी शिक्षा हमें देनी पड़ती है, सब सिखाना पड़ता है एक-एक बात। तब भी कोई पक्का भरोसा नहीं है कि बच्चा मान ही जाएगा और सीख ही लेगा! बड़ी चेष्टा करनी पड़ती है। इसलिए सारी शिक्षा और सारे संस्कार का आयोजन आदमी की कमजोरी से हुआ है। लेकिन इस सूत्र से उसका कुछ संबंध है।

बच्चा असहाय है, इसलिए बच्चे के प्रति बहुत ध्यान देना पड़ता है मां-बाप को। उस ध्यान के कारण बच्चे को लगता हैः मैं जगत का केंद्र हूं; सारी दुनिया मेरे आस-पास घूम रही है। जरा सा रोता है कि मां भागी आती है! जरा बीमार पड़ता है कि बाप डाक्टर को लिए खड़ा है! छोटा बच्चा जानता है कि मेरे इशारे पर सब चलता है। जरा सी आवाज, जरा सा रोना, जरा सा दुख, और सारा घर उसके आस-पास इकट्ठा हो जाता है! और बच्चे के लिए घर ही सारी दुनिया है, उसे और दुनिया का कोई पता नहीं। तो बच्चे के मन में एक सहज भ्रम पैदा हो जाता है कि मैं केंद्र हूं जगत का; और मेरे लिए ही सब आयोजन है; सब कुछ मेरे लिए हो रहा है; सब की नजरें मुझ पर टिकी हैं। यह भ्रांति गहरी बैठ जाती है।

और फिर हम जीवन भर अपने को केंद्र मान कर ही चलते रहते हैं! इससे बड़ी पीड़ा होती है। इसलिए अहंकार दुख देता है; क्योंकि यह सच नहीं है। आप केंद्र नहीं हैं जगत के। आपके बिना जगत बड़े मजे से चलता है। आपके न होने से कोई भी बाधा नहीं पड़ती है। पर आपके मन में कहीं लगता रहता है कि मैं केंद्र हूं। और आप इसी तलाश में रहते हैं कि यह सारा जगत भी इस बात को स्वीकार कर ले कि मैं केंद्र हूं। यही अहंकार की खोज है।

यह सूत्र कहता हैः 'अहंकार को पकड़ने से मुक्त हुआ मनुष्य'--वह जो बचपन से अहंकार की धारणा गहरी हो गई है, उसे जो छोड़ने को राजी हो जाता है--'वही आत्मज्ञान को उपलब्ध होता है।'

अनिवार्य है यह। बच्चे के जन्म के साथ इस अहंकार का पैदा हो जाना अनिवार्य है। यह अनिवार्य बुराई है। लेकिन इस पर ही अटक जाना, इस पर ही रुक जाना, सारे जीवन का विनाश हो जाता है। क्योंकि तब हम उस तत्व को जानने से वंचित ही रह जाते हैं, जो हमारे भीतर छिपा था। उसको हम जान ही तब पाएंगे जब हम अहंकार को छोड़ दें। क्यों? क्यों इतना जोर है अहंकार को छोड़ देने पर धर्म का?

अहंकार को छोड़ देने पर इसलिए जोर है कि जिस आदमी को यह ख्याल है कि मैं जगत का केंद्र हूं, वह अपने भीतर अपने केंद्र को जानने से वंचित रह जाता है। वह एक झूठे केंद्र को अपना केंद्र मान कर जीता है जो कि केंद्र नहीं है। जो आदमी सोचता है कि मैं दूसरों की आंखों का केंद्र हूं, वह अपने केंद्र को खोजता ही नहीं कि वस्तुतः मेरा कोई केंद्र है या नहीं। और एक सूडो सेंटर, एक मिथ्या केंद्र निर्मित हो जाता है। यह मिथ्या केंद्र दूसरों पर निर्भर होता है, इसीलिए अहंकार से दुख मिलता है।

आप कहते हैं कि मैं अच्छा आदमी हूं, तो आप मेरे अहंकार को बल देते हैं। कल आपने मुझसे कह दिया कि नहीं, वह हमारी भूल थी, आप अच्छे आदमी हैं नहीं--आपने अहंकार को जो ईंट दी थी मेरे, जिससे मैंने भवन बनाया था, वह आपने वापस ले ली; मेरा मकान गिरने की हालत में हो जाता है।

अहंकार का निर्माण है दूसरों की नजरों से, दूसरों के विचारों से। दूसरों पर निर्भर है अहंकार। और ध्यान रखिए, जो दूसरों पर निर्भर है, वह आपका केंद्र नहीं हो सकता। जिसका होना ही दूसरों पर निर्भर है, वह आपका केंद्र नहीं हो सकता। तो कौन क्या कहता है, इसकी हम बड़ी चिंता करते हैं; कौन अच्छा कहता है, कौन बुरा कहता है।

एक मित्र मेरे पास आए थे। उन्होंने कहा, मेरी तकलीफ ही यही है। वे मौजूद हैं। उनकी तकलीफ, उन्होंने कहा, मेरी तकलीफ ही यही है कि कोई छोटी-छोटी बातें लोग कह देते हैं, जिनका कोई मूल्य नहीं है, लेकिन मुझे इतनी पीड़ा हो जाती है कि मैं रात भर नहीं सो पाता! उदाहरण के लिए, उन्होंने कहा, एक दुकान पर मैं कपड़ा लेने गया; कपड़ा मुझे लेना था, लेकिन पसंद नहीं पड़ा। दुकानदार ने कहा कि जाइए भी, पहले से ही पता था आपकी शकल देख कर, कि आप कपड़ा खरीदेंगे नहीं! रात भर नींद नहीं आई कि इस आदमी ने ऐसा कहा क्यों?

हमारा अहंकार दूसरों की बातों पर निर्भर है। चारों तरफ जो लोग हैं हमारे, वे हमें अहंकार देते हैं या छीनते हैं। इसलिए हम पूरे वक्त ख्याल रखते हैं कि हमारे बाबत कौन क्या कह रहा है, कौन क्या सोच रहा है। वही तो हमारी पूंजी है! दूसरों का मत, उसका ही संग्रह हमारी अस्मिता है। और निश्चित ही, दूसरों के मत का क्या भरोसा है! दूसरों का मत दूसरों के हाथ में है। आज देते हैं, कल न दें! आज अच्छा कहते हैं, कल बुरा कहें! और उनके भी अपने प्रयोजन हैं।

उस दुकानदार का भी अपना प्रयोजन है। उसने अहंकार को चोट की। दोनों बातें हो सकती थीं। यह भी हो सकता था कि यह सज्जन कपड़ा खरीद ही लेते, क्योंकि अपनी शकल को बचाने का सवाल था। और खरीद लेते तो बेहतर होता, कम से कम रात भर... रात भर की चिंता बच जाती!

लेकिन तब दूसरी चिंता पकड़ती कि जो कपड़ा नहीं खरीदना था वह मैंने खरीद क्यों लिया! और आप सब ऐसे बहुत से कपड़े खरीद कर बैठे हैं जो आपको नहीं खरीदने थे। लेकिन कहीं-कहीं अहंकार कहता है कि खरीद ही लो!

पश्चिम में दुकानों पर से पुरुष हटा लिए गए हैं, स्त्रियां दुकानों पर बैठ गई हैं सेल्समैन की जगह। सेल्समैन अब कहीं हैं ही नहीं; सेल्सवूमैन! अब सेल्समैन कहने का कोई अर्थ नहीं है। और समझदार लोगों ने सलाह दी है। जब एक पुरुष जूता खरीदने आता है एक दुकान पर, और एक स्त्री--सुंदर स्त्री--उसके पैर में जूता पहना देती है, बंद बंद कर देती है, और फिर मुस्कुरा कर कहती है कि पैर बहुत सुंदर मालूम पड़ रहा है! अब वह जूता भीतर कितना ही काट रहा हो, अब उसे खरीदना मजबूरी है! अब उसे खरीदना ही होगा! अब यह मामला जूते का है ही नहीं; अब आप कुछ और खरीद रहे हैं, जूता केवल बहाना है!

हम सब ऐसी चीजें खरीदे बैठे हैं। हमारी पूरी जिंदगी इसी तरह का जोड़ है। अहंकार इस सबका संग्रह है। जो हमने दूसरों की आंखों से चमक चुरा ली है, उसको जोड़ लिया है, वही हमारा टिमटिमाता दीया है। लेकिन दूसरे हमेशा मालिक हैं। वे जिस दिन चाहें खींच लें। बड़े से बड़ा नेता हो, अनुयायी से बड़ा नहीं होता। हो नहीं सकता, क्योंकि सारी नेतागिरी अनुयायी के हाथ में होती है। आज दी है, कल वापस ले ले!

इसलिए कितना ही बड़ा नेता हो, अनुयायी का भी अनुयायी होता है; उसके पीछे उसे चलना पड़ता है। उसे देखना पड़ता है कि अनुयायी किस तरफ जा रहा है? दौड़ कर उसके आगे हो जाता है। देखना पड़ता है, अनुयायी किस तरफ जा रहा है? कहां है रुख हवा का? बस इतनी कुशलता करता है कि दौड़ कर उसके आगे हो जाता है। और पूरे वक्त... इसीलिए नेता रोज अपने वक्तव्य को बदलता रहता है। उसको बदलना पड़ता है। वह अनुयायी को ख्याल में रखना है। उससे मिला हुआ अहंकार है। पद है, प्रतिष्ठा है, सब मिली हुई है, सब उधार है। और जो उधार है, वह आप नहीं हैं। यह सब नहीं मिला था, तब भी आप थे। मौत इस सबको छीन लेगी, तब भी आप होंगे।

आपने एक झूठा केंद्र निर्मित कर लिया है। और इस केंद्र से अगर आप अपने को एक समझ बैठे हैं, तो फिर आप असली केंद्र को खोजेंगे क्यों। आप तो मान कर ही चल रहे हैं, यही है असली केंद्र। क्या है आपकी तस्वीर अपनी आंखों में? दूसरों के हाथों से बनाई हुई तस्वीर है। दूसरों ने लकीरें खींची हैं कैनवस पर। किसी ने रंग भर दिया है, किसी ने आंख बना दी है, किसी ने पैर बना दिए हैं, वही आप हैं। यह तस्वीर कागजी है। वर्षा का एक झोंका इसके रंगों को उड़ा देता है। लेकिन जीवन की अनिवार्यता में से निकल आती है यह बात।

मनसविद कहते हैं कि बच्चे को पहले बोध होता है दूसरे का, खुद का नहीं होता। स्वाभाविक है। बच्चा जब आंख खोलता है, तो देखता है अपनी मां को; खुद को तो कैसे देखेगा! दूसरा दिखाई पड़ता है--तू दिखाई पड़ता है। फिर धीरे-धीरे उसकी पहचान बढ़ती है; पिता दिखाई पड़ता है; भाई, बहन, परिवार दिखाई पड़ता है। धीरे-धीरे उसे तू का अनुभव होता है, दूसरे का। और इस तू के विपरीत ही वह अपने मैं को अनुभव करना शुरू करता है।

मैं का अनुभव पहला नहीं है, यह बड़े मजे की बात है। मैं पैदा होता हूं, लेकिन मुझे मेरा अनुभव पहले नहीं होता, मुझे दूसरों का अनुभव पहले होता है। स्वभावतः, जब दूसरों का अनुभव मुझे पहला होता है, तो जिस मैं को मैं निर्मित करूंगा, वह इन दूसरों के मत पर आधारित होगा।

इसलिए मनसविद कहते हैं कि अगर मां का प्रेम मिला हो बेटे को, पिता का प्रेम मिला हो, घर का सम्मान मिला हो, तो उस बेटे की अकड़ दूसरे ढंग की होती है। मां का प्रेम न मिला हो, घर में कोई सम्मान न मिला हो, तो उस बेटे में एक दीनता पैदा हो जाती है। क्योंकि जिनसे मैं का पहला बोध मिला, अगर उन्होंने

खुशी जाहिर न की हो और आनंद जाहिर न किया हो, तो वह मैं सदा के लिए गरीब, दीन-दुखी हो जाता है। भोजन ही नहीं मिला उसे।

इसलिए जो बच्चा मां के बिना पलता है, उसमें एक कमी सदा के लिए रह जाती है, जिसको मनोवैज्ञानिक कहते हैं, पूरा किया ही नहीं जा सकता। क्योंकि उसके पहले मैं का बोध ही पंगु हो जाता है। जिससे मिलनी थी यह समझ कि मैं कौन हूं, जिस तू से पहली झलक मिलनी थी मैं की, उसने कोई झलक ही न दी। उसने कोई गौरव, सम्मान, आदर, प्रेम, कुछ भी न दिया; कोई गरिमा न दी।

मां अगर नाच न उठी हो बच्चे के जन्म से, अगर मां आह्लादित न हो उठी हो, अगर उसका रोआं-रोआं प्रसन्न न हो उठा हो, तो इस बच्चे का मैं जो है, वह सदा के लिए लंगड़ा-लूला रह जाएगा। बड़ी तकलीफ होगी। उसे बैसाखियां लगानी पड़ेंगी। बड़ी कठिनाई आएगी।

दूसरों से मिलता है हमें मैं का पहला अनुभव, और दूसरों से ही मिलता चला जाता है। धीरे-धीरे, सर्टिफिकेट, मत, लोगों के विचार, समाज में प्रतिष्ठा, मान, उसको हम इकट्ठा कर लेते हैं। और इसी केंद्र पर हम लटके रह जाते हैं। केंद्र इसके भीतर छिपा है हमारा।

तू पहले नहीं हो सकता, मैं पहले हूं--चाहे उसका पता हमें बाद में चलता हो। बच्चा पैदा होता है तो अपने मैं को, अपनी आत्मा को लेकर पैदा होता है। लेकिन वह केंद्र छिपा रह जाता है और एक नया केंद्र निर्मित हो जाता है। फिर इस केंद्र को हम पकड़ते हैं। पकड़ते इसलिए हैं कि हम दूसरा कोई केंद्र जानते भी नहीं। और इसे छोड़ दें तो अधर में लटक जाएं। और इसका ख्याल न करें तो बिखर जाएं। डर लगता है कि कहीं सब अस्तव्यस्त न हो जाए, अराजक न हो जाए। इसलिए इसे जोर से पकड़े रहते हैं।

वह जो तोता रस्सी को पकड़े है, इसी डर से कि अगर छोड़ दूं तो गिर पड़ूं, हड्डी-पसली चकनाचूर हो जाए। हम भी इस मैं को पकड़े रहते हैं, क्योंकि और कुछ पकड़ने को दिखाई भी नहीं पड़ता। इसी के सहारे चलते हैं। और जोर से पकड़े रहते हैं कि कहीं छूट न जाए। फिर इससे दुख मिलता है; क्योंकि यह वास्तविक केंद्र नहीं है। यह हमारी हालत ऐसी है कि हम एक खजाना लेकर पैदा हुए हों, और फिर एक झूठे गड्ढे को, जो खजाना नहीं है, हमने खजाना समझ रखा हो, फिर उसी को खोदते चले जाते हों और उसमें से कभी कोई संपत्ति न मिलती हो।

जो हमारा केंद्र है, वह तो सम्राट है; जो हमारी आत्मा है, वह तो आनंद है, वह तो एक खजाना है; लेकिन यह जो मैं है, यह बिल्कुल उधार गड्ढा है। इसमें हम कितने ही खोदें, कोई खजाना हमें कभी मिलने वाला नहीं। इसको खोद-खोद कर हम अपने स्वभाव तक कभी पहुंच नहीं सकते हैं।

इसलिए सूत्र कहता हैः 'अहंकार को पकड़ने से मुक्त हुआ मनुष्य ही आत्म-स्वरूप को प्राप्त करता है।'

तो क्या करें? क्या करें?

गुरजिएफ एक बहुत अदभुत फकीर हुआ। उसकी दादी मरणशय्या पर पड़ी थी। और गुरजिएफ ने अपनी दादी से पूछा कि तेरे जीवन के अनुभव और निष्कर्षों से अगर कोई बात मुझे देने योग्य हो और मेरी कोई पात्रता हो, तो मुझे दे दे।

बड़ी अजीब बात उसकी बूढ़ी दादी ने दी। उसकी बूढ़ी दादी ने कहा, एक बात का अगर तू ख्याल रख सके जीवन भर, कि जैसा दूसरे करते हों वैसा कभी मत करना। कोई भी काम, जैसा दूसरे करते हों वैसा कभी मत करना; सदा कोशिश करना कुछ अन्यथा करने की।

गुरजिएफ ने तो इसके ऊपर बाद में एक पूरा का पूरा फलसफा, एक पूरा दर्शन खड़ा किया। और उसने एक नियम बनाया, दि लॉ ऑफ अदरवाइज; हमेशा और ढंग से करना।

गुरजिएफ ने इसकी चेष्टा की, और एक अनूठा आदमी पैदा हुआ। क्योंकि जैसा दूसरे करते हों वैसा मत करना, बड़े परिणाम हुए इसके। पहला परिणाम तो यह हुआ कि जैसा दूसरे करते हैं अगर आप वैसा ही करें, तो

ही आपके अहंकार को पुष्टि मिलती है। तो आपके अहंकार को पुष्टि देने वाला कोई भी नहीं मिलेगा। लोग आप पर हंसेंगे।

गुरजिएफ ने कहा है कि मेरी दादी ने मुझसे कहा कि मैं मरने के करीब हूं, मुझे पता भी नहीं चलेगा कि तूने मेरी बात मानी कि नहीं मानी! तो मरने के पहले मुझे तू उदाहरण एक करके दिखा दे। पास ही पड़ा था एक सेव, उसकी बूढ़ी दादी ने उसे दिया और कहा, इसे खाकर बता! लेकिन याद रख, जैसा दूसरे करते हैं, वैसा मत करना।

बड़ी मुश्किल में पड़ गया होगा वह बच्चा, क्या करे? लेकिन बच्चे इन्वेंटिव होते हैं, काफी आविष्कारक होते हैं। अगर मां-बाप उनके आविष्कार की बिल्कुल हत्या न कर दें तो इस दुनिया में बहुत आविष्कारक लोग हों। लेकिन आविष्कार खतरा मालूम पड़ता है, क्योंकि नया कुछ उपद्रव लाता है।

गुरजिएफ ने पहले कान से लगा कर उस सेव को सुना, आंख के पास लाकर देखा, चूमा, हाथ से स्पर्श किया आंख बंद करके; उस सेव को लेकर नाचा, उछला, कूदा, दौड़ा; फिर उस सेव को खाया! उसकी दादी ने कहा, मैं आश्वस्त हूं!

फिर गुरजिएफ ने कहा, यह मेरी जिंदगी का नियम हो गया कि कुछ भी काम करो, दूसरे जैसा न करना; कुछ न कुछ अपने जैसा करना। लोग उस पर हंसते थे। लोग कहते, पागल है! लोग कहते, यह किस तरह का आदमी है! यह क्या कर रहा है? सेव को कान से सुन रहा है!

गुरजिएफ ने कहा कि मुझे पता भी नहीं था, लेकिन इसका एक परिणाम हुआ कि मुझे दूसरों की चिंता न रही। दूसरे क्या कहते हैं, दूसरों का क्या मंतव्य है, दूसरे मेरे संबंध में क्या धारणा बनाते हैं, यह बात ही छूट गई; मैं अकेला ही हो गया; मैं निपट अकेला हो गया इस पूरी पृथ्वी पर। और गुरजिएफ ने लिखा है, इस कारण मुझे वह मुसीबत कभी नहीं झेलनी पड़ी जो सभी को झेलनी पड़ती है। एक झूठा केंद्र मेरा निर्मित ही नहीं हुआ। और मुझे अहंकार मिटाने के लिए कभी कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ी। वह बना ही नहीं।

क्या करें? दूसरों का ख्याल छोड़ दें। सुबह मैं देखता हूं, आप ध्यान कर रहे हैं। करते भी हैं, ख्याल भी बना रहता है कि कोई देख तो नहीं रहा! कोई क्या कहेगा!

एक मित्र आज ही आए थे। वे कहते थे, आप जो भी बताएं, अकेले में कर लूंगा। यहां इतने लोगों के सामने!

अकेले में कोई लाभ न होगा। कोई लाभ न होगा, क्योंकि ध्यान के लाभ तो बहुआयामी हैं। इतने लोगों के सामने आपके पागल होने की हिम्मत आपके अहंकार को बिखरा जाती है। इतने लोगों के सामने आपका बच्चे जैसा व्यवहार आपको अचानक आपके अहंकार से हटा कर केंद्र पर फेंक देता है। अकेले में--अकेले में यह बात न होगी। अकेले में तो अपने बाथरूम में सभी गुनगुना लेते हैं! और अपने बाथरूम के आईने में सभी मुंह बिचका लेते हैं! बच्चे ही नहीं, बूढ़े भी! वह तो आईने कहते नहीं कथाएं! मगर उसका कोई परिणाम नहीं है। उससे कोई हल नहीं है। उससे कोई भी हल नहीं है।

दूसरे की चिंता छोड़ दें; दूसरे के मत का विचार छोड़ दें; और दूसरे का ध्यान मुझे मिले, इसको धीरे-धीरे क्षीण करते जाएं। यह भोजन है अहंकार काः दूसरे का ध्यान मुझे मिले। दूसरे का ध्यान भोजन है; उससे अहंकार परिपुष्ट होता है। इसलिए जितने लोग आपको ज्यादा ध्यान दें, उतना रस मालूम पड़े; उतना लगे कि मैं कुछ हूं। अगर कोई ध्यान न दे, आप एक घर में हों और कोई आपको देखे भी नहीं... ।

गुरजिएफ प्रयोग कर रहा था अपने शिष्यों को लेकर। उसने तीस शिष्यों को एक भवन में रखा हुआ था। और उनसे कहा था, तुम इस तरह रहना यहां कि बाकी उनतीस यहां नहीं हैं। न तो बोलना, न किसी तरह का इशारा करना, न किसी तरह की मुद्रा बनाना जिससे कि कोई संवाद हो सके, अगर तुम किसी के पास से गुजरो तो यही ध्यान रख कर गुजरना कि यहां कोई भी नहीं है, अकेला हूं। जान कर, अनजाने में, कोई भी ऐसी बात मत करना जिससे तुम्हारे द्वारा पता चले कि दूसरा मौजूद है। गुरजिएफ ने कहा कि अगर तुम्हारा पैर किसी के

पैर पर पड़ जाए, तो माफी मत मांगना, क्योंकि वहां कोई है नहीं। अगर अंगारा भी तुम्हारे हाथ से किसी के ऊपर छूट जाए, तो तुम यह मत कहना, भूल हो गई। आंख से भी मत बताना, भूल हो गई; वहां कोई है ही नहीं।

इन तीस लोगों को तीन महीने तक गुरजिएफ ने कहा कि तुम ऐसे रहो। सत्ताइस लोग भाग गए, तीन लोग बचे। लेकिन वे तीन लोग दूसरे आदमी हो गए।

क्या, इसका उपयोग क्या है?

इसका उपयोग क्या है, इसे थोड़ा समझें। यह सवाल नहीं है महत्वपूर्ण, यह तो बहुत आसान है कि हम दूसरे की तरफ ध्यान न दें और उसको लात लग जाए तो हम माफी न मांगें! यह तो बहुत आसान है। इसमें क्या अड़चन है? यह तो हम चाहते ही हैं! लेकिन क्या, अर्थ क्या है?

ध्यान रखना, इसमें अर्थ गहरा है और छिपा है। गुरजिएफ ने कहा कि तुम ध्यान ही मत देना कि कोई दूसरा है, लेकिन तब एक बात समझ लेना कि दूसरे भी ध्यान नहीं देंगे कि तुम हो। वही है मूल। तुम ध्यान न दोगे दूसरों को, तुम एक हो; दूसरे तुम्हें ध्यान न देंगे, वे उनतीस हैं। उनतीस लोगों का ध्यान तुम्हें तीन महीने तक नहीं मिलेगा बिल्कुल।

पारस्परिक है लेन-देन। मैं आपको ध्यान देता हूं, आप मुझे ध्यान दे देते हैं! लेन-देन है। मैं आपके अहंकार को भर देता हूं, आप मेरे को भर देते हैं! लेकिन दोनों तरफ आवागमन बंद हो जाएगा।

वे सत्ताइस लोग जो भाग गए, उनका कारण क्या था? उनमें से अनेक लोगों ने कहा कि हमें ऐसा लगने लगा कि हम सफोकेट हो रहे हैं, हम मर जाएंगे; हमारी गर्दन घुट रही है।

वह उनकी गर्दन नहीं घुट रही थी, उनके अहंकार की गर्दन घुट रही थी। उन्हें लग रहा था कि तीन महीना! और कोई भोजन न मिलेगा अहंकार को; लौटेंगे बाहर तो खाली हो जाएंगे। वे जो तीन रुक गए हिम्मत करके, वे तीन महीने बाद दूसरे आदमी होकर लौटे। उनमें क्या फर्क पड़ गया था?

आसपेंस्की उन तीन आदमियों में एक था जो रुक गया। उसने पीछे कहा कि अदभुत था यह आदमी गुरजिएफ! क्योंकि तीन महीने में, हमें ख्याल ही न था कि हमारे अहंकार को मिटाने का उपाय किया जा रहा है, हम तो समझे थे कि यह प्रयोग हमारी शांति, हमारे मौन के लिए करवाया जा रहा है। हमें बताया भी नहीं गया था कि तुम्हारा अहंकार मर जाएगा। तीन महीने के बाद हम ऐसे हो गए, जैसे हों ही न। होना भर रह गया। कहीं कोई मैं का स्वर नहीं उठता था।

जिस दिन भीतर कोई मैं का स्वर नहीं उठता, उस दिन आप अपने वास्तविक मैं पर खड़े हो जाते हैं। उस वास्तविक मैं का नाम है आत्मा। और तब स्वभावतः चंद्रमा जैसा निर्मल हो जाता है व्यक्तित्व; सदा आनंदमय और स्वयं-प्रकाश। वहां प्रकाश है ही, वहां आनंद है ही, बस जरा सा मैं से एक छलांग लगानी है उस आत्मा पर। वहां निर्मलता है ही; वहां की निर्मलता कभी खंडित नहीं हुई है।

दूसरा महत्वपूर्ण सूत्र। वह भी बहुत अदभुत और मौलिक। शब्द कभी-कभी छिपा लेते हैं और दिखाई नहीं पड़ता। और शब्द परिचित होते हैं इसलिए शब्दों के भीतर उतरना मुश्किल हो जाता है। ये शब्द सब आपने सुने होंगे, इनमें कोई अपरिचित नहीं है। लेकिन इनका संयोजन बिल्कुल अपरिचित है।

'क्रिया का नाश होने से चिंता का नाश होता है, और चिंता का नाश होने से वासना का नाश होता है। वासना-नाश मोक्ष है, और यही जीवन्मुक्ति है।'

'क्रिया का नाश होने से चिंता का नाश होता है।'

चिंता को तो हम सभी नष्ट करना चाहते हैं। कौन है आदमी जो चिंता से मुक्त न हो जाना चाहता हो? लेकिन कर्ता से हम मुक्त नहीं होना चाहते। चिंता से मुक्त होना चाहते हैं, कर्ता से मुक्त नहीं होना चाहते। और

कर्ता की छाया है चिंता। जो आदमी सोचता है मैं कर रहा हूं यह, वह चिंता से नहीं बच सकता। उस पर चिंता बढ़ती चली जाएगी। और जितना ही वह आदमी सोचेगा मैं कर रहा हूं, उतनी ही चिंता बढ़ती चली जाएगी।

पूरब के लोगों ने बड़ी तरकीबें खोजी थीं, उसमें एक तरकीब यह थी कि मैं नहीं कर रहा हूं, परमात्मा कर रहा है। यह एक ध्यान की व्यवस्था थी। यह व्यवस्था थी कि उसकी आज्ञा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। ऐसा है नहीं कुछ। एक-एक पत्ते के लिए आज्ञा देनी पड़े उसको, तो अभी तक परमात्मा पागल हो जाता! कि एक-एक पत्ते को कहना पड़ेः हिलो! बंद हो जाओ!

नहीं, कोई परमात्मा एक-एक पत्ते को हिलाने-रोकने के लिए नहीं बैठा हुआ है। लेकिन इसका उससे कोई संबंध भी नहीं है। उसकी आज्ञा के बिना पत्ता नहीं हिलता, यह तो ध्यान की एक व्यवस्था थी, एक उपाय था। क्योंकि जो आदमी ऐसा मान लेता है, उसकी आज्ञा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता, वह धीरे-धीरे मैं कर्ता हूं, यह भाव छोड़ने लगता है। कर्ता वह है, मैं कुछ भी नहीं हूं, उपकरण हूं। वह हिलाता है तो हिलता हूं, वह चलाता है तो चलता हूं, वह उठाता है तो उठता हूं।

जब लोग ऐसा सोचते थे कि उसके द्वारा सब हो रहा है और हम केवल कठपुतलियां हैं, तो एक बड़ी घटना घटी थी इस दुनिया में, पूरब के मुल्क एकदम चिंतामुक्त हो गए थे। पूरब ने जितना निश्चिंत समय जाना है, जमीन पर और कहीं नहीं जाना गया। और अभी पश्चिम जितना चिंता से भरा हुआ समय जान रहा है, उतना चिंता से भरा समय भी कभी नहीं जाना गया। पर उसका कारण वही है, क्योंकि पश्चिम में ईश्वर संदिग्ध हो गया, भाग्य की धारणा व्यर्थ हो गई।

मैं नहीं कहता कि भाग्य की धारणा सही है। लेकिन भाग्य की जो उपाय-व्यवस्था थी, कि भाग्य सब कर रहा है तो फिर हम कर्ता नहीं रह जाते, वह समाप्त हो गया। पश्चिम में न कोई ईश्वर बचा, न कोई भाग्य बचा, न कोई नियति बची--सारा जिम्मा आदमी पर पड़ गया। मैं कर रहा हूं! जो भी कर रहा हूं, मैं कर रहा हूं! क्योंकि इसको हटाने के लिए कोई जगह न रही।

ईश्वर हो या न हो, इससे अंतर नहीं पड़ता, लेकिन अगर आप अपने कर्तृत्व को ईश्वर पर छोड़ सकें--न हो तो भी--तो भी आप पर तो परिणाम शुरू हो जाता है कि आप निश्चिंत हो जाते हैं।

पश्चिम में चिंता घनी हो गई है। अमरीका के मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि चार आदमियों में तीन आदमी मानसिक रूप से रुग्ण हैं। चार आदमियों में तीन आदमी! यह चौथा आदमी भी कितनी देर तक इन तीन के बीच बचेगा! ये तीन सब उपाय कर रहे हैं उसको भी डुबा देने के। बड़ी संख्या हो गई, चार में से तीन आदमी अगर मानसिक रूप से अस्तव्यस्त और रुग्ण हो गए हैं। क्या कारण होगा? पूरब ने इतने पागल कभी पैदा नहीं किए! पश्चिम ने इतने पागल पैदा किए!

पश्चिम में पागलपन बढ़ता जाता है, और धीरे-धीरे स्वीकृत होता जाता है। फ्रायड ने तो अंत में यह स्वीकार कर लिया जीवन भर के अनुसंधान के बाद कि आदमी को सुधारने का वस्तुतः कोई उपाय नहीं है; आदमी थोड़ा न बहुत पागल रहेगा ही। असमर्थता स्वीकार कर ली। और फ्रायड स्वीकार करे असमर्थता, तो बड़ी कीमत की है। क्योंकि यह आदमी पचास साल जिंदगी के आदमी के मन के अनुसंधान में ही लगाया है; गहरी से गहरी खोज की है। उसका कहना है, कोई उपाय नहीं है कि आदमी बिल्कुल स्वस्थ किया जा सके।

पर फ्रायड को पता नहीं कि स्वस्थ आदमी जमीन पर रहे हैं; स्वस्थ समाज भी रहे हैं। पर उन समाजों की धारणाएं दूसरी थीं। उसमें बड़ी से बड़ी गहरी धारणा थी यह कि कर्ता मैं नहीं हूं। इसका उन्होंने उपाय कर लिया थाः कर्ता परमात्मा है, भाग्य है, विधि है, नियति है--कोई और है। मैं हूं केवल एक उपकरण मात्र, एक पत्ते की तरह। हिलाता है हिलता हूं, नहीं हिलाता नहीं हिलता हूं; जिताता है जीत जाता हूं, हराता है हार जाता हूं; मेरा कुछ भी नहीं है।

इसके दोहरे परिणाम हुए। एक परिणाम तो यह हुआ कि जब मैं कर्ता नहीं हूं तो चिंता के पैदा होने का कोई कारण नहीं उठता। हार भी स्वीकृत हो जाती है, जीत भी स्वीकृत हो जाती है। तो जीत भी मेरी नहीं है, तो जीत से भी अहंकार निर्मित नहीं होता। और हार भी मेरी नहीं है, तो रात की नींद भी नष्ट नहीं होती; चिंता भी नहीं पकड़ती; मन में व्यथा भी नहीं आती। और भी बड़े मजे की बात है, कोई दूसरा आदमी जीत जाए तो ईर्ष्या भी नहीं पकड़ती। क्योंकि वह आदमी जीत गया, इससे कुछ बड़ा नहीं हो गया है; परमात्मा की मर्जी। उस आदमी का बड़प्पन नहीं है कुछ कि जीत गया है, और हम हार गए तो हम कुछ छोटे हैं; परमात्मा की मर्जी।

एक बड़ी शांत मानसिक अवस्था पैदा हो सकती है अगर कर्ता का भाव छूट जाए। जरूरी नहीं है कि आप परमात्मा को मानें तो ही छूटे। बुद्ध ने बिना परमात्मा को माने छोड़ दिया, थोड़ा कठिन है। महावीर ने बिना परमात्मा को माने छोड़ दिया, थोड़ा कठिन है।

अगर बिना परमात्मा को माने छोड़ना हो तो फिर आपको साक्षी-भाव को गहरा करना पड़े। सिर्फ देखने वाले रह जाएं; जो भी हो रहा है, देखने वाले रह जाएं। हार हो, तो देखें कि मैं देख रहा हूं हार हो गई, और जीत हो तो देखें कि देख रहा हूं कि जीत हो गई। न तो मैं हारता हूं और न मैं जीतता हूं, मैं केवल देखता हूं। सुबह आती है तो देख लेता हूं सुबह आ गई, सांझ होती है तो देख लेता हूं सांझ हो गई। रात का अंधेरा घिरता है तो मान लेता हूं कि अंधेरा घिर गया; सूरज निकलता है, प्रकाश हो जाता है तो जान लेता हूं कि प्रकाश हो गया। मैं अपनी ही जगह देखने वाला बना रहता हूं--चाहे रात हो और चाहे दिन, चाहे सुख हो चाहे दुख, चाहे हार चाहे जीत। तब फिर साक्षी में कोई ठहर जाए तो कर्ता विलीन हो जाता है; क्रिया आपकी नहीं रह जाती, क्रिया के केंद्र आप नहीं रह जाते; आप दृष्टि, दर्शन, ज्ञान के केंद्र हो जाते हैं। क्रिया आस-पास प्रकृति में होती रहती है।

महावीर कहते हैं, पेट को भूख लगती है, मैं देखता हूं। पैर में कांटा चुभता है, पीड़ा होती है पैर को, मैं देखता हूं। शरीर रुग्ण होता है, बीमारी आती है, मैं देखता हूं। मरते वक्त भी महावीर देखते रहेंगे कि शरीर मर रहा है। आप नहीं देख पाएंगे कि शरीर मर रहा है; आपको लगेगा मैं मर रहा हूं। जीवन भर का अभ्यास! जब सब क्रियाएं आपने कीं, तो मौत भी आपको ही करनी पड़ेगी। जब सभी कुछ आपने किया, तो फिर मृत्यु आप किस पर छोड़ेंगे! जिसने जीवन को छोड़ दिया, वह मृत्यु को भी छोड़ देता है। और जो जीवन को देखता रहा कि मैं साक्षी हूं, वह मृत्यु को भी देख लेता है कि मैं साक्षी हूं।

क्रिया का नाश हो जाए, अर्थात कर्ता खो जाए, तो चिंता का नाश हो जाता है।

इससे भी गहरी बात दूसरी हैः

'और चिंता का नाश होने से वासना का नाश होता है।'

यह सूत्र, लगता है कि जैसे कुछ भूल हो गई। निरंतर शास्त्रों ने कहा है, वासना का नाश हो तो चिंता का नाश होता है। और यही आपने सुना भी होगा कि अगर वासना न रहे तो चिंता नहीं रह जाती। यह सूत्र बिल्कुल उलटी बात कह रहा है। यह सूत्र कहता है, चिंता का नाश हो जाए तो वासना का नाश होता है। क्रिया का नाश हो तो चिंता का नाश होता है, और चिंता का नाश हो तो वासना का नाश होता है। क्यों?

कभी आपने ख्याल किया कि जब आप ज्यादा चिंतित होते हैं तो ज्यादा वासनाग्रस्त होते हैं? जब मन में ज्यादा परेशानी होती है, तो कामवासना ज्यादा पकड़ती है; क्योंकि मन की परेशानी भी कामवासना के साथ बाहर निकल जाती है, हलका हो जाता है। जब चित्त क्रोध में होता है तब भी कामवासना ज्यादा पकड़ती है। चित्त प्रफुल्लित हो, आनंदित हो, कामवासना कम पकड़ेगी। अगर चित्त बिल्कुल आनंद में रहे, कामवासना पकड़ेगी ही नहीं।

इसके कारण हैं। जब चित्त में कोई भी चीज तनाव की एक सीमा के बाहर पहुंच जाती है, तो जो काम-केंद्र है, वह सेफ्टी वाल्व की तरह काम करता है। वह है ही सेफ्टी वाल्व। जब आपकी चिंता बहुत हो जाती है, उसको सहना मुश्किल हो जाता है, और इतनी शक्ति आपमें दौड़ने लगती है कि उतनी शक्ति आपको बेचैन करने लगती है, तो शरीर उस शक्ति को बाहर फेंकने का उपाय खोज लेता है।

काम-केंद्र सेफ्टी वाल्व है। तो जहां भी शक्ति का काम करना हो वहां सेफ्टी वाल्व लगाने पड़ते हैं। प्रकृति ने भी लगाया हुआ है।

अगर आप स्टोव गर्म कर रहे हैं तो उसमें भी इंतजाम करना पड़ता है कि अगर आप ज्यादा हवा भर दें तो कहीं सेफ्टी वाल्व होना चाहिए जो निकल जाए। घर में बिजली आप लगाते हैं तो फ्यूज लगाने पड़ते हैं। तो कहीं ऐसा हो कि आपके हाथ में बिजली पकड़ जाए, तो फिर आप मरेंगे। तो फ्यूज पूरे वक्त ज्यादा शक्ति को प्रवाहित नहीं होने देगा। जैसे ही ज्यादा शक्ति खींचने की स्थिति बनेगी, फ्यूज टूट जाएगा और शक्ति निष्कासित हो जाएगी; आप बच जाएंगे।

शरीर में भी सेफ्टी वाल्व है; वह बायोलाजिकल है। सेक्स सेंटर, काम-केंद्र सेफ्टी वाल्व है। जब भी आपके भीतर ज्यादा शक्ति भर जाती है, और बेचैनी बढ़ जाती है, और चिंता पकड़ लेती है, और भीतर द्वंद्व चलने लगता है, तब जरूरत हैः या तो आप साक्षी हो जाएं, तो यह सब उपद्रव शांत हो जाए। और या फिर यह सारा उपद्रव, दूसरा उपाय है कि आपकी शक्ति शरीर के बाहर चली जाए, आप कमजोर हो जाएं, तो उस कमजोरी में यह उपद्रव शांत हो जाए। क्योंकि उपद्रव के लिए शक्ति चाहिए।

इसलिए अक्सर यह होता है, कमजोर आदमी भले आदमी होते हैं। उसका मतलब यह नहीं है कि वे भले होते हैं। उसका कुल मतलब इतना होता है कि बुरा करने के लिए जितनी शक्ति चाहिए वह उनके पास नहीं है। कभी ख्याल किया आपने कि मोटे आदमी सदा प्रसन्न मालूम होते हैं! और आमतौर से मिलनसार होते हैं! और आमतौर से झगड़ेलू नहीं होते! क्यों?

अगर आप पूछें फिजियोलाजिस्ट से, शरीरशास्त्री से, तो वह कहता है, मोटा आदमी लड़ नहीं सकता; लड़े तो पिटेगा; तो मिलनसार हो जाता है! क्योंकि वह झंझट... वह लड़ने का काम हो ही नहीं सकता उनसे! करेंगे तो उसमें पिटेंगे! इसलिए वे मुस्कुराते रहते हैं! मुस्कुराहट का मतलब यह है कि कोई झगड़ा नहीं करना है किसी से। बस सब ठीक है; झगड़े में नहीं उतरना है।

मोटा आदमी भाग नहीं सकता। और झगड़ा हो तो दो ही उपाय हैंः या तो लड़ो, या भागो। वह दोनों नहीं कर सकता! झगड़ेलू नहीं रह जाता। मगर इसका यह मतलब नहीं है कि झगड़ा समाप्त हो जाता है। आदमी की सारी व्यवस्थाएं हैं भीतर; उनके प्रति होश से भरना उपयोगी है।

तो जब भी आप चिंता से भरते हैं--दुख से, पीड़ा से--तो आपके चित्त में वासना का उदय होगा। या तो साक्षी बन जाइए। अगर साक्षी बन जाएंगे तो जो शक्ति आपकी चिंता में उलझ रही है, वह शक्ति चिंता से मुक्त हो जाएगी और उसी शक्ति के सहारे आप ऊपर की यात्रा पर निकल जाएंगे। अगर आप साक्षी नहीं हो सकते तो जो शक्ति आपको बेचैन किए दे रही है, तूफान, झंझावात कर दिया है, वह फिर सेफ्टी वाल्व से, वासना के केंद्र से बाहर निष्कासित हो जाएगी; आप कमजोर हो जाएंगे; आपको लगेगा हलके हो गए; लगेगा रिलीफ, विश्राम मिला।

फ्रायड ने तो सेक्स को, कामवासना को, नैसर्गिक ट्रैंक्वेलाइजर कहा है, कि वह विश्राम देने वाली दवा है। पुरुष दिन भर का थका-मांदा, जमाने भर के उपद्रव, चिंताओं से घिरा हुआ लौटता है। अगर उसे कामवासना से शक्ति को बहाने का मौका मिल जाए, तो वह रात शांति से सो जाता है।

और इसी वजह से स्त्रियां काम में इतना रस नहीं लेती हैं, क्योंकि उनको बहुत जल्दी समझ में आना शुरू हो जाता है कि पुरुष के लिए वे केवल सेफ्टी वाल्व का काम कर रही हैं। उनको तत्काल यह पता चल जाता है

कि प्रेम वगैरह कुछ भी इसमें है नहीं मामला, इंस्ट्रूमेंटल है। उनको समझ में आ जाता है कि इस पुरुष के लिए धीरे-धीरे, धीरे-धीरे वे केवल एक उपकरण बन गई हैं, जिसके माध्यम से वह अपनी शक्ति को फेंक देता है और सो जाता है।

और अक्सर यह होता है कि पुरुष संभोग के बाद करवट लेकर सो जाता है और स्त्री रोती रहती है। उसके कारण हैं, क्योंकि स्त्री का इससे ज्यादा और गहन अपमान नहीं हो सकता कि उसका उपयोग वस्तु की तरह कर लिया जाए।

मेरे पास न मालूम कितनी स्त्रियां आकर कहती हैं कि उन्हें कामवासना में जरा भी रस नहीं है!

उसका कारण यह नहीं है कि उन्हें रस नहीं है, उसका कुल कारण यह है कि पुरुष ने उनका उपयोग केवल एक वस्तु की तरह किया है; इससे रस विरस हो गया है। अन्यथा ऐसा नहीं है कि रस नहीं है। असलियत उलटी है, स्त्रियां ज्यादा कामातुर हैं पुरुषों से; उनके पास ज्यादा ऊर्जा है काम की। लेकिन दिखाई नहीं पड़तीं वे कामातुर, बल्कि बिल्कुल ही रसहीन मालूम पड़ती हैं। पुरुष को भी वे ऐसा मान कर चलती हैं कि ठीक है! निपटारा हो जाता है! झंझट मिटी! बाकी कोई रस स्त्रियां लेती नहीं मालूम पड़तीं। उसका कारण यह नहीं कि उनके भीतर कोई वासना नहीं है। उसका कुल कारण इतना है कि वासना में उन्हें लगता है कि वह केवल वस्तु की तरह उनका उपयोग किया जा रहा है; व्यक्तित्व उनका वस्तु जैसा समझा जा रहा है। इससे पीड़ा होती है।

पर इसके दूसरे परिणाम होते हैं। पुरुष तो कामवासना से निकाल लेता है अपनी ऊर्जा को, स्त्रियां क्या करें? इसलिए स्त्रियां झगड़ैल, उपद्रवी, कर्कशा--वे दूसरे रास्तों से चौबीस घंटे निकालती हैं। क्योंकि उनके लिए सेफ्टी वाल्व बंद हो गया; उनके लिए तो यह सिर्फ एक बात रह गई कि ठीक है, पुरुष का उपाय है! लेकिन फिर स्त्रियां कर्कशा हो जाती हैं।

यह बड़ी उलटी बात है। स्त्रियों को होना चाहिए ज्यादा मधुर, पर यह होता नहीं; होना चाहिए ज्यादा सौम्य, लेकिन यह होता नहीं; होना चाहिए संगीत जैसा, लेकिन यह होता नहीं। क्या बात है?

कहीं कुछ नैसर्गिक भूल-चूक व्यवस्था में हो रही है। और वह व्यवस्था में यह हो रही है कि जो निकास का सहज मार्ग उनके लिए हो सकता था, वह अवरुद्ध हो गया; उसके प्रति उन्होंने रस-त्याग कर दिया। और साक्षी बनना तो मुश्किल है! इसलिए अब वे सारी शक्तियां घूमती हैं और अलग-अलग मार्गों से निकलती हैं। हाथ से बर्तन छूट जाएगा स्त्री के। चीनी का होना चाहिए, तब छूटेगा! टूट जाएगा! उसके टूटने से निकास हो रहा है। इसलिए आप बिल्कुल चार्ट बना सकते हैं कि किन दिनों में आपके घर बर्तन ज्यादा टूटते हैं! और आप अनिवार्य रूप से यह पाएंगे कि जब भी स्त्री की ऊर्जा निष्कासित नहीं हो पाती तब, तब वे टूटेंगे। तब पच्चीस उपाय से स्त्री--अपने क्रोध से, अपने तनाव से--अपनी शक्ति को बाहर फेंकना चाहेगी।

जब चिंता होती है चित्त पर भारी, तो चित्त वासना की तरफ दौड़ता है।

इसलिए यह सूत्र कहता हैः 'चिंता के नाश होने से वासना का नाश होता है।'

यह सूत्र बहुत अनूठा है; और यह बहुत प्राचीन है; और मनसविद तो अब इसका पता लगा पा रहे हैं। अगर आप निश्चिंत हो जाएं तो वासना क्षीण हो जाएगी। अगर आप बिल्कुल निश्चिंत हो जाएं तो वासना की तरफ चित्त दौड़ेगा ही नहीं। क्योंकि वासना केवल एक अनिवार्यता है, जब आपके भीतर सीमा के बाहर तूफान उठ जाता है, उस तूफान को निष्कासित करने का। अगर उतना तूफान उठता ही नहीं है, तो वासना क्षीण हो जाती है। लेकिन ऊर्जा क्षीण नहीं हो जाती; वासना क्षीण हो जाती है, ऊर्जा तो इकट्ठी होती चली जाती है। और हर चीज एक सीमा के बाद रूपांतरित होती है।

जैसे हम गरम करें पानी को तो सौ डिग्री पर भाप बन जाता है। सौ डिग्री गर्मी जब इकट्ठी होती है तो पानी भाप बन जाता है। जब आपका वीर्य, आपकी ऊर्जा, आपकी शक्ति एक सीमा तक भीतर इकट्ठी हो जाती है, और कोई तूफान नहीं उठता, और उसको फेंकने की व्यर्थ कोई जरूरत नहीं आती, तो अचानक, एक सौ डिग्री

का प्वाइंट है, एक बिंदु है, जहां आपकी ऊर्जा जब इकट्ठी हो जाती है, तब अचानक वही ऊर्जा, जो नीचे बहती थी, ऊपर की तरफ बहने लगती है।

ख्याल किया आपने, पानी नीचे की तरफ बहता है, भाप ऊपर की तरफ उठती है! सौ डिग्री पर, जो नीचे की तरफ बहना जिसका स्वभाव था--पानी, वह अचानक उत्तप्त होकर भाप बन जाता है; ऊपर की तरफ उठने लगता है; बादलों की तरफ जाने लगता है।

आपके भीतर भी यही घटना घटती हैः एक जगह है, एक बिंदु है, एक इवैपोरेटिंग प्वाइंट है, जहां वाष्पीकरण होता है। वहां जब ऊर्जा इकट्ठी हो जाती है, अचानक आप पाते हैं, जो नीचे जाता था, वही व्यक्तित्व, वही ऊपर जाने लगा। जो बाहर की तरफ दौड़ता था, वही भीतर की तरफ दौड़ने लगा। कल तक जो पाप था, वही पुण्य हो गया। और कल तक जिसे समझा था शत्रु, उससे बड़ा कोई मित्र नहीं है--यह अनुभव में आता है।

'वासना-नाश मोक्ष है।'

जब कोई वासना नहीं है तो आप मुक्त हैं। और जीवन में ही मुक्त हुआ जा सकता है, कोई मर कर मुक्त होने की जरूरत नहीं है। और जो जीवन में नहीं हो पाता, वह भरोसा न रखे कि मर कर हो जाएगा। क्योंकि मरते आप वही हैं जो आप जीते थे। जैसे जीते थे वैसे ही मरेंगे, मरने से कोई और घटना घटने वाली नहीं है।

जीवन की ही अंतिम परिणति है मृत्यु। जीवन्मुक्त! जीवन में ही अभी और यहीं जो मुक्ति को जान लेता है, मोक्ष को जान लेता है, उसकी ही मृत्यु भी मोक्ष बनती है।

'सर्वत्र, सब तरफ, सबको एक ब्रह्मरूप देखना--ऐसी सदभावना से वासना का नाश होता है।'

'ब्रह्मनिष्ठा में कभी प्रमाद न करना, क्योंकि वही मृत्यु है, ऐसा ब्रह्मवादी कहते हैं।'

'जिस प्रकार शैवाल को पानी से कुछ हटा भी दिया जाए तो भी वह पानी को बिना ढंके नहीं रहता, (बार-बार ढंक लेता है।) इसी प्रकार समझदार व्यक्ति भी ब्रह्मनिष्ठा से थोड़ा भी विमुख हो जाए, तो माया उसे ढंक लेती है।'

इसलिए सतत होश रखने की जरूरत है। एक क्षण को भी होश खोने से काम नहीं चलेगा। उस समय तक होश रखने की जरूरत है, जब तक कि जरा सा भी शैवाल, जरा सा भी घास-पात भीतर मौजूद रह गया है। जब समस्त घास-पात बीजरूप से दग्ध हो जाए, तब होश रखने की कोई भी जरूरत नहीं; क्योंकि तब होश स्वभाव बन जाता है।

छठवां प्रवचन

जीवन एक अवसर है

जीवतो यस्य कैवल्यं विदेहोऽपि स केवलः।
समाधिनिष्ठतामेत्य निर्विकल्पो भवानघ।। 16।।
अज्ञानहृदयग्रन्थेर्निः शेषविलयस्तदा। समाधिनाऽविकल्पेन
यदाऽद्वैतात्मदर्शनम्।। 17।।
अत्रात्मत्वं दृढीकुर्वन्नहमादिषु संत्यजन्।
उदासीनतया तेषु तिष्ठेद्धटपटादिवत्।। 18।।
ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्तं मृषामात्रा उपाधयः।
ततः पूर्ण स्वात्मनं पश्येदेकात्मना स्थितम्।। 19।।
स्वयं ब्रह्मा स्वयं विष्णुः स्वयमिन्द्रः स्वयम शिवः।
स्वयं विश्वमिदं सर्व स्वस्मादन्यन्न किंचन्।। 20।।

जिसको जीवित-अवस्था में ही कैवल्य (ब्रह्मनिष्ठा) प्राप्ति हो गई है, वह देहरहित होने पर भी ब्रह्म रूप ही रहेगा। इसलिए हे निर्दोष! समाधिनिष्ठ होकर विकल्पों से शून्य बन।

जिस समय निर्विकल्प समाधि द्वारा आत्मा का दर्शन होता है, उसी समय हृदय की अज्ञानरूप गांठ का पूर्णतः नाश होता है।

आत्मा के ऊपर ही आत्म-भाव को दृढ़ करके अहंकार आदि के ऊपर वाले आत्म-भाव का त्याग करना। घड़ा, वस्त्र आदि पदार्थों से जिस प्रकार उदासीन भाव से रहा जाता है, उसी प्रकार अहंकार आदि की तरफ से भी उदासीन भाव से रहना।

ब्रह्मा से लेकर खंभ तक की सब उपाधियां झूठी हैं, इसलिए एक स्वरूप में रहने वाले अपने पूर्ण आत्मा का ही सर्वत्र दर्शन करना।

स्वयं ही ब्रह्मा, स्वयं विष्णु, स्वयं इंद्र, स्वयं शिव, स्वयं जगत और स्वयं ही सब कुछ है, स्वयं से भिन्न कुछ भी नहीं है।

जीवन में जो भी पाने योग्य है, वह जीवन में ही पाया जा सकता है। लेकिन बहुत लोग मृत्यु के पार की प्रतीक्षा करते रहते हैं। बहुत लोग सोचते हैं कि देह में, जीवन में, संसार में रह कर कैसे पाया जा सकता है सत्य को, ब्रह्म को, मुक्ति को! लेकिन जो जीवन में नहीं पाया जा सकता वह कभी भी नहीं पाया जा सकता है। जीवन तो एक अवसर है पाने का, चाहे पत्थर जुटाने में समाप्त कर दें और चाहे परमात्मा को पाने में। जीवन तो बिल्कुल तटस्थ अवसर है। जीवन आपसे कहता नहीं, क्या पाएं। कंकड़-पत्थर बीनें, व्यर्थ की चीजें संगृहीत करें, अहंकार को बढ़ाने में, अहंकार को फुलाने में समाप्त कर दें, तो जीवन रोकेगा नहीं कि मत करो ऐसा। और चाहें तो सत्य को, स्वयं को, जीवन की जो आत्यंतिक गहराई है उसको पाने में लगा दें; तो भी जीवन बाधा नहीं डालेगा कि मत करें ऐसा। जीवन सिर्फ अवसर है तटस्थ, जो भी उपयोग करना चाहें कर लें।

लेकिन बहुत लोगों ने अपने को धोखा देने का इंतजाम कर रखा है। वे सोचते हैं, जीवन तो है संसार के लिए। ऐसे विभाजन उन्होंने बना लिए हैं। जीवन तो है भोग के लिए। तो फिर मृत्यु ही बच जाती है योग के लिए। लेकिन मृत्यु अवसर नहीं है।

इसे थोड़ा ठीक से समझ लें। मृत्यु है अवसर की समाप्ति। मृत्यु का अर्थ क्या होता है? मृत्यु का अर्थ है कि अब कोई अवसर न बचा। जीवन है अवसर, मृत्यु है अवसर की समाप्ति। इसलिए मृत्यु से तो कुछ भी पाया नहीं जा सकता है; पाने के लिए अवसर चाहिए।

हमने बांट रखा है। हम कहते हैं, जीवन है भोग के लिए। फिर जब जीवन रिक्त हो जाएगा, तब... तब योग। हमने ऐसी कहानियां गढ़ रखी हैं कि मरते आदमी को कान में--जब कि उसे सुनाई भी नहीं पड़ेगा, क्योंकि जिंदों को सुनाई नहीं पड़ता, तो मुर्दों को कैसे सुनाई पड़ता होगा--मरते हुए आदमी के कान में गायत्री पढ़ दो, कि प्रभु का नाम ले दो, कि राम-राम की रटन लगा दो। जो जिंदगी भर न सुन पाया गायत्री, सुना तो भी नहीं सुन पाया, सुना तो भी समझ नहीं पाया, वह मरते वक्त, जब कि इंद्रियां जवाब दे रही होंगी--आंखें देखेंगी नहीं, कान सुनेंगे नहीं, हाथ छुएंगे नहीं--जब कि प्राण लीन हो रहे होंगे बीज में, तब वह गायत्री सुन पाएगा?

वह तो नहीं सुन पाएगा। लेकिन फिर लोग क्यों सुनाए चले जा रहे हैं? इसमें भी राज है। वह मरता हुआ आदमी कुछ नहीं सुन पाता, लेकिन जो जिंदा सुना रहे हैं, उनको यह आश्वासन बना रहता है कि मरते वक्त कोई हमें भी सुना देगा और काम हो जाएगा!

उन्होंने कहानियां गढ़ रखी हैं! इन बेईमानों ने कहानियां गढ़ रखी हैं। वे कहते हैं, एक आदमी मर रहा था, उसके बेटे का नाम नारायण था। उसने जोर से पुकारा, नारायण! वह नारायण जो ऊपर हैं, धोखे में आ गए! वह अपने बेटे को अपनी तरकीबें बताने जा रहा था कि ब्लैक मार्केट कैसे करना! दूसरा खाता कैसे रखना! वह यह समझाने के लिए बुला रहा था। वह स्वर्ग पहुंच गया, बैकुंठ! वह खुद भी चौंका कि यहां कैसे आ गए! लेकिन नारायण का नाम जो ले लिया था!

ऐसे सस्ते काम नहीं चलेगा। और जो नारायण ऐसे धोखे में आता हो, समझना वह भी धोखे का ही नारायण होगा। जीवन में धोखे नहीं चलते, अपने मन को समझाने की बात और है।

मृत्यु है अवसर की समाप्ति; इस अर्थ को ठीक से समझ लें। मृत्यु कोई अवसर नहीं है और, जिसमें आप कुछ कर पाएंगे। मृत्यु है सब अवसर का नष्ट हो जाना; आप कुछ भी न कर पाएंगे। करने का कोई उपाय ही मृत्यु में नहीं है। करने का अर्थ है जीवन। इसलिए जो भी करना हो, वह जीवन में ही कर लेने का है।

यह सूत्र कुछ बहुमूल्य शब्दों का प्रयोग करता है।

'जिसको जीवित अवस्था में ही कैवल्य की प्राप्ति हो गई है, वह देहरहित होने पर भी ब्रह्मरूप रहेगा।'

जिसने जीवन में ही जान लिया है अपने स्वरूप को, वही केवल, जब देह गिरेगी, तो ब्रह्मरूप रहेगा। क्योंकि जिसने जीवन भर जाना हो कि मैं देह हूं, मरते वक्त मूर्च्छित हो जाएगा, पूरी मूर्च्छा में आ जाएगा। मृत्यु बहुत कम लोगों की जागते हुए होती है। मृत्यु होती है सोते हुए, मूर्च्छित, बेहोश। आप होश में नहीं रहते मरते वक्त, नहीं तो आपको पिछली मृत्यु का स्मरण रहता। बेहोशी में जो घटता है, उसका स्मरण नहीं रहता।

इसीलिए तो लोगों को पता नहीं कि वे बहुत बार जन्मे हैं और बहुत बार मर चुके हैं; क्योंकि जब भी मरे, तब बेहोश थे। और जो बेहोश मरता है, वह बेहोश जन्मता है। क्योंकि मृत्यु और जन्म एक ही चीज की दो घटनाएं हैं। इधर एक आदमी मरता है, यह एक छोर हुआ; फिर वही आदमी एक गर्भ में प्रवेश करता है, वह दूसरा छोर हुआ। मृत्यु और जन्म, वे एक ही चीज के, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जो बेहोश मरता है, वह बेहोश जन्मता है।

इसलिए आपको यह भी पता नहीं है कि आप पहले कभी मरे थे। और आपको यह भी पता नहीं है कि आप जन्मे हैं। यह जन्म की खबर भी दूसरों ने आपको दी है। अगर कोई आपको बताने वाला न हो कि आप जन्मे हैं, आपको कोई स्मरण नहीं आएगा कि आप जन्मे हैं।

यह बड़े मजे की बात है। आप जन्मे हैं, इतना तो पक्का है। पीछे मरे हों, न मरे हों; पीछे मरना हुआ हो या न हुआ हो; लेकिन आप अभी जन्मे हैं, इतना तो पक्का है। लेकिन उसकी भी आपको कोई स्मृति नहीं है। यह भी मां-बाप कहते हैं, और लोग कहते हैं, उनसे आपने सुना है।

आपके खुद के जन्म की खबर भी अफवाह है। उसका भी कोई प्रमाण नहीं है आपके पास। आपकी चेतना में कोई स्मरण नहीं है। क्या होगा कारण इसका? आप जन्मे, बड़ी घटना घटती है जन्म की। उस बड़ी घटना का आपको कोई पता नहीं है।

ध्यान रखना, जिसको अपने जन्म का पता नहीं है, मरते वक्त बहुत मुश्किल होगा उसको पता रखना। जुड़ी हैं दोनों बातें। मृत्यु घटी है बहुत बार, लेकिन आप बेहोश मरे हैं।

मृत्यु को छोड़ दें। रोज आप सोते हैं। सोने की घटना तो रोज घटती है। लेकिन आपको पता है कि जब नींद आती है, तब उसके पहले ही आपका होश खो जाता है। आपको नींद से मिलने की कोई खबर है? जब नींद उतरती है तो क्या आप देख पाते हैं कि नींद उतर रही है? जब तक आप देख पाते हैं तब तक समझना आप जागे हुए हैं, अभी नींद उतरी नहीं। और जब नींद उतर जाती है तब आप खो जाते हैं। नींद के उतरते ही आप बेहोश हो जाते हैं। जब नींद तक में होश नहीं संभलता तो मौत में कैसे होश संभलेगा? मौत तो बड़ी प्रगाढ़ निद्रा है, गहनतम निद्रा है; उसमें होश संभालना मुश्किल है। आप बेहोश मरेंगे। उस बेहोशी में कौन गायत्री पढ़ रहा है, कौन राम-राम जप रहा है, आपको कुछ भी पता नहीं चलेगा।

और बेहोशी जरूरी है। सिर्फ वे ही लोग इस बेहोशी से मुक्त होते हैं, जो देह-भाव से मुक्त हो जाते हैं। क्यों? एक सर्जन आपके पेट का आपरेशन कर रहा हो तो आपको बेहोश करना पड़ेगा; क्योंकि इतनी पीड़ा होगी, उस पीड़ा को आप सह न पाएंगे। न सह पाएंगे, चीखेंगे, चिल्लाएंगे, आपरेशन मुश्किल हो जाएगा। इतनी पीड़ा होगी कि आप विक्षिप्त हो सकते हैं। फिर कभी मस्तिष्क दुबारा ठीक न हो। इसलिए सर्जन अनेस्थेसिया देता है। पहले आपको बेहोश कर देता है, फिर काट-पीट कर देता है। आपका ही शरीर कटता है, लेकिन तब आपको पता नहीं होता। जब पता ही नहीं होता, तो पीड़ा नहीं होती।

समझ लें इस बात को। पता होने से पीड़ा होती है, पीड़ा होने से पीड़ा नहीं होती। पीड़ा तो हो रही है, सर्जन काट रहा है, लेकिन आपको पता नहीं चल रहा, बस। काट-पीट कर अलग कर देगा, आपको पता नहीं चलेगा। होश जब आएगा, तभी पीड़ा का पता चलेगा। और जब पता चलेगा तभी पीड़ा मालूम होगी कि हो रही है। अगर बेहोशी में आपके कोई अंग-अंग काट डाले, बिल्कुल टुकड़े-टुकड़े कर दे, तो भी आपको पता नहीं चलेगा।

सर्जन छोटा सा आपरेशन करता है, मृत्यु तो बहुत बड़ा आपरेशन है। मृत्यु से बड़ा कोई आपरेशन नहीं है। सर्जन तो एकाध अंग काटता है, मृत्यु तो आपके पूरे शरीर को आपसे काट कर अलग करती है। तो आपको होश में रखा नहीं जा सकता। इसलिए मृत्यु सदा से प्राकृतिक अनेस्थेसिया का उपयोग करती है। जैसे ही मृत्यु आती है, आप बिल्कुल बेहोश हो जाते हैं। उस बेहोशी में इस जगत का सबसे बड़ा आपरेशन, सबसे बड़ी सर्जरी, शल्य-चिकित्सा घटित होती है कि आपका शरीर और आपकी आत्मा अलग कर लिए जाते हैं।

लेकिन वह आदमी होश में मर सकता है, प्रकृति उसको छूट देती है होश में मरने की, जो आदमी यह जान लेता है कि मैं देह नहीं हूं। क्यों? क्योंकि तब देह कटती है, तो भी वह नहीं जानता कि मैं कटता हूं। वह दूर खड़ा देखता रहता है। वह दूर खड़ा देखता रहता है, क्योंकि वह मानता है कोई और कट रहा है। मैं नहीं कट रहा हूं, मैं देख रहा हूं, मैं सिर्फ साक्षी हूं। ऐसी प्रतीति जिसकी गहन हो जाती है, प्रकृति उसको अवसर देती है कि वह होशपूर्वक मरता है।

लेकिन यह घटना बहुत बाद में घटती है, पहले तो होशपूर्वक सोना सीखना पड़ता है। पर वह भी देर से घटती है, पहले तो होशपूर्वक जगना सीखना होता है। होशपूर्वक जो जगता है, धीरे-धीरे होशपूर्वक सोता है। होशपूर्वक जो जीता है, एक दिन होशपूर्वक मरता है। जो होशपूर्वक मरता है, वही जान पाता है कि मैं ब्रह्मरूप हो गया। लेकिन इसे तो पहले अपने ही शरीर में छिपी हुई चेतना के अनुभव में जानना होता है। फिर एक दिन यह घड़ा भी टूटता है और भीतर का आकाश विराट आकाश में लीन होता है।

जो होशपूर्वक मरता है, वह बड़े अदभुत अनुभव से गुजरता है। मृत्यु उसके लिए शत्रु नहीं मालूम होती। मृत्यु मालूम होती है मित्र। मृत्यु मालूम होती है एक बड़ा सम्मिलन परमात्मा से, विराट से। जो होशपूर्वक मरता है, वह होशपूर्वक जन्मता भी है। जो होशपूर्वक जन्मता है, उसका जीवन दूसरा ही हो जाता है। क्योंकि फिर वह वही नहीं दोहराता जो उसने बार-बार पहले दोहराया है। वह सब मूढ़ता हो जाती है, व्यर्थ हो जाता है। उसका जीवन नया हो जाता है। उसका जीवन नए आयाम में प्रवेश करता है। और साक्षी उसका निरंतर बना रहता है। जो जन्म के वक्त भी साक्षी था, जो मृत्यु के समय भी साक्षी था, फिर उसका पूरा जीवन साक्षी हो जाता है।

तो एक मृत्यु में ही आप होशपूर्वक मर सकते हैं, और एक जन्म आपका होशपूर्वक हो सकता है, उसके बाद फिर जन्म और मृत्यु की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। उसके बाद आप शरीरों के जगत से तिरोहित हो जाते हैं। यह जो तिरोहित होना है, इसके लिए हमने एक बहुत कीमती शब्द भारत में खोज रखा है; वह शब्द है कैवल्य। बड़ा अदभुत शब्द है। कैवल्य का अर्थ है, मैं अकेला हूं। मैं ही हूं, और कुछ भी नहीं है। केवल मैं; केवल चैतन्य; केवल आत्मा; और कुछ भी नहीं है। केवल द्रष्टा, केवल साक्षी, और कुछ भी नहीं है। और सब खेल है, और सब स्वप्न है, सत्य केवल एक साक्षी चेतना है। जो देख रहा है वही सत्य है, जो दिखाई पड़ रहा है वह सत्य नहीं है--कैवल्य इस अनुभव का नाम है।

इसे हम थोड़ा समझें। आप बच्चे थे, फिर आप जवान हो गए, फिर आप बूढ़े हो गए। बचपन चला गया, जवानी आ गई। जवानी चली गई, बुढ़ापा आ गया। तब तो आप एक बदलाहट हैं। बचपन रुकता नहीं, जवानी रुकती नहीं, बुढ़ापा रुकता नहीं; सब चीजें बदल जाती हैं। पर कोई आपके भीतर ऐसा भी तत्व है जो नहीं बदलता?

दुखी थे, फिर सुखी हो गए। सुखी थे, फिर दुखी हो गए। शांत थे, अशांत हो गए। अशांत थे, शांत हो गए। सब बदल जाता है। धनी थे, दरिद्र हो गए। दरिद्र थे, धनी हो गए। सब बदल जाता है। लेकिन क्या कोई एक तत्व आपके भीतर ऐसा भी है जो नहीं बदलता?

अगर ऐसा कोई तत्व नहीं है तो आप हैं ही नहीं। आपके होने का क्या मतलब है? फिर आपके बचपन, आपकी जवानी, आपके बुढ़ापे को कौन जोड़ेगा सूत्र की तरह? जैसे माला के मनके पिरोए होते हैं एक धागे में, तो ही माला है। अगर धागा न हो भीतर पिरोने वाला, मनके ही मनके हों, तो माला तो होगी नहीं, बिखर जाएंगे मनके।

आपका बचपन टंगा है एक मनके की तरह; आपकी जवानी टंगी है एक मनके की तरह; आपका बुढ़ापा टंगा है एक मनके की तरह--धागा कहां है जिस पर ये मनके टंगे हैं? और एक कंटिन्यूटि, एक सातत्य, वह सातत्य कहां है? वह सातत्य ही सत्य है, बाकी तो सब बदल जाता है।

भारत की परिभाषा यह है कि जो बदल जाता है उसे हम स्वप्न कहते हैं। इसे ठीक से समझ लें।

हमारे स्वप्न की अपनी परिभाषा है। जो बदल जाता है उसे हम स्वप्न कहते हैं, और जो कभी नहीं बदलता उसे हम सत्य कहते हैं। तो बचपन तो चला जाता है सपने की तरह, जवानी चली जाती है सपने की तरह; सुख

आता है, खो जाता है; दुख आता है, खो जाता है। जैसे सपना मिटता जाता है, ऐसे ही सब मिटता जाता है। इसलिए भारत कहता है, यह विराट सपना है जो बाहर फैला हुआ है।

दो तरह के सपने हैं। एक निजी सपने हैं जो रात आप सोते में देखते हैं, और एक सार्वजनिक सपने हैं जो आप जाग कर दिन में देखते हैं। उनमें कोई फर्क नहीं है, क्योंकि दोनों बदल जाते हैं। रात का सपना सुबह झूठ हो जाता है; जिंदगी का सपना मौत में झूठ हो जाता है। एक घड़ी आती है, जो देखा था वह व्यर्थ हो जाता है। तब सत्य है कुछ या नहीं?

लेकिन स्वप्न के होने के लिए भी सत्य का आधार चाहिए। परिवर्तन के लिए भी कोई आधार चाहिए जो बदलता न हो, नहीं तो परिवर्तन भी असंभव है। वह आधार कहां है हमारे भीतर? ऋषि का सूत्र कहता है, साक्षी-भाव आधार है।

बचपन को देखा आपने, बचपन बदल गया; लेकिन देखने वाला जो आपके भीतर है, वह नहीं बदलता। फिर जवानी आई; जवानी देखी आपने; फिर जवानी भी चली गई; लेकिन जिसने देखी वह नहीं बदलता। उसी ने बचपन देखा, उसी ने जवानी देखी, उसी ने बुढ़ापा देखा, उसी ने जन्म देखा, उसी ने मृत्यु देखी; उसी ने सुख, उसी ने दुख, उसी ने सफलता, उसी ने असफलता; सब बदलता जाता है, सिर्फ एक जो देखता रहता है, सबका अनुभव करता रहता है, वह भर नहीं बदलता। उस सूत्र को ही हम आत्मा कहते हैं; वही सत्य है। इस एक को, न बदलने वाले को जान लेना कैवल्य है।

जिस दिन कोई व्यक्ति इन सपनों से अपने को हटा कर, मनकों से हटा कर इस धागे के साथ अपने को जान लेता है कि मैं यह धागा हूं; यह सतत चैतन्य, यह सतत साक्षी-भाव, यही मैं हूं; बस यह चैतन्य ही मैं हूं, ऐसी प्रतीति जब सघन अनुभव बन जाती है--विचार नहीं, अनुभव; शब्द नहीं, प्रतीति--ऐसा जब भासने लगता है, तो उसे हम कहते हैं, वह व्यक्ति कैवल्य को उपलब्ध हो गया। उसने उस एक को जान लिया, जो जानने योग्य है। उसने उस एक को पा लिया, जो पाने योग्य है।

और उस एक को पाकर वह सब पा लेता है, और हम उस एक को खोकर सब खो देते हैं। सपनों को पकड़ते हैं, पकड़ भी नहीं पाते कि सपने खो जाते हैं, मुट्ठी खाली रह जाती है। रात देखा कि सम्राट हो गए हैं, सुबह उठ कर पाते हैं कि मुट्ठी खाली है। जिंदगी में देखा, यह हो गए, वह हो गए, मरते वक्त पता चलता है मुट्ठी खाली है। पकड़ा था जिन्हें, मुट्ठी बांधी थी जिनके ऊपर, वे ऐसे ही खो गए जैसे कोई हवा को मुट्ठी में बांधे। मुट्ठी बंध जाती है, हवा खो जाती है। सब सपना सिद्ध होता है।

ध्यान रखें, सपने से हमारा मतलब ही इतना है कि जहां-जहां परिवर्तन है, जहां-जहां बदलाहट है, वहां-वहां सत्य नहीं है। जो सदा अपरिवर्तित एकरूप है, वह क्या है? इस जगत में खोजते रहें, कहीं भी वह एकरूप रहने वाला सत्य नहीं मिलेगा। अपने में खोजेंगे, तभी द्रष्टा-भाव में मिलेगी वह--वह सूत्रबद्धता, वह सातत्य जो एक है। इसे कहा कैवल्य। इस एक को जान लेना, देह रहने पर ही, तो फिर देह के गिरते ही ब्रह्मरूप अनुभव होता है।

'हे निर्दोष! इसलिए समाधिनिष्ठ होकर विकल्पों से शून्य बन।'

कैसे जान पाएंगे हम उस एक को? प्रक्रिया हैः 'विकल्पों से शून्य बन।'

यह विकल्प शब्द भी समझ लेने जैसा है। विकल्प का मतलब है, जिन-जिन चीजों का विपरीत होता है, वे विकल्प हैं। जैसे सुख, तो उसका विपरीत होता है दुख। अगर आप सुख चाहते हैं, तो दुख मिलेगा। वह आपको झेलना ही पड़ेगा। वह कीमत है, जो सुख पाने के लिए चुकानी पड़ती है। अगर आप चाहते हैं प्रेम, तो घृणा झेलनी पड़ेगी; वह कीमत है। अगर आप चाहते हैं सफलता, तो असफलता आपके हाथ आएगी ही। वह सफलता

की छाया है, उसी के साथ आ जाती है। विकल्प का अर्थ है, द्वंद्व का जगत--जहां हर चीज दो है, और एक को चाहो तो दूसरे में फंस जाना पड़ता है। जिसने एक को चाहा, वह दूसरे में उलझेगा ही; बचने का कोई उपाय नहीं है। बचने का एक ही उपाय है कि दोनों को छोड़ दो, विकल्पशून्य बन जाओ। उसका अर्थ है, जहां-जहां द्वंद्व है, वहां-वहां चुनाव मत कर, चुनाव छोड़ दे।

इसे थोड़ा समझ लें, क्योंकि यह गहरे ले जाने वाली बात है। जहां-जहां दो हो सकते हैं; जहां-जहां! अगर आप शांति चाहते हैं, तो आप अशांति में फंसते रहेंगे। बड़ा कठिन लगेगा यह मामला; क्योंकि सुख-दुख का समझ में आ जाता है; सफलता-असफलता, मान-अपमान का समझ में आ जाता है; शांति और अशांति भी! मामला वही है, द्वंद्व का। इतना ही नहीं, अगर आप मुक्ति चाहते हैं, तो आप बंधन में पड़ते रहेंगे; क्योंकि द्वंद्व तो वही है। विकल्प तो बन जाता है; विपरीत खड़ा हुआ है सामने।

तो जो आदमी कहता है कि मुझे मुक्ति चाहिए, वह फंस जाएगा। मुक्ति तो मिलती है उसको, जो द्वंद्व में चुनाव नहीं करता। शांति मिलती है उसको, जो द्वंद्व में चुनाव नहीं करता; जो मांगता नहीं कि मुझे शांति चाहिए, जो कहता है, शांति हो कि अशांति, मुझे दोनों में कोई चुनाव नहीं करना है; वह आदमी शांत हो जाता है। प्रेम का फूल खिलता है उसके जीवन में, जो प्रेम को घृणा के विपरीत चुनता नहीं; जो कहता है, न मुझे प्रेम, न मुझे घृणा; मैं दोनों के प्रति उदासीन हूं; दोनों मुझे क्षमा कर दें; मैं दोनों में नहीं पड़ना चाहता। उसके जीवन में प्रेम का फूल खिलता है।

जहां-जहां द्वंद्व है, जहां-जहां विकल्प है, जहां-जहां चुनाव की सुविधा है, वहां चुनना मत। पर हम सदा चुनते हैं! और हमें कभी ख्याल नहीं आता कि जो हम चुनते हैं, वही हमारा उलझाव है। जब आप चुनते हैं सुख, तब आपको ख्याल में भी नहीं है कि आपने दुख चुन लिया; दुख आ गया; दुख ने भी आपके द्वार से प्रवेश कर लिया। क्यों? प्रक्रिया समझ लें।

मैं चाहता हूं, सुख मिले। कई बातें घट गईं इस चाह में। एक तो यह कि मैं दुखी हूं। सिर्फ दुखी ही सुख को चाहता है। सुखी सुख को क्यों चाहेगा! हम वही मांगते हैं जो हमारे पास नहीं है। जो हमारे पास है उसे हम कभी नहीं मांगते। इसीलिए तो दुख को कोई भी नहीं मांगता, क्योंकि दुख सबके पास है। सुख को लोग मांगते हैं, क्योंकि उनके पास नहीं है।

तो जिस दिन आप कहते हैं सुख चाहिए, उस दिन एक बात तो आपने यह बता दी कि आप दुखी हैं। दूसरी बात, जो भी सुख आप मांग रहे हैं, अगर वह न मिला, तो और घने दुख में उतर जाएंगे। मिलने की कोई गारंटी नहीं है। और अगर मिला, तो भी दुख में उतर जाएंगे; क्योंकि मिल कर पता चलेगा कि सोचे थे कितने-कितने सपने इस सुख के मिलने से पूरे होंगे, वे कोई पूरे नहीं होते।

सब सुख दूरी में दिखाई पड़ता है, पास आने पर खो जाता है। जब तक हाथ में नहीं होता सुख तब तक सुख, हाथ में आते ही दुख हो जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि सुख होता है दूरी में। सुख वस्तु में नहीं होता; सुख होता है दूरी में, सुख होता है आशा में, सुख होता है प्रतीक्षा में। जब आ जाता है, जैसे-जैसे पास आने लगता है, वैसे-वैसे सुख तिरोहित होने लगता है। और जब बिल्कुल हाथ में आ जाता है तो दुख हो जाता है। दुख न तो किसी वस्तु में है, न सुख किसी वस्तु में है। दूरी जितनी ज्यादा हो उतना सुख, निकटता जितनी हो उतना दुख। यह तो बड़ा जटिल जाल है! जिसको हम पास लाते हैं, उससे दुख मिलने लगता है।

तो जितना हम सुख मांगते हैं, एक तो मिलेगा नहीं, क्योंकि मांगने से कुछ मिल नहीं जाता। नहीं मिलेगा तो फ्रस्ट्रेशन, विषाद घेर लेगा। मिल जाएगा, तो विफलता हाथ लगेगी और रिक्तता घेर लेगी कि व्यर्थ गई

मेहनत, कुछ पाया नहीं--दौड़े, धूपे, श्रम उठाया, और जो मिला, वह यह है! जो इतना चमकदार मालूम पड़ता था दूर से, जो ढोल बहुत सुहावने मालूम पड़ते थे, वे पास आकर साधारण ढोल साबित होते हैं।

जो चुनेगा, वह उलझ जाएगा संसार में। संसार है चुनाव, मोक्ष है अचुनाव। चुनना ही मत। सुख आए तो सुख से राजी हो जाना, और दुख आए तो दुख से राजी हो जाना, लेकिन भीतर चुनाव मत करना कि मैं यह चाहता हूं। अपनी मांग इस जगत के सामने जो नहीं रखता, वह जगत से मुक्त हो जाता है।

इसे थोड़ा ठीक गहरे में जाने दें। इस जगत से जो कुछ भी नहीं मांगता, यह जगत उसे फंसा नहीं सकता। इस जगत से कुछ भी मांगा कि आप फंस गए। जो आप मांगते हैं, वह मिल जाए तो भी फंस गए, न मिले तो भी फंस गए। मांगते ही फंस गए, मिलने न मिलने से कोई संबंध नहीं है।

मछलियों को पकड़ने वाले लोग, मछुए, कांटे में आटा लगा कर पानी में डाल रखते हैं। इनसे सिर्फ वही मछली बचेगी, जो मुंह खोलेगी ही नहीं। जिस मछली ने मुंह खोला, वह फंसी। सभी मछलियां आटे के लिए मुंह खोलती हैं। कोई मछली इतनी नासमझ नहीं कि कांटे के लिए मुंह खोलती हो। सभी मछलियां आटे के लिए मुंह खोलती हैं। मछुआ भी इसलिए कांटे में आटा लगा कर पानी में डाल कर बैठा हुआ है। मछली फंसती है आटे के कारण।

सभी लोग सुख चाहते हैं और दुख का कांटा सुख में से निकल आता है। सभी लोग सम्मान चाहते हैं और सम्मान में से ही अपमान का कांटा निकल आता है। और सभी लोग शांति चाहते हैं और शांति ही अशांति बन जाती है। उस मछली का ख्याल करें जो इस आटे और इस कांटे में से चुनाव ही नहीं करती; जो उदासीन इस आटे के पास से तैरती हुई चली जाती है। इसको पकड़ना असंभव है। ऐसी मछली की तरह हो जाएं इस जगत में कि जिसका कोई चुनाव नहीं है। जो चुनती ही नहीं, जो मांग नहीं करती। फिर आपके ऊपर कोई बंधन हो नहीं सकता, आप पकड़े नहीं जा सकते।

संन्यस्त होने का अर्थ है, विकल्प में चुनाव छोड़ देना। इसलिए ध्यान रखना, संन्यास संसार के विपरीत विकल्प नहीं है। और जिन लोगों ने संन्यास का अर्थ संसार के विपरीत बना रखा है वे संसार में ही उलझे रहेंगे। लोग हैं ऐसे, वे कहते हैं कि संन्यास जो है वह संसार के विपरीत है। हम तो संसार में हैं, हम कैसे संन्यासी हो जाएं? हम तो तब संन्यासी होंगे जब हम संसार छोड़ेंगे। उनका संन्यास भी द्वंद्व है। संसार और संन्यास उनके लिए दो पहलू हैं विरोधी। वे कहते हैं, अगर हम संसार चुनेंगे तो संन्यास कैसे चुनें? अगर हम संन्यास चुनेंगे तो हम संसार कैसे चुनें?

अगर संन्यास का अर्थ द्वंद्व है, तो संन्यास का अर्थ ही खो गया। संन्यास का अर्थ ही है निर्द्वंद्व हो जाना। हम चुनते ही नहीं। जो हो जाता है उसे स्वीकार कर लेते हैं, जो नहीं होता उसकी हम मांग नहीं करते; ऐसी भाव-दशा संन्यास है। तब आप कहीं भी संन्यासी हो सकते हैं। तब संन्यास भाव-दशा है; तब विकल्प नहीं है।

यह सूत्र कहता हैः 'इसलिए हे निर्दोष! समाधिनिष्ठ होकर विकल्पों से शून्य बन।'

समाधि आती ही तब है, जब कोई विकल्पों से शून्य होता है।

'जिस समय निर्विकल्प समाधि द्वारा आत्मा का दर्शन होता है, उसी समय हृदय की अज्ञानरूप गांठ का पूर्ण नाश हो जाता है।'

दो तरह की समाधियां कही हैं। एक समाधि है, सविकल्प समाधि। वह नाम-मात्र को समाधि है। सविकल्प समाधि का अर्थ है कि किसी व्यक्ति ने शांत होना चुन लिया।

इसे समझ लें। अक्सर लोग पहले तो यही चुनते हैं। संसार से बहुत पीड़ित हो जाते हैं तो अशांत हो जाते हैं, बेचैन हो जाते हैं, तो सोचते हैं ध्यान से शांति मिल जाए। अशांति के विपरीत शांति को चुनते हैं। तो ध्यान से शांति मिलनी शुरू होती है। लेकिन उस शांति के भी गहरे में अशांति का पहलू छिपा रहता है। वह विकल्प मौजूद रहेगा। क्योंकि आपने शांति को चुना ही अशांति के विपरीत है। जिसके विपरीत आपने चुना है, उससे

आप छूट नहीं सकते; वह मौजूद रहेगा। इतना हो सकता है कि जो आपने चुना है वह पहलू ऊपर आ जाए और जो आपने नहीं चुना है वह नीचे चला जाए, बाकी वह मिट नहीं सकता।

चुनाव कभी भी द्वंद्व के बाहर नहीं ले जा सकता, द्वंद्व रहेगा। तो जो आप चुनते हैं, वह चुनाव के कारण ही, विपरीत मौजूद बना रहता है। तो आप शांत भी हो सकते हैं, लेकिन शांत होना आपका ऊपर-ऊपर होगा। शांत होना ऊपर-ऊपर होगा, भीतर अशांति छिपी रहेगी। और आप सदा डरे रहेंगे कि अशांति कहीं फूट न आए। बीज अशांति का मौजूद रहेगा और अंकुर का डर रहेगा।

इसीलिए तो लोग संसार को छोड़ कर भागते हैं, क्योंकि संसार में उन्हें डर लगता है कि भीतर तो छिपी है अशांति, कोई भी उसे जरा उकसा दे तो अभी फूट पड़ेगी। जंगल की तरफ भागता हुआ आदमी आपसे नहीं भाग रहा है, अपने भीतर छिपी हुई अशांति से भाग रहा है। आपसे तो इसलिए भाग रहा है कि आपसे डर लगता है कि आप कहीं भीतर की पर्त को उघाड़ न दें। जंगल की तरफ भागता हुआ पति पत्नी से नहीं भाग रहा है, वह जो ब्रह्मचर्य उसने ऊपर-ऊपर निर्मित कर लिया है, उसके भीतर कामवासना अभी छिपी है। क्योंकि जिसने ब्रह्मचर्य को समझा कामवासना के विपरीत, वह कामवासना के बीज से मुक्त नहीं हो सकता। जिसने चुना, वह विपरीत से बंधा रहेगा।

चुनाव का मतलब ही है कि हम किसी के खिलाफ चुने हैं। जिसके खिलाफ हम चुने हैं वह हमारा पीछा करेगा। और जो हमने आयोजन कर लिया है ऊपर-ऊपर, उसके गहरे में, जिसके विपरीत हमने चुना है वह मौजूद रहेगा, क्योंकि वह हमारा ही हिस्सा है। असल में हमने जिंदगी को दो हिस्सों में बांट दिया। एक को हमने चुन लिया और दूसरे को हमने चुना नहीं, और वे दोनों संयुक्त हैं। जिसको हमने नहीं चुना वह जाएगा कहां? वह हमारे साथ रहेगा। फिर हमें डर लगेगा। लोगों का साथ हो, परिवार हो, दुकान हो, बाजार हो, तो वह जो भीतर छिपा है, कोई भी जरा सा इशारा कर दे तो बाहर निकल आता है।

तो भाग जाओ; ऐसी जगह भाग जाओ, जहां कोई भीतर के छिपे का दर्शन न करवा पाए। लेकिन तो भी वह मिटेगा नहीं। हजारों वर्ष कोई हिमालय पर रहे, जिस दिन लौटेगा वापस बाजार में, पाएगा हजार वर्ष बेकार चले गए। वह जो भीतर छिपा है, बाजार फिर उसे उकसा देगा; वह फिर बाहर आ जाएगा।

सविकल्प समाधि का अर्थ है कि आपने चुन कर अपने को शांत किया है। निर्विकल्प समाधि का अर्थ है कि आपने चुनाव छोड़ दिया है। निर्विकल्प समाधि ही समाधि है; मैं दो हिस्से नहीं करता। सविकल्प समाधि तो समाधि का धोखा है। लेकिन आदमी पहले सविकल्प समाधि की तरफ आता है; संसार से पीड़ित होकर संन्यास को चुनता है। स्वाभाविक है, संसार से पीड़ित होकर संन्यास को चुनता है।

यह तो दूसरी बात तो तब घटेगी जब संन्यास से भी पीड़ित हो जाएगा, और तब देखेगा कि संसार भी एक संसार है और संन्यास भी एक संसार है। और जब अनुभव करेगा कि संसार और संन्यास, विपरीत की तरह, एक ही स्वर के दो हिस्से हैं, उस दिन वास्तविक संन्यास घटित होगा। उस दिन वह चुनेगा ही नहीं। उस दिन वह चुनाव छोड़ देगा। उस दिन वह समझेगा कि चुनाव में ही संसार है। इसलिए अब मैं चुनता नहीं। अब जो हो जाता है, उसे स्वीकार कर लेता हूं; जो नहीं होता, उसकी अपेक्षा नहीं करता हूं। अब मैं राजी हूं; अस्तित्व जैसा रखे, वैसा ही राजी हूं। अब मेरा अपना कोई स्वर नहीं है अस्तित्व के विपरीत। अब दुख आए, तो मैं मानता हूं, यही है; यही होना चाहिए जो हो रहा है। सुख आए, तो मैं मानता हूं, यही है; जो होना चाहिए वही हो रहा है। अब मैं अपने को अलग रख कर नहीं कहता कि ऐसा होना चाहिए। अब मेरी कोई अपेक्षा, कोई मांग, कोई दावा नहीं है। मैंने दावा छोड़ दिया।

जिस दिन कोई दावा छोड़ देता है, उस दिन निर्विकल्प समाधि घटित होती है; उस दिन फिर आपको इस जगत में कोई बंधन नहीं रह जाता। अगर यह सारा जगत भी जंजीरें बन जाए, और आपके अंग-अंग पर सारा

जगत कस जाए, आक्टोपस की तरह, तो भी आपको कोई बंधन नहीं होता, क्योंकि आप उसको भी स्वीकार कर लेते हैं कि ठीक है, यही है।

जब कोई मेरे हाथ में जंजीर डाल दे, तो ध्यान रखना, जंजीर डालने वाले की तरफ से जंजीर नहीं हो सकती, मैं उसे जंजीर मानता हूं तभी जंजीर हो सकती है। मेरी मान्यता में निर्भर करेगा सब कुछ। और मैं हाथ बढ़ा देता हूं और कह देता हूं कि जंजीर डाल दो।

बड़ा मजा हुआ। रामकृष्ण के जीवन में बड़ी प्यारी घटना है। रामकृष्ण बचपन से ही ईश्वर की तरफ दौड़े हुए चित्त के व्यक्ति थे। मंदिर के सामने से निकलते थे तो फिर उनका घर पहुंचना मुश्किल हो जाता; वहीं नाचने लगते; वहीं लेट जाते, सीढ़ियों पर पड़े रहते। कोई राम का नाम ले दे, तो भाव में आ जाते। तो घर के लोग जानते थे कि यह लड़का संसार में नहीं जाएगा। कोई आशा नहीं थी। लेकिन फिर भी मां-बाप का फर्ज था, तो जब उम्र हुई तो उन्होंने पूछा कि राम--उनका नाम था गजाधर--शादी करोगे? सोचा था, रामकृष्ण इनकार कर देंगे। रामकृष्ण बहुत प्रफुल्लित हो गए। उन्होंने कहा, शादी कैसी होती है? जरूर करेंगे! घर के लोगों को भी सदमा हुआ, कि सोचा था कि यह संन्यासी वृत्ति का है, शादी नहीं करेगा; यह क्या हुआ!

फिर लड़की की तलाश हुई। फिर लड़की खोजी गई। लड़की बहुत छोटी थी। कोई आठ-दस साल का अंतर था दोनों की उम्र में। रामकृष्ण लड़की को देखने गए। उनके साथ ही परिवार के और लोग गए। रामकृष्ण की मां ने एक तीन रुपए रामकृष्ण के खीसे में रख दिए कि कोई जरूरत पड़े, खर्च इत्यादि। पास ही गांव था ऐसे। रामकृष्ण सज-धज कर--जैसा सजा-धजा दिया--पहुंच गए।

लड़की बहुत प्यारी थी। रामकृष्ण ने वे तीनों रुपए उसके पैर में रख कर उसके पैर छू लिए! तो सब मुश्किल में पड़ गए। और सबने कहा कि पागल, यह तेरी पत्नी होने वाली है! और तूने पैर छू लिए! और ये तीन रुपए किसलिए चढ़ा दिए? तो रामकृष्ण ने कहा, मेरी मां जैसी प्यारी लगती है। क्योंकि रामकृष्ण एक ही प्रेम जानते थे; वह मां जैसा प्रेम। बहुत प्यारी लगती है, मां जैसी! इसको मैं मां ही कहूंगा, पत्नी भी हो तो हर्ज क्या!

फिर शादी भी हो गई, लेकिन रामकृष्ण शारदा को मां ही कहते रहे; उसके पैर ही छूते रहे। और जब काली की पूजा का दिन आता, तो वे काली की पूजा न करके शारदा को बिठा लेते सिंहासन पर और उसकी पूजा कर लेते। और वे कहते, जब जिंदा मां है, तो फिर मूर्ति की क्या जरूरत?

पत्नी बंधन न रही। उसे बंधन की तरह देखा ही नहीं। हाथ बढ़ा दिया, जंजीर ले ली।

आपकी भाव-दशा में निर्भर करता है। दुख दुख है, क्योंकि आप दुख को नहीं चाहते और सुख को चाहते हैं--इसलिए दुख है। दुख इसलिए है कि उसके विपरीत को आप चाहते हैं। नहीं तो क्या दुख है? विपरीत की मांग में छिपा है दुख। अशांति क्या है? क्योंकि आप शांति को चाहते हैं, इसलिए अशांति है। हमारे चुनाव में हमारा संसार है।

यह सूत्र कहता है, जो चुनावरहित हो जाता, जो निर्विकल्प हो जाता, उसे आत्मा का दर्शन होता है। क्योंकि जो बाहर चुनाव नहीं करता--न चुनता है सुख को, न दुख को; न प्रेम को, न घृणा को; न संसार को, न मोक्ष को; न पदार्थ को, न परमात्मा को--जो बाहर चुनता ही नहीं, जिसके सब चुनाव क्षीण हो जाते हैं, वह तत्काल भीतर पहुंच जाता है; क्योंकि चुनाव में ही चेतना अटकती है बाहर। जिसे हम चुनते हैं, उसमें हम अटक जाते हैं। जब कोई चुनता ही नहीं तो अटकाव नष्ट हो गया; उसका संबंध किनारे से छूट जाता है; उसका संबंध भीतर की मझधार से जुड़ जाता है; वह भीतर की धारा में लीन हो जाता है।

आत्मा का दर्शन होता है उसे, जो निर्विकल्प भाव को उपलब्ध होता है। और तब हृदय की अज्ञानरूपी गांठ पूर्णतः नष्ट हो जाती है।

'आत्मा के ऊपर ही आत्म-भाव को दृढ़ करके अहंकार आदि के ऊपर वाले आत्म-भाव का त्याग करना। घड़ा, वस्त्र आदि पदार्थों से जिस प्रकार उदासीन भाव से रहा जाता है, उसी प्रकार अहंकार आदि की तरफ से भी उदासीन भाव से रहना।'

यह उदासीन शब्द भी समझ लें। उदासीन का मतलब उदास रहना नहीं है। उदासीन का मतलब है, चुनावरहित रहना। उदासीन का मतलब है, कोई मतलब नहीं, ऐसे रहना; कोई प्रयोजन नहीं, ऐसे रहना। उदासीन शब्द से खतरा हो गया। उदासीन साधुओं का संप्रदाय है! वे थोप कर उदास बने रहते हैं; क्योंकि वे समझते हैं, उदास होने में उदासीनता है।

उदास से कोई भी संबंध नहीं है उदासीनता का; शब्द भर का संबंध है, भाव का कोई संबंध नहीं है। उदासीन का मतलब है कि हमारा कोई चुनाव ही नहीं है; क्या हो रहा है, होने दो। उदासी नहीं, उदासीनता, इनडिफरेंस, उपेक्षा। ठीक है, जो हो जाए ठीक है।

जैसे घर में कोई रहता है, उदाहरण लिया है इस सूत्र में, कि घर में वस्त्र हैं, घड़ा है, सामान है, बर्तन हैं; आप निकलते चले जाते हैं। घड़ा पड़ा है, पड़ा है; कोई उस पर विशेष ध्यान देने की जरूरत नहीं पड़ती। कपड़े टंगे हैं घर में, टंगे हैं; आप उनके बीच से गुजर जाते हैं। ऐसे ही अपने भीतर अहंकार टंगा है, दुख टंगे हैं, सुख टंगे हैं, पीड़ाएं पड़ी हैं, चिंताएं पड़ी हैं, सुख की स्मृतियां हैं और दुख के संस्मरण हैं; वे सब पड़े हैं। यह सामान है भीतर का--घड़ा, वस्त्र इत्यादि। इनके बीच से ऐसे गुजर जाना कि सब ठीक है; जो है ठीक है। इस पर कोई ध्यान न देना; इसमें कुछ चुनाव न करना; इसमें किसी से आकर्षित और किसी से विकर्षित न होना--यह अर्थ है उदासीनता का।

उदासीन आदमी अति प्रफुल्लित होता है, उदास नहीं। लेकिन ध्यान रखना, प्रफुल्लित का मतलब? प्रफुल्लित का मतलब यह होता है कि अब कोई भी चीज उसे परेशान नहीं करती, इसलिए भीतर का फूल खिलना शुरू हो जाता है; अब कोई चीज उसको हैरान नहीं करती, इसलिए भीतर वह आनंद में रहता है।

उदासी थोप ली अगर आपने जबरदस्ती अपने ऊपर, तो आप प्रफुल्लित न हो पाएंगे। उदासीन होना। इसे जरा देखना प्रयोग करके। रास्ते से गुजर रहे हैं, प्रयोग करके देखना कि पांच मिनट बिल्कुल उदासीन होकर गुजरूं रास्ते से। तब कौन सा मकान सुंदर है, कौन सा नहीं है--बराबर है। तब कौन सा आदमी पास से गुजरा; वह अमीर था कि गरीब था, प्रतिष्ठित था कि अप्रतिष्ठित था, नेता था कि चोर था--कोई भी था--कोई प्रयोजन नहीं है। तब कोई सुंदर स्त्री गुजरी, कोई सुंदर पुरुष गुजरा, कोई सुंदर कपड़े दिखाई पड़े--कोई प्रयोजन नहीं है। पांच मिनट रास्ते से ऐसे गुजरना, जैसे रास्ता खाली है और जंगल से गुजर रहे हैं, वहां कुछ है ही नहीं। इसकी कोशिश करके देखना--सिर्फ तटस्थ--तत्काल आप पाएंगे कि रास्ता व्यर्थ हो गया। उसकी सार्थकता आपके भीतर लगाव में थी।

विद्यासागर ने एक संस्मरण लिखा है। लिखा है कि एक दिन सांझ घूमने गया था और एक मुसलमान सज्जन भी सामने चले जा रहे थे। वे भी रोज टहलते थे। अचानक एक नौकर भागा हुआ आया और विद्यासागर बिल्कुल पीछे ही थे, उस नौकर ने आकर कहा, मीर साहब--उन मुसलमान मित्र से--आपके घर में आग लग गई है; जल्दी चलें! मीर साहब ने कहा कि चलता हूं। लेकिन वह वैसे ही चलते रहे। वही छड़ी, वही पैर की चाल; कोई फर्क न पड़ा। विद्यासागर की चाल तक में फर्क पड़ गया यह सुन कर कि मीर साहब के घर में आग लग गई है! उनकी सांस जोर से चलने लगी, और उनके पैर तेजी से चलने लगे! लेकिन देखा कि मीर साहब उसी चाल से चल रहे हैं! वह नौकर घबड़ाया, उसने कहा, आपने सुना नहीं? घर में आग लग गई है! मीर साहब ने कहा, सुन लिया। वैसे ही चलते रहे।

तो विद्यासागर ने आगे बढ़ कर कहा कि आप क्या कर रहे हैं! नौकर क्या कह रहा है, समझे आप? घर में आग लग गई है! मीर साहब ने कहा, वह तो ठीक है; लेकिन अब मैं कर भी क्या सकता हूं घर में आग लग गई है तो। मैं अपनी चाल और क्यों खराब करूं! और एक मौका मिला मुझे, घर में आग लग कर भी अगर मैं वैसे ही चल सकता हूं जैसे तब चलता था जब घर में आग नहीं लगी थी, तो उदासीनता का एक मजा आ जाएगा। लगी है घर में आग, ठीक है। मैं वैसे ही चल रहा हूं, जैसे तब चल रहा था जब घर में आग नहीं लगी थी। इस चाल में जो जरा सा भी मैं फर्क करूं, तो वह फर्क मेरी चेतना में फर्क हो जाता है। ठीक है। वे वैसे ही चलते रहे!

विद्यासागर ने लिखा है कि मैं और उनका नौकर भाग कर पहुंचे, कि इनको अपनी चाल संभालने दो। हम बेचैन हो गए; घर बुझाया; आग बुझाने में लगे; रात भर नींद न आई। पर विद्यासागर ने लिखा है कि उस दिन जो देखा मैंने रूप मीर का, मैं समझ गया कि रात वह शांति से सोए होंगे। क्या फर्क पड़ा होगा? जिस आदमी की चाल में फर्क नहीं पड़ा, उसकी नींद में क्या खाक फर्क पड़ने वाला है!

उदासीनता का अर्थ है, एक तटस्थ वृत्ति; जो हो रहा है ठीक है, स्वीकार है; एक तथाता; उसमें कहीं कोई चुनाव नहीं है। घर में आग लग गई, इससे बेचैनी नहीं होती है, समझ लें। घर में आग नहीं लगनी चाहिए थी, यह हमारी जो अपेक्षा है, उससे बेचैनी होती है। मेरा घर नहीं जलना चाहिए था, यह छिपी अपेक्षा है। पता भी न हो, अचेतन में छिपी है, मेरा घर नहीं जलना चाहिए था। तो घर जल गया; तो वह भीतर की अपेक्षा टूटी; उससे चाल डगमगा जाती है; उससे चेतना डगमगा जाती है। लेकिन जिसकी कोई अपेक्षा नहीं, कुछ भी हो जाए, जो भी हो जाए, उसके विपरीत कोई भाव और आग्रह नहीं है, इसलिए चेतना नहीं डगमगाती। वह चेतना का अकंप होना ही उदासीनता है।

'ब्रह्मा से लेकर खंभ तक, पत्थर से लेकर परमात्मा तक सब उपाधियां झूठी हैं, इसलिए एक स्वरूप में रहने वाले पूर्ण आत्मा का ही सर्वत्र दर्शन करना।'

सब पद झूठे हैं, सब उपाधियां झूठी हैं, सब प्रतिष्ठाएं झूठी हैं, सब बनावटी हैं। चाहे सड़क के किनारे पड़ा हुआ पत्थर हो, और चाहे आकाश में हमारा बिठाया हुआ परमात्मा हो, सब व्यर्थ हैं। एक उसका ही ध्यान रखना, जो झूठा नहीं है; एक उस साक्षी-भाव में ही लीन रहना। तो पत्थर भी अगर आप हो जाओ, तो भी उसी साक्षी-भाव में लीन रहना। और अगर ब्रह्मा भी बना दिए जाओ, तो भी उसी साक्षी-भाव में लीन रहना। तो फिर पत्थर और ब्रह्मा होने में कोई चुनाव नहीं लगेगा; क्योंकि वह साक्षी-भाव एक ही है। गरीब हैं, तो साक्षी-भाव में लीन रहना; अमीर हो जाएं, तो साक्षी-भाव में लीन रहना। तो फिर गरीबी-अमीरी कोई फर्क नहीं लाएगी; क्योंकि वह भीतर एक ही धारा साक्षी-भाव की बहती रहेगी।

सब उपाधियां व्यर्थ हैं। जो बाहर से उपलब्ध होता है, वह सब व्यर्थ है; और भीतर से जो उपलब्ध होता है, वही सार्थक है। लेकिन भीतर से सिवाय साक्षी चैतन्य के और कुछ भी उपलब्ध नहीं होता। हर हाल में, हर स्थिति में, इस भीतर की आत्मा का ही दर्शन करते रहना।

'स्वयं ही ब्रह्मा, स्वयं विष्णु, स्वयं इंद्र, स्वयं शिव, स्वयं जगत और स्वयं ही यह सब कुछ है, स्वयं से भिन्न कुछ भी नहीं है।'

वही, कैवल्य का भाव। जो इस चैतन्य को अनुभव करता है, जो इस साक्षी को जान लेता है, उसके लिए फिर दूसरा मिट जाता है। फिर दि अदर, वह दूसरा नहीं है; फिर मैं ही हूं; फिर मेरा ही फैलाव है। क्योंकि जिस दिन मैं अपनी चेतना को जानता हूं, उसी दिन मैं यह भी जान लेता हूं कि आपकी चेतना मुझसे भिन्न नहीं है। जब तक मैं अपने शरीर को जानता हूं, तब तक आप मुझसे भिन्न हैं, क्योंकि मेरा शरीर अलग है, आपका शरीर अलग है।

ऐसा समझें कि एक दीया जल रहा है; मिट्टी का दीया है। एक और दीया जल रहा है; चांदी का दीया है। और एक और दीया जल रहा है, जो सोने का दीया है। ये तीनों दीए अगर अपने मिट्टी, चांदी, सोने की देह पर ध्यान करें, तो तीनों अलग-अलग हैं। और तीनों समझेंगे कि तू मिट्टी का दीया, क्या मुझसे होड़ कर रहा है! मैं चांदी का दीया! और सोने का दीया कहेगा कि क्या बातचीत लगा रखी है! मैं सोने का दीया! लेकिन ये तीनों दीयों में से एक भी दीया अगर ज्योति का अनुभव कर ले कि मैं ज्योति हूं; वह जो दीए में ज्योति जल रही है। ज्योति का अनुभव होते ही क्या यह ज्योति का अनुभव करने वाला दीया मिट्टी के दीए से कह सकेगा कि तू मुझसे अलग! क्योंकि अब वह इसकी भी ज्योति ही देख पाएगा। अब वह देह व्यर्थ हो गई जो चांदी, सोने, मिट्टी की है। अब तो वह ज्योति ही सार्थक रह गई, जो न चांदी है, न सोना है, न मिट्टी है--सिर्फ ज्योति है। यह दीया, इन तीनों में से एक भी दीया यह अनुभव कर ले कि मैं ज्योति हूं, उसके लिए सारे जगत के दीए उसके साथ एक हो गए। अब जहां भी ज्योति है, वहीं मैं हूं।

हम जब तक शरीर को देखते हैं, तब तक हम अलग-अलग हैं। और जब हम भीतर के साक्षी को देख लेते हैं, जो हमारी शाश्वत ज्योति है, तब हम एक और अभिन्न हो जाते हैं। फिर वह जो पक्षी उड़ रहा है वृक्ष के पास, उसके भीतर जो छिपा साक्षी है, वह भी मैं हूं। और वह जो ब्रह्मा है, जो जगत को बनाता है और जगत का नियंता है, उसके भीतर जो साक्षी छिपा है, वह भी मैं ही हूं। फिर जो रास्ते पर भीख मांग रहा है, वह भी मैं ही हूं; और वह जो सिंहासन पर विराजमान सम्राट है, वह भी मैं ही हूं। एक बार भीतर की ज्योति का अनुभव शुरू हो जाए, तो आकृतियां व्यर्थ हो जाती हैं; तो देह, पदार्थ अर्थहीन हो जाता है; फिर ज्योति ही सार्थक हो जाती है।

और एक बड़े मजे की बात है कि चाहे दीया मिट्टी का हो और चाहे सोने का, ज्योति में कोई फर्क नहीं पड़ता है। क्या मिट्टी के दीए की ज्योति मिट्टी की हो जाती है? क्या सोने के दीए की ज्योति सोने की हो जाती है?

कोई भेद नहीं पड़ता, ज्योति ज्योति ही रहती है; ज्योति एक सी ही रहती है। ज्योति के होने में कोई भी अंतर नहीं आता देह के कारण। किसी की ज्योति में कोई अंतर नहीं आया है। अज्ञानी से अज्ञानी के भीतर भी वही ज्योति जल रही है जो बुद्ध के भीतर जलती है। पर बुद्ध को इसका पता है और अज्ञानी को इसका पता नहीं है। और पता में क्या फर्क है? बुद्ध ने दीए के ऊपरी रूप की फिकर छोड़ दी और भीतरी ज्योति का पता लगा लिया, और अज्ञानी अभी ऊपरी रूप--मिट्टी, सोने, चांदी की देह से घिरा है और ज्योति की खोज नहीं कर पाया। लेकिन ज्योति मौजूद है।

मैं ही हूं सब में फैला हुआ, ऐसी प्रतीति का नाम अध्यात्म है।

दो-तीन जरूरी सूचनाएं हैं। पहले दिन मैंने आपसे कहाः प्रसन्न रहें, प्रफुल्लित रहें, आनंदित रहें, हंसते रहें; जितना हंस सकें--अकारण भी--तो हंसते रहें। लेकिन एक बात मैंने जान कर छोड़ दी थी--जान कर। मैंने यह सूचना आपको नहीं दी थी कि जब मैं यहां बोल रहा हूं तब आप अकारण न हंसें। लेकिन वह मैंने जान कर छोड़ दी थी। मैं पता लगाना चाहता था कि दो-चार बुद्धिमान जरूर आए होंगे! वे, जब मैं बोल रहा हूं, तब भी हंसेंगे। और उनकी हंसी के कारण वे खुद भी समझने से वंचित रह जाएंगे जो मैं कह रहा हूं और दूसरों को भी बाधा देंगे।

और मेरा अनुमान गलत नहीं निकला! वे दो-चार बुद्धिमान मौजूद हैं। उनमें एक-दो तो पंजाब से हैं। मैं सुनता था कि पंजाब में कुछ बुद्धि लोगों के पास ज्यादा होती है, मगर मैंने इस पर कभी भरोसा नहीं किया था। अब भी भरोसा नहीं करता, हालांकि वे दो पंजाबी मित्र पूरी कोशिश कर रहे हैं भरोसा दिलवाने की! वह तो

ठीक है, लेकिन यह मैंने कभी नहीं सोचा था कि उनके सत्संग में दो-चार गुजराती भी ऐसा करेंगे! गुजरातियों से ज्यादा बुद्धि की आशा नहीं थी, मगर वे पंजाबियों से होड़ ले रहे हैं!

मूढ़ता में भी होड़ शुरू हो जाती है। और ध्यान रखें, अति पर चला जाना सदा आसान है, मध्य में रुकने का सवाल है। या तो शकल-सूरत मुर्दे की तरह बना कर बैठे रहेंगे और या फिर मूढ़ की तरह प्रफुल्लता प्रकट करने लगेंगे; वह भी प्रफुल्लता नहीं है।

तो जब मैं बोल रहा हूं, तब अगर आप जोर से अकारण आवाज करते हैं, तो आपको पता नहीं आप क्या कर रहे हैं! आप सिर्फ लोगों का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं; आप बता रहे हैं कि मैं भी यहां हूं। वह कोई समझदारी नहीं है। और उससे कोई आपके ध्यान में लाभ होने का नहीं है। जब मैं बोल रहा हूं तब तो शांत, मन की सारी वृत्तियों को अलग करके चुप हो जाना चाहिए, ताकि मैं जो कह रहा हूं वह भीतर प्रवेश कर सके। अगर मैं कुछ बोल रहा हूं और आप जोर से अकारण हंस देते हैं, तो जो भीतर जा रहा था वह आपकी हंसी के धक्के में बाहर चला जाएगा। वह आपने बाहर फेंक दिया। तो थोड़ा सोच कर चलें। सोच कर नहीं चलेंगे, तो गहरे कभी नहीं उतर पाएंगे।

दूसरी बात। कल मैंने सूचना करवाई है कि सुबह के ध्यान में ही वस्त्र उतारना चाहें तो उतारें, उपयोगी है। लेकिन दोपहर के कीर्तन या रात के ध्यान में बिल्कुल उपयोगी नहीं है। मेरे लिए न तो वस्त्रों का मूल्य है और न नग्नता का। इसे थोड़ा ख्याल में ले लें। कई बार भ्रांति होती है; कई बार ऐसा लगता है कि शायद मैं यह कह रहा हूं कि आप नग्न हो गए तो मोक्ष मिल गया! इतना आसान नहीं है; नहीं तो सभी पशु-पक्षी अब तक मोक्ष में होते। और अगर आपके वस्त्रों के कारण ही मोक्ष रुका है, तो दुनिया भर को नग्न करके मोक्ष में पहुंचा देने में बहुत अड़चन नहीं है! इतना आसान और इतना सस्ता नहीं है।

जब मैं कहता हूं कि किसी ऐसे क्षण में, जब आपको लगे कि वस्त्र बाधा डाल रहे हैं शरीर की गतिविधि में, अभिव्यक्ति में, वस्त्रों को अलग कर दें; नग्नता सहयोगी होगी। लेकिन कुछ नासमझ ऐसे भी होंगे--हैं ही; कुछ नासमझ वस्त्रों को पकड़े रहते हैं, कुछ नासमझ नग्नता को पकड़ लेते हैं! वे समझते हैं कि नग्न खड़े हो गए, अब कुछ करने का है ही नहीं। तो मैं देखता हूं एक-दो जन को, वे ध्यान-व्यान भी नहीं करते, वे सिर्फ नग्न खड़े हो जाते हैं--पर्याप्त है।

सिर्फ नग्न खड़े हो जाने से कुछ भी न होगा। और नग्नता पर मेरा कोई जोर नहीं है। दोनों जोर एक से हैं। कुछ लोग सोचते हैं कि वस्त्र अगर हटा दिए तो जिंदगी गई हाथ से; उनके मन में भी वस्त्रों का बड़ा मूल्य है। और कुछ लोग सोचते हैं, वस्त्र हटा दिए तो सब कुछ मिल गया; उनके मन में भी वस्त्रों का बहुत मूल्य है। ये दोनों एक से हैं। कपड़ों से ढंके हुए लोग और नग्न साधु एक से हैं, उनकी बुद्धि एक सी है। उसमें कोई बहुत अंतर नहीं है। दोनों की मान्यता यह है कि वस्त्र बड़े कीमती हैं।

इसलिए नहीं कहता हूं कि आप वस्त्र हटा दें कि नग्न होने से मोक्ष मिल जाएगा। नग्न तो आप हैं ही; वस्त्रों के भीतर हैं। इससे क्या फर्क पड़ने वाला है, वस्त्रों के बाहर हो जाएंगे या वस्त्रों के भीतर हैं! जब मैं कहता हूं कि वस्त्र हटाने की उपयोगिता आपको प्रतीत हो भीतर, शरीर की ऊर्जा जग जाए, श्वास के तीव्र प्रहार से बायो-एनर्जी, जैविक-ऊर्जा जगने लगे, और आपको लगे कि वस्त्र बाधा डाल रहे हैं, तो ही अलग करें; नहीं तो कोई मतलब नहीं है। और दोपहर के कीर्तन में बिल्कुल भी अलग करने की जरूरत नहीं है; न रात्रि के ध्यान में अलग करने की जरूरत है। और अगर कोई जिद करेगा दोपहर के कीर्तन में या रात, कैंपस से हम उसे अलग करेंगे।

सुबह के ध्यान में आप पूरी तरह, क्योंकि उसकी वैज्ञानिक अर्थवत्ता है। जब गहरी श्वास ली जाती है और शरीर की ऊर्जा जोर से जगने लगती है, तो वस्त्र बाधा डालते हैं। तो हटा दें। और फिर दूसरा जो चरण है, जिसमें मैं आपको कहता हूं कि जो भी आपके मन में आ जाए उसे रोकें मत, सब तरह का सप्रेशन छोड़ दें, उसमें

अगर आपके मन में आ जाए वस्त्र को हटाना है, तो हटा दें। लेकिन कीर्तन में कोई जरूरत नहीं है; रात के ध्यान में भी कोई जरूरत नहीं है।

नग्नता कोई सिद्धांत मत बना लें; नग्नता एक उपाय है।

तीसरी बात। कुछ विदेशी संन्यासी-संन्यासिनें कुएं पर नग्न स्नान करते होंगे, तो कुछ भारतीय मित्र भीड़ लगा कर वहां देखने खड़े हो जाते हैं। ऐसी नासमझी न करें। नहाना हो तो नग्न होकर आप भी नहा लें। लेकिन कोई दूसरा नग्न होकर नहा रहा है, उसे देखने आप जाते हैं, तो आप अपने मन की न मालूम कितनी दबी हुई रुग्ण वृत्तियों की खबर देते हैं।

दो तरह के पागल हैं। एक ऐसे पागल हैं जो दूसरों को नग्न देखना चाहते हैं, और ऐसे भी पागल हैं जो खुद को नग्न होकर दूसरों को बताना चाहते हैं। मनोविज्ञान में इन सब पागलों के अलग-अलग रोगों के नाम हैं। पश्चिम में ऐसे बहुत से लोगों पर मुकदमा चलता है अदालतों में, जो अचानक अपने को नग्न करके किसी को दिखा देते हैं। उनको एक्झीबीशनिस्ट कहते हैं; प्रदर्शनकारी। यहां भी ऐसे एकाध-दो मित्र आ गए हैं, जिनका कुल मजा इतना मालूम पड़ता है कि उनके शरीर का दर्शन दूसरों को हो जाए। और ये अक्सर ऐसे लोग होते हैं जिनका शरीर दर्शन के योग्य होता भी नहीं। दर्शन के योग्य हो तो कोई न कोई उनके शरीर का दर्शन करने खुद ही पहुंच जाएगा। दर्शन के योग्य नहीं होता, वे भीड़-भड़क्के में नग्न खड़े हो जाते हैं, क्योंकि कोई देखने तो उनको पहुंचता नहीं, ऐसे ही कोई देख ले!

इस तरह की बीमारियों का कोई प्रयोजन नहीं है यहां। और कुछ लोग होते हैं कि दूसरे को नग्न देखने में लगे रहते हैं! ये भी रुग्ण हैं; ये भी रुग्ण हैं। किसी से आपका लगाव है, किसी से आपका प्रेम है और इतनी आत्मीय निकटता है, तो वस्त्र अपने आप गिर जाते हैं। और व्यक्ति एक-दूसरे को नग्न... नग्न अनुभव नहीं करते उस प्रेम में, उस प्रेम में वे निकट अनुभव करते हैं; वस्त्रों की बाधा भी हट जाती है। लेकिन जिससे आपका कोई लगाव नहीं है, उसको जाकर नग्न देखना घृणित है, क्षुद्र है, और आपके भीतर छिपे हुए रोग की खबर देता है।

मैं रास्ते में आ रहा था। तो मेरे साथ इंग्लैंड की एक संन्यासिनी है, विवेक, वह थी। बीच में एक जगह गाड़ी खड़ी हुई नाके पर, तो चार-पांच गधे गाड़ी के पास आकर खड़े हो गए! तो मैंने विवेक को पूछा कि इंग्लैंड में तेरे इतने ही बड़े गधे होते हैं कि इनसे भी बड़े गधे होते हैं? तो उसने कहा, स्लाइटली बिगर--थोड़े बड़े होते हैं। मैंने उसको कुछ कहा नहीं, क्योंकि मैं तो मजाक ही कर रहा था। लेकिन फिर कल मुझे खबर मिली कि यहां कुएं के आस-पास भीड़ लगा कर लोग खड़े होते हैं, तो आज मैं उससे कहने वाला हूं कि तू गलती में है, भारत का मुकाबला करना मुश्किल है; गधे तो यहीं बड़े होते हैं!

चौथी बात। जब तीस मिनट ध्यान के प्रयोग के बाद मैं कहता हूं, चुप हो जाएं, मौन हो जाएं, तब भी अगर आप चुप और मौन नहीं हो पाते, तो आप ध्यान नहीं कर रहे हैं, आप हिस्टीरिया में हैं।

इस फर्क को थोड़ा समझ लें। जब मैं कहता हूं, दस मिनट तीव्र श्वास लें, तो आपको मालिक होना चाहिए। जब मैं कहता हूं, दस मिनट पागल हो जाएं, तो आपको मालिक होना चाहिए पागलपन का भी। आप पागल हो रहे हैं, पागलपन आप पर नहीं आ रहा है। आप अपनी निजता से अपने भीतर जो है उसे उलीच कर बाहर फेंक रहे हैं। और जब मैं कहता हूं, आप दस मिनट हू का हुंकार करें, तो आप कर रहे हैं। यह हुंकार आपको न पकड़ ले, नहीं तो आप गुलाम हो गए। और फिर जब मैं कहता हूं, स्टाप कंप्लीटली, रुक जाएं बिल्कुल, तो जो आदमी नहीं रुकता, वह हिस्टेरिक है। उसका मतलब यह है कि उसके बस में नहीं है मामला, अब वह रुक नहीं पा रहा है; वह चिल्लाए चला जा रहा है, रोए चला जा रहा है। मतलब, रोना ऊपर हावी हो गया।

यह नहीं चलेगा। वह आदमी रुग्ण है, वह ध्यान नहीं कर रहा है। ध्यान का मतलब है, आपकी मालकियत स्थापित करनी है। और अगर मालकियत स्थापित नहीं होती तो हिस्टीरिया में और ध्यान में फिर कोई फर्क नहीं रह जाएगा।

तो जब मैं कहता हूं, रुक जाएं, तत्क्षण रुक जाना है। उसमें एक क्षण की भी देरी खबर दे रही है कि आप मालकियत खो दिए और जो आप कर रहे थे वह मालिक हो गया; चिल्ला रहे थे तो चिल्लाने ने आपको पकड़ लिया; अब आप छोड़ नहीं पा रहे। अगर चिल्लाना आपको पकड़ ले और आप न छोड़ पाएं, तो फिर आप शांति में प्रवेश न कर सकेंगे। मालकियत शांति में ले जाती है।

तो दो-चार लोग हैं कि मैं कहता रहता हूं, चुप हो जाएं, वे चुप ही नहीं होते; वे सोचते हैं कि ध्यान इतना लग गया है कि अब चुप कैसे हों! ध्यान नहीं लगा है। और आज अगर ऐसा किया तो निकाल हम उन्हें बाहर करेंगे। क्योंकि उनके इलाज की जरूरत है, उनको ध्यान की जरूरत नहीं है।

और जब तीस मिनट के बाद आप सोचते हैं कि अब खांसी आ रही है, फलां हो रहा है; इस भूल में मत पड़ें, खांसी इंफेक्शियस बीमारी है। एक आदमी खांस देता है, दस-पांच मूढ़ उसका अनुगमन करते हैं। उसकी खांसी भला वास्तविक रही हो, ये दस-पांच अनुगमन करते हैं। क्योंकि कल रात आपने देखा, खांसी भी रुक गई। वह कैसे रुकी? जब मैंने कहा, खांसें भी नहीं, तो वह कैसे रुकी। वह झूठी थी।

खांसी भी नहीं चलने देंगे। और जरा प्रयोग करके देखें, दस मिनट में प्राण नहीं निकल जाएंगे। आपको पता नहीं है कि मन कितनी तरकीबें करता है! मन कहता है, बड़ी खांसी आ रही है; खांस लो। वह उसने विघ्न डाल दिया; आप खांस लिए। आप सोचे, क्या करें, खांसी तो मजबूरी थी।

मजबूरी नहीं थी। आप ख्याल करते हैं कि मैं यहां डेढ़ घंटे बोलता हूं तब आपको एक दफे खांसी नहीं आती! और जब दस मिनट आपको चुप रहने को कहता हूं तो एकदम खांसी आने लगती है! अगर खांसी ही आनी चाहिए तो उसी अनुपात में चलनी चाहिए--पूरे वक्त। वह नहीं चलती। सिनेमा में बैठे हैं, तीन घंटे खांसी नहीं आएगी। क्या, हो क्या जाता है? और मंदिर में गए, कि एकदम खांसी शुरू! यह मंदिर में कोई खांसी के कीटाणु बैठे हुए हैं? खांसी सिनेमागृह में चले, समझ में आ सकता है, क्योंकि वहां कीटाणु हैं काफी। मंदिर में चलती है, जहां बिल्कुल सब स्वच्छ, सफाई है!

कारण मानसिक है; यह खांसी शारीरिक नहीं है जो आपको आती है। यह मानसिक है; इसको रोकें। बिल्कुल रोकें। दस मिनट में क्या होगा, ज्यादा से ज्यादा प्राण ही निकल जाएंगे न! किसी के निकलते कभी सुने नहीं गए कि दस मिनट खांसी रोक ली तो उनके प्राण निकल गए। दस मिनट खांसने से भला निकल गए हों, खांसी रोकने से कभी नहीं निकले हैं। कृपा करें, बिल्कुल रोक दें; बिल्कुल मुर्दा हो जाएं। जब मैं कहता हूं, स्टाप, रुकें! तो रुक जाएं, बिल्कुल जड़ हो जाएं; नहीं तो काम व्यर्थ हो जाता है। वह शक्ति जगती है, उसको भीतर काम करने का मौका नहीं मिल पाता। खांसी-वांसी में निकाल कर अपने घर वापस लौट गए। फिर मेरे पास आकर कहते हैं कि कुछ हुआ नहीं। खांसो, इतना भी क्या कुछ कम हो रहा है! मेरे पास आते हैं कि ध्यान नहीं हुआ और मैं जानता हूं कि वे खांस रहे थे पूरे वक्त। अब ध्यान भी क्या करे!

थोड़ा मालकियत स्थापित करें। जब मैं कहता हूं चुप, तो यहां ऐसा सन्नाटा हो जाना चाहिए कि यहां कोई भी नहीं है; मिट गए। तो ही परिणाम होगा।

जब मैं अंग्रेजी में बोलना शुरू करता हूं, तो आप उठ नहीं सकते हैं, बैठ जाएं वहीं। थोड़ी समझ तो बरतें! जब मैं हिंदी में बोल रहा हूं तो जो हिंदी नहीं समझ सकते, वे शांति से बैठे हुए हैं। और जब मैं अंग्रेजी में बोलता हूं तो जो अंग्रेजी नहीं समझते, वे फौरन उठे और चले! इससे बड़ा अधैर्य और म.ूढता पता चलती है। यहां

विदेशी मित्र भी हैं पचास। वे भी बैठे सुन रहे हैं। उनके चेहरों की तरफ देखें। जब मैं हिंदी में बोल रहा हूं तब जरा उनके चेहरों की तरफ देखें; आपके चेहरे से भी ज्यादा समझते हुए उनके चेहरे मालूम पड़ते हैं। क्यों?

समझ वे बिल्कुल नहीं रहे हैं। लेकिन इतना भी, इतना धैर्य कि हम नहीं समझ पा रहे हैं, तो भी कोई काम की बात कही जा रही है; तो मौन से उसे सुन तो लें। समझ न पाएंगे, लेकिन यह घंटे भर का मौन तो उपयोगी हो जाएगा। समझ न पाएंगे तो भी घंटे भर का यह धैर्य भी तो ध्यान है।

लेकिन जब मैं अंग्रेजी में बोलना शुरू करता हूं कि बस आप उठे। उसका मतलब है कि न धैर्य है, न थोड़ा शांत बैठने की प्रतीक्षा है, न दूसरों के बाबत, कि दूसरों को बाधा पड़ेगी इसकी कोई चिंता है।

थोड़ा सोचें!

मेरे एक परिचित कवि स्वीडन गए हुए थे; उर्दू के कवि हैं। वे मुझे कह रहे थे कि मैं उर्दू में कविता पढ़ता, कोई समझ न पाता, लेकिन हजारों लोग शांत बैठे रहते। वे मुझसे बोले कि मैं हैरान हुआ, मैं तो समझ रहा था कि कोई सुनने ही नहीं आएगा; अगर कोई सुनने भी आया तो लोग चले जाएंगे वापस। तो उन्होंने पूछा लोगों से कि आपकी समझ में तो नहीं आता, फिर आप चुप क्यों बैठे रहते हैं?

तो उन्होंने कहा, समझ में तो हमें नहीं आता, लेकिन जब आप इतने भाव से गाते हैं, तब आपकी आंखें, आपका हाथ, आपकी मुद्रा, वह हमारी समझ में आती है, कि जरूर कोई काम की और गहरी बात कही जा रही है। तो इतने शिष्ट तो हम हैं कि आपके इस भाव में, अवस्था में हम बाधा न डालें।

तो यह नहीं चलेगा।

रात मैं देखता हूं कि कुछ बाहर के लोग, मालूम पड़ता है, आ जाते हैं। जैसे ही मैं अंग्रेजी में बोलना शुरू करता हूं, वे चल पड़ते हैं! आज रात कोई भी चल नहीं सकेगा। आपके पास कोई उठे, उसे फौरन बिठा दें। और अगर वह चलता है तो कल रात से मैं प्रवेश नहीं करने दूंगा; मैं हिंदी में बोलने के पहले आपको कह दूंगा कि जो अंग्रेजी में उठने वाले हैं, वे पहले उठ जाएं।

जीवन को एक अनुशासन, एक व्यवस्था देने की जरूरत है, नहीं तो कुछ नहीं हो पाएगा।

सातवां प्रवचन

चैतन्य का दर्पण

स्वात्मन्यारोपितशेषाभासवस्तुनिरासितः।
स्वयमेव परब्रह्म पूर्णमद्वयमक्रियम्।। 21।।
असत्कल्पो विकल्पो यं विश्वमित्येकवस्तुनि।
निर्विकारे निराकरे निर्विशेषेर्भिदा कुतः।। 22।।
द्रष्टा दर्शनदृश्यादिभावशून्ये निरामये।
कल्यार्णव इवात्यन्तं परिपूर्णे चिदात्मनि।। 23।।
तेजसीव तमो यत्र विलीनं भ्रांतिकारणम्।
अद्वितीये परे तत्वे निर्विशेषेर्भिदा कुतः।। 24।।
एकात्मके परे तत्वे भेदकर्ता कथं वमेत्।
सुषुप्तौ सुखमात्रायां भेदः केनावलोकितः।। 25।।

अपनी आत्मा में ही सब वस्तुओं का आभास केवल आरोपित है, उसको दूर करने से स्वयं ही पूर्ण अद्वैत और क्रिया-शून्य परब्रह्म बन सकता है।

एक आत्मरूप वस्तु में यह जगतरूप जो विकल्प (भेद) जान पड़ता है, वह लगभग झूठा है, क्योंकि निर्विकार, निराकार और अवयवरहित वस्तु में भेद कहां से आ सकता है!

चिदात्मा द्रष्टा, दर्शन तथा दृश्य आदि भावों से रहित है, निर्दोष है, तथा प्रलयकाल के समुद्र की तरह परिपूर्ण है।

जिस प्रकार प्रकाश में अंधकार विलीन हो जाता है, वैसे ही अद्वितीय परम तत्व में भ्रांति का कारण विलय हो जाता है। वह अवयवरहित है, इससे उसमें भेद कहां से हो सकता है!

यह परम तत्व एकस्वरूप ही है, उसमें भेद कैसे रह सकता है! सुषुप्ति अवस्था केवल सुखरूप है, उसमें भेद किसने देखा है?

एक बहुत महत्वपूर्ण सवाल को इस सूत्र में उठाया गया है। निरंतर आदमी के मन में यह सवाल उठता रहा है--सदियों से, सनातन से--कि जिस संसार में हम उलझे हैं, जिस संसार में हम दुख और पीड़ा और संताप से घिर गए हैं, उससे मुक्ति कैसे हो? और यह संसार, जिसमें हम घिर गए हैं, वस्तुतः क्या है? यह अंधकार, जिसमें हम डूब गए और खो गए हैं, इसका स्वरूप क्या है? क्योंकि बिना इसके स्वरूप को जाने इससे छूटने का कोई उपाय नहीं हो सकता। जिससे छूटना हो, उसे ठीक से जान ही लेना पड़ेगा। अज्ञान में ही बंधन निर्मित होते हैं। तो अगर खोलना हो बंधनों को, तो ज्ञान से ही उनकी गांठ खुल सकती है।

ऐसा हुआ एक दिन कि बुद्ध सुबह-सुबह अपने भिक्षुओं के बीच आए, तो हाथ में ले रखा था एक रूमाल रेशम का। चकित हुए भिक्षु! क्योंकि कभी वे कुछ भी लेकर हाथ में भिक्षुओं के बीच बोलने नहीं आते थे। फिर बैठ गए सामने और उस रूमाल पर उन्होंने एक गांठ बांधी, दूसरी गांठ बांधी, पांच गांठें बांधीं। और फिर पूछा भिक्षुओं से कि यह रूमाल मैं लेकर आया था, तब इसमें कोई गांठ न थी, अब इसमें पांच गांठें हैं; पूछता हूं तुमसे, यह रूमाल बदल गया या वही है?

निश्चित ही कठिनाई हुई होगी। क्योंकि यह कहना भी गलत है कि रूमाल बदल गया। क्योंकि रूमाल बिल्कुल वही है। गांठ लगने से रूमाल के स्वभाव में रत्ती भर भी अंतर नहीं पड़ा। जितना था, जैसा था, वैसा ही है रूमाल अब भी। लेकिन यह कहना भी उचित नहीं है कि रूमाल बिल्कुल नहीं बदला; क्योंकि तब रूमाल खुला था, अब गांठों से घिरा है। इतनी बदलाहट जरूर हो गई है।

तो एक भिक्षु ने खड़े होकर कहा, बड़ा कठिन सवाल पूछते हैं! रूमाल लगभग बदल गया है!

इसे थोड़ा समझ लें, क्योंकि यह शब्द जल्दी ही इस सूत्र में आएगा, और तब समझना जरूरी हो जाएगा। लगभग बदल गया है! बदला भी नहीं है, और बदल भी गया है। बदला नहीं है, अगर हम इसके स्वरूप को देखें। और बदल गया है, अगर हम इसके शरीर को देखें। नहीं बदला है, अगर इसकी आत्मा हम समझें। बदल गया है, अगर इसकी देह को हम देखें। नहीं बदला है भीतर से, लेकिन बाहर से गांठ लग गई है और बदलाहट हो गई है। आकार बदल गया है, आकृति बदल गई है। नहीं बदला है, अगर इसके परम स्वभाव को हम समझें; लेकिन बदल गया है, अगर इसके व्यवहार को हम देखें। क्योंकि जो रूमाल खुला था, वह काम में आ सकता था; जिस रूमाल में पांच गांठें लग गईं, वह काम में भी नहीं आ सकता। वह रूमाल भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि रूमाल तो किसी उपयोगिता का नाम था।

ध्यान रहे, हम जब किसी चीज को कोई शब्द देते हैं तो वह उपयोगिता का नाम होता है। मजबूरी है, कठिनाई होगी भाषा में, इसलिए जब उपयोगिता नहीं होती है, तब भी हम वही नाम देते हैं।

जैसे समझें, पंखा आप करते हैं गर्मी में, तो आप कहते हैं पंखा। लेकिन जब पंखा रखा हो, तब उसको पंखा नहीं कहना चाहिए। पंखा का मतलब हुआ जिससे हवा की जा रही है; जो पंख का काम कर रहा है। लेकिन जब रखा है तब तो हवा नहीं की जा रही है। तो उसे पंखा नहीं कहना चाहिए।

पैर वे हैं जिनसे आप चलते हैं। लेकिन जब आप नहीं चलते हैं, तब उन्हें पैर कहना नहीं चाहिए। फंक्शनल, उनका क्रिया का नाम होना चाहिए। लेकिन कठिन हो जाएगी भाषा। चलते पैर के लिए अलग नाम, बैठते पैर के लिए अलग नाम, तो बहुत मुश्किल होगा। इसलिए काम चलाते हैं।

तो पंखे के दो अर्थ होते हैं, पंखा वह जिससे हवा की जाती है या जिससे हवा की जा सकती है; दोनों अर्थों में हम प्रयोग करते हैं। जिससे हवा हो सकती है, जिसमें संभावना छिपी है।

रूमाल का कोई उपयोग है, उसमें कुछ बांधा जा सकता है। लेकिन जो रूमाल खुद ही बंधा हो, उसमें अब कुछ नहीं बांधा जा सकता।

तो बुद्ध ने कहा, एक और सवाल मुझे पूछना है, और वह यह कि मैं इस रूमाल को खोलना चाहता हूं तो क्या करूं?

और ऐसा कह कर बुद्ध ने रूमाल के दोनों छोर पकड़ कर जोर से खींचना शुरू कर दिया। गांठें और छोटी हो गईं; और बारीक होकर कस गईं।

एक भिक्षु ने चिल्ला कर कहा, क्षमा करें! जो आप कर रहे हैं, उससे तो रूमाल और बंध जाएगा और खोलना कठिन हो जाएगा!

तो बुद्ध ने कहा, एक बात जाहिर हो गई कि कुछ भी करने से रूमाल नहीं खुल जाएगा। मैं कुछ कर रहा हूं। लेकिन तुम कहते हो इस करने से रूमाल और बंधता जा रहा है। तो क्या करने से रूमाल खुलेगा?

तब एक भिक्षु ने कहा, पहले जानना होगा कि गठान कैसे बंधी है। क्योंकि जब तक गांठ के स्वरूप को न समझा जा सके, तब तक उसे खोला नहीं जा सकता। तो पहले देखना होगा कि गांठ बंधी कैसे है। जो बंधने का ढंग है, उसके विपरीत ही खुलने का ढंग होता है। और जब तक हमें पता न हो कि बंधने का ढंग क्या है, तब तक

ना-कुछ करना बेहतर है बजाय कुछ करने के। क्योंकि करने से जाल और उलझ सकता है; गांठ और मुश्किल हो सकती है; सुलझाना और कठिन हो सकता है।

हमारी चेतना पर भी गांठें हैं। और स्थिति यही है कि हम बिल्कुल बदले नहीं हैं, और बदल गए हैं। हमारा स्वभाव ठीक वैसा ही है जैसा परम ब्रह्म का, लेकिन हम पर कुछ गांठें हैं। और वे गांठें जब तक न खुल जाएं, तब तक हम उस परम स्वभाव का अनुभव नहीं कर सकते जो ग्रंथिरहित है।

महावीर के लिए एक नाम दिया है जैनों ने, बड़ा प्रीतिकर है; वह नाम है निर्ग्ं्रथ। बुद्ध तो जब भी महावीर के लिए कुछ कहते हैं, तो हमेशा निगंठ नाथपुत्तः। नाथ परिवार में पैदा हुआ वह लड़का, जो निर्ग्रंथ हो गया, नाथ जाति में पैदा हुआ पुत्र, जो निर्ग्रंथ हो गया। जिसकी गांठें कट गईं, जिसकी गांठें खुल गईं।

यह निर्ग्रंथ शब्द बड़ा कीमती है। ब्रह्म है निर्ग्रंथ, ग्रंथियों से रहित। और हम हैं सग्रंथ, ग्रंथियों से सहित। इतना ही अंतर है।

पर गांठ कैसे लगी है और क्या है, इसके स्वरूप को समझ लेना जरूरी है। इसके स्वरूप के संबंध में ही यह सूत्र है। सूत्र को हम समझें, इसमें कुछ बड़ी कीमती बातें हैं।

'अपनी आत्मा में ही सब वस्तुओं का आभास केवल आरोपित है, उसको दूर करने से स्वयं ही पूर्ण अद्वैत और क्रिया-शून्य परब्रह्म बन जाता है।'

गांठ जब रूमाल पर लगती है तो बाहर से कहीं से आती नहीं। कभी आपने गांठ अकेली देखी है बिना रूमाल के? कभी आपने गांठ अकेली देखी है बिना रस्सी के? शुद्ध गांठ आपने कभी देखी? जब भी होगी किसी चीज पर होगी, अकेली गांठ कहीं भी नहीं हो सकती। इससे एक बात जाहिर होती है कि गांठ बाहर से नहीं आ सकती। हो ही नहीं सकती अकेली, तो बाहर से आएगी कैसे!

गांठ बाहर से नहीं आती। और रूमाल में भी, जब बंधा नहीं था, तो गांठ नहीं थी। इसलिए बड़ा मजेदार सवाल है! गांठ बाहर से आ नहीं सकती, क्योंकि किसी ने कभी कोई शुद्ध गांठ नहीं देखी है। होती भी नहीं। किसी चीज पर होती है, अकेली कभी नहीं होती। और रूमाल अभी खाली था, उस पर कोई गांठ नहीं थी। तो गांठ आई कहां से? क्या रूमाल के भीतर से आई है? रूमाल में कोई गांठ न थी अभी क्षण भर पहले, तो उसके भीतर से कैसे आ सकती है? बाहर से आई नहीं, क्योंकि बाहर कभी गांठ पाई नहीं जाती। न बाहर से आई है, न भीतर से आई है, रूमाल ने अपने पर आरोपित की है; रूमाल ने निर्मित की है। निर्मित का अर्थ यह है कि रूमाल के स्वभाव में नहीं थी, रूमाल ने अर्जित की है।

संसार जो है, हमारा अर्जन है, एचीवमेंट है। हमने बड़ी चेष्टा करके निर्मित किया है। हमने बड़े उपाय किए हैं, तब निर्मित किया है। गांठ होती नहीं कहीं अस्तित्व में, रूमाल ने बड़ी चेष्टा करके अपने ऊपर आरोपित की है। इस चेतना में जो कुछ भी दिखाई पड़ता है, वह आरोपण है। आपको जो भी भीतर अनुभव में आता है, वह सब आरोपण है।

जैसा हम पीछे बात कर रहे थे कि दर्पण के सामने चीजें आती हैं, दर्पण में दिखाई पड़ती हैं। अगर दर्पण एक भूल करने लगे जो हमने की है, तो दर्पण भी इसी मुसीबत में पड़ जाएगा जिसमें हम पड़ गए हैं। लेकिन दर्पण वह भूल नहीं करता। हालांकि दर्पण जैसी चीजें हैं जो ऐसी भूल करती हैं। जैसे फोटो प्लेट, या फोटो की फिल्म।

कैमरे के भीतर जो फिल्म छिपी है, उसमें और दर्पण में थोड़ा सा फर्क है, बाकी एक जैसे हैं दोनों। दर्पण में भी प्रतिबिंब बनता है, कैमरे की फिल्म में भी प्रतिबिंब बनता है; लेकिन दर्पण प्रतिबिंब को पकड़ता नहीं और

फिल्म प्रतिबिंब को पकड़ लेती है। इसलिए फिल्म पर जो भी प्रतिबिंब बना, वह पकड़ जाता है। और उसके पकड़ने के साथ ही फिल्म बेकार हो जाती है। अब दूसरा प्रतिबिंब नहीं पकड़ा जा सकता; जगह भर गई।

आईना कभी भरता नहीं; कितने ही प्रतिबिंब बनते हैं, आईना खाली बना रहता है। प्रतिबिंब आते हैं, चले जाते हैं, दर्पण छोड़ता चला जाता है। दर्पण का त्याग सतत है। वह छोड़ता चला जाता है। भोग पकड़ता नहीं। आपका चेहरा दिखाई पड़ता है, दर्पण छोड़ देता है। आप हटे कि भूल गया, जैसे आप कभी सामने आए ही न हों।

मनुष्य की जो चेतना है वह दर्पण की भांति है; और मनुष्य का जो मन है वह फिल्म की भांति है। मनुष्य की जो आंतरिक चेतना है वह दर्पण की भांति है, उस पर कुछ भी बनता नहीं। लेकिन मनुष्य के पास एक यंत्र और है मन का। मन बिल्कुल फोटो प्लेट की तरह है; उस पर जो भी बन जाता है वह पकड़ जाता है। सच तो यह है कि मन पर अगर न पकड़े, तो मन की उपयोगिता ही नष्ट हो जाए। इसलिए हम कहते हैं, अच्छी स्मृति कीमती चीज है। शिक्षा, समाज, सब अच्छी स्मृति पर टिका है। वह अच्छी स्मृति किसकी है? वह मन की है जो पकड़ता है।

मन बिल्कुल ही एक यंत्र है, फोटो प्लेट की तरह। वह फिल्म की तरह पकड़ता जाता है। जो भी उसके सामने आता है, पकड़ लेता है। जो काम का नहीं है, वह भी पकड़ लेता है। जो बेकाम का है, वह भी पकड़ लेता है। जो व्यर्थ कचरा है, वह भी पकड़ लेता है। जिसकी कोई जरूरत नहीं, वह भी पकड़ लेता है। फिल्म चुनाव नहीं कर सकती। आपने कैमरे में एक्सपोज किया, तो वह चुनाव नहीं कर सकती कि क्या लें और क्या छोड़ दें। जो भी सामने पड़ता है, वह पकड़ जाता है; जो भी सामने आ जाता है, वह पकड़ जाता है।

तो मन आपका पकड़ता चला जाता है। आपको पता नहीं कि दिन भर में आप मन का कितना जाल इकट्ठा कर लेते हैं! और अब तो मनसविद कहते हैं कि जो आप जानते हैं, उतना ही मन नहीं पकड़ता; जो आप नहीं जानते हैं, वह भी पकड़ता है।

जैसे अभी यहां बैठे हैं। मैं बोल रहा हूं, आप मुझे सुन रहे हैं। आपको ख्याल में भी नहीं कि एक पक्षी आवाज करके उड़ गया! आपको याद भी नहीं कि सड़क पर एक हार्न बजा! आपको याद भी नहीं, लेकिन वह भी मन पकड़ रहा है। अगर आपसे कोई पूछे कि सुनते वक्त एक पक्षी उड़ा था? आप कहेंगे, मुझे कुछ भी पता नहीं। लेकिन आपको बेहोश किया जाए, सम्मोहित किया जाए, और फिर पूछा जाए। आप कहेंगे, हां, मुझे पता है। एक पक्षी भी उड़ा था, सड़क पर हार्न भी बजा था।

इसको मनसविद कहते हैं, सब्लिमिनल मेमोरी। मन के पीछे छिपा हुआ अर्धचेतन मन है, वह पूरे समय पकड़ रहा है; जो आप नहीं जानते, वह भी। आप रात सो रहे हैं, तब भी आपका जो अर्धचेतन मन है, वह पकड़ रहा है। वह पकड़ता चला जा रहा है। नींद में भी, बाहर जो घटनाएं घट रही हैं, वह भी पकड़ता जा रहा है।

आप चकित होंगे जान कर कि नवीनतम वैज्ञानिक खोजें यह कहती हैं कि बच्चा मां के गर्भ में भी स्मृति निर्मित करता रहता है। बाहर जो घटित हो रहा है, वह पकड़ता जाता है। योग तो बहुत पुराने दिनों से यह मानता है कि मां पर जो घटनाएं घटती हैं, उसके आस-पास, बच्चा उन्हें पकड़ लेता है और निर्मित होता है। लेकिन पश्चिम का विज्ञान अब इस बात को मानने के करीब आ रहा है।

और जैसे-जैसे समझ बढ़ती है, बड़ी मुश्किल होती जाती है। अब मनोविज्ञान कहता है कि चार साल की उम्र में बच्चा अपना पचास प्रतिशत ज्ञान पकड़ लेता है। पचास प्रतिशत! अस्सी वर्ष का होकर जब वह मरेगा, तब तक जितना ज्ञान इकट्ठा करेगा, उसमें से पचास प्रतिशत उसने चार साल की उम्र में पकड़ लिया, बाकी पचास प्रतिशत बाद में पकड़ेगा। तो असली जिंदगी का आधा हिस्सा, आधी उम्र, चार साल में पूरी हो गई। ज्ञान के हिसाब से आप चार साल में आधी उम्र समाप्त कर चुके; आधे बूढ़े हो गए।

लेकिन योग कहता है कि जिस दिन हम, गर्भ के भीतर बच्चा जो पकड़ता है, उसको भी समझ लेंगे, उस दिन शायद हालत और भी भिन्न हो जाए। शायद बड़ा प्रतिशत बच्चा गर्भ में ही पकड़ लेता है। लेकिन बच्चे को भी कोई याद नहीं है; सब्लिमिनल है; उसके चित्त में है। इस पर अभी, पश्चिम की सरकारों में कई सरकारों के सामने सवाल है; क्योंकि यह सब्लिमिनल जो ज्ञान है, अर्धचेतन में पकड़ी गई जो जानकारियां हैं, इनका शोषण किया जा सकता है और खतरनाक शोषण किया जा सकता है।

आप फिल्म देखते हैं। तो अभी आपको फिल्म में जो प्रचार करना पड़ता है कि फलां सिगरेट पीएं; कि फलां साबुन वापरें; कि यह करे, वह करें--यह आपको दिखाना पड़ता है सामने। उस दिखाने से थोड़ी सी बाधा होती है; क्योंकि आप समझते हैं यह विज्ञापन है। इसलिए आप उतने प्रभावित नहीं होते, जितने प्रभावित हो सकते थे। आप समझते हैं कि यह साबुन जो बताई जा रही है कि एक सुंदरी साबुन को हाथ में लेकर कह रही है कि मेरे सौंदर्य का निखार इसी साबुन की कृपा से है! वह आप जानते हैं कि यह मामला कोई ज्यादा दूरगामी नहीं है। फिर भी बार-बार दोहराने से पकड़ता है।

लेकिन अब सब्लिमिनल एडवरटाइजमेंट की खोज हो गई है। अब फिल्म के पर्दे पर आपको दिखाई ही नहीं पड़ेगा कि लक्स टायलेट साबुन का उपयोग करें; दिखाई ही नहीं पड़ेगा। फिल्म चलती रहेगी और फिल्म के बीच में इतनी तेजी से, सेकेंड के हजारवें हिस्से में, लक्स टायलेट का विज्ञापन निकल जाएगा। आपकी आंखें देख ही नहीं पाएंगी, इतनी तेजी से निकल जाएगा। लेकिन आपका मन पकड़ लेगा।

यह खतरनाक है। अनेक मुल्कों की सरकारें विचार कर रही हैं कि इस पर पाबंदी लगाई जानी चाहिए, क्योंकि यह तो बहुत खतरनाक है। आपको पता ही नहीं है। आप पढ़ भी नहीं पाए। आपको समझ में भी नहीं आया कि बीच में कोई बात घट गई है। आप तो फिल्म देख रहे थे। दो फिल्मों के बीच में, दो चित्रों के बीच में, बहुत झटके से एक विज्ञापन निकल गया।

बहुत जांच-पड़ताल से पता चला है कि हजार में एक आदमी को अंदाजा लगेगा कि कुछ गड़बड़ हुई--हजार में! कुछ बीच में हुआ। लेकिन वह भी पक्का नहीं पकड़ पाएगा। नौ सौ निन्यानबे को तो पता ही नहीं चलेगा। वे अपनी कुर्सी पर बैठे रहेंगे। लेकिन वह अर्धचेतन मन पकड़ लेगा।

यह खतरनाक है। इसका मतलब है कि एक आदमी इलेक्शन में खड़ा हो, और मुझे ही वोट दीजिए यह बीच में चलता रहे, और आप उसको वोट दे आएंगे! और आपको कभी ख्याल में भी नहीं आएगा कि आप वोट क्यों दे आए हैं! यह खतरनाक है। इसका तो कोई भी दुरुपयोग हो सकता है। तानाशाही सरकारें इसका बड़ा उपयोग कर सकती हैं। क्योंकि आप, आप बिल्कुल ही शिकार हो सकते हैं।

लेकिन मन पूरे वक्त पकड़ ही रहा है। सब पकड़ रहा है। लाखों सूचनाएं प्रतिक्षण पकड़ी जा रही हैं। वे सब इकट्ठी हो रही हैं। मन फोटोग्राफिक प्लेट की तरह है, या टेपरिकार्ड के टेप की तरह है। वह सब चीजें इकट्ठी करता जा रहा है।

और एक आदमी के मन में कोई सात करोड़ सेल हैं, और एक-एक सेल करोड़ों सूचनाएं इकट्ठी कर सकता है। इस पृथ्वी पर जितने पुस्तकालय हैं, अगर जिंदगी लंबी मिले, तो एक आदमी सबको कंठस्थ कर सकता है। जिंदगी लंबी का सवाल है, मन की दिक्कत नहीं है। मन के पास फिल्म काफी लंबी है, लेकिन जिंदगी छोटी पड़ जाती है। अगर एक आदमी को लाख, दो लाख साल की उम्र मिले, तो इसी एक छोटी सी खोपड़ी के भीतर दुनिया के सारे पुस्तकालय समाहित किए जा सकते हैं।

तो मन तो इकट्ठा करता है; संग्राहक है। मन से बड़ा परिग्रह करने वाला कोई भी नहीं है। सब तिजोरियां छोटी हैं; और सब धनी दरिद्र हैं। मन जितना संग्रह कर सकता है, उसका कोई मुकाबला नहीं है। इस मन के पीछे छिपी चेतना है। वह चेतना दर्पण की तरह निर्मल है। वह कुछ भी नहीं पकड़ती। जो भी सामने आता है, देख लेती है; हट जाता है, समाप्त हो जाता है। दर्पण फिर निर्मल का निर्मल। चाहे उसमें चांद झलके, और चाहे

एक कांटा दिखाई पड़े, चाहे एक फूल; चाहे सुंदर चेहरा, चाहे एक कुरूप घटना। जो भी सामने आता है, वह जब आता है सामने, उतने क्षण ही चेतना के सामने होता है; हटते ही खो जाता है।

मन यंत्र है। आप नहीं हैं मन, आप चैतन्य हैं। लेकिन हम सबने अपने को मन मान रखा है। उस दर्पण का हमें कोई भी पता नहीं जो सदा निर्मल और निर्दोष है।

यह सूत्र कहता हैः

'अपनी आत्मा में ही सब वस्तुओं का आभास केवल आरोपित है, उसको दूर करने से स्वयं ही पूर्ण अद्वैत और क्रिया-शून्य ब्रह्म व्यक्ति बन जाता है।'

कुछ करना नहीं है। कुछ करना नहीं है, आप ब्रह्म हैं। यह वेदांत की घोषणा है। आपको ब्रह्म बनना नहीं है, आप ब्रह्म हैं ही। सत्य को पाने कहीं जाना नहीं है, वह आपके पास सदा से उपलब्ध है। फिर गड़बड़ क्या हो गई है? वह जो भीतर चैतन्य है, और उसके बाहर जो मन है, उस मन में जो कुछ भी इकट्ठा हो जाता है, वह इकट्ठा हुआ भी चैतन्य में झलकता रहता है।

इसे हम ऐसा समझ लें, कि चांद निकलता है और झील पर झलकता है। फिर चांद डूब जाता है, और झील से भी डूब जाता है। क्योंकि झील में केवल तब तक दिखाई पड़ता है, जब तक हो। जब नहीं होता तो खो जाता है। हम एक नकली चांद आकाश में लटका दें। वह वहां से हटे न। तो झील में सदा उसका प्रतिबिंब बनता रहेगा, कभी मिटेगा नहीं। क्योंकि ऊपर से जब तक चांद न हटे, झील से प्रतिबिंब नहीं मिटेगा। इसे थोड़ा समझ लें; बारीक है, और पूरे मनुष्य के भीतरी यंत्र की समझ जरूरी है।

अगर ऐसा अनंत काल तक होता रहे, तो झील को भी यह शक हो सकता है कि मुझमें जो प्रतिबिंब बन रहा है, वह चांद का नहीं मेरा है; क्योंकि कभी मिटता नहीं। सुबह सूरज निकलता है, रात चांद निकलता है। रोज मिट जाता है, झील खाली हो जाती है; बीच में खाली जगह मिल जाती है; झील को स्मरण आ जाता है कि चांद आया और गया, सूरज आया और गया; मैं सिर्फ दर्पण हूं, झील हूं।

आपके भीतर जो चैतन्य है, उसके ऊपर मन और मन के बाहर जगत। जगत में सब चीजें बदल रही हैं, प्रतिपल बदल रही हैं; मन में कोई चीज बदलती नहीं है, मन फोटोग्राफिक है, स्टैटिक है। तो जो भी जगत से मन में चित्र बन जाता है, वह मन में चित्र अटका रह जाता है सदा के लिए। वह अटका हुआ चित्र भीतर चेतना में भी अटकता हुआ मालूम पड़ता है; सदा बना रहता है।

इससे भ्रांति होती है कि चेतना और मन एक ही हैं। दोनों के साथ तादात्म्य मालूम पड़ता है, क्योंकि फासला नहीं दिखाई पड़ता। जो मन में दिखाई पड़ता है, वही चेतना में दिखाई पड़ता है। दोनों के बीच कहीं कोई सीमा नहीं मालूम पड़ती। इसलिए यह भ्रांति होती है कि जगत आत्मा में आरोपित मालूम पड़ता है; लगता है कि आत्मा में प्रवेश कर गया।

आत्मा में कोई चीज प्रवेश नहीं करती है, मन में सब चीजें प्रवेश करती हैं। तो जब तक हम मन को हटाने की कला न सीख लें--कि संसार और आत्मा आमने-सामने आ जाएं, बीच में मन का दलाल न हो, बीच में यह मन का जगत न हो, यह मन का विस्तार न हो--तब तक हमें यह पता नहीं चलेगा कि सब कुछ आरोपित था और मैं ब्रह्म था, जगत नहीं था; मैं चैतन्य था, शरीर नहीं था। लेकिन मालूम होता था कि मैं शरीर हूं, क्योंकि मन में चित्र बना हुआ था कि मैं शरीर हूं। वही चित्र आत्मा में झलकता था। न था लोभ, न था क्रोध, न था काम, लेकिन मन में सब था और मन के सारे चित्र भीतर झलकते थे। और इतने दिनों से झलकते थे, और इतने अनंत काल से झलकते थे, कि स्वाभाविक है यह भ्रांति हो जानी कि वह झलक नहीं है, प्रतिबिंब नहीं है, मेरा स्वभाव है।

ध्यान रहे, शरीर तो आपका हर जन्म में मिट जाता है। लेकिन मन? मन नहीं मिटता; मन आपका एक जन्म से दूसरे जन्म में चला जाता है। जब आप मरते हैं तो शरीर छूटता है, मन नहीं छूटता। मन तो तब छूटता है, जब आप मुक्त होते हैं। मृत्यु की भी सामर्थ्य मन को अंत करने की नहीं है। मृत्यु भी केवल शरीर को मिटा पाती है, मन को नहीं मिटा पाती। मन तो मृत्यु के भी पार चला जाता है। सिर्फ मुक्त, सिर्फ समाधि की सामर्थ्य है मन को भी मिटा देने की। इसलिए जो जानते हैं, उन्होंने समाधि को महामृत्यु कहा है। क्योंकि मृत्यु में तो मरता है केवल शरीर, समाधि में मर जाते हैं दोनों--शरीर और मन--और शेष रह जाता है केवल वही, जो मर ही नहीं सकता; जो अमृत है, जिसकी कोई मृत्यु नहीं हो सकती।

तो मन तो अनंत-अनंत काल तक निर्मित होता हुआ, इकट्ठा होता हुआ, बढ़ता चला जाता है। और हर बार, हमेशा, शरीर हो तो, शरीर छूट जाए तो, मन आत्मा के साथ जुड़ा रहता है। वह मन की छाया आत्मा पर बनती रहती है। और धीरे-धीरे आत्मा को भी ऐसा लगना शुरू हो जाता है कि जो मन में है, वही मैं हूं। यही है हमारा संसार; यही है हमारी गांठ।

इस गांठ को खोलने का एक ही उपाय है कि हम थोड़ी देर के लिए बिना मन के हो जाएं। मन को हटा कर रख दें, और एक बार जगत को आमने-सामने देख लें। बीच में किसी दलाल को न लें; बीच में किसी मध्यस्थ को न लें। एक झलक भी हमें मिल जाए मन के बिना जगत की, तो हमें यह स्मरण स्पष्ट हो जाएगा कि भीतर कुछ भी कभी गया नहीं है। भीतर का दर्पण सदा साफ है, निर्मल है, उस पर कोई बिंब पकड़ा नहीं है। सारे बिंब आए और गए हैं, जन्मों-जन्मों की कथाएं बीती हैं, लेकिन वहां कोई भी रेखा, जरा सी खरोंच वहां छूटी नहीं है।

वह जो निर्मल स्वभाव का अनुभव है, वही परम ब्रह्म है। ब्रह्म जब मन के साथ बंधता है, तो संसार हो जाता है। ब्रह्म जब मन से टूटता है, तो परम ब्रह्म हो जाता है। और जब आत्मा बंधती है मन के साथ, तो शरीर अनिवार्य हो जाता है। जब आत्मा बंधती है मन के साथ, तो शरीर अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि मन की वासनाओं की तृप्ति बिना शरीर के नहीं हो सकती। मन तो वासनाएं उठाता है, शरीर के बिना तृप्ति नहीं हो सकती।

इसलिए आपने निरंतर सुना होगा; और अब तो वैज्ञानिक सत्य बनता जाता है; आपने सुना होगा, कोई प्रेत किसी आदमी के शरीर में प्रवेश कर गया। कोई कहता होगा अंधविश्वास है, कोई कहता होगा बीमारी है, कोई कुछ कहता होगा, लेकिन आपने यह कभी शायद ही सोचा होगा कि प्रेत, अगर होते हैं, तो आदमियों के शरीर में प्रवेश क्यों कर जाते हैं? शायद आप सोचते होंगे, दुश्मन होगा इसलिए सताने आ गया! शायद आप सोचते होंगे कि कोई बदला, कोई कर्म-फल, कोई पुराना चुकतारा हो रहा है!

नहीं, यह सब कुछ नहीं है। प्रेत कहते हैं हम उस चेतना को, जिसका शरीर तो छूट गया, मन नहीं छूटा है। और मन शरीर की मांग करता है, क्योंकि मन की जितनी वासनाएं हैं वे सभी शरीर के द्वारा ही तृप्त हो सकती हैं। मन छूना चाहता है किसी प्रिय शरीर को, लेकिन प्रेत छू नहीं सकता, क्योंकि उसके पास हाथ नहीं हैं। मन स्वाद लेना चाहता है किसी स्वादिष्ट वस्तु का। वह मन है प्रेत के पास जो स्वाद लेना चाहता है, लेकिन उसके पास जीभ नहीं है। इसलिए प्रेत की जो तकलीफ है वह यही है कि मन है उसके पास और उपकरण बिल्कुल नहीं है। जिनसे वह अपनी वासना के लिए तलाश कर सके, वे कोई भी साधन उसके पास नहीं हैं, और वासना पूरी की पूरी उसके पास है--और साधन सब खो गए हैं।

प्रेतात्मा का इतना ही अर्थ है कि जिसको अभी शरीर नहीं मिला। और दो तरह की आत्माओं को शरीर मुश्किल से मिलते हैं। सामान्य आदमी को शरीर आसानी से मिल जाते हैं; इधर मरे, उधर जन्मे--कोई फर्क नहीं होता। कभी-कभी तो मिनट, दो मिनट, पांच मिनट का फर्क मुश्किल से होता है। इधर मरे कि उधर जन्मे।

लेकिन दो छोर वाली आत्माओं को, बहुत बुरी आत्माओं को या बहुत भली आत्माओं को जन्म आसानी से नहीं मिलते; क्योंकि उनके योग्य गर्भ चाहिए। अब हिटलर मर जाए, तो मां-बाप खोजना आसान नहीं होगा, क्योंकि हिटलर के लिए जन्म देने के लिए इतनी ही दुष्ट प्रकृति के मां-बाप चाहिए। तो वर्षों, कभी-कभी सदियों, प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। कोई भली चेतना मर जाए तो यही कठिनाई फिर खड़ी हो जाती है। जो भली चेतनाएं बिना शरीर के भटकती हैं, उनको हमने देव कहा है; और जो बुरी चेतनाएं बिना शरीर के भटकती हैं, उनको हमने प्रेत कहा है।

जब भी कभी कोई आदमी इतना कमजोर होता है कि उसकी आत्मा अपने शरीर में सिकुड़ जाती है, तब कोई प्रेत उसमें प्रवेश कर जाता है; न तो किसी दुष्टता के कारण, न उसको सताने के कारण, बल्कि उसके शरीर के द्वारा अपनी वासना को तृप्त करने के लिए।

अगर आप कमजोर हैं, संकल्पहीन हैं, तो कोई प्रेत धक्का देकर आपके भीतर प्रवेश कर सकता है। उसको जन्म नहीं मिल रहा है, और वासना उसके पास पूरी है। वह किसी स्त्री को आपके हाथ से छू लेगा। वह किसी भोजन को आपकी जीभ से चख लेगा। वह किसी रूप को आपकी आंख से देख लेगा। वह किसी संगीत को आपके कान से सुन लेगा। इसके लिए प्रेत प्रवेश करता है, किसी को सताने का कोई सवाल नहीं है। आप सताए जाते हैं, वह गौण है, वह बाइ-प्रॉडक्ट है; वह प्रयोजन नहीं है किसी प्रेत का आपको सताने का।

लेकिन निश्चित ही, जब कोई दो आत्माएं एक शरीर में घुस जाएं, तो पीड़ा और परेशानी होगी। वह परेशानी वैसी ही है, जैसे कोई मेहमान घर में आ जाता है और फिर टिक जाता है, और जाने का नाम ही नहीं लेता! बस वह वैसी ही परेशानी है। और फिर वह मेहमान फैलाव करता जाए, और घर का मालिक सिकुड़ता जाए एक कोने में, और धीरे-धीरे ऐसा लगने लगे, कि यही तय न रहे कि कौन मेहमान है और कौन घर का मालिक है! और मेहमान, अकड़ बढ़ती जाए उसकी, क्योंकि मालिक उसकी सेवा करे मेहमान समझ कर, अतिथि देवता है! उसकी सेवा करे! धीरे-धीरे मेहमान को भ्रम होने लगे कि मैं मालिक हूं। और एक दिन वह अपने मेजबान को कह दे कि क्षमा करो, अब जाओ भी! बहुत दिन हो गए! ठीक वैसी ही स्थिति पीड़ा की पैदा हो जाती है।

मन शरीर की मांग करता है--तत्काल, मरते ही। इसलिए दूसरा जन्म हो जाता है।

आत्मा मन से जुड़ी है, मन से शरीर जुड़ा है।

दो तरह की साधनाएं हैं। एक तो साधना है कि शरीर को मन से तोड़ो; जिसको अक्सर हम तपश्चर्या कहते हैं। वह साधना है, शरीर को मन से तोड़ो। वह तपश्चर्या है। लंबी यात्रा है; और बहुत कठिन; और परिणाम संदिग्ध हैं। दूसरी साधना है, मन को चेतना से तोड़ो। जिसको हम वेदांत कहते हैं; ज्ञान कहते हैं। अगर नाम ठीक देने हों तो नाम ऐसे दे सकते हैं, शरीर से मन को तोड़ो--इसका नाम योग। और मन को आत्मा से तोड़ो--इसका नाम सांख्य। बस ये दो निष्ठाएं हैं।

सांख्य का अर्थ है, मात्र ज्ञान पर्याप्त है, और कुछ करना नहीं है। और योग का अर्थ है, बहुत कुछ करना पड़ेगा, तभी कुछ हो सकेगा।

यह सूत्र सांख्य का है। यह सूत्र ज्ञान का है। यह कहता हैः अपनी आत्मा में ही सब वस्तुओं का आभास केवल आरोपित है, ऐसा जान लेने से स्वयं ही पूर्ण अद्वैत, परम ब्रह्म व्यक्ति बन जाता है। कुछ और करना नहीं है।

‘एक आत्मा एक वस्तु में यह जगतरूप जो विकल्प (भेद) जान पड़ता है, वह लगभग झूठा है।’

इसलिए मैं कह रहा था, उस भिक्षु ने बुद्ध को कहा कि लगभग रूमाल बदल गया है। यह सूत्र कहता है कि यह जो सारा जगत दिखाई पड़ता है भेद का, यह लगभग झूठा है।

'क्योंकि निर्विकार, निराकार और अवयवरहित वस्तु में भेद कहां, कैसे हो सकते हैं!'

लगभग झूठा--यह बड़ी कीमती दार्शनिक धारणा है। और थोड़ा समझ लेना जरूरी है, क्योंकि लगभग झूठे का मतलब क्या होगा? कोई चीज झूठी हो सकती है, समझ में आती है। लगभग झूठी का क्या मतलब होता है? कोई चीज सच है, सत्य है, समझ में आती है। कोई कहे लगभग सच, क्या मतलब होगा? वह लगभग तो सब गड़बड़ कर देता है! जैसे आप किसी से कहें कि मुझे आपसे लगभग प्रेम है। सब गड़बड़ हो जाता है! प्रेम हो तो कह दो कि है, न हो तो कह दो नहीं है, लगभग प्रेम क्या है? इसको प्रेम कहें, अप्रेम कहें? कहें कि फलां आदमी लगभग साधु है, क्या मतलब होगा?

यह शब्द कीमती है, और भारतीय चिंतना में बड़ा मूल्यवान है। और एक नई कैटेगरी, एक चिंतन का नया तल भारत ने निर्मित किया है। सारे जगत के चिंतन में दो विचार-कोटियां हैंः सत्य की और असत्य की। भारतीय चिंतना में तीन विचार-कोटियां हैंः सत्य की, असत्य की, और लगभग की, बीच की--तीसरी। इस लगभग झूठ को, या लगभग सत्य को, हमने कहा है माया, हमने कहा है मिथ्या। तो हमने तीन शब्द निर्मित किए हैंः सत्य, असत्य, मिथ्या।

मिथ्या क्या है? आमतौर से लोग समझते हैं कि मिथ्या का अर्थ असत्य है। नहीं, मिथ्या का अर्थ असत्य नहीं होता। मिथ्या का अर्थ होता है सत्य और असत्य के बीच में। सत्य और असत्य के बीच में। अर्थ हुआ कि जो असत्य है, लेकिन सत्य जैसा भासता है।

एक रस्सी पड़ी है और आपको सांप मालूम पड़ रही है। और अंधेरे में आपके छक्के छूट गए; आप भाग खड़े हुए! पसीना छूट रहा है! छाती की धड़कन बढ़ गई है! और किसी ने कहा कि नाहक परेशान हो रहे हैं, यह लालटेन ले लें और चले जाएं; सांप वगैरह नहीं है, रस्सी पड़ी है। देखा प्रकाश में, रस्सी है। तो जो सांप दिखाई पड़ा था, उसे क्या कहिएगा? सत्य तो वह नहीं था। असत्य भी नहीं कह सकते; क्योंकि उसने काम तो सत्य जैसा किया था। भाग खड़े हुए थे आप वैसे ही जैसे सच्चे सांप से भागते। पसीना आ गया था। और पसीना बिल्कुल सच था। और झूठे सांप से आया था। और छाती की धड़कन बढ़ गई थी। और डर लगा था कि कोई हृदय का दौरा तो नहीं पड़ जाएगा! पड़ भी सकता था, और आप मर भी सकते थे। बड़ी कठिनाई यह है कि जो सांप था ही नहीं, उससे असली दौरा कैसे पड़ गया? लेकिन जो सांप है ही नहीं, उससे असली हृदय का दौरा पड़ा सकता है।

इसका मतलब कि भारतीय चिंतन उस सांप को बिल्कुल असत्य कहने को तैयार नहीं है। सत्य तो है ही नहीं, क्योंकि खोज पर पता चलता है कि वहां रस्सी पड़ी है। और असत्य भी नहीं है, क्योंकि परिणाम सत्य जैसे हो जाते हैं। इसे भारत कहता हैः लगभग असत्य, या लगभग सत्य--मिथ्या, माया। यह तीसरी, बीच की कैटेगरी है। अंग्रेजी में इसके लिए अनुवाद करना मुश्किल है। दूसरी भाषाओं में इसके लिए शब्द खोजना मुश्किल हो जाता है। और जो भी अनुवाद होते हैं, वे असत्य का अर्थ रखते हैं, मिथ्या का नहीं। मिथ्या बिल्कुल शुद्ध भारतीय शब्द है।

मिथ्या का अर्थ ख्याल में ले लेंः जो नहीं है, लेकिन है जैसा मालूम पड़ता है। और ऐसी चीजें हैं, जो नहीं हैं और है जैसी मालूम पड़ती हैं। इसलिए भारत कहता है, उनके लिए एक अलग कैटेगरी, एक अलग कोटि निर्मित करना जरूरी है।

यह जो मिथ्या जगत है, यह जगत जो है, इसको अनेक बार आपने सुना होगा कि वेदांत कहता है, मिथ्या है। उपनिषद कहते हैं, मिथ्या है। शंकर निरंतर, सुबह से सांझ तक, कहते रहते हैं, मिथ्या है। तो हम सोचते हैं कि ये लोग कहते हैं, यह जगत झूठ है। नहीं कहते, झूठ नहीं कह रहे हैं वे। वे यह कह रहे हैं कि जैसे रस्सी में सांप दिख जाए। जो यह जगत है वह दिखाई नहीं पड़ रहा है, और जो दिखाई पड़ रहा है वह यह है नहीं। यह एक देखने का भ्रम है, एक दृष्टि-दोष है। यह आपकी दृष्टि की भूल है।

यह वैसा ही है, जैसा आप आंख को दबा कर और चांद को देखें और दो चांद दिखाई पड़ें। वह दूसरा चांद कहां है? लेकिन आप बड़ी कठिनाई में पड़ेंगे! अगर आंख दबाई हालत में आपसे पूछा जाए कि दो में से कौन सा सच है और कौन सा झूठा? तो आप बता न पाएंगे कि कौन सा सच है और कौन सा झूठा। दोनों सच मालूम पड़ते हैं, हालांकि दोनों सच नहीं हैं। आंख छोड़ दें दबाना और एक चांद रह जाता है, दूसरा खो जाता है। वह दूसरा क्या था? वह दिखाई तो पड़ता था! अगर किसी आदमी की आंख परमानेंटली दबा दी जाए, स्थायी रूप से, तो उसको सदा ही दो चांद दिखाई पड़ते रहेंगे।

हमारी जो दृष्टि है, वह मन के अनुभवों, मन के चित्रों, मन के संग्रह से दबी हुई है पूरे समय। तो जो भी हम देखते हैं, मन हमें दिखाता है।

थोड़ा ऐसा समझ लें कि आप किसी ऐसे देश के निवासी हैं जहां सांप होता ही नहीं। आपने कभी सांप नहीं देखा, सांप का कोई चित्र नहीं देखा, सांप का कोई नाम नहीं जानते। क्या आप रस्सी में सांप देख सकते हैं?

यह संभव नहीं है। कैसे देखिएगा? सांप का कोई अनुभव ही न हो तो रस्सी पड़ी रहे, तो आपको सांप कैसे दिखाई पड़ सकता है उसमें!

सांप दिखाई पड़ता है, क्योंकि मन के पास सांप का संस्कार है, चित्र है; मन ने सांप देखा है। चित्र में देखा है, असलियत में देखा है, मदारी के पास देखा है--कहीं सांप देखा है। वह चित्र मन में है। वह आपकी आंख में पीछे छिपा है। रस्सी पड़ी है सामने, अचानक अंधेरे में रस्सी कई चीजें पैदा कर देती है। अंधेरा भय पैदा कर देता है, एक। भय के साथ ही, सांप को देख कर भी जो भय पैदा हुआ था कि कहीं काट न ले, वह संयुक्त हो जाता है। फिर सांप में जिस तरह की लहरें थीं, ठीक वैसी लहरें रस्सी में मालूम पड़ती हैं। भय, सांप का भय, रस्सी की लहरों की समानता--आपके भीतर का मन का सांप रस्सी पर आरोपित हो जाता है। आप भाग खड़े होते हैं। रस्सी को पता ही नहीं कि क्या हो गया--आप किसको देख कर भाग गए हैं! क्यों भाग गए हैं!

ऐसा हुआ मेरे साथ, बहुत वर्ष पहले। रात तीन बजे उठ कर एक रास्ते पर घूमता था। सुनसान रात होती। रास्ता बांसों के झुरमुट में दबा था। थोड़ा सा हिस्सा खुला था, बाकी हिस्सा दबा था। तो एक कोने से मैं सीधा दौड़ता हुआ जाता था और दूसरे कोने से उलटा दौड़ता हुआ वापस लौटता था; पीठ की तरफ। वह कोई घंटे भर मैं वहां व्यायाम कर लेता था, तीन से चार।

एक दिन बड़ी मुश्किल हो गई! मैं उलटा लौट रहा था। तो जब तक मैं झुरमुट के नीचे छाया में था, कोई सज्जन--कोई दूध वाला, अपने खाली डब्बे लिए दूध लेने कहीं जाता होगा, वह उधर से आ रहा होगा। फिर अचानक, जैसे ही मैं झुरमुट की छाया के बाहर आया, चांद की रात थी, उस आदमी ने अचानक मुझे देखा होगा! क्षण भर पहले तक मैं दिखाई नहीं पड़ रहा था! तो अचानक और उलटा आता हुआ! उलटे तो भूत-प्रेत आते हैं! उसने दोनों डब्बे छोड़ कर पटके और वह भागा! उसके भागने से मुझे लगा कि पता नहीं इसे क्या हो गया! मुझे क्या पता कि मुझसे भयभीत हो गया है। मैं उसके पीछे भागा। तब तो उसने प्राण छोड़ दिए! मैं जितनी तेजी से उसकी तरफ गया कि इसको क्या हो गया, मामला क्या है! मैं उससे कहा कि रुको, बात क्या है? इतनी तेज दौड़ मैंने नहीं देखी!

फिर मुझे कुछ ख्याल आया कि न मालूम, मैं ही अकेला यहां हूं, मुझे ही देख कर डर गया हो! पास की एक होटल का आदमी भी जाग गया इस शोरगुल को सुन कर, डब्बों के गिरने के। तो उसको मैंने जाकर कहा कि पता नहीं क्या हुआ! उसने कहा कि पता की पूछ रहे हैं आप! मुझे पता है कि आप यहां उलटे चलते हैं, तो मैं डर जाता हूं! वह नया आदमी होगा!

मैंने कहा, ये डब्बे रख लो, शायद सुबह आए।

वह अब तक नहीं लौटा! जब भी मैं उस होटल के पास से फिर भी गुजरा हूं कभी, मैंने पूछा, वह आदमी आया? वह आदमी आया ही नहीं! अब कोई उपाय नहीं है उस आदमी को बताने का कि जो उसने देखा वह लगभग झूठ है। कोई प्रेत था नहीं वहां। उसने देख लिया। लेकिन उसके लिए वह बिल्कुल सच था, नहीं तो इतनी देर तक भागा नहीं रहता।

हमारे भीतर मन है, उसका कोई अनुभव आरोपित हो गया होगा।

हम जो देख रहे हैं, वह वही नहीं है जो है, हम वह देख रहे हैं जो हमारी आंख हमें दिखा रही है। तो हमारी आंख आरोपण कर रही है प्रतिपल, और हम न मालूम क्या-क्या देख रहे हैं जो वहां नहीं है जगत में! यह पूरा जगत हमारी ही आंखों का फैलाव है। हम जो देखते हैं, वह हमारा ही डाला हुआ है। पहले हम डालते हैं और फिर हम देख लेते हैं। पहले रस्सी में सांप डाल देते हैं, फिर देख लेते हैं, फिर भाग खड़े होते हैं! यह सारा जगत ऐसा है। हम ही सौंदर्य डाल देते हैं किसी में, फिर मोहित हो जाते हैं, फिर पागल होकर घूमने लगते हैं!

उपनिषद के ऋषि कहते हैं कि यह सारा जगत, जो आदमी का देखा हुआ है, लगभग झूठा है। लगभग कह कर बड़ी मीठी बात कही है। वह यह कहा है कि बिल्कुल झूठा भी नहीं है, नहीं तो इतने लोग कैसे परेशान होते! इसमें कुछ तो सच्चाई है। रस्सी है, इतना सच है; सांप नहीं है, इतना झूठ है। रस्सी सांप से कुछ मेल खाती है, यह सच है; लेकिन फिर भी रस्सी रस्सी है और सांप नहीं हो जाती है, यह भी सच है। और इन दोनों के बीच में जो जगत बन गया है भय का, रस्सी में सांप को देख लेने का, वह मिथ्या है, वह माया है।

जब तक यह मन बिल्कुल न हटा दिया जाए, और जब तक हम सीधा न देख सकें, तब तक हम जगत के सत्य को न देख पाएंगे। जगत का सत्य देखते ही जगत विलीन हो जाता है और ब्रह्म ही शेष रह जाता है। अभी ब्रह्म बंटा हुआ दिखाई पड़ता है। कहीं ब्रह्म पत्थर है और कहीं ब्रह्म वृक्ष है; और कहीं ब्रह्म आदमी है और कहीं ब्रह्म स्त्री है; अभी ब्रह्म बंटा हुआ दिखाई पड़ता है।

अगर आंख के पीछे से सारा प्रोजेक्शन, वह जो आरोपण की व्यवस्था है, वह खो जाए, तो यह सारा जगत निर्विकार एक ही चेतना हो जाता है, एक ही सागर हो जाता है। इसके भेद गिर जाते हैं।

'चिदात्मा द्रष्टा, दर्शन तथा दृश्य आदि भावों से रहित है, निर्दोष है, तथा प्रलयकाल के समुद्र की तरह परिपूर्ण है।'

वह जो भीतर साक्षी है, मन से मुक्त, शून्य हो गया, वह जो चिदात्मा है, वहां कोई भेद नहीं है। दर्शन, दृश्य, ये सारे भाव वहां खो गए हैं। न वहां कोई देखने वाला है, न कोई दिखाई पड़ने वाली चीज है। वहां सब द्वंद्व खो गया है। वहां सिर्फ एक चैतन्य का विस्तार है। उस विस्तार के लिए तुलना बड़ी मीठी दी है। कहा है, प्रलयकाल के समुद्र की तरह परिपूर्ण!

हमारे जो समुद्र हैं, वे कितने ही बड़े हों, सीमित हैं। और कितना ही उनका विस्तार हो, उनका किनारा है। और जिसका किनारा है, वह अधूरा है, क्योंकि कहीं बंधा है। छोटा तालाब छोटी सीमा से बंधा है, बड़ा सागर बड़ी सीमा से बंधा है। लेकिन छोटी सीमा और बड़ी सीमा में फर्क ही क्या है! सीमा सीमा है। आप कितनी छोटी जगह में कैद हैं, कि कितनी बड़ी जगह में कैद हैं, इससे क्या फर्क पड़ता है! कैद कैद है। इसलिए उदाहरण में यह नहीं कहा कि सागर जैसा, कहा कि प्रलयकाल के सागर जैसा।

प्रलयकाल एक पौराणिक चिंतना है, कि जब सृष्टि लीन होगी, तो सारी सृष्टि पानी में डूब जाएगी--सारी सृष्टि। कहीं भी कोई रत्ती भर जगह न बचेगी, जो डूब न गई हो। तो अगर प्रलयकाल में जो सागर की अवस्था होगी, उसमें फिर कोई किनारा नहीं होगा; क्योंकि किनारे का मतलब ही है कि जमीन अभी कुछ बाहर निकली हुई है। किनारे का मतलब ही है कि जमीन अभी सागर के बाहर निकली है। और जो जमीन बाहर निकली है, वह सीमा बन जाएगी।

तो प्रलयकाल के सागर की भांति है वह साक्षी चेतना! उसका फिर कोई किनारा नहीं है। फिर वह परिपूर्ण है। फिर कहीं उसकी कोई सीमा नहीं है। फिर वह असीम है। लेकिन भेद गिरें तभी; जब तक भेद हैं, तब तक सीमा है।

'और जिस प्रकार प्रकाश में अंधकार खो जाता है, विलीन हो जाता है... ।'

यह बड़ी अदभुत बात कही है!

'... ऐसे ही अद्वितीय परम तत्व में भ्रांति का कारण विलय हो जाता है। वह अवयवरहित है, इससे उसमें भेद कहां!'

'जिस प्रकार प्रकाश में अंधकार लीन हो जाता है।'

बड़ी अनूठी सूझ है। अंधेरा घिरा है आपके घर में, आप दीया जलाते हैं। कभी आपने सोचा कि अंधेरा कहां चला जाता है? जब आप दीया जलाते हैं, तो अंधेरा कहां चला जाता है? घर के बाहर चला जाता है? तो ऐसा करें, घर के बाहर पहले दीया जला आएं। पहरे पर लोगों को बिठा दें। फिर घर के अंधेरे कोठे में दीया जलाएं। अगर अंधेरा बाहर जाएगा, तो जो बाहर पहरेदार बैठे हैं वे उसे जाता हुआ देखेंगे कि यह जा रहा है, अंधेरा जा रहा है।

अंधेरा बाहर जाता नहीं। अंधेरा जाता कहां है? यह बड़ी मीठी बात उपनिषद कहता है कि अंधेरा प्रकाश में लीन हो जाता है। बड़ा कठिन पड़ेगा समझना; क्योंकि हम तो अंधेरा और प्रकाश को दुश्मन मानते हैं। लीन तो होंगे कैसे? और हम तो मानते हैं कि अंधेरा और प्रकाश, ये शत्रु हैं, इनमें संघर्ष है, द्वंद्व है। और हम तो अंधेरे को छोड़ कर प्रकाश को पकड़ना चाहते हैं।

तो हमें यह मानना बड़ा कठिन होगा कि अंधेरा प्रकाश में लीन हो जाता है! हमें तो डर लगेगा कि अगर अंधेरा प्रकाश में लीन हो गया, तो सारा प्रकाश अंधेरा हो जाएगा। जैसे सफेद कपड़े पर काली स्याही लीन हो जाए, तो क्या होगा मतलब? मतलब यह नहीं होगा कि काली स्याही सफेद कपड़े में लीन हो गई, मतलब यह होगा कि सफेद कपड़ा काली स्याही में लीन हो जाएगा।

देखें करके! काली स्याही को सफेद कपड़े में लीन करके देखें, तब आपको पता चलेगा कि सफेद कपड़ा ही खो गया, काली स्याही नहीं खोई।

अंधेरा प्रकाश में लीन हो जाता है!

तो बड़ी बातें निकलती हैं इससे। एक, कि प्रकाश और अंधकार में कोई शत्रुता नहीं है। अर्थ? अर्थ हुआ कि संसार और मोक्ष में कोई शत्रुता नहीं है। और संसार मोक्ष में लीन हो जाता है। अर्थ हुआ कि मिथ्या में और सत्य में कोई विरोध नहीं है, मिथ्या सत्य में लीन हो जाता है।

अंधकार प्रकाश में लीन हो जाता है, इसका यह अर्थ हुआ कि अंधकार जैसे प्रतीक्षा ही कर रहा है कि प्रकाश हो और लीन हो जाए। आपने कभी अंधेरे को ठिठकते देखा है कि आपने दीया जला लिया, और अंधेरा सोच रहा है कि लीन हों कि न हों! कि विचार करें थोड़ा; कि फिर कल सोच कर आएंगे; कि संन्यास लेना है, कि नहीं लेना है! कि अंधेरा लीन हो कि न हो! सोचेंगे, विचार करेंगे।

नहीं, वह सोचता नहीं। ऐसा लगता है, जैसे तैयार ही खड़ा था। बस प्रतीक्षा थी कि तुम हो जाओ और मैं लीन हो जाऊं। इतनी भी देरी नहीं लगती। क्षण भर की भी देरी नहीं लगती। प्रकाश का होना और अंधेरे का लीन हो जाना युगपत हो जाता है; एक साथ हो जाता है।

इसके अध्यात्म में क्या अर्थ होंगे?

इसका अर्थ होगा कि जैसे ही भीतर प्रकाश जगता है, मन, माया, अपनी सारी स्थिति को लेकर एकदम से उस प्रकाश में लीन हो जाती है। बचती नहीं; खोजे से नहीं मिलती कहीं। यह भी समझ में नहीं आता कि कल तक कैसे थी!

जब आपको रस्सी में रस्सी दिख जाएगी, तब आपको भी बड़ी कठिनाई होगी कि सांप एक क्षण पहले तक कैसे था और अब कहां चला गया! था? आपको भी शक होने लगेगा कि मुझे कोई भ्रम तो नहीं हो गया कि मैं सोचता हूं कि था। क्योंकि हो कैसे सकता है!

जो जाग जाते हैं, उन्हें बड़ी कठिनाई होती है यह सोच कर भी कि जगत है, और हो सकता है।

आज ही सुबह मैं किसी से बात कर रहा था। एक संन्यासिनी आई हुई थी, और वह कह रही थी कि कब छुटकारा होगा इससे--दुख से? चिंता से? कभी-कभी लगता है हो गया, और फिर वापस इसी दुख में खड़े हो जाते हैं!

तो मैंने उससे कहा कि मेरी भी कठिनाई है! मेरी समझ में यह आना धीरे-धीरे मुश्किल होता चला गया है कि दुख हो कैसे जाता है! इसका निर्माण कैसे हो जाता है! ऐसा नहीं कि मैं कभी दुखी नहीं था; था। लेकिन अब मुझे वैसी ही तकलीफ होने लगी है, जैसे कभी दूर, बहुत अतीत में रस्सी में सांप देखा हो और अब ख्याल करें और मुश्किल हो जाए समझना कि रस्सी थी, सांप दिखाई कैसे पड़ गया था!

और अगर अभी भी किसी को दिखाई पड़ रहा है, तो बड़ी मुश्किल हो जाती है। वह मुश्किल यह है कि आपके लिए जो बड़ा सवाल मालूम पड़ता है, वह बिल्कुल सवाल नहीं मालूम पड़ता। और ऐसा लगता है कि कहां की व्यर्थ की बात उठाए लिए चले आ रहे हो! और यह कहना भी दुष्टता मालूम पड़ती है कि व्यर्थ की बात कह रहे हो। क्योंकि वह आदमी दुख पा रहा है; वह भाग रहा है; उसे सांप दिखाई पड़ रहा है। भागते आदमी से, छाती कंपते आदमी से कहो कि क्यों भाग रहे हो, फिजूल की बातें कर रहे हो! रस्सी है, सांप नहीं है! तो वह और नाराज हो जाएगा।

ध्यान रहे, बुद्ध, महावीर, कृष्ण, क्राइस्ट, आपको जो बातें समझाते हैं, उनकी तकलीफ का आपको अंदाज नहीं है। क्योंकि जो बीमारी बिल्कुल नहीं है, उसका वे इलाज बताते हैं! है ही नहीं बीमारी, मगर बीमार कंपा जा रहा है! बीमार कह रहा है, प्राण निकले जा रहे हैं!

तो मेडिकल साइंस में एक नाम है, प्लेसबो। ऐसी दवाई को, जो लगभग दवाई है, प्लेसबो कहते हैं। प्लेसबो का मतलब वह दवाई है नहीं। तो ऐसी बीमारी में काम करती है जो बीमारी होती ही नहीं। लगभग बीमारी में लगभग दवाई! वह काम करती है। वह काम करती है, शक्कर की गोली है।

होम्योपैथी करीब-करीब प्लेसबो है; कोई दवाई-बवाई है नहीं। मगर बीमारी कहां है, इसलिए काम करती है। कोई अड़चन नहीं है, दवाई की जरूरत भी कहां है! असली बीमारी हो तो असली दवाई की जरूरत है। सौ में नब्बे बीमारियां नकली हैं। आम बीमारियां भी। और नकली बीमारी में असली दवाई देना खतरनाक है, क्योंकि उससे दवाई के दुष्परिणाम होंगे।

लेकिन यह जो अध्यात्म की बीमारी है, यह जो दुख और संताप की बीमारी है, यह जो संसार की बीमारी है, यह तो शत प्रतिशत झूठी है। मगर शत प्रतिशत झूठी कहना ठीक नहीं है। बुद्ध कहें, शंकर कहें, शत प्रतिशत झूठी है, तो अपनी तरफ से ठीक कहते हैं। लेकिन ये जो अरब-अरब जन उस बीमारी से ग्रस्त हैं, इन पर दया करके उनको कहना पड़ता है--लगभग। राजी करना पड़ता है आपको, धीरे-धीरे फुसलाना पड़ता है कि यह दवाई लेकर देखो, वह दवाई लेकर देखो; यह मंत्र पढ़ो, यह जप करो, ऐसा करो, वैसा करो। शायद दवाई लेते-लेते बीमारी भूल जाए। या दवाई लेते-लेते इतने परेशान हो जाएं दवाई से कि कहें कि दवाई भी फेंकते हैं और बीमारी भी फेंकते हैं। या ऐसा हो जाए दवाई लेते-लेते कि कहें कि बहुत हो गए जन्म-जन्म दवाई लेते, अब नहीं लेते, अब बीमारी को स्वीकार करते हैं। कुछ भी ऐसा हो जाए, तो आप पाएंगे कि बीमारी थी नहीं। जिससे लड़ रहे थे, वह शत्रु था नहीं; लगभग था। सिर्फ मालूम पड़ता था; सिर्फ प्रतीत होता था कि है।

इसलिए सभी धर्मों ने झूठे उपाय विकसित किए हैं। और बुद्ध, महावीर और कृष्ण और क्राइस्ट से बड़ी झूठ बोलने वाले आदमी खोजना मुश्किल हैं! उसका कारण यह नहीं है कि वे लोग झूठ बोलने वाले लोग हैं, उनसे ज्यादा सच्चे आदमी कभी नहीं हुए। लेकिन आपकी सारी बीमारियां झूठी हैं। और इन्हीं झूठे बीमारों के बीच चिकित्सा करने का जिनको काम पड़ता है, वे जानते हैं कि उन्हें क्या करना है।

जो बड़े-बड़े दर्शनशास्त्र निर्मित किए हैं इन ज्ञानियों ने, वे सब झूठ हैं। झूठ का मतलब, लगभग झूठ हैं। वे सिर्फ आपकी बीमारी को काटने के लिए उपाय हैं। जैसे, आप भाग खड़े हुए हैं रस्सी को देख कर और सांप मानते हैं। और मैं लाख आपसे कहूं कि सांप नहीं रस्सी है, पर मैं कह रहा हूं। आप कहेंगे, आपकी बात का भरोसा कैसे करें? क्या पता आपको अनुभव हो भी, न भी हो! या हो भी तो किसी और रस्सी का हो, किसी और सांप का हो। इसका ही हो, क्या पता?

तो समझाने की बजाय उचित है कि मैं आपको एक ताबीज बांध दूं कि रस्सी नहीं है, सांप ही है। मगर लो यह ताबीज, इस ताबीज के मुकाबले दुनिया का कोई सांप नहीं टिकता। यह ज्यादा कारगर होगा बजाय समझाने के कि नहीं, रस्सी है; सांप नहीं है, रस्सी है। यह ताबीज बांधो।

वहां सांप है नहीं; यहां भी कोई ताबीज नहीं है। लेकिन यह ताबीज दम देगा आपको; ताकत आ जाएगी कि असली ताबीज है! बिल्कुल असली ताबीज है! और अगर यह चमत्कार भी आपको दिखा दिया जाए कि अंधेरे में एक रस्सी डाल कर घर में, ताबीज बांध कर आपको अंदर भेज दिया जाए, और वहां जाकर आपको दूर से सांप दिखाई पड़े, पास जाकर रस्सी दिखाई पड़े, मामला हल हो गया--ताबीज काम करता है! फिर आप दुनिया में चले जाएं, फिर यह भी हालत हो सकती है कि असली सांप के पास भी पहुंच जाएं तो रस्सी दिखाई पड़े--वह ताबीज!

आदमी का मन भास पैदा कर रहा है। वे भास आरोपित हैं। ये सारे भास भी उस परम सत्य में लीन हो जाते हैं। जैसे ही साक्षी का अनुभव होता है, सारा संसार, जो भी फैलाव था, वह सिमट जाता है और साक्षी में लीन हो जाता है--सीमारहित, तटरहित सागर में।

'यह परम तत्व एकस्वरूप ही है, उसमें कोई भेद नहीं हो सकता है। सुषुप्ति अवस्था केवल सुखरूप है, उसमें भेद कब किसने देखा?'

यह आखिरी बात इस सूत्र में समझ लें, सुषुप्ति अवस्था। जिन्होंने खोज की है अंतस-तलों की, उन्होंने मनुष्य की तीन अवस्थाएं उसके चित्त की स्वीकार की हैं। एक जिसे हम जाग्रत कहते हैं; सुबह उठ कर जो अवस्था होती है। एक जिसे हम स्वप्न कहते हैं, सांझ सोकर जो चित्रों और प्रतिबिंबों की कतार लग जाती है--स्वप्न। और एक कभी रात घड़ी भर को ऐसी अवस्था आती है, जब स्वप्न भी नहीं होते और जागृति भी नहीं होती; तब सिर्फ गहरी निद्रा रह जाती है--सुषुप्ति। सुषुप्ति का अर्थ है, स्वप्न भी जहां नहीं, इतनी प्रगाढ़ निद्रा।

उपनिषद मानते हैं--नहीं, कहना चाहिए जानते हैं--कि सुषुप्ति में कोई भेद नहीं रह जाता। रहेगा भी नहीं, क्योंकि भेद जिस मन से उठते थे... ।

जब आप जागते हैं, तब भेद रहते हैं। आपका मकान है, पड़ोसी का मकान आपका नहीं है। आप गरीब हैं, पड़ोसी अमीर है। आप काले हैं, पड़ोसी गोरा है। हजार भेद, सब तरह के भेद बने रहते हैं। क्योंकि भेद मन निर्मित करता है। सपने में आपने एक मजेदार बात देखी होगीः सपने में भेद रहते हैं, लेकिन भेद की रेखा खो जाती है।

इसे थोड़ा समझ लें। जाग्रत में भेद रहते हैं, भेद की सीमा रहती है। मित्र है, शत्रु है। मित्र मित्र है; शत्रु शत्रु है। जाग्रत में अ अ और ब ब रहता है। नींद में सपना जब चलता है तब भी भेद रहते हैं, लेकिन भेदों की

बीच की सीमा खो जाती है; ठोस नहीं रहते, तरल हो जाते हैं। देखते हैं कि मित्र चला आ रहा है, और अचानक शत्रु हो जाता है! लेकिन आपको शक भी पैदा नहीं होता; भीतर सपने में यह भी नहीं लगता कि यह कैसे हो सकता है! मित्र दिखाई पड़ रहा था आता हुआ, फिर पास आया तो शत्रु हो गया, तो यह संदेह भी नहीं उठता सपने में कि यह कैसे हुआ! आदमी से बातें कर रहे थे, पाते हैं घोड़ा हो गया! फिर भी शक नहीं होता, सपने में, कि आदमी अचानक घोड़ा कैसे हो गया?

भेद-रेखा नहीं रह जाती। भेद रहते हैं। घोड़ा, घोड़ा; आदमी, आदमी; लेकिन भेद-रेखा नहीं रह जाती; तरल हो जाता है। मन डांवाडोल है जैसे। चीजें गड्ड-मड्ड हो गईं।

जागते में मन सधा है; चीजें अलग-अलग साफ-सुथरी हैं; लाजिकल, तार्किक भेद हैं। सपने में मन डांवाडोल हो गया। जैसे कि पानी में चांद का प्रतिबिंब बन रहा हो, और फिर किसी ने पानी को हिला दिया, तो चांद हजार टुकड़े होकर फैल गया। चांदी रह गई, चांद नहीं रहा; टुकड़े ही टुकड़े फैल गए। ऐसा मन सपने में डांवाडोल हो जाता है। डांवाडोल होकर, कंपित होकर, सब भेद-रेखाएं खो जाती हैं। चीजें एक-दूसरे में गड्ड-मड्ड हो जाती हैं। कुछ पता ही नहीं चलता कि क्या क्या है! अ क्या है, ब क्या है, कब अ ब हो जाता--कोई तर्क नहीं मानता। सपना तर्क मानता ही नहीं; बिल्कुल बेबूझ चलता है। कोई भी चीज किसी में घुस जाती है! लेकिन आप यह नहीं कह सकते कि ऐसा क्यों हो रहा है? सपने में कोई नियम नहीं होते। जागने के नियम सपने में काम नहीं करते।

फिर तीसरी अवस्था है, सुषुप्ति। वहां स्वप्न भी नहीं रह जाता।

ध्यान रहे, जहां स्वप्न समाप्त होते हैं, वहां मन भी समाप्त हो जाता है। जहां विचार नहीं रहे, वहां मन भी नहीं रह सकता।

जागने में मन होता है ठोस, सपने में मन होता है तरल, सुषुप्ति में मन हो जाता है वाष्पीभूत; ये तीन अवस्थाएं सभी चीजों की विज्ञान मानता है। लेकिन मन की भी ये तीन अवस्थाएं भारत ने स्वीकार की हैं। विज्ञान कहता है, पदार्थ की तीन अवस्थाएं हैंः सालिड है, लिक्विड है, गैसीय है। पानी को बर्फ बना लो, ठोस हो जाता है; भाप बना दो, वाष्प हो जाता है। तीन अवस्थाएं हुई पानी की--भाप, पानी, बर्फ। जगत की सब चीजों की तीन अवस्थाएं हैं। लेकिन भारत कहता है, मन भी एक चीज है, एक पदार्थ है; उसकी भी तीन अवस्थाएं हैं। जाग्रत ठोस अवस्था है, स्वप्न तरल, सुषुप्ति वाष्पीभूत। मन वाष्प हो गया, मन रहा ही नहीं।

तो जब गहरी नींद होती है तो कोई भेद नहीं रह जाता। कोई भेद बचेगा नहीं, क्योंकि भेद करने वाला नहीं बचा। जगत एक हो जाता है। सुषुप्ति में आप वहीं पहुंच जाते हैं, जहां समाधि में पहुंचते हैं ज्ञानी। फर्क इतना होता है कि ज्ञानी होश से भरे रहते हैं, आप बेहोश रहते हैं; इतना ही फर्क होता है। सुषुप्ति और समाधि बिल्कुल बराबर है। जरा सा भेद, लेकिन भेद बड़ा है। ज्ञानी जागा हुआ पहुंचता है, होश से भरा हुआ पहुंचता है सुषुप्ति में, तब समाधि हो जाती है। सुषुप्ति धन होश = समाधि।

आप भी पहुंचते हैं रोज। सुबह उठ कर आप कहते हैं, बड़ी सुखद निद्रा आई! आपको पता है, किस निद्रा की बात कर रहे हैं सुखद? अगर रात भर सपने चलते रहते हैं, तो आप कभी नहीं कहते कि सुखद निद्रा आई। कहते हैं, रात बेचैनी में गई, सपने ही सपने चलते रहे, सो पाए ही नहीं। जितनी देर को सपने बंद होते हैं, उतनी देर को सुखद निद्रा आती है। लेकिन जब आती है तब आपको पता नहीं चलता कि सुखद आ रही है, क्योंकि उतना पता भी आपको नहीं चल सकता नींद में, बेहोशी में। सुबह जाग कर पता चलता है कि बड़ी सुखद थी। सिर्फ इतना ही पता चलता है कि सुखद थी। एक हलकी छाया छूट गई जैसे; एक ध्वनि रह गई गूंजती हुई सुख की।

पर यह बड़े मजे की बात है कि आज तक किसी ने यह अनुभव नहीं किया सुबह उठ कर कि रात बड़ी दुखद निद्रा आई। कभी अनुभव किया है कि कोई कहे... सपने आए हों, तो वह निद्रा थी ही नहीं, सुषुप्ति आई ही नहीं। आज तक मनुष्य-जाति के इतिहास में एक आदमी ने सुबह उठ कर यह नहीं कहा है कि रात नींद बड़ी गहरी थी, बड़ा दुख पाया। कहा ही नहीं है। यह हुआ ही नहीं है, कहेगा भी कोई कैसे!

सुखद निद्रा सुखरूप है। वहां दुख होता ही नहीं। इसलिए उस सुख को हम सुख भी नहीं कहते, उसको आनंद कहते हैं। क्योंकि सुख के तो विपरीत दुख होता है, आनंद के विपरीत कुछ भी नहीं होता। इसलिए सुषुप्ति आनंद है। एक ही भाव रह जाता है आनंद का, कोई भेद नहीं रह जाता।

तो जैसे सुषुप्ति एकरूप है, ऐसे ही वह साक्षी का अनुभव भी एकरूप है। फिर आनंद ही रह जाता है। और जैसे प्रलय का सागर भरा हो--सीमारहित, तटहीन, कोई किनारा नहीं--ऐसा सुख, ऐसा आनंद और एक! कोई भेद नहीं।

आठवां प्रवचन

वैराग्य का फल ज्ञान है

चित्तमूलो विकल्पोऽयं चित्ताभावे न कश्चन।
अतश्चित्तं समाधेहि प्रत्यग्रूपे परात्मनि।। 26।।
अखंडानंदमात्मनं विज्ञाय स्वस्वरूपतः।
बहिरंतः सदानंदरसास्वादनमात्मनि।। 27।।
वैराग्यस्य फलं बोधो बोधस्योपरतिः फलम्।
स्वानंदानुभवाच्छान्तिरेषैवोपरते : फलम्।। 28।।
यद्युत्तरोत्तराभावे पूर्वपूर्वं तु निष्फलम्।
निवृक्तिः परमा तृप्तिरानन्दोऽनुपमः स्वतः।। 29।।

इस विकल्प (भेद) का मूल चित्त है, अगर चित्त न हो तो कोई भेद है ही नहीं, इसलिए प्रत्यग स्वरूप परमात्मा में तू चित्त को एकाग्र कर दे।

अखंड आनंदरूप आत्मा को स्वस्वरूप जान कर इस आत्मा में ही बाहर और भीतर सदा आनंद रस का तू स्वाद ले।

वैराग्य का फल ज्ञान है, ज्ञान का फल उपरति; और आत्मानंद के अनुभव से जो शांति होती है, वही उस उपरति का फल है।

ऊपर बतलाई हुई वस्तुओं में से उत्तरोत्तर जो न हो तो उससे पहले की वस्तु निष्फल है। (ऐसा जानना।) विषयों से दूर जाना, यही परम तृप्ति है और आत्मा का जो आनंद है वह स्वयं ही अनुपम है।

इस सूत्र में कुछ बहुत महत्वपूर्ण बातें हैं। पहलीः

'समस्त भेद और समस्त विकल्पों का मूल चित्त है। अगर चित्त न हो तो कोई भेद नहीं, इसलिए परमात्मा में तू चित्त को एकाग्र कर दे।'

चित्त और एकाग्रता, दो बातों के संबंध में गहरे से समझ लेना जरूरी है। चित्त जीवन की अनिवार्यता है। चित्त का अर्थ है, विचारों का प्रवाह। पूरे समय आपके भीतर चित्त बह रहा है।

चित्त कोई वस्तु नहीं है; पहली बात ख्याल ले लें। चित्त है प्रवाह, वस्तु नहीं। और फर्क कीमती है। एक पत्थर पड़ा है, वह एक वस्तु है; एक झरना बह रहा है, वह एक प्रवाह है। जो चीज पड़ी है, वह थिर है; जो बह रही है, वह प्रतिपल बदल रही है। चित्त वस्तु नहीं है, चित्त प्रवाह है। इसलिए चित्त प्रतिपल बदल रहा है। एक क्षण भी वही नहीं है, जो क्षण भर पहले था। जैसे नदी बदलती जा रही है।

हेराक्लतु ने कहा है, एक ही नदी में दुबारा नहीं उतरा जा सकता। क्योंकि जब आप दुबारा उतरने जाएंगे तो जिस पानी में पहली बार उतरे थे, वह न मालूम कहां जा चुका। ऐसे ही एक ही चित्त को भी दुबारा नहीं पाया जा सकता; जो बह गया, वह बह गया। और पूरे समय भीतर धारा बह रही है।

इस बहती धारा के पीछे खड़े होकर हम देख रहे हैं जगत को। तो चित्त की छाया हर चीज पर पड़ती है। और बदलता हुआ चित्त, खंड-खंड हजार टुकड़ों में टूटा हुआ चित्त, सारे जगत को भी तोड़ देता है।

तो पहली बात, चित्त एक प्रवाह है, बदलता हुआ। इसलिए चित्त के द्वारा उसे नहीं जाना जा सकता जो कभी बदलता नहीं है। जिसके द्वारा हम जान रहे हैं, अगर वह बदलता हुआ हो, तो हम उसे नहीं जान सकते जो कभी बदलता नहीं है। बदलती हुई चीज के माध्यम से हम जो भी जानेंगे वह भी बदलता हुआ ही दिखाई पड़ेगा।

जैसे आपकी आंख पर एक चश्मा हो, और उस चश्मे का रंग बदल रहा हो--लाल से हरा हो जाए, हरे से पीला हो जाए, पीले से सफेद हो जाए--आपके चश्मे का रंग बदल रहा हो, तो उसके साथ ही बाहर का जो जगत है, उसका रंग बदलता चला जाएगा; क्योंकि जिस माध्यम से आप देख रहे हैं, वह आरोपित हो रहा है।

मन आपका बदल रहा है, प्रतिपल। इसी कारण मन से हम केवल उसी को जान सकते हैं, जो बदल रहा है; मन से उसे नहीं जान सकते, जो कभी नहीं बदलता है। और इस जीवन का जो परम गुह्य सत्य है, वह अपरिवर्तनीय है; वह शाश्वत है, वह कभी बदलता नहीं। इसलिए चित्त उसे जानने का मार्ग नहीं है।

जगत की जो पदार्थ सत्ता है, वह बदलती है; वह मन की तरह ही बदलती है। इसलिए मन से जगत के पदार्थ को जाना जा सकता है, लेकिन जगत में छिपे परमात्मा को नहीं जाना जा सकता। जैसे विज्ञान मन का उपयोग करता है, चित्त का उपयोग करता है खोज के लिए; विज्ञान मन के ही माध्यम से जगत की खोज करता है। और इसलिए विज्ञान कभी भी नहीं कह पाएगा कि ईश्वर है। विज्ञान सदा ही कहेगा, पदार्थ है। परमात्मा की कोई प्रतीति विज्ञान में उपलब्ध नहीं होगी। नहीं इसलिए कि परमात्मा नहीं है, बल्कि इसलिए कि विज्ञान जिस माध्यम का उपयोग कर रहा है, वह माध्यम केवल परिवर्तनशील को ही जान पाता है; वह माध्यम अपरिवर्तनीय को नहीं जान पाएगा।

ऐसा समझें कि संगीत चल रहा हो, और आप आंख से सुनने की कोशिश करें, तो आप कभी भी न सुन पाएंगे; संगीत का पता ही नहीं चलेगा। आंख देख सकती है, इसलिए आंख से रूप का पता चल सकता है। आंख सुन नहीं सकती, इसलिए ध्वनि का कोई पता नहीं चल सकता है। कान सुन सकते हैं, देख नहीं सकते। लेकिन कान से अगर कोई देखने की कोशिश करे, तो वह कहेगा, जगत में कोई रूप है ही नहीं। कान को तो ध्वनि ही पकड़ में आती है। माध्यम जो पकड़ सकता है, उसी को जान सकता है।

चित्त है परिवर्तन। चित्त का स्वभाव परिवर्तन; प्रवाह। इसलिए परिवर्तन से तो चित्त का तालमेल बैठ जाता है, लेकिन अपरिवर्तनीय को चित्त नहीं जान पाता। इसलिए जो लोग मन से ही परमात्मा की खोज पर निकलते हैं, वे आज नहीं कल, नास्तिक हो जाएंगे। अगर वे नास्तिक नहीं होते हैं, तो उसका मतलब केवल इतना ही है कि कमजोर हैं; और मन जो उन्हें कह रहा है, उसको पूरे मानने की उनकी हिम्मत नहीं है। लेकिन मन से चलने वाला आदमी आस्तिक हो ही नहीं सकता। उसकी आस्तिकता वैसी ही झूठी है, जैसे बहरा आदमी कहे कि मैंने आंख से संगीत सुना है, या अंधा आदमी कहे कि मैंने कान से रूप देखा है, प्रकाश का अनुभव किया है। मन से चलने वाले आदमी की आस्तिकता ऐसी ही झूठी होगी।

इसलिए दुनिया में इतने आस्तिक हैं, लेकिन सच्चा आस्तिक खोजना मुश्किल है। आप भी अगर आस्था लाते हैं तो मन से ही लाते हैं, सोच-विचार करके लाते हैं। सोच-विचार से कोई कभी आस्तिक नहीं होता; और हो, तो झूठा आस्तिक होता है।

सोच-विचार से, अगर ईमानदार रहना है, तो नास्तिकता ही आएगी। इसे थोड़ा ठीक से समझ लें। क्योंकि माध्यम ही अपरिवर्तनीय को पकड़ने वाला नहीं है; अपने को धोखा दें तो बात अलग। अपनी आस्तिकता पर सोचें! मानते हैं ईश्वर को आप, लेकिन वह भी सोचा-विचारा है; तर्क, अनुमान, विचार, शास्त्र,

परंपरा, सिद्धांत, इनसे ही निकाला हुआ है। वह ईश्वर वास्तविक नहीं है, और वह ईश्वर केवल आपकी बेईमानी की खबर देता है, क्योंकि मन से तो ईश्वर निकल ही नहीं सकता।

दुनिया में आस्तिक कहे जाने वाले लोग निन्यानबे प्रतिशत छिपे हुए नास्तिक हैं; उनकी आस्तिकता में कोई बल नहीं है; निर्वीर्य है; नपुंसक है। जरा सी चोट, और उनकी आस्तिकता टूट जाएगी! उसकी भीतर कोई जड़ नहीं है! आस्तिक तो तभी होता है कोई, जब मन को हटा कर जगत को देखता है। तो फिर जगत दिखाई नहीं पड़ता, क्योंकि मन के हटते ही जो परिवर्तनशील है फिर वह दिखाई नहीं पड़ सकता। मन के हटते ही, चेतना जब देखती है जगत को, तो चेतना का संबंध उसी से हो सकता है, जो परिवर्तनशील नहीं है।

चेतना शाश्वत है, अपरिवर्तनशील है। तो चेतना का संगीत उसी से सधता है जो शाश्वत है। मन के हटाते ही जो दिखाई पड़ता है, वह परमात्मा है; मन के लाते ही जो दिखाई पड़ता है, वह संसार है। ऐसी परिभाषा करें कि मन के बिना जिन्होंने जाना है अस्तित्व को, उन्होंने कहा, परमात्मा है और कुछ भी नहीं है; मन से जिन्होंने जाना है अस्तित्व को, उन्होंने कहा, परमात्मा भर नहीं है और सब कुछ है।

तो मन से आप कभी जान न पाएंगे। जगत को जान पाएंगे; जगत को मन से ही जान पाएंगे, सत्य को नहीं। और मन से जो चीजें भी जानी जाती हैं, वे प्रतिपल बदलती रहेंगी। इसलिए विज्ञान थिर नहीं हो पाता। और विज्ञान कभी थिर नहीं हो पाएगा। विज्ञान कभी भी यह नहीं कह सकेगा कि यह सत्य शाश्वत है। विज्ञान इतना ही कह सकेगा, टेंटेटिव, अस्थायी रूप से, अभी जितना हम जानते हैं उसमें यह सत्य है। कल जो हम जानेंगे, उससे क्या होगा परिणाम, नहीं कहा जा सकता।

इसलिए विज्ञान रोज बदल रहा है; कल जो था सच, वह आज झूठ हो जाता है। आज तो कठिनाई यह हो गई है कि स्कूल, कालेज में जो विज्ञान पढ़ाया जा रहा है, वह तभी पढ़ाया जाता है जब वह करीब-करीब झूठ हो चुका होता है। क्योंकि बीस साल लग जाते हैं; कोई चीज खोजी जाए, तो उसको स्कूल तक लाने में कम से कम बीस साल लग जाते हैं। इस बीस साल में वह झूठ हो चुकी होती है। आज बड़ी किताब नहीं लिखी जा सकती विज्ञान की। क्योंकि अगर कोई हजार पृष्ठ की किताब लिखे, तो जब तक वह लिखता है, तब तक बहुत सी बातें गलत हो चुकी होती हैं। इसलिए विज्ञान धीरे-धीरे छोटी किताबों पर आता जा रहा है। छोटी किताबें भी अब नहीं लिख रहा है कोई विज्ञान में--छोटे लेख; क्योंकि वे तत्क्षण लिखे जा सकते हैं, और डर नहीं है कि उनके छपने के पहले वे गलत हो जाएंगे।

विज्ञान बदलेगा ही, क्योंकि मन से खोजी गई कोई भी चीज शाश्वत नहीं हो सकती है।

इसलिए पश्चिम में बहुत कठिनाई होती है विचारकों को कि महावीर ने कुछ कहा ढाई हजार साल पहले, उपनिषद के ऋषियों ने कुछ कहा पांच हजार साल पहले, अब तक वह सत्य कैसे है! पांच हजार साल! यहां तो पांच साल पहले जो बात कही गई, वह भी झूठी हो जाती है, धूमिल हो जाती है। तो पांच हजार साल पहले जो कहा, वह कब का झूठ हो चुका होगा!

उनका कहना संगत मालूम पड़ता है, क्योंकि पांच साल पहले की बात भी संदिग्ध जब हो जाती हो, तो पांच हजार साल पहले की बात का संदिग्ध होना स्वाभाविक है।

लेकिन नहीं, उपनिषद ने जो कहा है वह अब भी वैसा ही सच है, और वह कल भी वैसा ही सच रहेगा। तो इसके दो मतलब हो सकते हैं। एक मतलब तो यह है कि भारत की बुद्धि कुंठित हो गई है। वह विकसित नहीं होती; वह पांच हजार साल पहले ठहर गई है। जो खोज लिया था उसी को पकड़ कर बैठे हैं; उससे आगे नहीं गए; नहीं तो कभी का गलत हो जाता।

आज तो भारत में भी जो सोच-विचार करते हैं--और सोच-विचार कम ही लोग करते हैं, और जो करते हैं वे भी करीब-करीब उधार करते हैं, वे भी करीब-करीब पश्चिम की छाया होती है। तो पश्चिम में, चाहे भारत में,

जो आज सोचने का ढंग है, विज्ञान, उसके हिसाब से ऐसा ही लगेगा कि यह भारत की जो बातें हजारों साल पुरानी हैं, ये कब की झूठ हो चुकी होंगी, लेकिन चूंकि भारत ने चिंतन करना बंद कर दिया है, इसलिए इनको बदल नहीं पाया, वहीं रुका हुआ है।

जो मन से सोचता है, उसका यह कहना ठीक भी है। लेकिन ये सत्य कभी मन से पाए नहीं गए, यह अड़चन है। ये पांच हजार साल पहले या पचास हजार साल पहले पाए गए हों, या पांच हजार साल बाद या पचास हजार साल बाद पाए जाएं, ये मन से नहीं पाए गए हैं। और जो मन से नहीं पाया जाता, वह बदलता नहीं है; उसके बदलने का कोई उपाय नहीं है। क्योंकि मन को छोड़ते ही हम उस जगत में प्रवेश करते हैं, जो शाश्वत है, सनातन है; जहां कभी कुछ बदलता नहीं है; जहां सब अपरिवर्तित है; जहां समय ठहर गया है; जहां समय में कोई गति नहीं है; जहां समय जम गया है। ये सत्य सदा ही सत्य रहेंगे। अगर ये मन के बाहर पाए गए हैं, तो दुनिया का कोई परिवर्तन इनमें परिवर्तन न ला सकेगा। अगर ये भी मन के भीतर ही पाए गए हैं, तो दुनिया का परिवर्तन इनमें परिवर्तन लाता रहेगा।

भारत की मौलिक खोज यही है कि अस्तित्व को मन के बिना भी जाना जा सकता है, अस्तित्व को मन के बिना भी जाना जा सकता है। धर्म और विज्ञान का यह फर्क है। विज्ञान कहता है, जो भी जाना जा सकता है, मन से जाना जा सकता है। धर्म कहता है, मन से जो भी जाना जाता है, वह कामचलाऊ है; लगभग सत्य है। मन के पार जो जाना जाता है, वही सत्य है। और मन के पार ही वास्तविक जानना संभव होता है।

तो इस चित्त को कैसे मिटा दें? इस चित्त को कैसे शून्य कर दें? शांत कर दें?

यह सूत्र कहता है, इसे एकाग्र कर दें तो यह शून्य हो जाएगा, शांत हो जाएगा।

यह दूसरी बात समझने की है। चित्त का स्वभाव ही है एकाग्र न होना; यह चित्त का स्वभाव है कि एकाग्र न होना। आप एक क्षण भी चित्त को एकाग्र करें, वह एकाग्र नहीं होगा, उसमें भी वह प्रवाह खोज लेगा। अगर मैं आपसे कहूं कि राम पर चित्त को एकाग्र कर दें! तो जब आप राम पर चित्त एकाग्र करेंगे, पूरी रामलीला भीतर आने लगेगी! सीता आ जाएगी पीछे से, हनुमान झांकने लगेंगे; सब उपद्रव खड़ा हो जाएगा। राम पर चित्त एकाग्र करेंगे तो दशरथ आ जाएंगे और रावण आ जाएगा और सब आ जाएंगे।

जरा कोशिश करें; राम को छांट लें अलग--न दशरथ, न रावण, न सीता, न हनुमान, न लक्ष्मण, कोई भी नहीं; पूरी रामलीला काट दें--सिर्फ राम। तो चित्त मुश्किल में पड़ जाएगा। तो फिर एक उपाय है कि राम में कई टुकड़े कर लें; पैर से शुरू करें; राम के पैर देखें, फिर उनका शरीर देखें, फिर उनका चेहरा देखें, फिर उनकी आंखें देखें, तो चित्त को सुविधा मिल जाएगी, क्योंकि फिर प्रवाह शुरू हो गया। राम की आंख ही चुन लें। तो अगर दो आंखें भी हों तो चित्त एक से दूसरी पर जाता रहेगा। तो एक ही आंख बचा लें, काने राम को चुन लें। तो एक ही आंख पर चित्त को लगाएंगे तो आंख के संबंध में चिंतन शुरू हो जाएगा।

चित्त का स्वभाव है प्रवाह। इसलिए आप कुछ भी करें, चित्त उसमें से प्रवाह निकाल लेगा; तत्काल प्रवाह निकाल लेगा, और चिंतन करने लगेगा। ध्यान और चिंतन का यही फर्क है। ध्यान का अर्थ है, चिंतन का ठहर जाना, प्रवाह का रुक जाना; एकाग्रता का अर्थ है, एक ही रह जाए, उसके संबंध में कोई चिंतन न रहे।

तो क्या होगा? यह मन के स्वभाव के प्रतिकूल है; असंभव है मन के लिए। अगर आप आग्रह करेंगे और चेष्टा करेंगे असंभव की, तो एक ही उपाय है; पहले तो मन बहुत संघर्ष करेगा और वह सब तरह से आपको समझाएगा, बुझाएगा और तरकीब निकालेगा चिंतन की। वह कहेगा, कोई हर्जा नहीं, राम पर ही चिंतन करो; बड़ा अच्छा है, बड़ी धार्मिक बात है; राम पर ही चिंतन करें! वह कहेगा कि कोई हर्ज नहीं, अगर राम पर चिंतन

भी नहीं करना, तो राम-राम, राम-राम ऐसा जप करें। क्योंकि राम-राम, राम-राम प्रवाह शुरू हो गया। एक राम! दूसरा राम आया कि प्रवाह शुरू हो गया, मन को गति मिल गई, अब वह चलने लगा!

तो मन पहले तो कोशिश करेगा प्रवाह को खोजने की, क्योंकि वह उसका स्वभाव है। अगर आप माने ही नहीं और सजग रहे, और आपने कहा कि प्रवाह तो हम पैदा होने ही न देंगे, हम तो एक बिंदु पर ही ठहर जाएंगे, उससे हिलेंगे ही नहीं यहां-वहां। अगर आपने जिद्द जारी रखी, तो दूसरा उपाय यह है कि मन गिर जाएगा; क्योंकि एकाग्र तो मन हो ही नहीं सकता।

यह आपको अजीब लगेगी बात जान कर, मन एकाग्र तो हो ही नहीं सकता। इसीलिए एकाग्र करने के लिए कहा जाता है, कि एकाग्र अगर आप हो गए, तो मन समाप्त हो जाएगा। मन के लिए असंभव है एकाग्र होना। जब आप एकाग्र होते हैं, तो मन होता ही नहीं; जब तक मन होता है, तब तक एकाग्र नहीं होते। एकाग्र का मतलब है ठहर जाना, रुक जाना, प्रवाह का बंद हो जाना, समय का समाप्त हो जाना, सब गति का खो जाना--एकाग्र का अर्थ है।

तो अगर आप एकाग्र करने की चेष्टा करते गए, करते गए, करते गए, न माने मन की और सजग रहे कि मन कोई तरकीब तो नहीं खोज रहा है जिससे प्रवाह पैदा हो जाए, तो एक दिन वह घड़ी आ जाती है कि एकाग्र करने की चेष्टा से--मन एकाग्र नहीं होता--एकाग्र करने की चेष्टा से मन नाश हो जाता है; मन शांत हो जाता है; मन विलीन हो जाता है। जब आप मानते ही नहीं और एकाग्र करने के ही प्रयास में लगे रहते हैं, तो मन बैठ जाता है। मन का न हो जाना एकाग्र होना है।

इसलिए जब भी हम कहते हैं कि मन को एकाग्र करो, तो हम बड़ी गलत बात कहते हैं। इसलिए मैंने कहा कि बुद्ध और महावीर लगभग झूठी बातें कहते हैं। कहनी पड़ती हैं। जब हम कहते हैं मन को एकाग्र करो, तो हम बड़ी गड़बड़ बात कह रहे हैं, क्योंकि मन एकाग्र हो ही नहीं सकता। और हो गया, तो मन नहीं रह जाता।

एकाग्रता और मन विपरीत घटनाएं हैं। विपरीत की चेष्टा करने से मन मर जाता है। पर बड़ी कठिन बात है! कठिन इसलिए है कि एकाग्रता को समझ लेना जरूरी है, प्रवाह पैदा न हो पाए। चिंतन प्रवाह है, ध्यान प्रवाह का रुक जाना है। नदी बह रही है। नदी को जमा दिया बर्फ की तरह; सब प्रवाह ठहर गया; अब कोई गति नहीं है। ऐसा ही मन ठहर जाए, सारा प्रवाह रुक जाए, जम जाए बर्फ की तरह; तो उसी क्षण मन नहीं है; मन खो गया। और जो बचता है, वही चैतन्य है; जो बचता है, वही चैतन्य है

यह सूत्र कहता है : 'विकल्प का, भेद का मूल है चित्त, मन! चित्त न हो, कोई भेद नहीं। प्रत्यग स्वरूप परमात्मा में तू चित्त को एकाग्र कर दे।'

परमात्मा का तो हमें ठीक-ठीक कोई पता नहीं है। पर पता की कोई जरूरत भी नहीं है। परमात्मा है या नहीं, यह बड़ा सवाल नहीं है; चित्त को एकाग्र करना बड़ा सवाल है। किसी भी चीज पर कर दें। कल्पित चीज पर भी करें तो भी काम हो जाएगा। इसलिए यह सवाल नहीं है कि कोई वास्तविक चीज पर ही करेंगे तो ही हल होगा। इसलिए यह सूत्र यह नहीं कहता कि पहले परमात्मा को खोजो फिर चित्त को एकाग्र करो। यह कहता है, अगर तुम्हें लगता है कि परमात्मा काल्पनिक है, तो भी कोई चिंता नहीं। काल्पनिक बिंदु पर भी अगर चित्त एकाग्र हो जाए, तो मन खो जाएगा। और मन के खोते ही उसका दर्शन शुरू हो जाएगा जो वास्तविक है। इसलिए मान कर चलने में हर्ज नहीं है।

परमात्मा ध्यान की एक हाइपोथीसिस है। परमात्मा आस्था नहीं है खोजियों के लिए, परमात्मा भी ध्यान को एकाग्र करने का एक कल्पित बिंदु है। और जब मैं कहता हूं कल्पित बिंदु, तो आप यह मत समझना कि मैं यह कह रहा हूं कि परमात्मा है नहीं। आपके लिए नहीं है अभी। आप तो एक कल्पित बिंदु पर ध्यान एकाग्र करते हैं। वह बिंदु कोई भी हो सकता है। उसका कोई भी रूप हो; उसका नाम राम हो कि कृष्ण हो कि अल्लाह

हो, कुछ भी हो, चलेगा। उससे कोई भेद नहीं पड़ता। महत्व यह नहीं है कि आप किस पर एकाग्र कर रहे हैं, महत्व यह है कि आप एकाग्र कर रहे हैं।

इसलिए सारे दुनिया के धर्म काम आ जाते हैं। उनके सिद्धांतों में कोई भी मतभेद हो, कोई अंतर नहीं पड़ता--खोजी के लिए। वे सारे भेद पंडित के लिए, व्यर्थ बकवास जिन्हें करनी है, उनके लिए भेद हैं; खोजी के लिए कोई भेद नहीं पड़ता। अल्लाह, कि राम, कि याहवे--कोई भी नाम हो।

विज्ञान, धर्म का जो विज्ञान है, धर्म की जो प्रक्रिया है, उसका मूल्य आप किस चीज पर एकाग्र कर रहे हैं उससे है ही नहीं; वह असंगत है। महत्व यही है कि आप एकाग्र कर रहे हैं--अ, ब, स, द, कुछ भी हो, आप एकाग्र कर रहे हैं। एकाग्र करने की प्रक्रिया में ही मनोनाश हो जाता है। और मनोनाश होकर जो जाना जाता है, उसका नाम न तो अल्लाह है, उसका नाम न राम है, उसका नाम न कृष्ण है। उसका कोई नाम नहीं है। सब नाम कल्पित हैं, उपयोगी हैं, ताबीज हैं, काम करते हैं। और जब समझ आ जाती है तो उन्हें फेंका जा सकता है, उन्हें हटाया जा सकता है। फिर उनकी कोई जरूरत नहीं है।

यह बड़ी क्रांतिकारी बात है। आम धार्मिक आदमी को समझ में भी नहीं आता कि उसके राम, उसके कृष्ण, उसकी मूर्तियां, उसके मंदिर, सब काल्पनिक हैं। काल्पनिक का अर्थ झूठे नहीं, काल्पनिक का अर्थ हाइपोथेटिकल हैं। उनका उपयोग किया जा सकता है। वहां से यात्रा शुरू की जा सकती है। यात्रा के अंत पर तो पता चलता है कि उनके बिना भी यात्रा हो सकती थी। और यात्रा के अंत पर यह भी पता चलता है कि ये किन्हीं दूसरे नामों से भी हो सकती थी। लेकिन यात्रा के शुरू में यह पता नहीं चल सकता। इसकी कोई जरूरत भी नहीं है। हिंदू हिंदू की तरह चल पड़े; मुसलमान मुसलमान की तरह चल पड़े; ईसाई ईसाई की तरह चल पड़े। मंजिल पर जाकर पता चलेगा कि हिंदू, मुसलमान, ईसाई, सब उपयोगिताएं थीं। उनका कोई वास्तविक, परम सत्य के साथ संबंध न था।

उनका संबंध था हमारे अज्ञान के साथ, ज्ञान के साथ नहीं। उनका संबंध था, जहां हम खड़े थे संसार में, वहां से यात्रा शुरू करने के लिए। उनका संबंध उस मंजिल के साथ नहीं था, जहां हम पहुंचे। इसलिए पहुंच कर न कोई हिंदू रह जाता, न कोई ईसाई रह जाता, न कोई मुसलमान रह जाता। पहुंच कर केवल धार्मिक रह जाता है आदमी।

इसलिए ध्यान रखें, जब तक आप ईसाई हैं, हिंदू हैं, मुसलमान हैं, तब तक समझना, अभी धार्मिक नहीं हैं। यह तो धर्म की तरफ यात्रा है।

गुरजिएफ बहुत कीमती बात कहा है। गुरजिएफ से जब भी कोई आकर पूछता था कि मार्ग क्या है? सत्य तक पहुंचने का मार्ग क्या है? तो गुरजिएफ कहता था, बड़ी बातें मत करो, हम तो मार्ग तक पहुंचने का मार्ग बताते हैं सिर्फ, फिर आगे तुम जानना। अभी तो तुम मार्ग तक ही पहुंच जाओ, यही काफी है। मार्ग क्या है, यह मत पूछो; मार्ग तक पहुंचने की पगडंडी क्या है! पहले तुम मार्ग पर पहुंच जाओ, अभी तो इसकी फिक्र करो!

ध्यान रहे, हिंदू, मुसलमान, ईसाई, सब पगडंडियां हैं मार्ग पर पहुंचने की। कोई भी मार्ग नहीं हैं वे; मार्ग तो है धर्म। हिंदू है पगडंडी, मुसलमान है पगडंडी, ईसाई है पगडंडी; मार्ग है धर्म। सब पगडंडियों से आप धर्म के मार्ग पर पहुंच जाएं, फिर पगडंडी खो जाती है।

एकाग्र होना है मूल्यवान, क्योंकि एकाग्र होने की चेष्टा मन के प्रतिकूल है। पर बड़ा ध्यान रखना जरूरी है, क्योंकि एकाग्र होने की दो कठिनाइयां हैं। एक, कि आप चिंतन पैदा कर लेंगे। चिंतन पैदा हुआ, व्यर्थ हो गई बात। दूसरी कठिनाई है कि अगर चिंतन पैदा न कर पाए, तो आप तत्काल सो जाएंगे।

आपने ख्याल किया हो, किसी रात अगर मन में ज्यादा चिंतन चलता रहे, तो नींद नहीं आती। मन में कोई विचार चल रहा है, कोई चिंता है, कोई धारा बह रही है, तो नींद नहीं आती, क्योंकि नींद में बाधा पड़ती

है। जिस रात मन में कोई चिंतन नहीं, कोई विचार नहीं, मन खाली-खाली है--नींद गहरी आती है और जल्दी आ जाती है। पड़े बिस्तर पर कि आ गई।

इसलिए मजदूर है, किसान है, गहरी नींद सोता है। गहरी नींद सोने का कारण यह है कि चिंता और चिंतन और विचार और मानसिक ऊहापोह, उसके काम से इनका कोई ज्यादा संबंध नहीं है; इनकी उसे कोई जरूरत नहीं पड़ती। गड्ढा खोद रहा है, खेत में काम कर रहा है--ये बंधे हुए काम हैं; इनके लिए चिंतन की कोई जरूरत नहीं है; इसलिए चिंतन की धारा ज्यादा नहीं चलती। सांझ आता है, थका-मांदा बिस्तर पर गिरता है, चिंतन होता नहीं, नींद गहरी लग जाती है। जो काम चिंतन का ही करते हैं लोग, उनकी खास बीमारी अनिद्रा हो जाती है। जो सोच-विचार में ही चौबीस घंटे लगे रहते हैं, रात सोच-विचार चलता ही चला जाता है और नींद नहीं आ पाती।

यह मैं इसलिए कह रहा हूं, ताकि इससे विपरीत बात आपकी समझ में आ जाए। मन के साथ प्रयोग करने में एकाग्रता का दूसरा खतरा यह है कि पहले तो मन कोशिश करेगा कि चिंतन पैदा हो जाए, तो मन को सुविधा है, मन का स्वभाव है। अगर यह नहीं हुआ, और आपने जिद बांधी, तो दूसरी घटना यह घटेगी कि अगर चिंतन बंद हुआ तो बजाय ध्यान में जाने के आप निद्रा में चले जाएंगे। क्योंकि जैसे ही चिंतन बंद होता है, सदा की आदत है कि जब भी चिंतन बंद होता है, नींद पकड़ लेती है।

इसलिए अनेक लोग ध्यान के नाम पर सोए रहते हैं; नींद लेते रहते हैं। मंदिरों में बैठे हैं, झपकी खा रहे हैं। उनका कसूर नहीं है। उन्हें पता नहीं कि बात क्या हो रही है। वे कोशिश कर रहे हैं एकाग्र होने की। एकाग्र होने की कोशिश से दो दुर्घटनाएं घट सकती हैं : या तो चिंतन शुरू हो, और अगर चिंतन शुरू न हो तो झपकी आ जाए।

तो चिंतन से बचना है और झपकी से बचना है। ये दो खाइयां हैं और इनके बीच में ध्यान है। झेन फकीर तो अपने आश्रमों में संन्यासियों को डंडा लेकर घुमाते रहते हैं। जब कोई ध्यान करता है तो एक संन्यासी डंडा लेकर घूमता रहता है। वह जैसे ही देखता है कि झपकी खाई, सिर पर एक डंडा पड़ता है!

जल्दी ही हम भी इंतजाम करेंगे! और ऐसा नहीं है कि उसका उपयोग नहीं है, उसका बड़ा उपयोग है। क्योंकि झपकी एकदम से टूट जाती है। चिंतन चल रहा था, चिंतन छूट गया, झपकी आ गई। एक खाई से बचे, दूसरी खाई में गिर गए। और झपकी तभी आती है जब चिंतन की धारा टूट जाए। और फिर गुरु आया और उसने एक डंडा सिर पर मारा। चिंतन की धारा बंद हो गई थी, झपकी आ गई थी, उसने डंडा मारा, झपकी की धारा एक क्षण को टूट गई। उस एक क्षण में ध्यान की झलक मिल जाती है। और एक क्षण भी झलक मिल जाए, तो सहारा मिल जाता है। तो फिर लगने लगता है कि जहां जा रहे हैं, वह कोई अंधेरे का रास्ता नहीं है, मामला साफ है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि बहुत साधक होते हैं और गुरु ख्याल भी नहीं रख पाता, कौन झपकी खा रहा है, कौन क्या कर रहा है। तो झेन में व्यवस्था है कि जब भी किसी साधक को ऐसा लगता है कि झपकी आ रही, तो वह दोनों हाथ अपनी छाती के पास कर लेता है। इससे गुरु देख लेता है कि ठीक, उसको भीतर झपकी का डर पैदा हो रहा है। यह निमंत्रण है कि मुझे डंडा मारो। भीतर झपकी पकड़ रही है, नींद की हलकी लहर आनी शुरू हो गई है, तरंगें आने लगी हैं और डर है कि अब मैं नींद में खो जाऊंगा।

चिंतन पैदा न हो और झपकी न लगे, बस तो फिर ध्यान लग जाएगा। ध्यान का अर्थ हुआ, चिंतन और झपकी का अभाव। चिंतन और नींद का अभाव, तो ध्यान लग जाएगा। कोई भी हो बिंदु एकाग्रता का, ये दो बातें ख्याल में रहें।

'अखंड आनंदरूप आत्मा को स्वस्वरूप जान कर इस आत्मा में ही बाहर और भीतर सदा आनंद रस का तू स्वाद ले।'

दूसरी बात भी बहुत कीमती है। हम स्वाद लेते हैं। अपने में कभी नहीं लेते, सदा दूसरे में लेते हैं। यह बड़ी मजेदार बात है। हम स्वाद लेते हैं, हम रस भी लेते हैं। हम कभी-कभी सुख भी पाते हैं। लेकिन सदा दूसरे में। कभी आपने अपना स्वाद लिया? नहीं लिया। अपनी तरफ तो हम ध्यान ही नहीं देते!

यह सूत्र कहता है कि साधक को धीरे-धीरे दूसरे में स्वाद लेना छोड़ कर अपने में स्वाद लेना चाहिए। खाली बैठे हैं, तब आप कभी आनंदित नहीं होते। सोचते हैं, मित्र आ जाएं तो थोड़ा मजा हो; संगी-साथी मिल जाएं तो थोड़ी खुशी हो। अकेले में उदासी पकड़ने लगती है। अकेले में आप खुश नहीं दिखाई पड़ते। अकेले में ऊब हो जाती है; अपने से ऊब हो जाती है। कोई अपने को पसंद करता ही नहीं! और बड़ा मजा यह है कि सब यह चाहते हैं कि दूसरे हमें पसंद करें! और आप खुद अपने को पसंद नहीं करते! खुद से ऊब जाते हैं और चाहते हैं कि दूसरे बड़े प्रसन्न हों जब आपका दर्शन हो। यह कैसे होगा? यह असंभव है। सोचते हैं कि दूसरों को आप बड़ा आनंद दें। अपने को नहीं दे पाते, दूसरों को कैसे देंगे! और जो नहीं है पास अपने, उसे देने का कोई उपाय नहीं है।

यह सूत्र कहता है, अपने स्वभाव में रस, स्वाद, आनंद का अनुभव करें। अकेले बैठे हैं, आनंदित हों। इस अवस्था को फकीरों ने मस्ती कहा है। मस्ती का मतलब यह है, कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता और मस्त हो रहे हैं; प्रसन्न हो रहे हैं। कोई रस की धार जैसे भीतर अपने ही चल रही है; अपना ही आनंद ले रहे हैं; अपने से ही ले रहे हैं; कोई दूसरे का कोई माध्यम नहीं है।

मस्ती की अलग साधना-पद्धतियां हैं। सूफियों ने बहुत उपयोग किया है मस्ती की साधना का। मस्तों के अलग मार्ग हैं। उनका सूत्र यही है, उनका आधार-सूत्र यही है कि दूसरे से अपने सुख को मत जोड़ो। जो आदमी दूसरे से अपने सुख को जोड़ता है, उसका दुख भी दूसरे से जुड़ जाता है। दूसरे से सुख जोड़ो ही मत, सुख जोड़ो अपने से। खाली वृक्ष के नीचे बैठे हैं, प्रसन्न हो रहे हैं। बड़ा मुश्किल लगेगा, कैसे प्रसन्न होंगे, जब कोई प्रसन्नता का कारण ही नहीं है! क्योंकि हम सदा कारण से प्रसन्न होते हैं, कि मित्र चला आ रहा है; बहुत दिन बाद दिखाई पड़ा, प्रसन्न हो गए।

हम सदा कारण से प्रसन्न होते हैं। अकारण प्रसन्नता का नाम मस्ती है। कोई कारण नहीं है; कोई विजिबल, कोई दिखाई पड़ने वाली वजह नहीं है। भीतर ही स्वाद ले रहे हैं। पागलों को कभी-कभी ऐसा होता है। इसलिए मस्तों में और पागलों में फर्क करना तक मुश्किल हो जाता है। जिनको हमने मस्त कहा है, उनमें से कई लोग, ठीक उन जैसे लोग, पश्चिम में पागलखानों में पड़े हैं। क्योंकि उनके पास कोई विभाजन करने का उपाय नहीं है। उनके पास कोई उपाय नहीं है कि वे कैसे विभाजन करें। यह आदमी पागल मालूम पड़ता है! क्योंकि उन्होंने इस बात को स्वस्थ होने की परिभाषा बना लिया है कि सुख कारण से होता है तो आपका मस्तिष्क ठीक है, और अकारण सुख हो रहा है तो आपका दिमाग खराब है; क्योंकि अकारण सुख हो कैसे सकता है!

लेकिन मस्तों की परंपरा कहती है कि अकारण ही सुख हो सकता है, कारण से तो कभी सुख हुआ ही नहीं है। यह बड़ी मुश्किल बात है। मस्तों की परंपरा कहती है कि कारण से तो कभी सुख हुआ ही नहीं है, सिर्फ वहम होता है। कारण से सदा दुख हुआ है।

इसे समझ लें, इसका पूरा मनस-शास्त्र है।

जब आप कारण में सुख खोजते हैं--किसी और में, किसी वस्तु में, किसी घटना में, किसी व्यक्ति में--तो अंतिम परिणाम सिवाय दुख के और कुछ नहीं होता; दुख ही दुख होता चला जाता है। पत्नी पति में सुख खोज रही है, मां बेटे में सुख खोज रही है, बाप बेटे में, बेटी में सुख खोज रहा है; संबंधियों में, धन में, पद में, प्रतिष्ठा में--कहीं और। अपने को छोड़ कर हम सब सुख खोज रहे हैं कहीं और। और मजा यह है कि जिनमें हम सुख खोज रहे हैं, वे खुद कहीं और सुख खोज रहे हैं! हम एक खदान खोद रहे हैं जिसको हम सोचते हैं, हीरे की खदान है,

और वह खदान खुद हीरों की तलाश में गई है! और वह खदान जहां जाकर तलाश कर रही है, वे खुद कहीं और तलाश में गए हैं।

हम उन बैरंग चिट्ठियों की तरह हैं जिन पर कोई पता ही नहीं है; खोज रहे हैं! किसकी तरफ जा रहे हैं, उसका कोई पता नहीं है! और जिसके घर जा रहे हैं, पहले पूछा भी नहीं है कि वह खुद भी तो कहीं गए हुए नहीं हैं!

हर आदमी कहीं और है, इसलिए किसी से भी मिलना नहीं हो पाता। जिसके घर जाओ, वह वहां नहीं है। जिसका हाथ हाथ में लो, वह वहां नहीं है। जिसको हृदय से लगाओ, वह वहां नहीं है, वह कहीं और गया हुआ है। सब कहीं और गए हुए हैं, इसलिए किसी का किसी से मिलना हो ही नहीं पाता; होगा भी नहीं। और जो कारण में खोज रहा है, वह आज नहीं कल, गहरे से गहरे दुख में पड़ता जाएगा। क्योंकि हर बार आशा बंधेगी कि यह कारण सुख देगा, और जब मिल जाएगा, आशा टूट जाएगी।

मस्ती का शास्त्र कहता है कि दूसरे से तो दुख मिलता है, सुख कभी मिलता नहीं; सुख मिलता है सदा अपने से। और जब कभी आपको दूसरे से भी मिलता हुआ लगता है, तो मस्ती की परंपरा कहती है कि उसका कारण दूसरा नहीं होता, आप ही होते हैं!

इसे भी थोड़ा समझ लें।

लगता है, किसी से आपका प्रेम है। उसकी उपस्थिति सुखद मालूम पड़ती है। यह उसकी उपस्थिति के कारण आपको सुख मिल रहा है कि आपकी यह धारणा आपको सुख दे रही है कि मेरा प्रेम है और उपस्थिति से मुझे सुख मिलता है? क्योंकि अगर उस व्यक्ति की उपस्थिति से सुख मिलता हो, तो उस व्यक्ति की उपस्थिति से सभी को सुख मिलना चाहिए। लेकिन यह नहीं होता। उसी व्यक्ति की उपस्थिति से किसी को दुख मिलता है भारी।

अगर पानी से प्यास बुझती है तो सभी की प्यास बुझनी चाहिए। अगर आप कहें कि इस पानी से हमारी प्यास बुझती है, और किसी की नहीं बुझती, तो इसमें मामला आपका ही है, पानी का नहीं हो सकता। आब्जेक्टिव ट्रुथ और सब्जेक्टिव ट्रुथ, विषयगत सत्य और आत्मगत सत्यों में फर्क करना सीखना चाहिए। अगर पानी पानी है, तो मेरी प्यास भी बुझाएगा, आपकी भी बुझाएगा, किसी की भी बुझाएगा; प्यास बुझाएगा, आदमियों से कोई संबंध नहीं है। जिसकी भी प्यास होगी, बुझ जाएगी।

किसी का सौंदर्य मुझे सुख देता है, किसी और को नहीं देता। अगर सौंदर्य है, तो जिनको भी सौंदर्य की तलाश है, प्यास है, उन सबको सुख मिलना चाहिए। यह नहीं होता। उसी सौंदर्य से किसी को कांटे छिदते हैं और ऐसा लगता है कि भाग खड़े हों, दूर हट जाएं। उसी सौंदर्य से आपको सुख मिलता है! किसी को दुख मिलता है। किसी को पता ही नहीं चलता कि सौंदर्य है भी! किसी को सिर्फ हंसी आती है कि दिमाग खराब है, कहां सौंदर्य देख रहे हो; वहां कुछ भी नहीं है।

मतलब क्या हुआ इसका? मतलब यह हुआ कि जो सौंदर्य आपको दिखाई पड़ रहा है वह आपका ही दिया हुआ है; वहां कुछ है नहीं, आप ही कारण हैं। और इसलिए यह भी हो जाता है कि जिसके सौंदर्य से सुबह सुख मिला, दोपहर दुख मिलने लगता है। और सांझ फिर सुख मिलने लगता है। और आज सुख मिला, कल दुख मिलने लगता है!

एक मजेदार घटना घटी। एक फिल्म अभिनेत्री मेरे पास आई और उसने मुझे कहा कि मैं बड़ी मुश्किल में पड़ गई हूं, इसलिए आपसे सलाह लेने आई हूं। मुश्किल यह है कि मैंने किया था प्रेम विवाह; लेकिन वर्ष, दो वर्ष में ही लगा कि भूल हो गई और कलह के सिवाय कुछ हाथ न लगा। फिर भी खींचा; दस साल खींचा; लेकिन कलह और नर्क गहरा होता चला गया। और फिर खींचने का भी कोई उपाय न रहा, कोई अर्थ न रहा। हैरानी

उसे हुई, क्योंकि पति ने बड़े आग्रह से यह प्रेम किया था, और बड़े आग्रह से यह विवाह किया था। और पति का मन उचाट हो गया! फिर दस साल बाद तलाक हुआ। तो तलाक हुए भी दस साल हो गए। एक बच्ची थी, वह बड़ी हुई। अभी उसका विवाह हुआ। तो उस विवाह में पति-पत्नी का फिर से मिलना हो गया, क्योंकि दोनों मौजूद हुए विवाह में। और वह अभिनेत्री मेरे पास आई थी कि मेरा पति फिर दुबारा मेरे प्रेम में पड़ गया है! और वह कहता है, हम फिर से विवाह कर लें! अब मैं क्या करूं?

कठिनाई साफ है। कोई किसी के प्रेम में नहीं पड़ता। दूसरे तो पर्दे होते हैं, हम अपनी ही छाया देख कर उनमें प्रेम में पड़ते चले जाते हैं। जब हमें लगता है कि दूसरे से सुख मिल रहा है, तब भी हमारा ही आभास होता है। जितना हम गहरे जाएंगे उतना हम पाएंगे कि सुख की सारी घटना अपना ही फैलाव है। और चूंकि हम दूसरे में सुख मानते हैं और दूसरे से सुख होता ही नहीं, इसलिए दुख भोगना पड़ता है।

जो आदमी यह खोज लेता है कि सुख का स्रोत मेरे भीतर है, कहीं उसे खोजने नहीं जाता। अपने को ही सुख में डूबा हुआ अनुभव करने लगता है। नाचता है किसी और कारण से नहीं, सिर्फ अपने होने के कारण; सिर्फ अपना होना ही काफी प्रसन्नता है; अपना होना मात्र ही काफी आनंद है; कोई और कारण खोजने की जरूरत नहीं है। श्वास चल रही है, यह भी परम आनंद है; हृदय धड़क रहा है, यह भी परम आनंद है।

इसका थोड़ा प्रयोग करें। एक वृक्ष के नीचे एकांत में बैठ जाएं और पहली दफे अपने प्रेम में गिरें; भूलें संसार को, अपने प्रेम में पड़ें।

अध्यात्म की खोज असल में अपने ही प्रेम में पड़ने की खोज है। संसार दूसरे के प्रेम में पड़ने की यात्रा है, अध्यात्म अपने प्रेम में पड़ने की। अध्यात्म बड़ा स्वार्थी है। स्वयं की ही खोज है, स्वयं के ही अर्थ की खोज है; स्वयं का ही रस पाना है, स्वाद पाना है। और जब यह स्वाद भीतर आने लगता है... ।

थोड़ी प्रतीक्षा करें, थोड़ी खोज करें, होने का आनंद लें कि मैं हूं, यह भी क्या अनूठी घटना है! मैं न होता तो क्या करता? मैं न होता तो कौन सी शिकायत थी? किससे शिकायत थी? मैं हूं इस अस्तित्व में, यह होना भी, यह होश, यह इतना बोध कि मैं हूं, यह आनंद की झलक की संभावना, इसका थोड़ा स्वाद लें। इसके स्वाद को जरा भीतर रोएं-रोएं में डूबने दें। इसकी पुलक में बह जाएं। नाचने का मन हो नाचने लगें, हंसने का मन हो हंसने लगें, गीत गाने का मन हो गीत गाने लगें। लेकिन एक ध्यान रखें, केंद्र खुद ही बने रहें। और सुख के स्रोत को भीतर से ही बहने दें, बाहर से नहीं। यह धीरे-धीरे अनुभव में उतर जाता है। और तब जो अवस्था आती है, वह है मस्त की अवस्था। मस्त का मतलब है कि जो अपने में मस्त हो गया।

यह सूत्र मस्ती का आधार-सूत्र है।

'आनंदरूप आत्मा को स्वस्वरूप जान कर इस आत्मा में ही बाहर और भीतर सदा आनंद रस का तू स्वाद ले।'

'वैराग्य का फल ज्ञान है।'

यह सूत्र बहुत बहुमूल्य है।

'वैराग्य का फल ज्ञान है, ज्ञान का फल उपरति; और आत्मानंद के अनुभव से जो शांति होती है, वही उपरति का फल है।'

'ऊपर बतलाई हुई वस्तुओं में उत्तरोत्तर जो न हो, तो उससे पहले की वस्तु निष्फल है, ऐसा जानना। विषयों से दूर जाना, यही परम तृप्ति है और आत्मा का जो आनंद है वह स्वयं ही अनुपम है।'

एक-एक चरण को समझ लें। और साधक के लिए एक-एक चरण स्मरण रखने जैसा है। और निरंतर उसकी परीक्षा करते रहने जैसी है। यह कसौटी है, निकष है।

'वैराग्य का फल ज्ञान है।'

जैसा मैंने कहा, शरीर की व्यर्थता का पता चले। शरीर व्यर्थ है, आंख गड़ा कर देखेंगे, पता चल जाएगा। संसार सुख नहीं दे पाता, ऐसी प्रतीति गहन और साफ हो जाए। और अड़चन नहीं है, खोजेंगे तो साफ हो ही जाएगी; क्योंकि ऐसा है ही। जैसे हम किसी आंख बंद आदमी को कहें कि तू आंख खोल और देख प्रकाश है! ऐसी ही ये बातें हैं। ऐसा है ही। संसार से कभी कोई सुख नहीं मिलता, शरीर से कभी कोई सुख नहीं मिलता, दूसरे से कभी कोई शांति नहीं मिलती--ऐसा है ही; आंख खोल कर खोजने की जरूरत है। डर के मारे कि कहीं सत्य पता न चल जाए, हम आंख बंद किए हैं जन्मों-जन्मों से। यह हमारा आंख बंद करना सप्रयोजन है। हमें डर है।

एक मित्र मेरे पास आए; विवाह करना चाहते थे; प्रेम है किसी से। मैं पूछा, सच में ही प्रेम है? थोड़ा सोच-विचार कर लो। उन्होंने कहा, सोच-विचार! प्रेम है, इसमें क्या सोच-विचार करना?

फिर भी, मैंने कहा, हर्ज क्या है? पीछे करने से पहले कर लेना ज्यादा अच्छा है। जल्दी भी क्या है, एक पंद्रह दिन रुको।

वे कुछ बेचैन और घबड़ाए मालूम पड़े।

मैंने कहा, अगर प्रेम है ही तो पंद्रह दिन तो टिकेगा ही, इतनी घबड़ाहट क्या है?

पंद्रह दिन वे रुके। और मैंने कहा, पंद्रहवें दिन तुम आना। और पंद्रह दिन सोचो : प्रेम है? सच में!

पंद्रह दिन बाद आकर उन्होंने कहा कि आपने मुझे बहुत कनफ्यूज कर दिया। मेरा मन बड़ा भ्रम में पड़ गया। पंद्रह दिन पहले मैं बिल्कुल आश्वस्त था, चीजें साफ थीं। और यह क्या मामला आपने लगा दिया! मैं आया था आशीर्वाद लेने, कि मुझे आशीर्वाद दें कि मेरा यह प्रेम-विवाह सफल हो जाए।

मैंने कहा, वह आशीर्वाद मांगने आए थे इसी डर से तो मैंने कहा पहले सोच लो। क्योंकि आशीर्वाद मांगने जाता ही तब कोई है, जब अपने पर भरोसा नहीं होता। इसलिए तुम आशीर्वाद न मांगते तो मैं कोई तुमसे कहने वाला नहीं था। तुम भीतर आश्वस्त नहीं हो कि सुख मिलेगा, इसलिए आशीर्वाद मांगते हो, कि किसी और पर जिम्मा जाए, अपना जिम्मा हटे। तो तुम मुझे फंसा रहे थे; प्रेम तुम कर रहे थे, फंसा मुझे रहे थे। अब तुम और सोच लो। अगर उलझन पड़ गई है, तो पंद्रह दिन और सही।

उन्होंने कहा, अब नहीं रुक सकता, क्योंकि अगर पंद्रह दिन रुका तो विवाह के पहले तलाक हो जाएगा।

हम डरे हुए हैं। हम आंख खोल कर देखते भी नहीं चारों तरफ कि मामला क्या है? क्योंकि भय हमें है कि जो भी हम देख रहे हैं वह वहां है नहीं। हम अपने घावों को छिपाए हैं, कि जरा उघाड़ कर देखा तो पता चल जाएगा, घाव है। घाव छिपा लिया है, ऊपर सोने का कंगन बांध लिया है। कंगन दिखाई पड़ता है, घाव दिखाई नहीं पड़ता। कंगन को देख कर सोचते हैं, सब ठीक है। लेकिन कंगन से कहीं घाव मिटे? वह घाव तो भीतर बढ़ता ही जाता है; वह नासूर बनता चला जाता है।

हमारी सारी जिंदगी आत्म-प्रवंचना है, जहां कुछ भी नहीं है। हमें भी लगता है कि कुछ भी नहीं है, लेकिन यह भी डर लगता है कि इसी के सहारे जी रहे हैं, अगर आंख खोल कर देखा और दिखाई पड़ा कि यह भी नहीं है, तो जीएंगे कैसे?

पश्चिम में यह मुसीबत खड़ी हुई है। इसे थोड़ा ख्याल में लें। पश्चिम में यह मुसीबत खड़ी हुई है। पश्चिम ने पिछले तीन सौ सालों में, चीजें जैसी हैं उनको वैसा देखने की कोशिश की है--जैसी हैं वैसा देखने की कोशिश की है! अब पश्चिम बड़ी मुश्किल में पड़ गया है। मुश्किल यह हो गई है कि देखने की कोशिश कई मायनों में दूर तक सफल हो गई है, और चीजें साफ हो गई हैं कि वहां उनमें कुछ भी नहीं है। अब क्या करें? तो पश्चिम में एक ही भाव है कि सब रिक्त हो गया और सब फिजूल हो गया, कोई सार्थकता नहीं मालूम पड़ती; अब करें क्या?

इन तीन सौ साल में पश्चिम ने गहन चिंतन किया है जीवन के संबंधों पर और परिणाम यह हुआ कि सब संबंध संदिग्ध हो गए हैं। आज पश्चिम में कोई प्रेमी हिम्मत करके यह नहीं कह सकता अपनी प्रेयसी से कि मेरा

प्रेम शाश्वत है। असंभव हो गया है कहना। क्योंकि इधर प्रेम की जितनी खोज-बीन हुई, पता चला कि प्रेम से ज्यादा क्षणभंगुर और कुछ भी नहीं है। वे बातें कवियों की थीं और अंधों की थीं, जो कहते थे प्रेम शाश्वत है।

आंख बंद चाहिए, तो ही आप कह सकते हैं प्रेम शाश्वत है। दिखता है, होता नहीं। जब आप प्रेम में होते हैं किसी के तो ऐसा ही लगता है कि यह प्रेम अब सदा-सदा चलेगा, दुनिया की कोई ताकत इसे तोड़ नहीं सकती। आप बड़ी गलती में हैं! बड़ी ताकतों की कोई जरूरत नहीं, किसी ताकत को तोड़ने की जरूरत नहीं है, आप ही तोड़ लेंगे, आप ही काफी हैं।

और प्रेम बहुत क्षणभंगुर है। सुबह जब फूल खिलता है तो कौन मान सकता है कि घड़ी भर बाद मुर्झा जाएगा! उसका खिलापन धोखा दे जाता है और लगता है सदा खिला रहेगा। वह कभी नहीं खिला रहता। जो खिला है, वह मुर्झाता है। जब प्रेम खिलता है, वह भी फूल है, वह भी मुर्झाएगा।

पश्चिम ने जान लिया ठीक से, समझ लिया ठीक से; बड़ी मुश्किल में पड़ गया। प्रेम करना मुश्किल हो गया, क्योंकि प्रेम करने के लिए वह भ्रम जरूरी था कि शाश्वत है। उस भ्रम के बिना प्रेम नहीं हो सकता। अगर वह भ्रम टूट जाए, तो प्रेम टूट जाता है।

इसलिए पश्चिम में सेक्स रह गया है, प्रेम की कोई संभावना नहीं मालूम पड़ती; सिर्फ कामवासना रह गई है। लेकिन कामवासना के आधार पर जीवन को गहराई देना मुश्किल है। और कामवासना के आधार पर परिवार का निर्माण करना मुश्किल है। और अगर कामवासना ही सत्य है, तो कामवासना के ही कारण परिवार का इतना उपद्रव, इतना दायित्व लेना व्यर्थ है।

इसलिए पति-पत्नी पश्चिम में खोते जा रहे हैं, ब्वाय फ्रेंड, गर्ल फ्रेंड बढ़ते जा रहे हैं। पति-पत्नी उतना महत्वपूर्ण नहीं रह गया है; ब्वाय फ्रेंड! उसका मतलब यह है कि अभी दोस्ती चलती है, कल बदल जाए तो कोई कानूनन उपद्रव नहीं है।

मगर तब रिक्तता मालूम होती है। प्रेम उखड़ गया और अगर ध्यान न दिया जा सके तो बड़ी अड़चन हो जाएगी। शक्ति मुक्त हो गई है और उसके लिए कोई दूसरी यात्रा का पथ नहीं है।

इसलिए आंख बंद किए रहते हैं कि जहां चल रहे हैं स्वर्ग है। नर्क में भी चल रहे हैं तो स्वर्ग है। आंख बंद रहे तो क्या फर्क पड़ता है कि नर्क है! हम भीतर अपना स्वर्ग बनाए रखते हैं। कभी-कभी मजबूरी में टक्कर लग जाती है, पैर टकरा जाता है, कहीं पत्थर से चोट खा जाते हैं, आंख खुल जाती है। फिर तत्काल बंद कर लेते हैं कि स्वर्ग है। क्योंकि वह आंख जब खुलती है तब नर्क दिखाई पड़ता है।

आपको भी रोज मौके आते हैं नर्क देखने के, फिर आप आंख बंद कर लेते हैं, चेष्टा से आंख बंद रखते हैं। यह डर है और इसलिए वैराग्य उत्पन्न नहीं हो पाता है, नहीं तो जीवन प्रत्येक को वैराग्य उत्पन्न कर दे, ऐसा है।

जीवन ऐसा है कि वैराग्य उत्पन्न होगा ही, कोई वैराग्य उत्पन्न करने के लिए आपको अथक चेष्टा नहीं करनी है। वैराग्य उत्पन्न न हो, इसके लिए आप अथक चेष्टा कर रहे हैं। सोचें, अपनी जिंदगी पर एक सिंहावलोकन करें, लौट कर अपनी जिंदगी देखें और ख्याल करें! सारी जिंदगी वैराग्य की तरफ ले जा रही है। जिंदगी का संदेश वैराग्य है, इंगित वैराग्य है। सब तरह से जिंदगी दुख देती है, फिर भी विराग पैदा नहीं होता! फिर भी विराग पैदा नहीं होता! सब तरह से जिंदगी असफल करती है, तोड़ती है, सब तरह से जिंदगी खंड-खंड कर देती है, अंग-भंग कर देती है, फिर भी वैराग्य उत्पन्न नहीं होता; चमत्कार है! नहीं तो जिंदगी का सहज स्वर वैराग्य का है।

राग में है जन्म जीवन का, वैराग्य में है परिणति। राग से हम पैदा होते हैं, लेकिन अगर राग में ही मर जाएं, तो उसका मतलब है कि जीवन का संदेश हमें सुनाई नहीं पड़ा।

वैराग्य जीवन का स्वर है। खोजें, अपने को धोखा न दें, तो सब सहयोगी हैं। सब सहयोगी हैं--मित्र भी, शत्रु भी; अपने भी, पराए भी--सब सहयोगी हैं आपको वैराग्य की तरफ ले जाने के लिए।

और वैराग्य का फल ज्ञान है।

और जिस दिन आप विराग में खड़े हो जाते हैं, और इस जगत के प्रति कोई वासना नहीं रह जाती, और इस जगत से कोई मांग नहीं रह जाती, और इस जगत की व्यर्थता स्पष्ट सामने हो जाती है, इसका फल ज्ञान है। तब आप जागते हैं। तब आप प्रज्ञान से भरते हैं। तब पहली दफे प्रज्ञा का उदय होता है। तब आपके भीतर दीया जलता है।

वैराग्य की स्थिति में ज्ञान का दीया जलता है। और अगर ज्ञान का दीया न जले तो समझना कि वैराग्य झूठा है। यह सूत्र का दूसरा हिस्सा है, कि अगर दूसरी बात घटित न हो तो पहली झूठी है, असफल गई, यह समझ लेना।

हमारे मुल्क में विरागी कम नहीं हैं, लेकिन ज्ञानी खोजना मुश्किल है। विरागी तो हर मठ-मंदिर में बैठे हुए हैं। मैं न मालूम कितने साधु-संन्यासियों को मिलता रहा हूं। वर्षों से भाग गए हैं। लेकिन कहते हैं, अभी कुछ हुआ नहीं; ज्ञान नहीं हुआ! मगर वे भी यह मानने को तैयार नहीं हैं कि उनका वैराग्य मिथ्या है, इसलिए ज्ञान नहीं हुआ। वे मानते हैं, वैराग्य तो हमारा पूरा है, ज्ञान नहीं हुआ।

अगर ज्ञान नहीं हुआ, तो पहला चरण मिथ्या गया है; तुम्हारा वैराग्य झूठा है। तुम्हारा वैराग्य पका हुआ राग नहीं है। तुम्हारा वैराग्य पके हुए राग से नहीं निकला है; तुम कच्चे भाग खड़े हुए हो। तुम बिना आंख खोले भाग खड़े हुए हो। इसको ख्याल रखें।

एक आदमी है, नर्क में चल रहा है आंख बंद करके, भीतर सपने संजोए है, उसमें स्वर्ग देख रहा है। आंख खोलता नहीं, क्योंकि डर है कि नर्क दिखाई न पड़ जाए। सुनता है खबरें ऋषियों की, मुनियों की, कि संसार नर्क है। भीतर खुद को भी लगता है कि होगा, क्योंकि आंख खोलने में डर लगता है। या कभी-कभी अचानक आंख खुल जाती है किसी दुर्घटना में तो नर्क दिखाई पड़ता है, ऋषि-मुनि सच मालूम पड़ते हैं। आंख खोलता नहीं लेकिन।

फिर घबराहट बढ़ती जाती है और ऋषि-मुनियों का स्वर भीतर छिपता चला जाता है। और यह आवाज भीतर से लगने लगती है कि सब गड़बड़ है। तो भाग खड़ा होता है। लेकिन आंख बंद किए ही भाग खड़ा होता है। तो वैराग्य ले लेता है। लेकिन आंख खोल कर राग को देखा नहीं। आंख बंद किए ही राग में था, आंख बंद किए ही वैराग्य में चला जाता है। तो फिर ज्ञान का फल नहीं आएगा। क्योंकि इस आदमी की अवस्था में फर्क नहीं आया। आंख बंद ही है। कल राग में चलता था अंधे की तरह, अब वैराग्य में चल रहा है अंधे की तरह।

राग में आंख खुलने से जो वैराग्य होता है, वह पका हुआ वैराग्य है; प्रौढ़। उस प्रौढ़ता में ही ज्ञान का दीया जलता है।

'ज्ञान का फल है उपरति।'

और जब ज्ञान का दीया जलता है तो उसका क्या फल है? ज्ञान का फल है विश्राम, उपरति। चित्त, चैतन्य, शरीर, अस्तित्व, सब उपरति को उपलब्ध हो जाते हैं। कहीं कोई श्रम नहीं रह जाता। कहीं कोई तनाव नहीं रह जाता। कोई स्ट्रेन, कोई रेखा मात्र भी तनाव की भीतर नहीं रह जाती। उपरति हो जाती है। विश्राम हो जाता है।

अगर ज्ञान से विश्राम न हो, तो समझना कि ज्ञान झूठा है। एक-एक कदम पीछे का झूठा होगा। अगर ज्ञानी भी तनाव से भरा हुआ मालूम पड़े; अगर ज्ञानी का व्यक्तित्व भी विश्राम को उपलब्ध हुआ हुआ न हो, रिलैक्स्ड न हो; अगर ज्ञानी को भी अभी अनुशासन रखना पड़ता हो अपने ऊपर, तो समझना कि ज्ञान शास्त्रों से मिला होगा, अनुभव से नहीं मिला। ज्ञान सुन कर पा लिया होगा, जान कर नहीं पाया। तो ज्ञान बुद्धि में होगा, अभी व्यक्तित्व में नहीं आया। तो ज्ञान सिर पर बोझ है, ज्ञान पंख नहीं बना कि उससे आकाश में उड़ा जा सकता।

ज्ञान का फल है विश्राम कि भीतर कोई भी श्रम न रह जाए। कोई इफर्ट, किसी तरह की चेष्टा, किसी भी तरह की चेष्टा न रह जाए, निश्चेष्ट हो जाए। जो होता है, ठीक है। तथाता आ जाए। उपरति हो जाए। जो है, ठीक है। कुछ पाने की चेष्टा न हो। कुछ खोने का डर न हो। कुछ गलत न हो जाए, इसका भय न पकड़े। कुछ भूल न हो जाए, इसकी बेचैनी न बनी रहे। कहीं चूक न जाऊं, कहीं गिर न जाऊं, कहीं भटक न जाऊं, इसका कोई तनाव न हो। इसका नाम है उपरति।

उपरति बड़ी गहन बात है। विरागी मिल जाएंगे लाखों, ज्ञान की कोई झलक न मिलेगी। ज्ञानी भी मिल जाएंगे हजारों, लेकिन उपरति की कोई झलक न मिलेगी। पंडितों की क्या कमी है? जानकारों की क्या कमी है?

लेकिन बड़े मजे की बात है कि जानकार से कभी-कभी अज्ञानी और गैर-जानकार ज्यादा विश्राम को उपलब्ध मालूम होते हैं। पंडित की खोपड़ी की जांच करवाएं और एक अज्ञानी की खोपड़ी की, तो अज्ञानी की खोपड़ी विश्राम में मिलेगी और पंडित की खोपड़ी बड़े ऊहापोह में होगी। यह तो उलटा मामला मालूम पड़ता है। इससे तो अज्ञान भी बेहतर था, क्योंकि कम से कम अज्ञान अपना तो था। यह ज्ञान उधार है, इसलिए बोझ है। जो अपना है, वह हलका करता है; और जो उधार है, वह बोझिल कर जाता है। जो अपना है, वह हमेशा खिलावट देता है; जो पराया है, वह दबा देता है।

'ज्ञान का फल उपरति, उपरति का फल शांति।'

और जो विश्राम को उपलब्ध है, वही धीरे-धीरे विश्राम में डूबते-डूबते-डूबते उस केंद्र को पा लेता है, जिसे शांति कहा है।

एक आदमी तैर रहा है। जो तैर रहा है, वह पानी की सतह पर रहेगा। तैरना चेष्टा है, श्रम है। एक आदमी ने हाथ-पैर छोड़ दिए; तैरता नहीं, पड़ा है; जहां ले जाए नदी। न ले जाए, तो भी ठीक; ले जाए, तो भी ठीक। वह उपरति को उपलब्ध हुआ। जो आदमी पड़ा है, वह धीरे-धीरे नदी में डूबने लगेगा। डूबता जाएगा। आखिरी गहराई, जब सतह आ जाएगी, तब टिकेगा। उस सतह का नाम शांति है।

वैराग्य से ज्ञान। अगर वैराग्य सही है, ज्ञान होगा ही। अगर ज्ञान सही है, उपरति होगी ही। अगर उपरति सही है, शांति अनिवार्य है। और अगर आपके विश्राम से शांति न आती हो, तो जानना कि विश्राम भी आरोपित है।

पश्चिम में बहुत किताबें लिखी जाती हैं। उनके नाम ऐसे होते हैं : यू मस्ट रिलैक्स। अब यह किताब का नाम ही बेहूदा है। मस्ट! शब्द में ही तनाव आ गया। तुम्हें विश्राम करना ही चाहिए! अब यह करना ही चाहिए, यही तो उपद्रव हो जाएगा, यही विश्राम न करने देगा। और उन किताबों को पढ़ कर लोग पड़े हैं बिस्तरों पर! शवासन साध रहे हैं; कह रहे हैं, विश्राम करना ही चाहिए! विश्राम कर रहे हैं।

वे थोप भी सकते हैं अपने ऊपर विश्राम, बिल्कुल मुर्दे की तरह अकड़ कर पड़ भी सकते हैं। लेकिन भीतर वह तनाव जारी रहेगा, क्योंकि विश्राम को भी संभालना पड़ेगा। विश्राम को भी निर्मित करेंगे आप, तो उसमें भी तो श्रम लगेगा। और ध्यान रखिए, अगर विश्राम आपको संभालना पड़े, तो उसके बाद आप थके हुए वापस निकलेंगे। क्योंकि वह जो चेष्टा है, वही तो थकाती है। अब संभाले हैं अपने को कि विश्राम कर रहे हैं! जरा भी चेष्टा नहीं करनी है! जरा भी चेष्टा नहीं करनी है--यह चेष्टा है। विश्राम को संभाल कर रखना है, कहीं विश्राम खो न जाए--यह श्रम है।

तो ऐसे विश्राम से शांति उपलब्ध नहीं होगी। विश्राम एक अस्तित्वगत घटना है। विश्राम का अर्थ है कि आपकी चेतना को कुछ पाने योग्य न रहा, आपकी चेतना की कोई मांग न रही, कुछ होने की दौड़ न रही। शांत होने की भी कोई दौड़ नहीं है। विश्राम आए, इसका भी कोई आग्रह नहीं है। आ जाए, राजी; न आए, उतने ही राजी।

मुसलमान फकीरों को कभी आपने रास्तों पर कहते हुए सुना होगा : जो दे, उसका भला; जो न दे, उसका भला। ऐसे तो भिखारी भी उसको दोहराते हैं, लेकिन वह वचन सूफियों का है। भिखारी बिल्कुल झूठा दोहराता है। जब वह कहता है, जो दे, उसका भला, तब उसकी आंख की चमक और होती है; जब वह कहता है, जो न दे, उसका भला, तब उसकी आंख में कोई चमक नहीं होती! उसको देकर देखें और न देकर देखें, फर्क पता चल जाएगा।

एक सूफी फकीर हुआ बायजीद। उसने तो इस वाक्य में थोड़ा और फर्क कर दिया था। वह कहता था, जो दे उसका भला, जो न दे उसका और भी ज्यादा भला।

किसी ने उससे पूछा कि बायजीद, जो दे उसका भला, जो न दे उसका भला, यह तो हमने सुना था। यह तुमने इसमें और क्या जोड़ दिया कि जो दे उसका भला, जो न दे उसका और भी भला!

तो बायजीद ने कहा कि जो देता है उसमें तो प्रसन्नता होती ही है, लेकिन जब कोई नहीं देता और तब प्रसन्नता होती है, तब तो धन्यवाद का भाव बहुत बढ़ जाता है। जब कोई देता है, तो ठीक है, प्रसन्नता होती ही है; लेकिन जब कोई नहीं देता और तब भी भीतर प्रसन्नता होती है, तब तो उसके पैर पकड़ने का मन होता है कि अगर यह देता तो इतनी प्रसन्नता से वंचित रह जाते, न देकर जब जो प्रसन्नता हो जाती है। इसलिए कहते हैं कि जो न दे उसका और भी भला। उसकी भी बड़ी कृपा है। उसने भी एक मौका दिया, कि जब कोई न दे, तब भी सुख की धारा में कोई अंतर नहीं पड़ता।

विश्राम का अर्थ अस्तित्वगत है, चेष्टागत नहीं। इसलिए एक-एक सीढ़ी! सभी विश्राम चाहते हैं। लेकिन वैराग्य, वह पहली सीढ़ी है; उपद्रव उपनिषद ने रख दी, शर्त कठिन रख दी। विश्राम कौन नहीं चाहता? सभी तलाश में हैं कि विश्राम कैसे मिले? सभी खोज रहे हैं, शांति कैसे मिले? लेकिन विज्ञान पूरा आपको करना पड़ेगा। फूल चाहते हैं, बीज बोते नहीं! बीज बो दें, पानी नहीं डालते! पानी डाल दें, कोई बागुड़ नहीं लगाते कि वृक्ष को जानवर न चर जाएं! सारी एक-एक... एक-एक चरण से चलना पड़े।

वैराग्य का अर्थ, हटा लिया मन दौड़ से। दौड़ से हटते ही मन, जो ऊर्जा भाग-दौड़ में नष्ट हो रही थी, वही ऊर्जा बच जाती है और ज्योति बन जाती है।

'... ज्ञान, ज्ञान का फल उपरति।'

जो जान लेता है, उसके लिए तनाव का कोई भी कारण नहीं है। जो जान लेता है, उसके लिए बेचैन होने का कोई भी कारण नहीं है। इस जगत में ऐसा कुछ भी नहीं है कि जिसके लिए बेचैन हुआ जाए।

'ज्ञान का फल उपरति, उपरति का फल शांति।'

'ऊपर बतलाई हुई वस्तुओं में उत्तरोत्तर जो न हो, तो जानना कि पहले की वस्तु निष्फल है। विषयों से दूर जाना, यही परम तृप्ति है और आत्मा का जो आनंद है वह स्वयं ही अनुपम है।'

नौवां प्रवचन

ब्रह्म की छाया संसार है

मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः।
पारोक्ष्यशबलः सत्याद्यात्मकस्तत्पदाभिधः।। 30।।
आलम्बतनया भाति योऽस्मत्प्रत्ययशब्दयोः।
अंतःकरणसंभिन्नबोधः स त्वपदाभिधः।। 31।।
मायाऽविद्ये विहायैव उपाधी परजीवयोः।
अखंड सच्चिदानन्दं परं ब्रह्म विलक्ष्यते।। 32।।

मायारूप उपाधि वाला, जगत का उत्पत्ति स्थान, सर्वज्ञता आदि लक्षणों से युक्त, परोक्षपन से मिश्र और सत्य आदि स्वरूप वाला जो परमात्मा है, वही तत शब्द से प्रसिद्ध है।

और जो मैं ऐसे अनुभव तथा शब्द का आश्रय जान पड़ता है, जिसका ज्ञान अंतःकरण से मिथ्या है, वह (जीव) त्वम शब्द से पुकारा जाता है।

इस परमात्मा को माया और जीव को अविद्या--ऐसी दो उपाधि हैं, इनको त्याग करने से अखंड सच्चिदानंद परम ब्रह्म ही जान पड़ता है।

ईश्वर को पुकारा गया है बहुत नामों से। अनेक-अनेक संबंध मनुष्य ने ईश्वर के साथ स्थापित किए हैं। कहीं ईश्वर को पिता, कहीं माता, कहीं प्रेमी, कहीं प्रेयसी भी, कहीं मित्र, कहीं कुछ और, ऐसे बहुत-बहुत संबंध आदमी ने परम सत्य के साथ स्थापित करने की कोशिश की है। लेकिन उपनिषद अकेले हैं इस पूरी पृथ्वी पर, जिन्होंने परमात्मा को सिर्फ कहा हैः दैट; वह; तत्। कोई संबंध स्थापित नहीं किया।

इसे थोड़ा समझ लेना चाहिए। यह बड़ी गहरी अंतर्दृष्टि है। परमात्मा को हम प्रेम से पिता, माता पुकार सकते हैं, लेकिन उस पुकारने में समझ कम और नासमझी ज्यादा है। परमात्मा से हम कोई भी संबंध स्थापित करें, वह नासमझी का है। क्यों? क्योंकि संबंध में एक अनिवार्य बात है कि दो की मौजूदगी होनी ही चाहिए; संबंध बनता ही दो से है। मैं हूं, मेरे पिता हैं, तो दोनों का होना जरूरी है। मैं हूं या मेरी मां है, तो दो का होना जरूरी है। परमात्मा के साथ ऐसा कोई भी संबंध सही नहीं है, ऐसा कोई भी संबंध संभव नहीं है, जिसमें हम दो रह कर संबंधित हो पाएं। उसके साथ तो खोकर ही संबंधित हुआ जा सकता है; अलग रह कर संबंधित नहीं हुआ जा सकता।

इस जगत के सारे संबंध अलग रह कर ही संबंध होते हैं। परमात्मा के साथ जो संबंध है, वह लीन होकर, खोकर, एक होकर स्थापित होता है। यह बड़ी उलझन की बात है। संबंध के लिए दो का होना जरूरी है। इसलिए हम यह भी कह सकते हैं कि परमात्मा से कोई संबंध कभी स्थापित नहीं हो सकता। अगर संबंध के लिए दो का होना जरूरी है, तो परमात्मा से फिर कोई संबंध स्थापित नहीं हो सकता। क्योंकि परमात्मा से तो मिलन ही तब होता है जब दो मिट जाते हैं और एक रह जाता है।

कबीर ने कहा हैः खोजने निकला था, बहुत खोज की और तुझे नहीं पाया। खोजते-खोजते खुद खो गया, तब तू मिला। वह जो खोजने निकला था, वह जब तक था, तब तक तुझसे कोई मिलना न हुआ; और जब खोजते-खोजते तू तो न मिला, लेकिन खोजने वाला खो गया, तब तुझसे मिलना हुआ।

इसका तो मतलब यह हुआ कि मनुष्य का परमात्मा से मिलना कभी भी नहीं होता है। क्योंकि जब तक मनुष्य रहता है, परमात्मा नहीं होता। और जब परमात्मा होता है तो मनुष्य नहीं होता। दोनों का मिलना कभी नहीं होता। इसलिए इस जगत के जितने संबंध हैं, उनमें से कोई भी संबंध हम परमात्मा पर लागू करके भूल करते हैं। पिता से मिला जा सकता है बिना मिटे; मिटना कोई शर्त नहीं है। माता से मिला जा सकता है बिना मिटे, मिटना कोई शर्त नहीं है। लेकिन परमात्मा से मिलने की बुनियादी शर्त है मिट जाना। संबंध होता है दो के बीच, और परमात्मा से संबंध होता है तब, जब दो नहीं होते। इसलिए संबंध बिल्कुल उलटा है।

उपनिषदों ने परमात्मा नहीं कहा, पिता नहीं कहा, माता नहीं कहा, कोई मानवीय संबंध स्थापित नहीं किए। सब मानवीय संबंध स्थापित करना, समाजशास्त्री कहते हैं, एंथ्रोपोसेन्ट्रिक है, मानव-केंद्रित है। आदमी अपने को ही थोपता चला जाता है हर चीज में।

इस एंथ्रोपोसेन्ट्रिक, यह मानव-केंद्रित जो दृष्टि है, इसे थोड़ा समझ लेना चाहिए, क्योंकि आधुनिक मनसशास्त्र, समाजशास्त्र इस शब्द से बहुत प्रभावित हैं और इसका बड़ा मूल्य स्वीकार करते हैं। आदमी जो कुछ भी देखता है, उसमें आदमी को आरोपित कर लेता है। चांद पर बादल घिरे हों, तो हम कहते हैं, चांद का मुखड़ा घूंघट में छिपा है। न वहां कोई मुखड़ा है और न वहां कोई घूंघट है। पर आदमी अपने अनुभव को, स्वाभाविक, स्वाभाविक, स्वभावतः, अपने अनुभव को आरोपित कर लेता है; हर चीज को! चंद्रमा पर ग्रहण लगा हो, तो हम कहते हैं, राहू-केतु ने ग्रस लिया, दुश्मन चंद्र के उसके पीछे पड़े हैं।

आदमी आदमी की ही भाषा में सोच सकता है। इसलिए हम अपने चारों तरफ जो भी देखते हैं, उसमें हम अपने को आरोपित करते चले जाते हैं। पृथ्वी को हम माता कहते हैं; आरोपण है। आकाश को हम पिता कहते हैं; आरोपण है। और हम खोजने जाएंगे तो आदमी ने जो-जो संबंध निर्धारित किए हैं अपने जगत से, उन सब में अपने ही संबंधों को स्थापित कर दिया है।

फ्रायड कहता है कि ईश्वर की जो बात है, वह असल में पिता का सब्स्टीट्यूट है, परिपूरक है। बच्चा पैदा होता है। असहाय होता है, कमजोर होता है, असुरक्षित होता है; पिता वरदहस्त बन जाता है, बचाता है, बड़ा करता है; उसकी छाया में बड़ा होता है। छोटा बच्चा अपने पिता को परम शक्ति मानता है; उससे बड़ा कोई दुनिया में नहीं। इसलिए छोटे बच्चे अक्सर विवाद करते रहते हैं कि किसका पिता बड़ा है। हर बच्चा दावा करता है, मेरा पिता बड़ा है। और हर बच्चे को लगता है कि उसके पिता से बड़ा और क्या हो सकता है! आखिरी, अल्टीमेट, जो आखिरी बात हो सकती है शक्ति की, वह पिता के हाथ में है।

बचपन में बच्चा सहारा लेकर बड़ा होता है पिता का। भरोसा, आस्था, आदर, सब उसका पिता के प्रति होता है। अगर पिता उसका हाथ पकड़ कर आग में भी चला जाए, तो वह मजे से हंसता हुआ चला जाएगा; क्योंकि जहां पिता जा रहा है, वहां जाने में कोई अड़चन नहीं है। अभी न कोई संदेह जगा है, न अभी कोई अनास्था पैदा हुई है; अभी पिता परम श्रद्धा का पात्र है।

लेकिन जैसे-जैसे बच्चा बड़ा होगा, यह श्रद्धा टूटने लगेगी; पिता की कमजोरियां दिखाई पड़नी शुरू हो जाएंगी। सबसे पहली कमजोरी तो यह दिखाई पड़ेगी कि जैसे ही बच्चा थोड़ा बड़ा होगा और समझेगा, तो पाएगा कि सौ में नब्बे मौके पर माता ज्यादा ताकतवर है, पिता कमजोर है। सौ में नब्बे, निन्यानबे मौके पर पाएगा कि पिता की सब अकड़-धकड़, शान-शौकत, वह सब बाहर-बाहर है घर के, घर के भीतर वह दब कर आता है, डरा हुआ आता है। उसकी श्रद्धा में पहली अड़चन हो जाएगी। फिर जैसे-जैसे बड़ा होगा, समझ बढ़ेगी, देखेगा कि पिता का भी बॉस है, जिसके सामने पिता बिल्कुल खड़ा हुआ कंपता है।

तो बचपन में जो श्रद्धा पोसी थी पिता के प्रति, वह पिता से हट जाएगी, खाली हो जाएगी। वह खाली श्रद्धा ही आदमी--फ्रायड के हिसाब से--परमात्मा पर थोपता है, एक कल्पित पिता पर, ताकि मन खाली न रह जाए। इसलिए आदमी परमात्मा को पिता कहते हैं, कि वह परम पिता है, महान शक्तिशाली है।

ख्याल रखें, बच्चे जो-जो गुण पिता में बताते हैं, वही गुण धार्मिक लोग परमात्मा में बताते हैं। और जैसे बच्चे लड़ते हैं कि हमारा पिता बड़ा, ऐसे ही हिंदू, मुसलमान, ईसाई लड़ते हैं कि हमारा पिता बड़ा! किसका ईश्वर बड़ा? वे सब बचकानी बातें हैं। मगर ईश्वर की धारणा पर पिता का आरोपण ही बचकाना है; वह बच्चे की ही बुद्धि से पैदा हुआ है।

तो फ्रायड ने तो कहा कि जब तक बच्चों को उनके पिता के पास बड़ा किया जाता है, तब तक परमात्मा से छुटकारा बहुत मुश्किल है। वह पिता का ही रूप है।

इसमें थोड़ी सचाई मालूम पड़ती है। क्योंकि जिन समाजों में मातृ-सत्ताक व्यवस्था है, मेट्रिआकल सोसाइटी जहां है, जहां मां प्रधान है और पिता गौण है, वहां कोई परमात्मा को पिता नहीं कहता, वहां परमात्मा को माता कहा जाता है। इससे बात जाहिर होती है कि फर्क... । जैसे काली के पूजक हैं, वे मां के रूप में देखते हैं परमात्मा को, पिता के रूप में नहीं। ये काली के पूजक मातृ-सत्ताक समाज से आते हैं, जहां मां प्रधान है, जहां पिता गौण है। अभी भी समाज हैं जमीन पर, जहां मां प्रधान है और पिता गौण है। उन सभी समाजों में ईश्वर की धारणा मां की है, पिता की नहीं है।

इससे फ्रायड की बात को थोड़ा सहारा मिलता है कि बचपन में कोई धारणा निर्मित होती है। और बचपन बहुत कीमती क्षण हैं, क्योंकि बचपन में जो भी बन जाता है ढांचा, पैटर्न चित्त का, उसमें जब भी कमी होती है तो बेचैनी मालूम पड़ती है। उस कमी को पूरा करना जरूरी हो जाता है। और आदमी जिंदगी भर अपने बचपन में बनाए हुए ढांचे को पूरा करने की कोशिश करता रहता है।

इससे एक और मजेदार बात आपको ख्याल में लेनी चाहिए। जिन समाजों में परिवार उखड़ गया है--जैसे आज अमरीका में परिवार उखड़ा हो गया है, जड़ें टूट गई हैं; न बच्चों को पिता की फिक्र है, न मां की; न मां और बाप को बहुत फिक्र है बच्चों की, बीच का संबंध शिथिल हो गया है--उन समाजों में ईश्वर की धारणा भी शिथिल हो जाती है। जहां परिवार डगमगाएगा, वहां परमात्मा भी डगमगा जाता है। वहां नास्तिकता फैल जाती है। जिन समाजों में पिता का बल बहुत प्रगाढ़ है और पिता की आज्ञा सर्वोपरि है और अनुशासन सुनिश्चित है, उन समाजों में नास्तिकता पैदा नहीं होती।

तो फ्रायड इससे जो निष्कर्ष निकालता है, वे अदभुत हैं, लेकिन आधे सच हैं। उसकी इस बात में सचाई है कि परमात्मा में पिता देखना, यह मनुष्य के मानसिक अभाव को भरने की चेष्टा है। लेकिन फ्रायड कहता है, बस परमात्मा इतना ही है, यहां भूल हो जाती है।

आदमी पृथ्वी को माता कहे, यह आदमी की बात है, लेकिन पृथ्वी को माता कहने से पृथ्वी नहीं नहीं हो जाती। आदमी परमात्मा को पिता कहे, माता कहे, जो कहना चाहे कहे। यह उसके परिवार, उसके बचपन, उसके मनस का विस्तार हो सकता है, लेकिन जिस पर यह विस्तार होता है वह परमात्मा गलत नहीं हो जाता। उसको हम क्या नाम देते हैं, वह हम पर निर्भर है, लेकिन उसका होना हम पर निर्भर नहीं है।

उपनिषद को अगर फ्रायड जानता होता तो बड़ी मुश्किल में पड़ता, क्योंकि उपनिषद कोई संबंध ही निर्मित नहीं करता। फ्रायड ने अगर उपनिषद पढ़े होते तो आधुनिक मनोविज्ञान की कथा दूसरी होती, क्योंकि फ्रायड ईमानदार आदमी था। और अगर उसे यह पता भी चल जाता कि कोई एक ऐसी परंपरा भी है विचार की, चिंतना की, अनुभव की, जो किसी तरह का संबंध ईश्वर से निर्धारित नहीं करती, बिल्कुल इम्पर्सनल शब्द का उपयोग करती हैः तत्। ईश्वर यानी वह, दैट। इससे ज्यादा इम्पर्सनल संबोधन, निर्वैयक्तिक संबोधन दूसरा

नहीं हो सकता। तो फ्रायड को तब बड़ी मुश्किल होती कि ये कौन लोग हैं जिन्होंने वह कहा ईश्वर को! वह का मतलब कोई नाम नहीं दिया, सिर्फ इशारा किया। वह कोई नाम नहीं है, सिर्फ इशारा है, सिर्फ अंगुली-निर्देश है।

निश्चित ही, बचपन के किसी अभाव से यह बात पैदा नहीं हो सकती, वह। मां का ख्याल आ सकता है। पिता का ख्याल आ सकता है, लेकिन वह, इसका बचपन के मनोविज्ञान से कोई भी संबंध नहीं। सच तो यह है, इसका कोई भी संबंध मनुष्य से नहीं, इसका कोई भी संबंध मनोविज्ञान से नहीं। इसका संबंध तो मन के पार जो गए हैं, उनके अनुभव से है; मनुष्य के पार जो गए हैं, उनके अनुभव से है।

यह मनुष्य और मन शब्द को भी समझ लेना चाहिए। हमने इस मुल्क में मनुष्य कहा है आदमी को। सिर्फ इसीलिए कहा है कि जो मन से घिरा है, जो मन में ही जी रहा है, मन ही जिसका ओरिएंटेशन है, मन से ही जो रस पाता है, इसलिए हमने उसे मनुष्य कहा है। अंग्रेजी का मैन भी मन का ही रूपांतरण है, और संस्कृत के ही शब्द की यात्रा है।

मन ही मनुष्य है। जहां मन का अतिक्रमण होता है, वहां मनुष्यता का भी अतिक्रमण हो जाता है। यह उन लोगों का वक्तव्य है जो मनुष्य के पार गए, मन के पार गए, और उन्होंने इशारा कियाः वह।

पर इसमें कई बातें सोच लेने जैसी हैं। पिता की पूजा हो सकती है, वह की पूजा कैसे करिएगा! पिता का मंदिर बन सकता है, मां का मंदिर हो सकता है, वह का मंदिर कैसे बनाइएगा! या बना सकते हैं? वह! इसका कैसे मंदिर बने? पुरुष, स्त्री, माता, पिता, इनकी मूर्तियां बन सकती हैं, वह की क्या मूर्ति बनाइएगा? उपनिषद से बड़े मूर्तिभंजक शास्त्र दूसरे नहीं हैं, हालांकि एक शब्द नहीं कहा है उन्होंने कि मूर्ति की पूजा मत करना।

यह भी थोड़ा समझ लेने जैसा है। मुसलमान मूर्ति को तोड़ने में लगे रहे हैं, सिर्फ इसीलिए कि मोहम्मद ने कहा उसकी कोई मूर्ति नहीं हो सकती। मोहम्मद की वाणी ठीक उपनषिद की बात है, कि उसकी कोई मूर्ति नहीं हो सकती। लेकिन जिसकी मूर्ति बन नहीं सकती, उसकी मूर्ति तोड़ी जा सकती है यह मुसलमान मानते हैं। जिसकी बन ही नहीं सकती उसकी तोड़ी क्या खाक जा सकती है! तो एक तरह के पागल बनाने में लगे हैं, दूसरी तरह के पागल मिटाने में लगे हैं!

यह बड़े मजे की बात है कि मूर्तिभंजक भी मूर्तिपूजक ही होता है। वह जो मूर्ति को तोड़ने जाता है, वह भी मूर्ति को मानता तो है ही; कम से कम तोड़ने योग्य मेहनत तो उठाता ही है। इतना तो भरोसा उसका भी है। फर्क क्या है? एक पूजा के फूल रखने जाता है, एक जाकर हथौड़े से सिर तोड़ आता है।

छैनियों और हथौड़ों से ही ये मूर्तियां बनती हैं और छैनी-हथौड़ों से ही तोड़ी जाती हैं। दोनों की आस्था में बहुत फर्क नहीं है। दोनों मानते हैं कि मूर्ति में कोई महत्व है। पूजा करने वाला मानता है कि महत्व है, तोड़ने वाला भी मानता है कि महत्व है। कभी-कभी तो तोड़ने वाला ज्यादा महत्व मानता है, क्योंकि पूजा करने वाला जीवन को संकट में नहीं डालता मूर्ति के लिए, तोड़ने वाला जीवन को संकट में डालता है। जान लगा देता है अपनी उसको तोड़ने में, कुरान कहती है कि जिसकी कोई मूर्ति ही नहीं हो सकती। तो किसकी मूर्ति तोड़ते हो?

उपनिषद न तो मूर्तिपूजक हैं और न मूर्तिभंजक। उपनिषद की दृष्टि रूप, आकार, मूर्ति के बिल्कुल पार चली गई है। कहाः वह, दैट, तत्। इसकी क्या मूर्ति बन सकती है? इसकी कोई मूर्ति नहीं बन सकती। वह रूप नहीं है। वह का कोई रूप है? आकार है? वह कोई रूप नहीं है, वह निराकार है। शब्द भी निराकार है वह। उसका अगर बनाना भी चाहें कोई रूप तो बनेगा नहीं। है क्या यह वह, तत्? इशारा है, जैसे किसी ने अंगुली की और कहाः दैट, वह।

विटगिन्सटीन एक बहुत अदभुत आधुनिक चिंतक हुआ। इस सदी में जो बड़े से बड़े तर्क के जन्मदाता हुए, उनमें विटगिन्सटीन है। विटगिन्सटीन ने अपनी बहुमूल्य, इस सदी में लिखी गई दो-चार, पांच किताबों में एक

मूल्यवान किताब, टैक्टेटस लाजिकस में लिखा है, कि कुछ बातें ऐसी हैं जो कही नहीं जा सकतीं, सिर्फ उनकी तरफ इशारा किया जा सकता है। देअर आर थिंग्स व्हिच कैन नाट बी सेड, बट स्टिल दे कैन बी शोड। कहा तो नहीं जा सकता उनके बाबत कुछ, लेकिन इशारा किया जा सकता है।

उपनिषद इशारा करते हैं परमात्मा की तरफ, कहते कुछ भी नहीं हैं। सिर्फ इशारा हैः वह। इस इशारे में कई बातें निहित हैं, वह ख्याल में ले लें।

एक तो यह बात निहित है कि उससे कोई संबंध नहीं जोड़ा जा सकता। इसलिए उपनिषद नहीं कहते, तू! उपनिषद नहीं कहते, तू; तू से संबंध बन जाता है मैं का। जहां तू है, वहां मैं भी होगा। तू बिना मैं के नहीं हो सकता। जब भी मैं किसी से कहता हूं--तुम, तू; तब मैं आ गया; तब मैं मौजूद हो गया। मेरे ही संबंध में कोई तू होता है, और किसी तू के संबंध में मैं होता हूं। मैं और तू गठजोड़ा है दोनों का; एक साथ होते हैं। वह अकेला है। उसके साथ किसी दूसरे के होने की कोई भी जरूरत नहीं है। वह से कोई ध्वनि नहीं निकलती कि कोई और भी है। जब भी हम कहते हैं तू, तो जिससे भी हम कहते हैं, वह हमारे ही तल पर आ जाता है। हम और वह साथ-साथ खड़े हो जाते हैं। जब हम कहते हैं वह, तो हमारे तल से उसका कोई भी संबंध नहीं जुड़ता। वह कहां है? नीचे है, ऊपर है, साथ है? कुछ पता नहीं चलता। उपनिषदों ने बहुत सोच कर तत कहा है ब्रह्म को।

इस सूत्र को हम समझें।

'मायारूप उपाधि वाला, जगत का उत्पत्ति स्थान, सर्वज्ञता आदि लक्षणों से युक्त, परोक्षपन से मिश्र, सत्य आदि स्वरूप वाला जो परमात्मा है, वही तत शब्द से प्रसिद्ध है।'

'और जो मैं ऐसे अनुभव तथा शब्द का आश्रय जान पड़ता है, जिसका ज्ञान अंतःकरण से मिथ्या है, वह (जीव) त्वम शब्द से पुकारा जाता है।'

त्वम्; दाऊ; तू।

जब भी हम किसी को कहते हैं तू, त्वम्, दाऊ, वैसे ही हमने स्वीकार कर लिया सीमा को। दूसरा हमें पूरा-पूरा दिखाई पड़ रहा है। उसका आकार है, शरीर है। आप किसी अशरीरी अस्तित्व को तू नहीं कह सकते। आकाश की तरफ आंख उठा कर तू कहिए तो पता चलेगा। कोई अर्थ नहीं होता। आकाश से कैसे तू कहिएगा? कोई संबंध नहीं जुड़ता। इतना विस्तार है, कोई सीमा नहीं दिखाई पड़ती, तू का संबंध नहीं जुड़ता। तू का संबंध वहीं जुड़ता है, जहां आकार हो। परमात्मा तो आकाश से भी विस्तीर्ण है। आकाश भी जहां एक घटना है। इस परमात्मा के साथ त्वम का कोई संबंध नहीं जुड़ता है, तू का कोई संबंध नहीं जुड़ता है।

इसलिए भी नहीं जुड़ता है कि परमात्मा के सामने खड़े होकर मैं की कोई याद नहीं बच सकती है कि मैं हूं। जिसे अभी भी ख्याल है कि मैं हूं, वह परमात्मा को देख ही नहीं पाएगा। मैं ही तो पर्दा है; मैं ही तो बाधा है। जब तक मैं है, तब तक मैं तू को ही देखूंगा सब जगह; तब तक निराकार से मेरा संबंध नहीं होगा, आकार से ही मेरा संबंध होगा।

ध्यान रहे, इसे एक सूत्र, गहरा सूत्र समझ लें कि जो मैं हूं, जैसा मैं हूं, जहां मैं हूं, उसी तरह के संबंध मेरे निर्मित हो सकते हैं। अगर मैं मानता हूं मैं शरीर हूं, तो मेरे संबंध केवल उनसे ही हो सकते हैं जो शरीर हैं। अगर मैं मानता हूं कि मैं मन हूं, तो मेरे संबंध उनसे होंगे जो मानते हैं कि मन हैं। अगर मैं मानता हूं कि मैं चेतना हूं, तो मेरे संबंध उनसे हो सकेंगे जो मानते हैं कि वे चैतन्य हैं। अगर मैं परमात्मा से संबंध जोड़ना चाहता हूं, तो मुझे परमात्मा की तरह ही शून्य और निराकार हो जाना पड़ेगा जहां मैं की कोई ध्वनि भी न उठती हो, क्योंकि मैं आकार देता है। वहां सब शून्य होगा तो ही मैं शून्य से जुड़ पाऊंगा। निराकार भीतर मैं हो जाऊं, तो ही बाहर

के निराकार से जुड़ पाऊंगा। जिससे जुड़ना हो, वैसे ही हो जाने के सिवाय और कोई उपाय नहीं है। जिसको खोजना हो, वैसे ही बन जाने के सिवाय और कोई उपाय नहीं है।

दो शब्दः तत और त्वम्। जीव को हम कहते हैं त्वम्; उस चेतना को जो शरीर में घिरी है, सीमित है। और उस चेतना को हम कहते हैं तत्, जो सब सीमाओं के पार विस्तीर्ण है, असीम है। बूंद को हम कहते हैं त्वम और सागर को हम कहते हैं तत्। अणु को हम कहते हैं त्वम और विराट को हम कहते हैं तत्। जो क्षुद्र है, उसे हम कहते हैं त्वम्; और जो विराट है, उसे हम कहते हैं तत्।

यह तत पर, वह पर, दैट पर क्यों इतना आग्रह उपनिषदों का है? आपसे कोई अपेक्षा उपनिषद की नहीं है कि आप परमात्मा की पूजा में, प्रार्थना में लग जाएं। नहीं, उपनिषद की अपेक्षा आपसे कोई परमात्मा की भक्ति करने के लिए नहीं है। उपनिषद की अपेक्षा तो आपसे है कि आप परमात्मा हो जाएं।

इस फर्क को थोड़ा ठीक से समझ लें।

उपनिषद की महत्वाकांक्षा अंतिम है, चरम है; इससे बड़ी कोई महत्वाकांक्षा जगत में कभी पैदा नहीं हुई। आप परमात्मा की पूजा करें, प्रार्थना करें, भक्ति करें, उपनिषद इससे राजी नहीं है। उपनिषद कहता है, जब तक परमात्मा ही न हो जाएं, तब तक परम सत्य हाथ नहीं लगता है। उपनिषद मानता है कि परमात्मा हुए बिना नियति पूरी नहीं होती है। वह का मतलब है कि हम कोई पूजा का, कोई भक्ति का संबंध परमात्मा से जोड़ने नहीं जा रहे हैं; वह से संबंध जोड़ा भी नहीं जा सकता; हम सब संबंध छोड़ने जा रहे हैं। हम अंत में अपने को भी छोड़ देंगे, ताकि संबंधित होने वाला ही न रहे और संबंध भी न हो सके। और अंततः हम वही हो जाएंगे जिसको हमने वह कह कर पुकारा है।

इसलिए बात कठिन भी हो जाती है, क्योंकि धर्म से हमारी धारणा आमतौर से होती है भक्ति की, धारणा आमतौर से होती है पूजा-प्रार्थना की, स्तुति की। उपनिषद की धर्म से धारणा पूजा, स्तुति, प्रार्थना की बिल्कुल नहीं है। उपनिषद की धारणा है प्रत्येक व्यक्ति में छिपा हुआ वह, तत्--उसको उघाड़ने, उदघाटित करने की।

उपनिषद धर्म का विज्ञान है। जैसे विज्ञान पदार्थ के भीतर छिपे हुए सत्य को खोजता है। जैसे विज्ञान पदार्थ को तोड़ता है, अणु-अणु को तोड़ता है और उसके भीतर छिपी हुई ऊर्जा का पता लगाता है, नियम की खोज करता है। किस नियम के आधार पर पदार्थ चल रहा है, इसका अन्वेषण करता है--वैसे ही उपनिषद चेतना के अणु-अणु में प्रवेश करते हैं। और चैतन्य का क्या नियम है, और चैतन्य कैसे जगत में गतिमान है, कैसे स्थिर है, कैसे छिपा है, कैसे प्रकट है, इसकी खोज करते हैं।

विज्ञान की भाषा है उपनिषद की भाषा। अगर एक वैज्ञानिक हाइड्रोजन खोज लेता है, या एक वैज्ञानिक एटामिक एनर्जी खोज लेता है, तो वह ऐसा नहीं कहता कि एटामिक एनर्जी मेरी मां है कि मेरा पिता है; कोई संबंध नहीं जोड़ता। वह! एक नियम है जो उसने खोज लिया। उससे कोई संबंध बनाने की बात नहीं है। उससे कोई राग की भाषा नहीं निर्मित करता। और विज्ञान राग की भाषा निर्मित करे तो विज्ञान न रह जाए। राग, संबंध, अवैज्ञानिक है; विकृत करेगा सत्य को। इसलिए दूर, तटस्थ खड़े रह कर संबंध से विज्ञान के सत्य को देखना होगा वैज्ञानिक को; कोई निकट जाकर अपना आत्मीय संबंध निर्मित नहीं करना है।

उपनिषद भी विज्ञान की भाषा बोलते हैं। कहते हैंः वह। कोई संबंध नहीं जोड़ते। अपने को अलग रख लेते हैं, दूर हटा लेते हैं। जब उपनिषद कहता है वह, तो हमें पता भी नहीं चलता कौन कह रहा है। जब कोई कहता है पिता, परम पिता है परमात्मा, तो हमें पता चलता है कौन कह रहा है। कोई, जिसकी पिता की वासना पूरी नहीं हुई। कोई, जिसका पुत्रपन अधूरा रह गया। कोई, जिसे मां-बाप का प्यार न मिला हो। कोई, जिसे ज्यादा प्यार मिल गया हो और अपच हो गया हो। लेकिन कोई, जिसके संबंध में पिता और जिसके संबंध

में कहीं न कहीं कोई अड़चन हो गई है; वही पुकार रहा है। लेकिन जब कोई कहता है वह, तो बोलने वाले का कोई पता नहीं चलता, कौन पुकार रहा है। उसके बाबत कोई खबर नहीं मिलती। इशारा बड़ा निर्वैयक्तिक है, और इसलिए बहुमूल्य है।

और जैसे ही हम कहते हैं वह, झगड़ा समाप्त हो जाता है। यह बड़े मजे की बात है। अगर ईश्वर को हम तत कहें, तो हिंदू-मुसलमान लड़ें कैसे? ईसाई के तत में और हिंदू के तत में क्या फर्क होगा? ईसाई कहे परमात्मा को वह, हिंदू कहे परमात्मा को वह, मुसलमान कहे परमात्मा को वह, तो तीनों में कोई भी झगड़ा नहीं हो सकता। चाहे वह के लिए कोई भी शब्द उपयोग किया जाए। तत कहे कोई, दैट कहे कोई, तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता, झगड़ा नहीं हो सकता।

लेकिन जब मुसलमान कहता है उसे कुछ, हिंदू कहता है कुछ, ईसाई कहता है कुछ; जब पिता कहते हैं वे, तो पिता के साथ ही उन सबकी धारणाएं बदल जाती हैं।

यह बहुत सोचने जैसी बात है। फ्रायड ने कहा है कि जब भी कोई परमात्मा को पिता कहता है, तो थोड़ा विचार करे भीतर, वह अपने परमात्मा की धारणा में अपने पिता की तस्वीर को पाएगा। पाएगा ही! जब आप कहेंगे मां, तो आपकी मां उपस्थित हो जाएगी। आपकी मां की धारणा क्या है? तो थोड़ा-बहुत परिष्कार करके, शुद्ध करके, साफ-सुथरा करके, रंग-रोगन करके, अपनी ही मां की धारणा को आप परमात्मा बना लेंगे।

दिदरो ने, एक फ्रेंच विचारक ने बहुत गहरी मजाक की है। उसने कहा है कि अगर घोड़े अपना परमात्मा बनाएं, तो उनकी शकल घोड़ों की ही होगी--परमात्मा की शकल! कोई घोड़ा आदमी की शकल का परमात्मा नहीं बना सकता, यह पक्का है। और यह हम जानते हैं। नीग्रो परमात्मा को बनाता है, तो उसके बाल घुंघराले होते हैं; होने वाले हैं। उसके ओंठ नीग्रो के ओंठ होंगे। उसकी शकल काली शकल होगी, नीग्रो की शकल होगी। चीनी परमात्मा की शकल बनाते हैं, तो गाल की हड्डियां निकली हुई होंगी ही। क्योंकि परमात्मा, और चीनी न हो, यह भी हो सकता है!

हमारी ही धारणा तो हम आरोपित करेंगे। अंग्रेज कभी कल्पना कर सकते हैं काले परमात्मा की! कोई उपाय नहीं है। हिंदुओं ने परमात्मा की जो कल्पना की है, वह आप देखते हैं! कृष्ण हैं, राम हैं, सब श्याम-वर्ण हैं! श्याम-वर्ण हिंदुओं के मन में खूब सौंदर्य का प्रतीक रहा है। रहेगा! नाक-नक्शा आप देखते हैं! वह जो हिंदू चित्त की धारणा है सौंदर्य की, वही राम और कृष्ण पर रहेगी। होगी ही!

आपने राम, कृष्ण, क्राइस्ट, मोहम्मद, कभी ख्याल किया कि इनके कान बहुत बड़े-बड़े नहीं हैं, छोटे हैं। लेकिन आपने बुद्ध, महावीर, इनकी मूर्तियां देखी हैं, कान कंधे को छूते हैं! क्योंकि जैनों और बौद्धों की धारणा है कि जो तीर्थंकर होता है, उसका कान कंधे को छूता है। इसका कुल कारण इतना ही मालूम होता है कि उनका जो पहला तीर्थंकर है जैनों का, उसके कान लंबे रहे होंगे, कंधे को छुए होंगे। फिर वह धारणा बन गई। और यह मानने का कोई कारण नहीं है कि चौबीस ही तीर्थंकरों के कानों ने कंधे को छुआ होगा। लेकिन एक दफा धारणा बन जाए तो फिर मूर्तियां धारणा के अनुसार बनती हैं, व्यक्तियों के अनुसार नहीं बनतीं।

इसलिए अगर आप जैनों की चौबीस मूर्तियों को देखें तो आप बता नहीं सकते कि कौन सी मूर्ति महावीर की, कौन सी पार्श्व की, कौन सी नेमी की है। कोई नहीं बता सकते, जब तक कि नीचे का आप प्रतीक न देखें कि चिह्न किसका बना है। मूर्तियां सब एक जैसी हैं।

एक धारणा तय हो जाती है, फिर उस धारण के अनुसार हम चलते और जीते हैं। हमारे सब परमात्मा हमारी धारणाओं से निर्मित हो जाते हैं। लेकिन वह की कोई धारणा नहीं हो सकती। इसलिए जिस दिन दुनिया में कभी सार्वभौम धर्म का उदय होगा, उस दिन उपनिषद पहली दफा ठीक से समझे जाएंगे। उस दिन हम

समझेंगे कि उपनिषदों ने पहली दफा वैज्ञानिक भाषा का प्रयोग किया है और आदमी का वह जो एंथ्रोपोसेन्ट्रिक, मनुष्य-केंद्रित जो भाषा का जाल है, उसको बिल्कुल छोड़ दिया है, उसको हटा दिया है।

'इस परमात्मा को माया और जीव को अविद्या--ऐसी दो उपाधि हैं, इनको त्याग करने से अखंड सच्चिदानंद परम ब्रह्म का अनुभव होता है।'

यह थोड़ा कठिन सूत्र है। परमात्मा को माया की उपाधि है और जीव को अविद्या की। उपाधि कहें, बीमारी कहें। परमात्मा को माया की उपाधि है... ।

यह, इस प्रत्यय में प्रवेश करना पड़ेगा। थोड़ा जटिल है और सूक्ष्म है। और मनुष्य के मन में अनेक-अनेक ऊहापोह हुए हैं। थोड़ा ऊहापोह समझ लें, फिर इसमें उतर जाएं।

एक कठिनाई सदा से रही है चिंतनशील आदमी के सामने कि अगर हम परमात्मा को मानें तो जगत को मानना बहुत मुश्किल हो जाता है, और अगर हम परमात्मा को मानें तो जगत की व्याख्या कठिन हो जाती है। अब जैसे, अगर परमात्मा ने जगत बनाया तो इतनी बीमारी, इतना दुख, इतनी पीड़ा, इतना पाप! अगर परमात्मा ने ही जगत बनाया तो आदमी को ऐसे अज्ञान में डालने की जरूरत क्या है? जिम्मेवार आदमी नहीं रह जाता, जिम्मेवार परमात्मा हो जाता है।

अभी एक ईसाई पादरी मुझे मिलने आए थे। मैंने उनसे पूछा कि किस काम में लगे हैं? वे बोले कि हम पाप से लड़ने में लगे हैं। मैंने कहा, पाप! यह पाप आया कहां से? उन्होंने कहा, यह शैतान ने पैदा किया है।

अभी तक वह बिल्कुल आश्वस्त थे। आमतौर से कोई ज्यादा इन बातों में पूछताछ नहीं करता, क्योंकि ज्यादा पूछताछ करने में अड़चन आती है।

मैंने उनसे पूछा, और शैतान को किसने बनाया?

तब वे जरा झिझके, क्योंकि अब कठिन बात आ गई। वे डरे भी अगर कहें कि ईश्वर ने बनाया, तो मामला बड़ा खराब हो जाता है। क्योंकि ईश्वर शैतान को बनाता है, शैतान पाप को बनाता है, यह पूरा गोरखधंधा क्या है! और ईश्वर को इतनी भी बुद्धि नहीं है कि शैतान को न बनाए! और जब ईश्वर तक चूक गया शैतान को बनाने में, तो हम और आप चूक जाएं पाप करने में, तो इसमें अड़चन क्या है? और फिर पाप शैतान बनाता है और शैतान को ईश्वर बनाता है और हम पाप करते हैं, तो जिम्मेवार कौन है? हम तो विक्टिम हैं, हम तो शिकार हो गए मुफ्त! हमारा इसमें कोई संबंध ही नहीं है। परमात्मा हमको बनाता, परमात्मा शैतान को बनाता, शैतान पाप को बनाता, हम पाप करते हैं। इस पूरे वर्तुल में हमारी जिम्मेवारी कहां है? न हम परमात्मा को बनाते, न हम शैतान को बनाते, न हम पाप को बनाते, हम इन तीनों के नाहक उपद्रव को झेल रहे हैं!

वे थोड़े बेचैन हो गए। कोई उत्तर नहीं है ईसाइयत के पास। किसी के पास उत्तर खोजना मुश्किल है; क्योंकि यह बड़ी अड़चन की बात है। या कुछ लोगों ने, जैसे कि पारसी मानते हैं, जरथुस्त्र की मान्यता है कि ये दो तत्व हैं--परमात्मा और शैतान, ये दो तत्व हैं। किसी ने किसी को बनाया नहीं, दोनों शाश्वत हैं। तब और खतरा खड़ा हो जाता है! क्योंकि अगर दोनों शाश्वत हैं तो कोई भी कभी जीत नहीं सकता और कोई कभी हार नहीं सकता; शैतान और परमात्मा लड़ते रहेंगे। आप कौन हैं? आप क्षेत्र हैं, जहां वे लड़ रहे हैं; कुरुक्षेत्र! और कोई जीत नहीं सकता, कोई हार नहीं सकता, क्योंकि दोनों शाश्वत हैं।

उनकी भी कठिनाई है कि अगर शाश्वत न मानें और यह कहें कि शैतान हार सकता है, तो सवाल उठता है कि अभी तक हारा क्यों नहीं? इतना जमाना हो गया, अभी तक हारा नहीं, आगे क्या पक्का भरोसा है? हालत तो उलटी दिखती है कि शैतान रोज जीत रहा है! हारना तो बहुत दूर है, हालत यह दिखती है कि शैतान रोज जीत रहा है!

आप जान कर हैरान होंगे कि अमरीका में अभी उन्नीस सौ सत्तर में एक चर्च रजिस्टर करवाया गया है। केलिफोर्निया में एक नया चर्च रजिस्टर करवाया गया है--दि फर्स्ट चर्च ऑफ डेविल, शैतान का पहला मंदिर! और उनके अनुयायी हैं, उनका आर्च प्रीस्ट है। और उन्होंने अपनी बाइबिल छापी है। और उन्होंने कहा है कि अब हम यह घोषणा कर देते हैं कि पर्याप्त है अब समय अनुभव करने के लिए कि परमात्मा हार रहा है और शैतान जीत रहा है।

वे भी बात तो ठीक कहते हैं; अगर दुनिया को देखें तो उनकी बात एकदम गलत नहीं मालूम पड़ती। दुनिया को अगर देखें, तो शैतान का अनुयायी जीत जाता है, ईश्वर का अनुयायी मात खा जाता है। शैतान के अनुयायी पदों पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं, ईश्वर का अनुयायी इधर-उधर भटकता रहता है। कोशिश करके देखें।

इसलिए ईश्वर के अनुयायी भी ट्रिक समझ गए हैं; नाम ईश्वर का लेते हैं, काम शैतान से करवाते हैं! वे समझ गए हैं कि जीतता कौन है; आखिरी हिसाब में शैतान जीतता है। लेकिन मन में डर भी बना रहता है कि कहीं भूल-चूक कभी परमात्मा जीत जाए, तो राम-राम भी जपते रहो! दोनों नाव पर सवार रहते हैं सभी समझदार लोग। जब जरूरत होती है, शैतान से काम लेते हैं; और जब कोई जरूरत नहीं होती, फुर्सत का समय होता है, तो माला फेर लेते हैं! इससे एक समझौता बना रहता है, और एक बैलेंस। और फिर आखिर में क्या पता, कौन जीतेगा!

जगत अगर कोई खबर देता है तो शैतान के जीतने की देता है; परमात्मा की जीत तो कहीं दिखाई नहीं पड़ती। शुभ बढ़ता हुआ मालूम नहीं पड़ता, अशुभ कमता हुआ मालूम नहीं पड़ता। प्रकाश बढ़ता हुआ मालूम नहीं पड़ता, अंधकार कम होता हुआ मालूम नहीं पड़ता।

तो शाश्वत मानें तो अड़चन है। अगर ऐसा मानें कि शाश्वत नहीं है, शैतान अंततः हारेगा--बीच में कितना ही जीते, आखिर में तो हारेगा ही। लेकिन इसका भरोसा क्या है? इसकी गारंटी क्या है? और जो बीच में जीतता है, वह आखिर में क्यों हारेगा? जो सदा जीतता है, वह आखिर में अचानक हार जाएगा! इसमें कोई तुक और संगति नहीं मालूम पड़ती।

यह प्रश्न सारी मनुष्य-जाति के साथ है। अलग-अलग धर्मों ने अलग-अलग उपाय किए हैं इस द्वंद्व को सुलझाने के, लेकिन कोई सुलझाव होता नहीं। इस सब में उपनिषद की धारणा कम से कम गलत मालूम पड़ती है; कम से कम गलत, एकदम सही नहीं। लेकिन और सब धारणाओं के बीच अगर तौला जाए तो उपनिषद की बात सबसे ज्यादा ठीक मालूम पड़ती है; बिल्कुल ठीक नहीं; सबसे ज्यादा--तौल में, रिलेटिव, सापेक्ष।

उपनिषद कहते हैं कि संसार और परमात्मा में विरोध नहीं है; कोई शैतान नहीं है, और परमात्मा के विपरीत कोई शक्ति नहीं है। फिर यह संसार कैसे है? तो उपनिषद कहते हैं कि परमात्मा अपने किसी विरोधी को पैदा करके संसार पैदा नहीं कर रहा है; परमात्मा के होने में ही, परमात्मा की आभा में ही--जिसको वे माया कहते हैं; परमात्मा की छाया में ही--जिसको वे माया कहते हैं; संसार है। जैसे कोई आदमी खड़ा हो और उसकी छाया बने। छाया का कोई अस्तित्व तो नहीं होता--तलवार से काटें तो कट नहीं सकती, आग से जलाएं तो जल नहीं सकती, पानी में डुबाना चाहें, डूब नहीं सकती--फिर भी छाया होती है। अस्तित्व नहीं होता, फिर भी छाया तो होती है। आपके पीछे चलती है। दौड़ें तो आपके पीछे दौड़ती है, रुकें तो रुक जाती है।

उपनिषद कहते हैं, जब भी कोई चीज अस्तित्ववान होती है, तो उसकी छाया भी होती है; शैडो। यह जरा समझ लें। और इस पर विज्ञान और मनोविज्ञान की आधुनिकतम खोजें भी इसका साथ देती हैं कि इस बात में सचाई है। कोई भी चीज बिना छाया के नहीं होती। जो भी चीज होती है, उसकी छाया होती है। अगर ब्रह्म है, तो उसकी छाया होगी। और उस छाया को वे कहते हैं माया।

ब्रह्म की छाया संसार है।

जुंग ने, एक बड़े मनोवैज्ञानिक ने इस सत्य पर किसी दूसरे आयाम से काफी खोज की। और उसने पाया कि हर आदमी का एक छाया अस्तित्व भी है--ए शैडो पर्सनैलिटी। आपको भी थोड़ा समझ लेना चाहिए; आपके पास भी छाया अस्तित्व है।

आप भले आदमी हैं, क्रोध नहीं करते; शांत हैं, धैर्यवान हैं। लेकिन अचानक एक दिन कोई छोटी सी बात! बात भी इतनी बड़ी नहीं है कि क्रोध किया जाए और आप आदमी ऐसे नहीं हैं कि क्रोध करते हों; बड़ी बातों पर क्रोध नहीं करते, किसी दिन एक छोटी सी बात पर ऐसा क्रोध उबल आता है कि आपके भी समझ के बाहर हो जाता है कि क्या हो रहा है कौन कर रहा है! इसलिए लोग कहते हैं बाद में कि मेरे बावजूद हो गया; इन्सपाइट ऑफ मी। मैं कोई करना नहीं चाहता था, हो गया!

क्यों? कैसे हो गया? आप नहीं करना चाहते थे, फिर कैसे हो गया?

कई बार आप कोई बात नहीं कहना चाहते और मुंह से निकल जाती है! आप कहना ही नहीं चाहते थे और मुंह से निकल गई! आप पीछे पछताते हैं कि मैंने सोचा ही नहीं था कि कहूंगा; तय ही कर लिया था कि नहीं कहने का है; फिर निकल गई!

जुंग कहता है कि आपका एक छाया व्यक्तित्व है, जिसमें जो-जो आप इनकार कर देते हैं अपने भीतर, वह इकट्ठा होता जाता है। कभी-कभी मौका पाकर, कोई कमजोर क्षण पाकर, कोई संधि पाकर, छाया व्यक्तित्व अपने को प्रकट कर देता है।

इस छाया व्यक्तित्व के कारण एक बड़ी बीमारी तक मनोविज्ञान में अध्ययन की जाती है। बड़ी बीमारी है, सारी दुनिया में फैली हुई है। उसे स्प्लिट पर्सनैलिटी--आदमी दो टुकड़ों में टूट जाता है। कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि आदमी में दो व्यक्तित्व हो जाते हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि एक आदमी के भीतर दो आदमी हैं। कहता कुछ है, करता कुछ है, कोई तालमेल नहीं दिखाई पड़ता। सुबह कुछ है, सांझ कुछ है। कोई पक्का भरोसा नहीं किया जा सकता उसकी बात का, उसके होने का। वह खुद भी डरता है कि मैं क्या कर रहा हूं, क्या कह रहा हूं, तालमेल नहीं बैठता; जैसे भीतर दो आदमी हैं। कभी बड़ा शांत, कभी बड़ा अशांत; कभी मौन, कभी बड़ा मुखर; दो हिस्से हो गए हैं।

ऐसा भी हो जाता है, हजारों पागलखानों में हजारों पागल बंद हैं, उनकी बीमारी यह है कि उनका एक व्यक्तित्व अचानक खो गया और वे दूसरे व्यक्ति हो गए। कल तक वे राम थे, और अचानक कोई घटना घटी, एक्सीडेंट हो गया, कार से गिर पड़े, सिर में चोट आ गई, और रहीम हो गए! अब वे याद ही नहीं करते कि राम थे कभी; अपने पिता को नहीं पहचानते; मां को, पत्नी को नहीं पहचानते; अब वे अपने को रहीम बताते हैं। और वे सारा हिसाब ही दूसरा बताते हैं कि उनका कोई संबंध ही इस घर से नहीं है; पहचान भी नहीं है!

क्या हो गया? इस एक्सीडेंट में उनका जो प्रमुख व्यक्तित्व था वह आघात खा गया और उनका जो छाया व्यक्तित्व था वह सक्रिय हो गया। इसलिए वह दूसरा नाम और सब उन्होंने बदल लिया।

इस छाया व्यक्तित्व को ठीक भी किया जाता है--इलाज से, शॉक से। कभी-कभी वह ठीक हो जाता है तो वे फिर राम हो गए, फिर वे दूसरे आदमी हो गए; उनका सब व्यवहार बदल जाता है।

हर आदमी के भीतर छिपा हुआ यह छाया व्यक्तित्व है। इसको अगर उपनिषद की भाषा में कहें तो उपनिषद कहते हैं, व्यक्ति के साथ बंधी है अविद्या, वह उसका छाया व्यक्तित्व है; और ब्रह्म के साथ बंधी है माया, वह उसका छाया व्यक्तित्व है। ब्रह्म के विपरीत नहीं है यह माया, उसकी छाया ही है; उसके होने का अनिवार्य अंग है। यह संसार ब्रह्म का शत्रु नहीं है, ब्रह्म के होने का छाया अंग है।

इसे हम विज्ञान की भाषा से समझें तो शायद आसान हो जाए, वैसे बात आसान नहीं है।

अभी उन्नीस सौ साठ में एक आदमी को नोबल प्राइज मिली। यह नोबल प्राइज सबसे अनूठी है। इस आदमी को नोबल प्राइज मिली है एंटीमैटर की खोज पर। यह शब्द बड़ा अजीब है, एंटीमैटर। इस आदमी की खोज यह है कि पदार्थ भी है जगत में और पदार्थ के विपरीत भी एक अपदार्थ है, एंटीमैटर है।

और हर चीज के विपरीत चीजें हैं। कोई चीज इस जगत में बिना विपरीत के नहीं होती। जैसे प्रकाश है, तो अंधेरा है; जीवन है, तो मृत्यु है; गर्मी है, तो सर्दी है; स्त्री है, तो पुरुष है। सारा जगत दोहरी व्यवस्था से जीता है। क्या आप सोचते हैं ऐसा कोई जगत जिसमें पुरुष न हों, स्त्रियां ही स्त्रियां हों? असंभव! क्या आप सोचते हैं ऐसा कोई जगत कि पुरुष ही पुरुष हों, स्त्रियां न हों? असंभव! तालमेल इतना गहरा है कि जब बच्चे पैदा होते हैं तो लड़के एक सौ पंद्रह पैदा होते हैं और लड़कियां सौ पैदा होती हैं। लेकिन पंद्रह साल की उमर तक पंद्रह लड़के समाप्त हो जाते हैं; सौ और सौ का अनुपात बराबर हो जाता है। बायोलाजिस्ट कहते हैं, चूंकि लड़के लड़कियों से कमजोर हैं, इसलिए प्रकृति को ज्यादा पैदा करने पड़ते हैं, ताकि पंद्रह उमर पाते-पाते शादी की तो समाप्त हो जाएंगे।

यह जान कर आप हैरान होंगे कि बायोलाजी के हिसाब से स्त्री ताकतवर है, पुरुष कमजोर है। पुरुष की जो ताकत है वह मस्कुलर है; बड़ा पत्थर उठा सकते हैं, लेकिन बड़ा दुख नहीं झेल सकते। स्त्री की जो ताकत है, वह सहनशीलता है। इसलिए स्त्रियां बड़ी बीमारियां झेल लेती हैं। और जरूरी है, क्योंकि बड़ी, सबसे बड़ी बीमारी तो प्रसव है, वह झेल लेती हैं। अगर पुरुष को बच्चे पैदा करने पड़ें--पुरुष कभी की आत्महत्या कर लें! इस जगत में फिर पुरुष खोजने से नहीं मिलेगा! नौ महीने एक बच्चे को ढोना! नौ दिन तो कंधे पर लेकर देखें! नौ घंटे सही! नौ मिनट सही! कठिन मामला है। और फिर प्रसव की पीड़ा! उतनी पीड़ा झेलने के योग्य प्रकृति स्त्री को बनाती है। मजबूत है, ताकतवर है। उसकी ताकत और ढंग की है। लड़ नहीं सकती, जोर से दौड़ नहीं सकती, इससे यह मत समझना कमजोर है। उसका आयाम अलग है शक्ति का। सहन क्षमता उसकी ज्यादा है।

तो पंद्रह वर्ष की उम्र पर बराबर हो जाते हैं। सारी दुनिया में यह अनुपात बराबर बना रहता है।

आप जान कर हैरान होंगे, जब युद्ध होता है, तो लड़के ज्यादा कट जाते हैं! निश्चित ही, लड़के जाते हैं युद्ध के मैदान पर। स्त्रियां बढ़ जाती हैं। युद्ध के बाद के दिनों में लड़कों की पैदावार बढ़ जाती है, लड़कियों की कम हो जाती है।

कौन करता होगा यह आयोजन? और यह कैसे होता होगा?

युद्ध हो गया! दूसरा महायुद्ध हुआ, पहला महायुद्ध हुआ। तो बड़ी कठिनाई हुई कि पहले महायुद्ध में जो लाखों लोग मर गए--पुरुष। युद्ध के बाद के दो-तीन साल में लड़कों का अनुपात पैदावार का बढ़ गया और लड़कियों का एकदम कम हो गया, और अनुपात फिर थिर हो गया। तब चिंतन शुरू हुआ। दूसरे महायुद्ध में फिर वही हुआ। तब ऐसा लगा कि प्रकृति भीतर से विपरीत में संतुलन करती रहती है।

आप ऐसा मत सोचें कि इस जमीन पर कभी प्रकाश ही प्रकाश रह जाएगा, अंधेरा नहीं होगा। यह नहीं हो सकता। अंधेरा और प्रकाश संतुलित होंगे।

यह एंटीमैटर की खोज इसी आधार पर है कि जगत विरोध का संतुलन है। तो पदार्थ है, तो पदार्थ के विपरीत क्या है? वह दिखाई नहीं पड़ता हमें। और फिजिसिस्ट की जो धारणा है, वह बड़ी जटिल है। जैसे एक पत्थर रखा हुआ है, इस टेबल पर एक पत्थर रखा हुआ है। तो पत्थर दिखाई पड़ता है। हम पत्थर उठा लें, तो फिर तो कुछ दिखाई नहीं पड़ता। आप ऐसा कल्पना करें कि एक पत्थर रखा हुआ है यहां, और यहां एक छेद रखा हुआ है--छेद किया हुआ नहीं, पत्थर की जैसी खाली जगह। पत्थर को हम हटा लें, और उतनी अगर जगह खाली रह जाए जहां पत्थर रखा था, वह खाली जगह रखी हुई है पास में। उसका नाम एंटीमैटर है। अभी तक उसको किसी ने देखा नहीं। नोबल प्राइज मिल गई है। और मिलने का कारण यह है कि उस आदमी को गलत सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि जगत में जब सभी चीजें विपरीत से भरी हैं, तो पदार्थ के होने के लिए भी

उसका विपरीत होना जरूरी है, जो उसके पास ही कहीं छिपा हो। वह दिखे, न दिखे, लेकिन सैद्धांतिक रूप से उसको स्वीकार करने के सिवाय कोई उपाय नहीं है।

माया, हम कहें कि ब्रह्म की छाया है। ब्रह्म भी नहीं हो सकता बिना माया के, माया भी नहीं हो सकती बिना ब्रह्म के। और बड़े विराट पैमाने पर माया है छाया ब्रह्म की--कहें एंटी ब्रह्म, तो भी चलेगा--वैसे ही व्यक्ति के छोटे से तल पर अविद्या है। अविद्या व्यक्ति के पैमाने पर माया है। आपके आस-पास अविद्या भी है। अब क्या किया जा सकता है? अविद्या है व्यक्ति के पास! अविद्या को कैसे छोड़ें? और अगर यह नियति है, अगर यह विश्व की व्यवस्था है कि विपरीत होगा ही, और अगर ब्रह्म भी अब तक माया को नहीं छोड़ पाया है, अगर परम अस्तित्व भी माया से घिरा है, तो हम छोटे-छोटे क्षुद्र जन, छोटे-छोटे व्यक्ति, हम कैसे अविद्या को छोड़ पाएंगे! ब्रह्म नहीं छोड़ पाया माया को, हम अविद्या को कैसे छोड़ पाएंगे! और अगर नहीं छोड़ पा सकते, तो सारी धर्म की चेष्टा व्यर्थ हो जाती है।

नहीं; छोड़ सकते हैं। लेकिन प्रक्रिया समझ लें। हम अविद्या को तभी छोड़ सकते हैं, जब हम मिटने को राजी हो जाएं। अगर हम मिटने को राजी नहीं हैं, तो अविद्या नहीं मिट सकती, द्वंद्व जारी रहेगा। या तो दोनों रहेंगे या दोनों मिट जाएंगे। अगर मैं कहूं कि मैं तो बचना चाहता हूं और अविद्या को मिटाना चाहता हूं, तो फिर अविद्या कभी नहीं मिटेगी। वह आपकी छाया है। इसे ऐसा समझ लें कि मैं कहूं कि मैं तो रहना चाहता हूं, मेरी छाया मिटाना चाहता हूं। वह कभी नहीं मिटेगी। एक ही रास्ता है कि मैं मिट जाऊं, तो मेरी छाया मिट जाए।

इसलिए अहंकार को मिटाने पर इतना जोर है। मैं मिट जाऊं तो मेरी छाया मिट जाए। और जब मैं मिट जाता हूं, मेरी छाया मिट जाती है, तो मैं ब्रह्म से लीन होकर एक हो जाता हूं। मैं की तरह नहीं, शून्य की तरह ब्रह्म में लीन हो जाता हूं। मेरी अविद्या का क्या होता होगा? जब मैं मिटता हूं, मैं ब्रह्म में लीन हो जाता हूं, मेरी अविद्या माया में लीन हो जाती है। मैं खो जाता हूं ब्रह्म में, अविद्या खो जाती है माया में। जब भी मैं निर्मित होता हूं, मैं निकलता हूं ब्रह्म से, अविद्या निकलती है माया से। अविद्या, हम सबको माया का मिला हुआ भाग, छोटी-छोटी जमीन माया की हमको मिली हुई।

माया दुख देती है, अविद्या पीड़ा देती है, इसलिए हम छूटना चाहते हैं। ब्रह्म को पीड़ा नहीं देती होगी? ब्रह्म नहीं छूटना चाहता होगा? ब्रह्म से मतलब कोई व्यक्ति नहीं, यह विराट अस्तित्व। इसको पीड़ा नहीं होती होगी? यह नहीं छूटना चाहता होगा? हमें पीड़ा होती है, हम छूटना चाहते हैं; ब्रह्म नहीं छूटना चाहता होगा?

ब्रह्म के तल पर समस्त स्वीकार है। ब्रह्म के तल पर माया का होना स्वीकृत है। उसका कोई इनकार नहीं है। उसका कोई इनकार नहीं है, इसलिए कोई पीड़ा नहीं है। हमारे तल पर पीड़ा है। अगर हम भी स्वीकार कर लें तो वहां भी कोई पीड़ा नहीं है।

मेरे हाथ में चोट लगे, तो पीड़ा चोट से नहीं होती, पीड़ा होती है इस बात से कि चोट नहीं लगनी चाहिए थी। अगर मैं स्वीकार कर लूं कि चोट लगनी ही चाहिए थी, चोट होनी ही चाहिए थी, चोट होती ही, चोट होना नियति है, फिर कोई पीड़ा नहीं है। पीड़ा है विरोध में; पीड़ा है अस्वीकार में। तो हम स्वीकार नहीं कर पाते हैं, इसलिए पीड़ा है। कोई हममें स्वीकार कर लेता है उसे--कोई जनक, कोई कृष्ण उसे स्वीकार कर लेता है, तो यहीं, बिना कुछ किए, अविद्या माया बन जाती है, कृष्ण ब्रह्म हो जाते हैं। कृष्ण स्वीकार कर लेते हैं उसे।

कृष्ण और बुद्ध, कृष्ण और महावीर के रास्ते में यह फर्क है। महावीर अपने को मिटाते हैं ताकि अविद्या मिट जाए। कृष्ण न अपने को मिटाते हैं, न अविद्या को; स्वीकार कर लेते हैं। महावीर अपने को मिटा कर

अविद्या मिटाते हैं, कृष्ण स्वीकार करके ब्रह्मरूप हो जाते हैं--तत्क्षण। क्योंकि जब ब्रह्म माया नहीं मिटा रहा है और स्वीकार कर रहा है, तो कृष्ण भी स्वीकार कर लेते हैं।

इसलिए कृष्ण को हमने पूर्ण अवतार कहा है। कोई अस्वीकार नहीं है वहां, इसलिए पूर्णता है। जरा सा भी अस्वीकार हो, अपूर्णता हो जाती है।

इसलिए हमने राम को कभी पूर्ण अवतार नहीं कहा। कह नहीं सकते; क्योंकि राम के मन में बहुत अस्वीकार हैं; बड़ी मर्यादाएं, सीमाओं की धारणा है। एक धोबी कह देता है कि सीता पर संदेह है, तो राम यह भी नहीं सह पाते। एक धोबी! अब कोई, नासमझों की कोई कमी है दुनिया में! कोई भी कुछ कह दे! और कोई राम के वक्त के धोबी बहुत समझदार होते होंगे, ऐसा तो है नहीं कुछ। पर एक धोबी भी यह कह दे कि सीता पर संदेह है। और अपनी स्त्री से कह दे कि एक रात घर के बाहर रही, भीतर न घुसने दूंगा। मैं कोई राम नहीं हूं, क्या समझा है तूने, कि इतने दिन रावण के घर सीता रह गई और वह सज्जन लेकर वापस लौट आए हैं।

मैं कोई राम नहीं हूं, यह बात पीड़ा कर गई; राम के मन में कांटा चुभ गया। राम के मन में पूरी स्वीकृति नहीं है। वह यह न देख पाए, यह न सुन पाए कि मेरी नीति पर, मेरे चरित्र पर लांछन हो जाए। सीता को फेंक सके, हटा सके, लांछन को स्वीकार न कर सके। इसलिए हिंदू मन ने कभी राम को पूर्ण अवतार नहीं कहा। कहा, मर्यादा पुरुषोत्तम; मनुष्यों में इससे बड़ी मर्यादा का आदमी नहीं हुआ। लेकिन ध्यान रहे, मनुष्यों में! मर्यादा पुरुषोत्तम! लेकिन बस एक सीमा है। शुद्ध हैं बहुत, और शुद्ध का इतना आग्रह है कि अशुद्धि का डर है।

लेकिन कृष्ण और तरह के आदमी हैं; बदनामी का कोई डर ही नहीं है! जैसे बदनामी को निमंत्रण है! जैसे कितने बदनाम हो सकें, इसकी पूरी चेष्टा है! क्या मामला होगा?

कोई अस्वीकृति नहीं है। जो भी है, ठीक है। इसलिए गजब की घटना घटी कृष्ण के जीवन में। ठीक वैसी घटना घटी, जैसा ब्रह्म और माया की विराट में घट रही है। एक छोटी भूमि पर जैसे विराट छोटा होकर उतर आया और आस-पास माया की छोटी घटना घटी। पूरी स्वीकृति है।

जहां अविद्या स्वीकृत है, वहां नष्ट करने की कोई जरूरत नहीं है। जहां स्वीकृत नहीं है, वहां अविद्या नष्ट करनी पड़ेगी। लेकिन नष्ट करने का एक ही उपाय है, खुद को नष्ट करना। तो ही नष्ट हो पाएगी।

इसलिए महावीर और बुद्ध का रास्ता कठिन है, काटने वाला है, अहंकार को तोड़ने वाला है, मिटाने वाला है। एक-एक जड़ से तोड़ेंगे, मिटाएंगे, तब छाया मिटेगी; छुटकारा होगा। कृष्ण का स्वीकार का है। कहीं कोई तोड़ना नहीं है। लेकिन आसान वह भी नहीं है। लगता है आसान, शायद गहरे खोजें तो और भी ज्यादा कठिन भी हो सकता है। क्योंकि मन स्वीकार करने को राजी नहीं होता। मन कहता हैः यह हो, यह न हो। ऐसा हो, ऐसा न हो। मन कहता ही चला जाता हैः क्या न हो, क्या हो। मन बांटता ही चला जाता है।

तो दो ही मार्ग हैं जगत में। एक मार्ग है, दोनों को मिटा दो। और एक मार्ग है, दोनों से राजी हो जाओ। दोनों हालत में छुटकारा हो जाता है।

'इस परमात्मा को माया और जीव को अविद्या--ऐसी दो उपाधि हैं, इनके त्याग करने से अखंड सच्चिदानंद परम ब्रह्म ही जान पड़ता है।'

इनके त्याग करने से! त्याग के दो मार्ग मैंने आपको कहे। एक मार्ग हैः मिट जाएं, अविद्या मिट जाए। एक मार्ग हैः राजी हो जाएं, स्वीकार कर लें, जो है उसके बाहर जाने की आकांक्षा छोड़ दें, जैसा है उसमें रत्ती भर फर्क करने का विचार न करें। तो भी, जो शेष रह जाता है वह सच्चिदानंद ब्रह्म है।

दसवां प्रवचन

सत्य की यात्रा के चार चरण

इत्थं वाक्यैस्तदर्थानुसंधानं श्रवणं भवेत।

युक्ता सभावितत्वा संधानं मननं तु तत्।। 33।।

ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य तत्।

एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते।। 34।।

ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद्धयैयैकगोचरम्।

निवातदीपवच्चितं समाधिरभिधीयते।। 35।।

इस प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों द्वारा जीव-ब्रह्म की एकतारूप अर्थ का अनुसंधान करना, यह श्रवण है। और जो कुछ सुना गया है उसके अर्थ को युक्तिपूर्वक विचार करना, यह मनन है।

इस श्रवण और मनन द्वारा निस्संदेह हुए अर्थ में चित्त को स्थापित करके एकतान बनना, यह निदिध्यासन है।

फिर ध्याता तथा ध्यान का त्याग करके चित्त केवल एक ध्येय को ही विषय रूप माने और वायुरहित स्थान में रखे हुए दीए के समान निश्चल बन जाए, उसको समाधि कहते हैं।

चार शब्दों का प्रयोग हुआ है। एक-एक शब्द अपने आप में एक-एक जगत है। वे चार शब्द हैंः श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि। इन चार शब्दों में सत्य की सारी यात्रा समाहित हो जाती है। ये चार चरण जो सएयकरूपेण, ठीक-ठीक पूरा कर ले, उसे कुछ और करने को शेष नहीं रह जाता है। इन चार शब्दों के आस-पास ही समस्त साधना विकसित हुई है। इसलिए एक-एक शब्द को बारीकी से, गहराई से, सूक्ष्मता से समझ लेना उपयोगी है।

पहला शब्द है, श्रवण।

श्रवण का अर्थ मात्र सुनना नहीं है। सुनते हम सभी हैं। कान होना काफी है सुनने के लिए। सुनना एक यांत्रिक घटना है। ध्वनि हुई, कान पर आवाज पड़ी, आपने सुना। श्रवण इतना ही नहीं है। श्रवण का अर्थ है, सिर्फ कान से न सुना गया हो, भीतर जो चैतन्य है उस तक भी गूंज पहुंच जाए।

इसे थोड़ा समझ लें।

आप रास्ते से गुजर रहे हैं; आपके घर में आग लग गई है, आप भाग रहे हैं। रास्ते पर कोई नमस्कार करता है। कान सुनेंगे, आप नहीं सुनेंगे। दूसरे दिन आप बता भी न सकेंगे कि किसी ने रास्ते पर नमस्कार किया था। घर में आग लगी थी, रास्ते पर कोई गीत गाता हो, कान सुनेंगे, आप नहीं सुनेंगे।

कान का सुनना आपका सुनना नहीं है। जरूरी नहीं है कि कान ने सुना हो तो आपने भी सुना हो। कान सुनने के लिए जरूरी है, काफी नहीं है; आवश्यक है, पर्याप्त नहीं है। कुछ और भी भीतर चाहिए। जब आपके घर में आग लगी होती है, तो नमस्कार किया गया सुनाई नहीं पड़ता; क्यों? कान का यंत्र तो वैसा का ही वैसा है। लेकिन भीतर ध्यान कान के साथ टूट गया है। ध्यान, मकान में आग लगी है, वहां चला गया है। कान सुन रहा

है, लेकिन कान ने जो सुना है, उसे चैतन्य तक पहुंचाने के लिए ध्यान का जो सेतु चाहिए, वह नहीं है। वह सेतु हट गया है। वह वहां लगा है, जहां मकान में आग लगी है। इसलिए कान सुनते हैं, आप नहीं सुन पाते। आप और कान के बीच में जो संबंध है, वह टूट गया है।

श्रवण का अर्थ है, कान भी वहां हों और आप भी वहां हों। तो श्रवण घटित होता है। कठिन बात है। कान के साथ होना साधना की बात है। श्रवण का अर्थ है कि जब आप सुनते हों तो आपकी सारी चेतना कान हो जाए; सुनना ही रह जाए, बाकी कुछ भी न हो; भीतर कोई विचार न चले। क्योंकि भीतर अगर विचार चलता है, तो आपका ध्यान विचार पर चला जाता है, कान से हट जाता है।

ध्यान बड़ी सूक्ष्म, नाजुक चीज है। जरा सा विचार भीतर चल रहा हो, तो ध्यान वहां चला जाता है। पैर में चींटी काट रही हो, आप मुझे सुन रहे हैं और आपको पैर में चींटी काट रही हो--मकान में आग लगना जरूरी नहीं है, पैर में चींटी काट रही हो--तो जितनी देर के लिए आपको पता चलता है कि पैर में चींटी काट रही है, उतनी देर तक श्रवण खो जाता है; सुनना होता है। ध्यान हट गया।

ध्यान की और तकलीफ है कि ध्यान एक साथ दो चीजों पर नहीं हो सकता, एक चीज पर एकबारगी होता है। जब दूसरी चीज पर होता है, एक से तत्काल हट जाता है। आप ऐसा कर सकते हैं कि छलांग लगा सकते हैं। हम छलांग लगाते रहते हैं। पैर में चींटी ने काटा, ध्यान वहां गया; फिर वापस ध्यान लौटा, सुना। खुजली आ गई, ध्यान वहां गया; फिर सुना। तो बीच-बीच में जब ध्यान हट जाता है, तो गैप, अंतराल पड़ जाते हैं श्रवण में।

और इसलिए जो आप सुनते हैं, उसमें से बहुत अर्थ नहीं निकल पाता, क्योंकि उसमें बहुत कुछ खो जाता है। और कई बार जो अर्थ आप निकालते हैं, वह आपका ही होता है फिर, क्योंकि उसमें बहुत कुछ खो गया है। फिर जोड़ कर आप जो सोच लेते हैं, वह आपका ही है।

अभी मैं आस्पेंस्की की एक शिष्या की किताब देख रहा था। उसने लिखा है कि आस्पेंस्की के साथ जब काम शुरू किया साधना का, तो एक बात से बड़ी दिक होती थी कि आस्पेंस्की एक बात पर बहुत ही जोर देता था और वह समझ में नहीं पड़ती थी, इतने जोर देने लायक बात नहीं मालूम पड़ती थी! और आस्पेंस्की जैसा आदमी इतनी छोटी बात पर इतना जोर क्यों देता है, यह भी समझ में नहीं आता था! और आदमी इतना अदभुत है कि जोर देता है तो मतलब तो होगा ही! और बुद्धि बिल्कुल पकड़ती नहीं थी, इसमें क्या मतलब है! और वह जोर यह था, वह हर बार, दिन में पचास दफे उस पर जोर देता था। जैसे कल आस्पेंस्की ने कुछ कहा, तो उसके शिष्यों में से कोई उससे आकर कहेगा कि कल आपने ऐसा कहा था। तो वह कहेगा, ऐसा मत कहो, इतना कहो कि कल आपने जो कहा था उससे मैंने ऐसा समझा था। यह कहो ही मत कि आपने ऐसा कहा था। हर वाक्य के सामने वह जोर देता था कि यह कहो कि आपने जो कहा था, उससे मैंने ऐसा समझा था, यह मत कहो सीधा कि आपने यह कहा था।

तो उसकी उस शिष्या ने लिखा है कि हम बड़े परेशान होते थे कि हर वाक्य के सामने यह लगाना कि आपने ऐसा कहा था ऐसा मैंने समझा था, आपके कहे हुए से मैंने ऐसा समझा था, इसकी क्या जरूरत है? आपने कहा था, बात खतम हो गई।

धीरे-धीरे उसे समझ में आया कि ये दो बातें अलग हैं।

जो कहा गया है उसे तो वही समझ सकता है जो श्रवण को उपलब्ध हो। जो कहा गया है, अगर आप सिर्फ सुन रहे हैं, तो आप वही समझेंगे जो आप समझते हैं, समझ सकते हैं--वह नहीं, जो कहा गया है। क्योंकि

बीच में बहुत कुछ खो जाएगा। और वह जो खो जाएगा, उसको आप भर देंगे अपने से, क्योंकि खाली जगह भर दी जाती है।

आप सुनते हैं, बीच-बीच में जहां-जहां ध्यान हट जाता है, वहां-वहां खाली जगह कौन भरेगा? वह खाली जगह आप भर देंगे। आपका मन, आपकी स्मृति, आपकी जानकारी, आपका ज्ञान, अनुभव, वह उसमें समा जाएगा। फिर जो अंतिम रूप बनेगा, उसके निर्माता आप ही हैं--जो सुना था, वह नहीं; जिसने कहा था वह जिएमेवार नहीं है।

श्रवण का अर्थ है, कान के पास ही चेतना आ जाए। विचार कोई भीतर न चलता हो; कोई चिंतन न चलता हो; कोई तर्क न चलता हो।

इसका यह मतलब नहीं कि जो कहा जाए उसको आप बिना समझे स्वीकार कर लें। श्रवण में स्वीकार का कोई अर्थ नहीं है। श्रवण का अर्थ है सिर्फ सुन लें, स्वीकार-अस्वीकार बाद की बात है; जल्दी न करें।

हम क्या करते हैं? सुनते हैं, उसी वक्त स्वीकार-अस्वीकार करते रहते हैं। लोगों के सिर हिलते रहते हैं! कोई हां भरता रहता है कि बिल्कुल ठीक, कोई कहता है कि नहीं, जंच नहीं रहा! वह उनको भी पता नहीं कि उनका सिर हिल रहा है, मैं देख रहा हूं, कि बिल्कुल ठीक।

इसका मतलब यह कि आप, जो मैंने कहा, उसे सुनने के साथ निर्णय भी ले रहे हैं भीतर। तो जितनी देर आप निर्णय लेंगे उतनी देर श्रवण चूक जाएगा। आपको भी पता नहीं कि आपका सिर हिला। मगर भीतर सहमति हुई, उसकी वजह से सिर हिला। जब मैं कोई बात कहता हूं जो आपको नहीं जंच रही, तो आपका सिर हिलता रहता है कि नहीं, जंच नहीं रही। वह सिर ही नहीं हिल रहा है, भीतर ध्यान हिल रहा है। उस ध्यान की वजह से सिर हिल रहा है। उतने कंपन में आपका श्रवण खो गया।

जब हम कहते हैं कि श्रवण करते दफे सोचें मत, तो उसका यह मतलब नहीं है कि जो भी कहा जाए उसे आंख बंद करके गटक लें। नहीं, अभी स्वीकार-अस्वीकार का सवाल ही नहीं है। अभी तो यही सुन लेना है कि क्या कहा गया; ठीक से वही सुन लेना है जो कहा गया। तब तो आप निर्णय कर सकेंगे पीछे कि स्वीकार करूं या अस्वीकार करूं?

तो स्वीकार-अस्वीकार की प्रक्रिया को सुनते समय बीच में ले आना, श्रवण से चूक जाना है। सुनना, यानी सिर्फ सुनना।

अभी हम सुन रहे हैं। अभी हम साथ-साथ सोचते हुए न चलेंगे। मन दो काम नहीं कर सकता। सुनें या सोचें! जो सोचते हैं वे सुन नहीं पाते, जो सुनते हैं उन्हें सोचने के लिए उस समय कोई उपाय नहीं है। मगर जल्दी भी नहीं है कोई, सोचना बाद में हो सकता है।

और यही न्यायसंगत भी है कि पहले सुन लिया जाए, फिर सोचा जाए। क्योंकि सोचेंगे किस पर आप? अगर आपने ठीक से सुना ही नहीं है, या जो सुना है उसमें अपना जोड़ दिया है, या जो सुना है उसमें बीच-बीच में अंतराल रह गए हैं, तो आप सोचेंगे क्या खाक! जो आप सोचेंगे, उसका कोई मूल्य नहीं रह जाता। सएयक सुना न गया हो तो सोचना व्यर्थ हो जाता है।

इसलिए पहली सीढ़ी ऋषियों ने कही है, श्रवण।

बुद्ध के पास कोई आता तो वे बहुत जोर देते, महावीर के पास कोई आता तो वे पहले कहते कि तुम ठीक से श्रावक बनो। श्रावक का मतलब है सुनने वाले बनो। अभी भी जैनी वही विभाजन किए जाते हैंः साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका। न कोई श्रावक है, न कोई श्राविका है। क्योंकि श्रावक-श्राविका का अर्थ है श्रवण। सुनने

की कला जिसे आ गई हो वह श्रावक है। तो न श्रावक-श्राविका हैं, न कोई सुनने वाला है, न कोई सुनने का कोई कारण है।

मंदिरों में जाकर देखें श्रावक-श्राविकाओं को। अक्सर सोए हुए पाएंगे, सुनना तो बहुत दूर की बात है। दिन भर के थके-मांदे वहां विश्राम करते हैं, सोते हैं। अगर नहीं भी सोते, तो सुनते नहीं हैं, अपने ऊहापोह में, अपने सोच-विचार में लगे रहते हैं।

आपका मन बिल्कुल रुक जाना चाहिए, उसकी धारा रुक जानी चाहिए, तो श्रवण घटित होता है। और श्रवण पहली सीढ़ी है। और जितनी महत्वपूर्ण बात हो, उतना ही श्रवण प्रगाढ़ हो, तभी समझी जा सकेगी। इसलिए यह सूत्र कहता हैः

'तत्त्वमसि आदि वाक्यों द्वारा जीव-ब्रह्म की एकतारूप अर्थ का अनुसंधान करना, यह श्रवण है।'

महावाक्य है तत्त्वमसि। दो-चार ही महावाक्य हैं जगत में, लेकिन इससे बड़ा महावाक्य कोई भी नहीं है। तत्त्वमसि का अर्थ है--तू भी वही है; दैट आर्ट दाऊ।

वह जिसकी हम कल बात कर रहे थे तत्, कह रहे थे परमात्मा का नाम है तत्--वह। यह तत्त्वमसि का अर्थ है, वह कोई दूर अलग चीज नहीं है, तू ही है। वह जिसे हमने कहा था तत्, वह। उससे ऐसा लगता है कि कहीं दूर, वह, कहीं दूर का इशारा है।

तत्त्वमसि का अर्थ है, वह तू ही है। वह दूर नहीं है, बहुत पास है; पास से भी ज्यादा पास है। तेरा होना ही वही है। यह महावाक्य है। महावाक्य का अर्थ होता है कि अगर इस एक वाक्य को भी पकड़ कर कोई पूरा अनुसंधान कर ले, तो जीवन की परम स्थिति को उपलब्ध हो जाए। इसलिए इसको महावाक्य कहते हैं। फिर किसी शास्त्र की कोई भी जरूरत नहीं है; और किसी वेद और किसी कुरान और बाइबिल की कोई जरूरत नहीं है। तत्त्वमसि पर्याप्त वेद है। इस एक वाक्य का कोई ठीक से श्रवण कर ले, मनन कर ले, निदिध्यासन कर ले, समाधि कर ले, तो किसी और शास्त्र की कोई जरूरत नहीं है।

महावाक्य का अर्थ हैः पुंजीभूत, जिसमें सब आ गया हो। जैसे कि केमिस्ट्री में फार्मूले होते हैं। या जैसे आइंस्टीन की रिलेटिविटी का फार्मूला है। बस दो-तीन शब्दों में पूरी बात आ जाती है। यह महावाक्य आध्यात्मिक केमिस्ट्री का फार्मूला है। इसमें तीन बातें कही हैंः तत्, वह; त्वम्, तू; दोनों एक हैं--तीन बातें हैं। वह और तू एक हैं, बस इतना ही यह सूत्र है। लेकिन सारा वेदांत, सारा अनुभव ऋषियों का, इन तीन में आ जाता है। यह जो गणित जैसा सूत्र हैः वह--अस्तित्व, परमात्मा--और तू, वह जो भीतर छिपी चेतना है वह, ये दो नहीं हैं, ये एक हैं। इतना ही सार है समस्त वेदों का, फिर बाकी सब फैलाव है।

इसलिए इस तरह के वाक्य को उपनिषदों में महावाक्य कहा गया है। इस एक से सारे जीवन की चिंतना, साधना, अनुभूति, सब निकल सकती है। इस तरह के वाक्य पूर्ण मौन में सुने जाने चाहिए। इस तरह के वाक्य ऐसे नहीं सुने जाने चाहिए, जैसे कोई फिल्मी गाने को सुन लेता है। सुनने की क्वालिटी, सुनने की गुणवत्ता और होनी चाहिए, तभी ये वाक्य भीतर प्रवेश करेंगे। रास्ते पर चलते आप बातें सुन लेते हैं, ये वाक्य उस तरह नहीं सुने जा सकते।

इसलिए हजारों साल तक भारत में ऋषियों का आग्रह रहा कि जो परम ज्ञान है, वह लिखा न जाए। उनका आग्रह बड़ा कीमती था। लेकिन उसे पूरा करना असंभव था। लिखना पड़ा। हजारों साल तक यह आग्रह रहा कि जो परम ज्ञान है, वह लिखा न जाए।

बहुत लोग, विशेषकर भाषाशास्त्री, लिंग्विस्ट सोचते हैं कि चूंकि लिपि नहीं थी, लिखने का उपाय नहीं था, इसलिए बहुत दिन तक वेद और उपनिषद नहीं लिखे गए।

वे गलत सोचते हैं। क्योंकि जो तत्त्वमसि जैसा अनुभव उपलब्ध कर सकते थे, जो इस महावाक्य को अनुभव में ला सकते थे, वे लिखने की कला न खोज लेते, यह असंभव मालूम पड़ता है। जिनकी प्रतिभा ऐसी ऊंचाई के शिखर छू लेती थी, वे लिखने जैसी साधारण बात भी न खोज पाते, यह उचित नहीं मालूम पड़ता।

लिखने की कला तो थी, लेकिन वे लिखने को राजी नहीं थे। क्यों? क्योंकि ऐसे महावाक्य लिख दिए जाएं, तो हर कोई हर किसी हालत में पढ़ लेता है। और पढ़ कर इस भ्रांति में पड़ जाता है कि समझ गए। इन वाक्यों को सुनने और पढ़ने के लिए जो एक मनोदशा चाहिए, वह मनोदशा के बिना भी पढ़ा जा सकता है। तत्त्वमसि पढ़ने में क्या दिक्कत है! पहली क्लास का बच्चा पढ़ सकता है। और पढ़ कर इस भ्रांति में भी पड़ जाएगा कि मैं समझ लिया कि ठीक है, मैं भी वही हूं। यह मतलब हो गया इस वाक्य का। बात खतम हो गई। फिर इसको कंठस्थ कर लेता है। फिर जीवन भर दोहराए चला जाता है। चूक गई बात। बात ही चूक गई! वह जो असली बिंदु था, खो गया।

ये वाक्य किसी विशेष गुण, किसी विशेष अवस्था, चित्त की कोई विशेष परिस्थिति में ही सुनने योग्य हैं। तभी ये प्राणों में प्रवेश करते हैं। हर कभी सुन लेने पर खतरा है। खतरे दो हैंः एक तो यह याद हो जाएगा, और लगेगा मैंने जान लिया; और दूसरा खतरा यह है कि इस जानकारी के कारण आप शायद ही कभी उस मनःस्थिति को बनाने की तैयारी करें, जिसमें इसे सुना जाना चाहिए था। बीज डालने का वक्त होता है, समय होता है, मौसम होता है, घड़ी होती है, मुहूर्त होता है। और ये बीज तो महाबीज हैं, इन्हें हर कहीं नहीं। इसलिए गुरु इन्हें शिष्य के कान में... ।

थोड़ा समझना, हम सब सुनते हैं कि मंत्र कान में दिया जाता है। और हम यही समझते हैं कि कान के पास लाकर मंत्र फुसफुसा देता होगा। नासमझी की बात है।

गुरु शिष्य के कान में इन महाबीजों को देता था। उसका मतलब कि जब शिष्य बिल्कुल कान हो जाता था; उसका सारा व्यक्तित्व जब सुनने के लिए तैयार हो जाता था; जब वह कान से ही नहीं सुनता था, रोआं-रोआं सुनता था; जब उसका पूरा प्राण कान के पीछे इकट्ठा हो जाता था; जब उसकी सारी आत्मा सारी इंद्रियों से हट कर कान में नियोजित हो जाती थी, तब गुरु उसे कान में दे देता था। कहता वह यही थाः तत्त्वमसि। शब्द यही थे। इन शब्दों में कोई फर्क नहीं पड़ता था। लेकिन जो शिष्य था सामने, उसकी चैतन्य का गुण, उसकी चैतन्य की क्षमता और थी। कान फूंक देने का मतलब... ।

अभी भी न मालूम कितने नासमझ न मालूम कितने नासमझों के कान फूंकते रहते हैं! कान में मंत्र दे देते हैं! बिना इसकी फिक्र किए कि कान का मतलब क्या है!

जो कान आपकी खोपड़ी में लगे हैं, उनसे बहुत मतलब नहीं है। कान से मतलब है, आपके व्यक्तित्व का एक ढंग। आपके व्यक्तित्व का एक खुलाव। एक शांति भीतर, एक मौजूदगी; सुनने की एक तैयारी; आतुर प्यास; अभीप्सा; सारे प्राण तैयार हैं सुनने को। तब गुरु कान में इन महावाक्यों को डाल देता था।

और कभी-कभी ऐसा होता था कि इस वाक्य का पहुंचना ही घटना हो जाती थी।

बहुत लोग हैं जो केवल सुन कर ज्ञान को उपलब्ध हो गए हैं, बाकी तीन चरणों की जरूरत भी नहीं पड़ी। यह जान कर आपको हैरानी होगी! बाकी तीन चरणों की जरूरत भी नहीं पड़ी; केवल सुन कर भी ज्ञान को उपलब्ध हो गए हैं!

लेकिन आसान मामला नहीं है, आप सोचेंगे अगर ऐसा होता हो कि सुन कर ही और ज्ञान को हम उपलब्ध हो जाएं, तो फिर काहे दूसरे उपद्रव में पड़ें! क्यों? सुना दें और हम ज्ञान को उपलब्ध हो जाएं!

सुन कर ज्ञान को वही उपलब्ध हो सकता है, जिसकी समग्रता सुनने में नियोजित हो गई हो। एक रत्ती भर हिस्सा पीछे न रह गया हो खड़ा। सुनने वाला बचा ही न हो, सुनने की क्रिया ही रह गई हो। ऐसा ख्याल भी न रहा हो भीतर कि मैं सुनने वाला हूं। मैं हूं, यह भी न रहा हो, बस सुनना ही हो गया हूं; सुनने की प्रक्रिया ही रह गई हो। सब मौन हो गया भीतर, शून्य हो गया! उस शून्य में इतनी सी चोट--तत्त्वमसि, प्राणों का विस्फोट कर देती है। इतनी सी चोट!

मगर एक बात और इसमें ध्यान रखने जैसी है कि शिष्य की, सीखने वाले की, साधक की, इतनी तैयारी चाहिए कि वह शून्य हो। लेकिन हर कोई उसके कान में तत्त्वमसि कह दे तो भी काम नहीं चलेगा। कोई भी कह सकता है। आदमी की भी जरूरत नहीं है, टेपरिकार्ड पर लिख कर रख लिया--टाइप--वह कान में गूंज जाएगा। उससे भी काम नहीं चलेगा। क्योंकि शब्दों की भी शक्ति है। और शक्ति होती है बोलने वाले पर निर्भर, शब्दों में नहीं होती। कितने गहरे से शब्द आते हैं; और उन शब्दों में कितने प्राण समाविष्ट हैं; और उन शब्दों में कितना अनुभव का रस भरा है; और उन शब्दों को जो कह रहा है, वह भी कहते समय मिट गया हो, हो ही न कहने वाला, सिर्फ आत्मा से गूंज उठी होः तत्त्वमसि। और सुनने वाला भी न हो, सिर्फ आत्मा तक गूंज गई होः तत्त्वमसि--वह तू ही है। तो इस मिलन के बिंदु पर बिना कुछ किए भी--काफी करना हो गया यह--क्रांति घटित हो जाती है; विस्फोट हो जाता है; वह जो अज्ञानी था, अचानक ज्ञानी हो जाता है।

ऐसी घटनाएं हैं इतिहास में, जब कि केवल सुन कर बात हो गई। हमें भरोसा नहीं आता, क्योंकि हम बहुत करते हैं तब भी वह बात नहीं होती; बहुत उपाय करते हैं, तब भी लगता है कुछ नहीं हो रहा।

मिलन दो ऐसी चेतनाओं का कि बोलने वाला मौजूद न हो और वाणी प्रकट हो, और सुनने वाला मौजूद न हो और वाणी प्रवेश करे, तो श्रवण से भी यात्रा पूरी हो जाती है।

लेकिन ऐसा संयोग खोजना कठिन है। ऐसा संयोग मिल भी जाए तो उसका उपयोग करना कठिन है। बहुत बारीक है संयोग। इसलिए शिष्य वर्षों तक गुरु के पास रहता था, इस संयोग की प्रतीक्षा में--कब मौका आ जाए? कब तैयारी हो? तो वर्षों तक, वर्षों तक चुप रहने की ही साधना चलती थी।

श्वेतकेतु अपने गुरु के पास गया। तो वर्षों तक गुरु ने पूछा ही नहीं, कैसे आए हो? श्वेतकेतु ने कहा कि जब गुरु पूछेगा, तब बता देंगे। वर्षों तक गुरु ने पूछा ही नहीं! बड़ी मीठी कथा है कि गुरु की जो सुबह से यज्ञ की अग्नि जलती थी, हवन जलता था, वह हवनकुंड भी अधैर्य से भर गया!

बड़ी मीठी कथा है कि श्वेतकेतु आया, हवनकुंड को भी दया आने लगी श्वेतकेतु पर कि कितने वर्ष हो गए इसे आए और अब तक गुरु ने यह भी नहीं पूछा कि कैसे आए हो! वह लाकर लकड़ी काटता, आग जलाता, दूध दुहता, गुरु के पैर दाबता। रात हो जाती, वहीं गुरु के चरणों में सो जाता। सुबह उठ कर फिर काम में लग जाता! वह जो हवन जलता रहता चौबीस घंटे, उस अग्नि को भी दया आने लगी कि अब यह क्या होगा? यह श्वेतकेतु अपनी तरफ से कहता नहीं कि मैं किसलिए आया हूं, और यह उद्दालक है कि पूछता नहीं कि किसलिए आए हो!

ऐसी प्रतीक्षा, ऐसा धैर्य, इतनी चुप्पी अपने आप श्रावक बना देती थी। धीरे-धीरे-धीरे-धीरे-धीरे गुरु की वाणी तो दूर, गुरु की श्वास भी सुनाई पड़ने लगती थी। उसकी हृदय की धड़कन भी--इतनी प्रतीक्षा में, इस मौन में--सुनाई पड़ने लगती थी। वह कुछ कहे, यह जरूरी भी न था, उसका हिलना-डुलना भी सुनाई पड़ने लगता

था। और जब ठीक क्षण आता, तो वह कह देता। जब ठीक क्षण आता, तो कहने की घटना घट जाती; न तो गुरु को चेष्टा करनी पड़ती थी कहने की और न शिष्य को चेष्टा करनी पड़ती थी कुछ जानने की; ठीक क्षण में घटना घट जाती थी।

श्रवण बड़ा कीमती चरण है। आपके लिए दो-तीन बातें ख्याल में ले लेनी चाहिए। एक, सुनते समय सुनना ही हो जाएं। सुनने वाला भूल जाए, कान ही रह जाएं; फैल जाएं कान। आपका सारा शरीर कान बन जाए; सब तरफ से सुनने लगें, और भीतर कोई चिंतन न हो। सारा चित्त एकाग्र रूप से सुनने में डूब जाए। तो भीतर कोई विचार न चलाएं।

हम सबको डर लगता है कि अगर विचार न करेंगे तो पता नहीं, न मालूम कोई गलत बात हमारे भीतर डाल दे! न मालूम कोई हमारी मान्यताओं को खंडित कर दे! तो हम सुरक्षा में लगे रहते हैं कि क्या तुम कह रहे हो, जांच-पड़ताल करके भीतर जाने देंगे; अपने मतलब का होगा तो जाने देंगे, अपने मतलब का नहीं होगा तो नहीं जाने देंगे।

आप जान कर हैरान होंगे कि मनसविद कहते हैं कि आपसे अगर सौ बातें कही जाएं, तो आपका मन पांच बातों को मुश्किल से भीतर जाने देता है! पंचानबे को बाहर लौटा देता है--घुसने ही नहीं देता। क्यों? क्योंकि आपकी मान्यताएं अतीत की निर्भर हैं, तय हैं। कोई मुसलमान है, कोई हिंदू है, कोई जैन है, कोई ईसाई है--वह भीतर है; वह बैठा है वहां भीतर आपका मन अतीत में संगृहीत किया हुआ। वह पूरे वक्त जांच-पड़ताल रखता है कि अपने से कुछ मेल खाता हो, अपने को कोई मजबूत करता हो, तो उसे भीतर ले लो। अपने से मेल न खाता हो, अपने को मजबूत न करता हो, तो उसे भीतर आने ही मत दो, उसे बाहर ही रोक दो। इस तरह सुन लो कि जैसे सुना ही नहीं; या सुन कर भी तत्काल उसका विरोध कर दो, ताकि भीतर प्रवेश न कर सके।

आप जरा अपने मन का ख्याल करना कि क्या आप पूरे वक्त भीतर हां और न कहते रहते हैं? कौन कह रहा है यह हां और न? आप नहीं कह रहे हैं; यह आपका मन है, जो आपने इकट्ठा किया है। तो मन अपने अनुकूल को चुनता है और प्रतिकूल को छोड़ देता है। तब बड़ी कठिनाई है! इसी मन को मिटाना है; और यह अनुकूल को चुनता है और प्रतिकूल को सुनता नहीं, यह मिटेगा कैसे? यही मन है दुश्मन और यही है आपका नियंता; इसी को मिटाने चले हैं और इसी के सहारे मिटाने चले हैं; तो कभी न मिटा पाएंगे। तो जरा सी एक बात आपको खटक जाए, कि यह बात नहीं जंचती आपकी मान्यताओं में, बस मन आपका द्वार बंद कर लेता है कि सुनो ही मत अब; अनसुना कर दो या विरोध करते जाओ भीतर। हम सुरक्षा में लगे हैं अपनी, जैसे कोई संघर्ष चल रहा है। श्रवण नहीं हो पाएगा फिर। फिर एक कलह चल रही है।

मगर श्रवण का अर्थ कोई अंधा स्वीकार नहीं है। श्रवण का स्वीकार से कोई संबंध ही नहीं है। श्रवण का संबंध सिर्फ इस बात को ठीक से सुन लेने से है कि क्या कहा गया है।

दूसरा चरण है, मनन।

जो कहा गया है उसे सुन कर मनन करना है; जो कहा गया है उसकी प्रामाणिकता में सुन कर मनन करना है। यह मनन की पहली शर्त है। आपने अपने मतलब का चुन लिया, उस पर मनन किया, वह मनन नहीं है, वह धोखा है।

तो मनन की पहली शर्तः सुन लिया, बिना हां-न किए। निंदा, प्रशंसा, स्वीकार-अस्वीकार--कुछ भी नहीं, कोई मूल्यांकन नहीं, कोई निर्णय नहीं--पक्ष न विपक्ष; मौन, तटस्थ सुन लिया, क्या कहा है। उसे उतर जाने

दिया हृदय के आखिरी कोने तक, ताकि उससे परिचय हो जाए। जिससे परिचय है, उसी का तो मनन हो सकता है।

यही चिंतन और मनन का फर्क है। चिंतन हम उसका करते हैं, जिसका कोई ठीक से परिचय ही नहीं है। चिंतन है अपरिचित के साथ बुद्धि की प्रक्रिया, व्यायाम। मनन है परिचित के साथ--जिसे आत्मसात किया, डुबा लिया अपने में भीतर, उस पर विचार।

दोनों में बड़ा फर्क है। चिंतन में कलह है, मनन में सहानुभूति है। चिंतन में द्वंद्व है, मनन में विमर्श है। ये बड़े फर्क हैं। चिंतन का मतलब है, आप लड़ रहे हैं किसी चीज से। अगर न जीत पाए, तो मान लेंगे। लेकिन मानने में पीड़ा रहेगी।

इसलिए जब आप किसी से विवाद करते हैं, और उससे तर्क नहीं कर पाते, और आपको मानना पड़ता है, तो आपको पता है, भीतर कैसी पीड़ा होती है! मान लेते हैं, क्योंकि अब तर्क नहीं कर सकते हैं; लेकिन भीतर? भीतर तैयारी रहती है कि आज नहीं कल, उखाड़ कर फेंक देंगे यह सब; आज नहीं कल, अस्वीकार कर देंगे।

इसलिए इस दुनिया में किसी भी आदमी को तर्क से रूपांतरित नहीं किया जा सकता; क्योंकि तर्क का मतलब है, पराजय। अगर उसको तर्क से कोई चीज सिद्ध भी कर दी, तो वह हारा हुआ अनुभव करेगा, बदला हुआ नहीं। हारा हुआ अनुभव करेगा कि ठीक है, मैं कुछ जवाब नहीं दे पा रहा हूं, तर्क नहीं खोज पा रहा हूं; जिस दिन तर्क खोज लूंगा, देखूंगा। हारा हुआ अनुभव करेगा।

और ध्यान रहे, हारा हुआ आदमी कभी भी बदला हुआ आदमी नहीं होता। तो आप किसी को चुप कर सकते हैं तर्क से, रूपांतरित नहीं कर सकते। और बात भी ठीक है, तर्क से रूपांतरित किसी को होना भी नहीं चाहिए। क्योंकि जब दो व्यक्ति विवाद करते हैं, तो जो हार जाता है, जरूरी नहीं है कि वह गलत रहा हो; जो जीत जाता है, जरूरी नहीं है कि सही रहा हो। इतना ही जरूरी है कि जो जीत गया है, वह ज्यादा तर्क कर सकता था; जो हार गया है, वह कम तर्क कर सकता था। इससे ज्यादा कुछ भी पक्का नहीं है। तो स्वाभाविक है कि तर्क से कोई कभी बदलता नहीं; क्रांति कोई घटित नहीं होती। तर्क से आघात लगता है अहंकार को, और अहंकार बदला लेना चाहता है। तर्क एक संघर्ष है।

चिंतन में एक संघर्ष है भीतर। जो भी आप चिंतन करते हैं, उससे आप जूझते हैं, लड़ते हैं; एक भीतरी लड़ाई चलती है। आप अपनी सारी अतीत की स्मृति और सारे अतीत के विचारों को उसके खिलाफ खड़ा कर देते हैं। फिर भी अगर हार जाते हैं, तो मान लेते हैं; लेकिन मानने में एक पीड़ा, एक दंश, एक कांटा चुभता रहता है। वह मानना मजबूरी का है। उस मानने में कोई प्रफुल्लता घटित नहीं होती। उस मानने से आपका फूल खिलता नहीं है, मुर्झाता है।

तो चिंतन, विचारक जो करते रहते हैं सारी दुनिया में, इसलिए विचारकों के चेहरे पर बुद्ध की प्रफुल्लता नहीं दिखाई पड़ेगी। क्या फर्क है? महावीर का प्रमुदित व्यक्तित्व दिखाई नहीं पड़ेगा विचारकों में। विचारकों के चेहरे पर चिंतन की रेखाएं दिखाई पड़ेंगी, मनन के फूल नहीं दिखाई पड़ेंगे। विचारक के माथे पर धीरे-धीरे झुर्रियां पड़ती जाएंगी; एक-एक रेखा खिंच जाएगी, उसने जिंदगी भर जो मेहनत की है उसकी! लेकिन वह जो बुद्ध या किसी महावीर के भीतर घटित होता है, वह जो खिलावट है, वह दिखाई नहीं पड़ेगी। विचार बोझ दे जाएगा; कमर झुक जाएगी। विचारक चिंतित मालूम पड़ने लगेगा।

चिंतन और चिंता में कोई गुणात्मक फर्क नहीं है। सब चिंतन चिंता का ही रूप है। बेचैनी है उसमें छिपी हुई; एक तनाव है। क्योंकि एक भीतरी संघर्ष है, कलह है; लड़ाई है एक। इसलिए विचारक बूढ़ा होते-होते, होते-होते, झुक जाता है बोझ से! विचार के ही बोझ से झुक जाता है।

बुद्ध और महावीर के साथ उलटी घटना घटती है। जैसे-जैसे ये बूढ़े होते हैं, भीतर जैसे कुछ युवा होता जाता है; कोई ताजगी! यह मनन है।

मनन और चिंतन का फर्क है। चिंतन शुरू होता है तर्क से, मनन शुरू होता है श्रवण से। चिंतन शुरू होता है संघर्ष से, मनन शुरू होता है श्रवण से। श्रवण ग्राहकता है; कोई संघर्ष नहीं है। तो मनन और चिंतन का पहला फर्क।

स्वभावतः, चिंतन चूंकि कलह से शुरू होता है, इसलिए तर्कणा उसका आधार है; सहानुभूति वहां नहीं है। विरोध, शत्रुता वहां आधार है; विवाद। मनन शुरू ही होता है श्रवण से, इसलिए सहानुभूति वहां आधार है।

सहानुभूति का क्या अर्थ है? सहानुभूतिपूर्ण विचारणा! जो हम सोच रहे हैं, जिस संबंध में हम सोच रहे हैं, बड़े सहानुभूति से और बड़े प्रेम से सोच रहे हैं।

क्या फर्क पड़ता होगा क्वालिटी में चिंतन की, मनन की?

जब आप किसी चीज को सहानुभूति से सोचते हैं, तो आपकी पूरी आंतरिक आकांक्षा यह होती है कि जो मैं सुना हूं, वह सही हो सकता है; और सही हो, तो मेरे लाभ का हो सकता है। इसलिए आप खोजते हैं पहले वे बिंदु, जो सही हों। जब आप चिंतन करते हैं, तो आप यह मान कर चलते हैं कि जो सुना है, वह गलत है। खोजते हैं पहले वे बिंदु, जो गलत हों।

ऐसा समझें कि कोई आदमी गुलाब के वृक्ष के पास, फूलों की क्यारी के पास खड़ा है। अगर वह चिंतन कर रहा है तो पहले वह कांटे गिनेगा; अगर वह मनन कर रहा है तो पहले वह फूल गिनेगा। और इससे बुनियादी फर्क पड़ता हैः कहां से आप शुरू करते हैं?

क्योंकि जो आदमी पहले कांटे गिनेगा, उसका विरोधी रुख जाहिर है। पहले वह कांटे गिनेगा, हजारों कांटे निकलेंगे। और कांटे गिनने में हाथ में कांटे चुभेंगे भी, खून भी निकलेगा। वह कांटों का चुभना और कांटों की संख्या और खून का बह जाना फूलों की खिलाफत के लिए आधार बन जाएगा। और फिर जब लाख कांटे गिन लेगा और एकाध-दो फूल दिखाई पड़ेंगे, तो मन कहेगा कि ये फूल धोखे के हैं, ये सच नहीं हो सकते। क्योंकि जहां इतने कांटे हैं, वहां फूल हो कैसे सकते हैं इतने कोमल! मैं कोई धोखा खा रहा हूं। स्वाभाविक, यह उचित मालूम होगा। इतने कांटे जहां हैं, जहां लहू बहा देने वाले कांटे हैं, वहां ये कोमल फूल खिल कैसे सकते हैं! यह असंभव मालूम पड़ता है। और फिर अगर मान भी लेगा कि फूल हैं भी, तो वह कहेगा, कोई मूल्य नहीं है। लाख कांटों में एक फूल का मूल्य भी क्या है? बल्कि ऐसा लगता है, यह कांटों का शड्यंत्र है, ताकि एक फूल के बहाने लाख कांटे दुनिया में बने रहें। यह धोखा है। यह फूल जो है, कांटों को छिपाए हुए है। यह उनके शड्यंत्र का भागीदार है।

जो आदमी फूल से शुरू करेगा--मनन, फूल से शुरू करेगा--पहले फूलों को छुएगा, फूलों की सुवास उसके हाथों में भर जाएगी; फूलों का रंग उसकी आंखों में उतर जाएगा; फूलों की कोमलता उसके स्पर्श में लीन होने लगेगी; फूल का सौंदर्य उसे आच्छादित कर लेगा। फिर वह कांटों के पास आएगा--फूलों को देखने के बाद; फूलों को जानने, जीने के बाद; प्रेम में गिर गया वह उस झाड़ी के--अब वह कांटों के पास आएगा। इसकी दृष्टि में कांटे और ही तरह के होंगे।

जो आदमी फूलों को समझ कर कांटों के पास जाएगा, वह समझेगा कि कांटे फूलों की रक्षा के लिए हैं। फूलों के दुश्मन नहीं हैं; फूलों के विपरीत नहीं हैं। जो रस फूलों में बह रहा है, वही रस कांटों में बह रहा है, और कांटे फूल की रक्षा के लिए हैं। और जिसको फूल दिखाई पड़ गए हैं--एक फूल भी जिसे दिखाई पड़ गया है ठीक से--लाख कांटे बेकार हो जाएंगे। क्योंकि एक फूल का होना भी काफी है लाख कांटों को बेकार करने के लिए। और अगर इतने कांटों के बीच फूल खिल सकता है, तो असंभव चमत्कार है! असंभव भी हो सकता है! और जब इतने कांटों के बीच फूल खिल सकता है, तो इस आदमी को दिखाई पड़ेगा कि मैं जरा और खोज करूं, और खोज करूं, शायद कांटे भी फूल ही सिद्ध हों!

तो मनन सहानुभूति से शुरू होता है; चिंतन विरोध से शुरू होता है। श्रवण की शर्त पूरी हो जाए तो सहानुभूति जग जाती है। सहानुभूति जग जाए तो चिंतन की धारा ही विपरीत हो जाती है, मनन बन जाती है। मनन का अर्थ भी अंधे होकर स्वीकार कर लेना नहीं है।

इसलिए ऋषि ने कहा हैः 'जो सुना गया है, श्रवण हुआ है उसके अर्थ को युक्तिपूर्वक विचार करना, यह मनन है।'

तो कोई यह न सोचे कि मनन का अर्थ अंधे होकर स्वीकार कर लेना है। न तो श्रवण का अर्थ स्वीकार कर लेना है, न मनन का अर्थ स्वीकार कर लेना है; युक्ति का उपयोग करना है। लेकिन युक्ति का उपयोग भी बदल जाता है। युक्ति अपने आप में तटस्थ है। जैसे एक तलवार मेरे हाथ में है, तलवार तो तटस्थ है। चाहूं किसी की जान ले लूं, चाहूं किसी की जान बचा लूं; तलवार तटस्थ है। युक्ति तटस्थ है। अलग-अलग ढांचे में युक्ति का अर्थ बदल जाता है। अगर दुश्मनी से, विरोध से, संघर्ष से भरा हुआ चित्त हो, तो तर्क हिंसात्मक हो जाता है। अगर सहानुभूति से, श्रवण से, प्रेम से, सत्य की खोज और अभीप्सा से भरा चित्त हो, तो युक्ति रक्षा करने वाली तलवार बन जाती है। युक्ति अपने में बुरी नहीं है।

इसलिए हमने इस देश में दो तरह के तर्क माने हैंः एक को तर्क कहा और एक को कुतर्क कहा। कुतर्क भी तर्क है। और कभी-कभी तो कुतर्क तर्क से भी ज्यादा तर्कपूर्ण मालूम पड़ता है, क्योंकि उसमें धार होती है; और पैनी धार होती है; और काटने के लिए, मारने के लिए सक्षम होती है। तो कुतर्क कभी-कभी बिल्कुल ही गहरा तर्क मालूम पड़ता है। फर्क कैसे करेंगे कि क्या कुतर्क है और क्या तर्क है?

यही फर्क है कि अगर तर्क शुभ की, सत्य की खोज के लिए है, सहानुभूति से भरा है, फूलों से शुरू करता है, फिर कांटों पर जाता है... ।

कोई बात मैं आपसे कहता हूं, आप कहां से शुरू करते हैं, इस पर ख्याल करना। कई दफे मैं हैरान होता हूं! एक घंटे बोला, पीछे कोई आदमी मेरे पास आता है। घंटे भर में जो मैंने कहा, उसे कुछ ख्याल में नहीं आया, कोई एक बात की खिलाफत उसको पकड़ जाती है। वह एक बात को चुन लेता है; वह उसकी खिलाफत करने आ जाता है। वह जो घंटे भर में और कहा, उससे उसे कोई संबंध नहीं रह जाता। बस, उतनी बात! और वह बात भी तोड़ लेता है सारे संदर्भ से; क्योंकि संदर्भ में उसका और अर्थ था। अलग तोड़ कर वह बिल्कुल कोई और अर्थ ले लेती है। पर उसने सुना उसी को। उसकी तैयारी वही रही होगी। वह तैयार ही होकर आया होगा कि कुछ गलत खोज लिया जाए। अगर आप गलत खोजने को ही सुन रहे हों, तो आप कभी भी मनन न कर पाएंगे।

और ध्यान रहे, कितना ही गलत खोज डालें आप, गलत की खोज आपके भीतरी विकास में कोई तरह का सहारा नहीं बनेगी। आप कितना ही तय कर लें, कहां-कहां गलत है, आप सारी दुनिया की सारी गलतियां जान लें, फिर भी आपकी कोई इनर ग्रोथ, कोई आंतरिक विकास उससे नहीं होगा।

तो जो खोज में लगा है और अपने विकास में उत्सुक है, वह इसकी चिंता नहीं करता कि क्या गलत है, वह इसकी चिंता करता है कि क्या ठीक है। ठीक से शुरू करता है। और जो ठीक से शुरू करता है, किसी दिन जो उसे गलत दिखाई पड़ता था, शायद उस जगह पहुंच जाए कि जहां ठीक से शुरू करने के बाद उसे पता लगे कि उसका भी कोई अर्थ है, उसका भी कोई मूल्य है। और वह जो पहले गलत मालूम पड़ता था, वह पीछे ठीक मालूम पड़ सके। एएफेसिस, जोर का फर्क है।

कुतर्क गलत को खोजता है; वहीं से यात्रा शुरू करता है।

युक्ति, तर्क--सुतर्क कहें--ठीक से शुरू करता है।

एक आदमी को कुरान दे दें पढ़ने को। अगर वह हिंदू है, तो कुरान में जो-जो महत्वपूर्ण है, वह उसको दिखाई ही नहीं पड़ेगा; जो-जो गलत है, वह अंडरलाइन करके ले आएगा कि यह देखो, यह लिखा हुआ है! हम पहले ही कहते थे कि कुरान भी कोई धर्मशास्त्र है! मुसलमान को गीता दे दें। बराबर निकाल लाएगा कि क्या-क्या गलत है! और अगर यह कला सीखनी हो, आर्यसमाजियों से सीख लेनी चाहिए! कहां-कहां क्या-क्या गलत है, उसमें जैसे वे कुशल हैं, उतना कोई भी कुशल नहीं है!

मन को आर्यसमाजी बनने से बचाना, तो ही मनन हो सकेगा; नहीं तो मनन नहीं हो सकता, क्योंकि खोज ही गलत को रहे हैं। तो गलत काफी मिल जाएगा। कांटों की कोई कमी है! पर कांटों से प्रयोजन क्या है? कोई कांटों की मालाएं बनानी हैं? गले में डालनी हैं? प्रयोजन फूलों से है, कांटों से प्रयोजन क्या है?

तो अगर युक्ति हो, तो कुरान में से भी फूल चुन लिए जाएंगे; और वे फूल किसी गीता से कम फूल नहीं हैं। अगर युक्ति हो, तो गीता में से भी वे फूल चुन लिए जाएंगे; वे फूल किसी कुरान, किसी बाइबिल से कम नहीं हैं। मनन करने वाला व्यक्ति फूलों की खोज में है; चिंतन करने वाला व्यक्ति कांटों की खोज में है। वह आपको तय कर लेना चाहिए। एक बात ख्याल रखना कि जो आप खोजेंगे, उसी से घिर जाएंगे। कांटे खोजेंगे, कांटों से घिर जाएंगे; फूल खोजेंगे, फूलों से घिर जाएंगे।

तो ध्यान रखना कि कांटे खोज कर आप किसी और का अहित नहीं कर रहे हैं, अपना ही अहित कर रहे हैं; क्योंकि जो खोजेंगे, वही मिलेगा। हम सब कांटों के खोजी हैं। कोई भी आदमी मिले, तो उसमें क्या भूल है, उसकी खोज की कुशलता का कोई अंत ही नहीं है, तत्काल वह दिखाई पड़ती है। फिर धीरे-धीरे सबमें हम भूलें देख लेते हैं, उन्हीं के बीच रहना पड़ता है, जगत नर्क हो जाता है। क्योंकि सब गलत आदमी चारों तरफ मालूम पड़ते हैं, ठीक आदमी कोई दिखाई नहीं पड़ता। इसलिए नहीं कि ठीक आदमी नहीं हैं, बल्कि इसलिए कि आपकी खोज ही गलत आदमी की है।

किसी से कहो कि फलां आदमी बहुत अच्छी बांसुरी बजाता है। वह कहेगा, क्या बांसुरी बजाएगा? चोर! बेईमान! वह क्या बांसुरी बजाएगा?

अब चोर और बेईमान से बांसुरी बजाने का क्या विरोध है? होगा बेईमान, लेकिन बेईमान बांसुरी नहीं बजाता यह किसने कहा? कि नहीं बजा सकता यह किसने कहा? किसने यह संबंध जोड़ा? चोर में भी तो फूल खिल सकता है बांसुरी बजाने का। चोरी कांटा होगी, बांसुरी बजाना फूल होगा। जब कांटों में फूल खिल सकते हैं, तो चोर बांसुरी क्यों नहीं बजा सकता?

लेकिन नहीं, यह मानने में बड़ी पीड़ा होती है कि कोई कुछ भी अच्छा कर सकता है। फौरन कह देंगे कि चोर है, बेईमान है, वह क्या बांसुरी बजाएगा!

मनन वाले आदमी की वृत्ति दूसरी होगी। अगर आप कहेंगे उससे कि फलां आदमी चोर है, बेईमान है। वह कहेगा, होगा, लेकिन बांसुरी गजब की बजाता है।

यह चुनाव का फर्क है। और जब कोई आदमी बांसुरी गजब की बजाता है, तो उसका चोर होना और बेईमान होना भी संदिग्ध होने लगता है। और जब कोई आदमी चोर और बेईमान गजब का होता है, तो उसका बांसुरी बजाना संदिग्ध होने लगता है। जो हम पकड़ते हैं, उससे दूसरी बात पर प्रभाव पड़ता है।

क्या जरूरत है कि वह चोर है या बेईमान है! हम अपने पड़ोसी को चोर और बेईमान चाहते हैं? तो हमें वही खोजना चाहिए। हम अपने पड़ोसी को सुगंधित बांसुरी बजाने वाला चाहते हैं, तो हमें वही खोजना चाहिए। जिंदगी में दोनों हैं। वहां रात भी है और दिन भी, और वहां बुरा भी है और भला भी। आप यह मत सोचना कि स्वर्ग कहीं और है जमीन से और नर्क कहीं और है; आपकी दृष्टि में निर्भर है। इसी जमीन पर लोग स्वर्ग में रहते हैं और इसी जमीन पर लोग नर्क में रहते हैं। आप क्या खोजते हैं, वही आपका जगत बन जाता है।

मनन फूलों से यात्रा शुरू करता है; सहानुभूति से। गलत पर जल्दी से हमला नहीं करता, सही को पहले आत्मसात कर लेता है। और जब सही पूरी तरह आत्मसात हो जाता है, तो ही जो पहले गलत जैसा दिखा था, उस पर सोचता है।

और ध्यान रहे, इस दृष्टि के रूपांतरण के बुनियादी अंतर बाद में दिखाई पड़ने शुरू होते हैं। ऐसा आदमी धीरे-धीरे विकसित होता है, अंकुरित होता है, सही को आत्मसात करते-करते सही हो जाता है। और गलत की खोज करते-करते, गलत को आत्मसात करते-करते गलत हो जाता है। जो आदमी दूसरों में बेईमानी और चोरी और गलत ही देखता है, ज्यादा दिन तक ईमानदार नहीं रह सकता। सच तो यह है कि पहले से ही ईमानदार नहीं हो सकता।

असल में कोई चोर किसी दूसरे आदमी को मान नहीं सकता कि चोर नहीं है। या कि मान सकता है? चोर यह मान ही नहीं सकता कि दूसरे लोग अचोर हैं। चोर के सोचने का सारा ढंग चोरी का हो जाता है। वह दूसरों में भी तत्काल चोरी खोजता है, देखता है। व्यभिचारी यह नहीं मान सकता कि कोई चरित्रवान है। मान ही नहीं सकता। उसका अनुभव बाधा बनता है मानने में।

यह बड़ी मजेदार बात है। व्यभिचारी मान नहीं सकता कि कोई ब्रह्मचारी है--मान ही नहीं सकता! यह बात ठीक है। अगर कोई सच में ही ब्रह्मचारी है, तो वह भी नहीं मान सकता कि कोई व्यभिचारी है! लेकिन यह बड़े मजे की बात हैः व्यभिचारी तो कभी नहीं मानते कि कोई ब्रह्मचारी है और ब्रह्मचारी भी नहीं मानते कि कोई ब्रह्मचारी है!

तब बड़ी झंझट की बात है। व्यभिचारी का न मानना तो तर्कसंगत है कि कोई ब्रह्मचारी हो नहीं सकता; जब मैं ही नहीं हो सका, तो कौन हो सकता है! लेकिन ब्रह्मचारी भी मानने को तैयार नहीं होता कि कोई दूसरा ब्रह्मचारी है। तब मामला संदिग्ध है, तब वह भी ब्रह्मचारी नहीं है; क्योंकि उसका भी भीतरी अनुभव यह है कि ब्रह्मचर्य वगैरह सब ऊपर-ऊपर है, भीतर व्यभिचार है। वह भी नहीं मानता।

इसलिए अगर आपको कोई साधु मिले जो दूसरों को असाधु मानता हो, तो समझ लेना कि अभी साधु साधु हो नहीं पाया है। साधु होने का मतलब ही यह है कि सारा जगत तत्क्षण साधु हो जाएगा। सारी बात ही बदल गई, क्योंकि देखने का ढंग बदल गया। एक आदमी जब भीतर साधु हो जाता है तो सारे जगत में उसे साधुता दिखाई पड़ने लगती है; क्योंकि जो भीतर है, वही बाहर दिखाई पड़ता है। अगर आपको सब में असाधुता दिखाई पड़ती हो, चोर, बेईमान, बदमाश दिखाई पड़ते हों, तो उनकी फिक्र छोड़ कर अपनी फिक्र में

लगना। जो दिखाई पड़ता है, वह आपके भीतर है। वही आपको दिखाई पड़ता है। वही तत्काल दिखाई पड़ता है, क्योंकि उसकी संगति बैठ जाती है; भीतर से तत्काल संगति बैठ जाती है।

मनन, जीवन का जो शुभ्र, शुक्ल पक्ष है, उससे शुरू होता है। चिंतन, जीवन का जो कृष्ण, अंधेरा पक्ष है, उससे शुरू होता है। यह ध्यान में रहे तो फिर युक्ति का बड़ा मजा है। विचार, तर्क बड़े सहयोगी हैं। तब पूरी निष्ठा से युक्ति की जा सकती है। और युक्ति से फिर नुकसान नहीं होता। फिर युक्ति सहयोगी बन जाती है, मित्र बन जाती है।

'इस श्रवण और मनन द्वारा निस्संदेह हुए अर्थ में चित्त को स्थापित करके एकतान बनाना निदिध्यासन है।'

सुना महावाक्यः तत्त्वमसि--तू ब्रह्म है। सुना पूरे प्राणों से, फिर सहानुभूति से सोचा, विमर्श किया, खोजा इस वाक्य के अर्थ को; इसकी अनेक-अनेक निष्पत्तियों को, अंतर्निहित गहराइयों को अनेक-अनेक मार्गों से टटोला, स्पर्श किया, स्वाद लिया, डुबाया अपने में, मनन किया--और फिर पाया कि सही है।

पाया ही जाएगा कि सही है; क्योंकि जिन्होंने कहा, उन्होंने पाकर कहा है। ये कोई विचारकों के निष्कर्ष नहीं हैं, अनुभवियों की वाणी है। यह जिन्होंने सोचा, और सोच-सोच कर कुछ तय किया, उनकी बात नहीं है; जिन्होंने जाना, जीया, डूबे, पाया, उनकी खबरें हैं। पाएंगे ही। अगर मनन, श्रवण ठीक चला, तो पाएंगे ही कि ठीक है यह बात। अगर ठीक है, तो फिर इस ठीक से एकतान हो जाना निदिध्यासन है। अगर यह ठीक है कि मैं ब्रह्म ही हूं, तो फिर ब्रह्म जैसे ही होकर जीने लगना निदिध्यासन है। आचरण, व्यवहार, सब तरफ एकतान हो जाना। फिर कोशिश करना कि जो ठीक है, उसमें और मुझमें भेद न रह जाए। क्योंकि अगर यह वाक्य ठीक है, तो फिर मैं गलत हूं। दो ही बातें हो सकती हैंः या तो मैं सही हूं, तो यह वाक्य गलत है; अगर यह वाक्य सही है, तो फिर मैं गलत हूं।

हम सबकी कोशिश क्या है? इसे थोड़ा समझ लें। हमारी सदा यह कोशिश है कि मैं सही हूं! यही हमारा उपद्रव है। हमारे जीवन की सबसे बड़ी झंझट, सबसे बड़ी परेशानी और संताप यही है कि हम मान कर चलते हैं कि मैं सही हूं। यह तो हमारी शुरुआत है हर बात में कि मैं सही हूं। इसी से हम कसते हैं। यह हमारा निकष है, कसौटी है, कि मैं सही हूं। अब जो मेरे अनुकूल न पड़े वह गलत है।

इसको तय कर लेना चाहिए; साधक को यह तय कर लेना चाहिए कि यह मूढ़तापूर्ण विचार प्रस्थान न बने कि मैं सही हूं। अगर आप सही ही हैं, तो अब खोज की कोई जरूरत ही नहीं है।

यह बहुत मजेदार है! कल एक महिला मेरे पास आईं। उन्होंने कहा कि मैं कोई बीस वर्ष पहले किसी स्वामी से दीक्षा ली हूं, कुंडलिनी मेरी जाग्रत हो गई है। लेकिन चैन बिल्कुल नहीं है, बड़ी बेचैनी है।

कुंडलिनी जाग्रत हो गई हो तो यह बेचैनी कैसे है? और अगर बेचैनी है तो कृपा करके कुंडलिनी को मानो कि सोई है, अभी जगी नहीं है। मगर नहीं, दोनों बात चलती हैं!

आप अगर सही हैं, तो फिर तो कुछ बची ही नहीं खोज, बात खतम हो गई। हर आदमी यह मान कर चलता है मैं सही हूं और फिर कहता है मुझे सत्य की खोज करनी है! सत्य की खोज करनी है तो निर्णय स्पष्ट हो जाना चाहिए चेतना के सामने कि मैं गलत हूं। तो ही खोज हो सकती है। जब मैं गलत हूं, तब किसी सत्य में प्रवेश हो सकता है; मैं पहले से ही सही हूं, तो सत्य ही गलत मालूम पड़ेगा। क्योंकि जब गलत आदमी अपने को सही मान रहा हो, तो सही को सही कभी नहीं देख सकता।

मन की व्यवस्था यही है मान कर चलने का कि मैं सही हूं। मेरा विचार, मेरी दृष्टि, मेरा धर्म, मेरा शास्त्र, मैं सही हूं--यहां से अगर शुरू करना है तो शुरू करने की कोई जरूरत नहीं, आप मंजिल पर पहुंच ही गए हैं; अब नाहक मेहनत कर रहे हैं। पाएंगे भी कहां मंजिल; मंजिल पर आप खड़े ही हैं। आप खुद ही मंजिल हैं।

यह साफ कर लेना चाहिए। अगर ऐसा पागलपन आ गया हो कि मैं सही हूं, तो खतम हो गई बात, फिर कुछ खोज-बीन नहीं करनी चाहिए। खोज-बीन का मतलब ही है कि मैं गलत हूं। दुख है, संताप है, पीड़ा है, तनाव है; परेशान हूं, बीमार हूं; और सब तरह से घिर गया हूं अपनी बीमारियों से। इन्हीं सब बीमारियों का जोड़ मैं हूं--ऐसा जो मान कर चले। और यही सच है। आप बीमारी का जोड़ हैं, ज्यादा कुछ भी नहीं हैं। एक बंडल है, जिसमें सब तरह की बीमारियां हैं; अनेक-अनेक तरह की बीमारियां हैं। और हर आदमी आविष्कारक है, निजी बीमारियां खोज लेता है। और इन बीमारियों के बीच में भी यह भाव बनाए रखता है कि मैं सही हूं।

निदिध्यासन का अर्थ है, यह महावाक्य दिखाई पड़ा कि सही है। सुना, सोचा, देखा कि सही है। चित्त को उसका सही होना दिखाई पड़ गया; चेतना को प्रतीति होने लगी उसके सही होने की। अब व्यक्तित्व को भी उसी के अनुकूल ढाल देना निदिध्यासन है; जो दिखा हो सही, फिर उसी को जीना शुरू कर देना।

और ध्यान रहे, दिख जाए सही, तो जीने में कोई कठिनाई नहीं है। दिखते ही जीना शुरू हो जाता है। कौन आग में हाथ डालता है जान कर? अज्ञान में ही हाथ डाले जाते हैं आग में। कौन बुरा करता है जान कर? अज्ञान में ही बुरा किया जाता है। कौन विक्षिप्तता ओढ़ता है जान कर? अज्ञान में ही विक्षिप्तता ओढ़ी जाती है। जब दिखाई पड़ने लगे कि सही क्या है, उसकी दिखाई पड़ने की झलक ही आपको भीतर से बदलने लगेगी। आपकी सारी तरंगें, अब धीरे-धीरे जो आपको दिखाई पड़ा है, उसके साथ तालमेल बिठाने लगेंगी।

इस एकतानता, इस हार्मनी का नाम निदिध्यासन है।

फिर अगर, फिर अगर एकतानता न बने, कठिन मालूम पड़े, तो भी साधक जानता है कि यह मेरी ही कठिनाई है। तो अपने को पिघलाता है। अगर जटिल मालूम पड़े यात्रा, तो समझता है कि यह जटिलता, कांप्लेक्सिटी मेरी है। तो अपने को सुलझाता है। लेकिन जो आदमी अपने को ठीक मान कर चलता है, अगर दो कदम चले, और कोई यात्रा में फल आता न दिखाई पड़े, तो वह समझता है कि यह, यह जो सोचा था तत्त्वमसि, यह ही गलत है, छोड़ो!

मेरे पास लोग आते हैं। कल एक मित्र आए; कल ही पहली दफा ध्यान किया। कल ही आए हैं और पहली दफा ध्यान किया। और कल ही मेरे पास पहुंच गए कि कुछ हुआ नहीं!

आदमी की मूढ़ता की भी कोई सीमा है! इस जगत में ब्रह्म और मूढ़ता, दो ही चीजें असीम मालूम पड़ती हैं! इनका कोई अंत नहीं मालूम पड़ता।

कल ही आए हैं पहली दफा! सुबह थोड़ा उछल-कूद लिए होंगे! दोपहर पहुंच गए, कि अभी तक कुछ हुआ नहीं है! कहने लगे, इस पद्धति में कोई सार नहीं दिखाई पड़ता। अभी तक कुछ हुआ नहीं!

मैंने पूछा कि कितने जन्मों से कर रहे हैं इस पद्धति को? बोले, जन्म वगैरह नहीं, आज ही आया हूं!

थोड़ा तो मौका दो पद्धति को! थोड़ी कृपा करो पद्धति पर, थोड़ा मौका दो!

आदमी अपने को सही ही मान कर चल रहा है! इसलिए जहां भी अड़चन आती है, दूसरी चीज ही गलत होगी; वह अपने सहीपन को कायम रख कर यात्रा पर निकल जाता है। भटकेंगे फिर तो जन्मों-जन्मों तक, कभी भी कोई बात बैठ नहीं पाएगी। क्योंकि एकतान करना श्रम है, एकदम नहीं हो जाएगा। क्योंकि जन्मों-जन्मों के संस्कार हैं पीछे, उनको तोड़ना पड़ेगा। आज आपको दिखाई भी पड़ जाए एकदम, एक क्षण में, साफ कि क्या

सही है, तो भी आपके पैरों की चलने की आदत है, शरीर की आदत है, मन की आदत है। उन आदतों का बड़ा जाल है; वह जाल एकदम आज नहीं छूट जाएगा। उस जाल को तोड़ने का श्रम करना पड़ेगा। सवाल पद्धतियों का नहीं है, सवाल आपका है; पद्धति तो कोई भी काम कर सकती है। पर आप!

ख्याल करें, जीवन हमारा आदत है। छोटी-छोटी बातों से लेकर बड़ी-बड़ी बातों तक सब आदत है। उस आदत की लंबी रेखा है। और हमारी चेतना उसी रेखा को बांध कर, पकड़ कर बहने की आदी हो गई है। आज अचानक दिख भी जाता है कि यह रास्ता गलत है, तो दूसरा रास्ता पकड़ने में रास्ता बनाना पड़ेगा। और ध्यान रहे, पिछली जो आदत थी, उससे ज्यादा गहरा रास्ता बनाना पड़ेगा। तभी यह पानी की धार उस यात्रा-पथ को छोड़ कर नए यात्रा-पथ को ग्रहण करेगी। मगर बस आपने सोच लिया कि बस ठीक है, तो इससे कुछ हल नहीं हो जाने वाला।

निदिध्यासन का अर्थ हैः जो सुना, जो समझा कि ठीक है, उसके अनुकूल जीवन को रूपांतरित करना। उसके अनुकूल, वक्त लगेगा। मन अड़चन डालेगा, शरीर बाधाएं खड़ी करेगा, सब होगा; लेकिन जब ठीक दिखाई पड़ गया हो, तो फिर सब भांति उस ठीक की यात्रा पर अपने को झोंक देना--यह हिएमत आवश्यक है। फिर बैठने से काम नहीं चल पड़ेगा।

दिख गया हो तारा--बहुत दूर हो, लेकिन दिख गया तारा--तो फिर यात्रा पर निकल जाना। और यह मत सोचना कि एक कदम बढ़ाया, अभी तो तारे तक पहुंचे नहीं! दो कदम उठा लिए, अभी तक तारे तक नहीं पहुंचे! कोई फिक्र नहीं, दो कदम पहुंचे, इतना भी कुछ कम नहीं है। दो कदम चले, इतना भी कुछ कम नहीं है। क्योंकि अनेक तो हैं, बैठे ही हैं जन्मों से; वे उठे ही नहीं; वे यह भूल ही गए हैं कि उठना भी होता है, चलना भी होता है!

बुद्ध ने कहा है, तुम चलो। कितनी ही भूल करो, चिंता नहीं है; चले, इतना ही काफी है। चले, भूल की, भूल सुधार लेंगे। भटके, कोई फिक्र नहीं। पैरों में गति आ गई। आज भटकाव की तरफ गए, कल ठीक की तरफ आ जाओगे। एक ही भूल है, बुद्ध ने कहा कि तुम चलो ही न और बैठे रहो।

यद्यपि जो बैठा रहता है उससे कोई भूल नहीं होती। बैठे ही हैं तो भूल क्या होगी? दुनिया में भूल तो उससे होती है, जो चलता है। भूल तो उससे होती है, जो कुछ करता है। उनसे कहीं कोई भूल होती है जो कुछ करते ही नहीं और बैठे हैं! बिल्कुल निर्भूल होते हैं वे। लेकिन एक ही भूल है दुनिया में, बैठे रहना।

उठ कर चल पड़ना, जो ठीक लगे उसकी यात्रा पर। अगर वह कल गलत भी सिद्ध हुआ, तो भी कम से कम एक लाभ तो होगा कि चलना आ जाएगा। वह जो चलना आ जाएगा, तो कल ठीक दिशा भी पकड़ी जा सकती है। असली चीज दिशा नहीं है, असली चीज गत्यात्मकता है; वह चलने की क्षमता है।

निदिध्यासन प्रयास है एकतान होने का। यह शब्द बहुत अदभुत है।

'श्रवण और मनन द्वारा निस्संदेह हुए अर्थ में चित्त को स्थापित करके एकतान बनाना, यह निदिध्यासन है।'

फिर जो दिखाई पड़ रहा है, उसके साथ चित्त का तालमेल हो जाए। वह हमारी झलक न रह जाए सिर्फ, हमारा चित्त ही बन जाए। वह ऐसा न लगे कि एक विचार है हमारा, बल्कि ऐसा हो जाए कि यही हमारा मन है अब।

जैसे एक आदमी ने संन्यास लिया, तो संन्यास एक विचार की तरह भी लिया जा सकता है कि ठीक लगता है, समझ में आता है--ले लिया। पर एक विचार है मन में, और हजार विचार हैं। तो एकतानता पैदा नहीं होगी अभी। धीरे-धीरे-धीरे-धीरे-धीरे, यह जो एक विचार की तरह प्रवेश किया था, इसका रंग हमारे सब

विचारों पर फैल जाए। सब विचारों पर फैलने का मतलब यह है कि भोजन करते वक्त भी एक संसारी के भोजन और एक संन्यासी के भोजन में अंतर पड़ जाना चाहिए; वह रंग जो संन्यास का है, भोजन करने की क्रिया पर भी फैल जाए। संन्यासी ऐसे भोजन करे, जैसे मैं भोजन नहीं कर रहा हूं; संन्यासी ऐसे चले, जैसे मैं नहीं चल रहा हूं; संन्यासी ऐसे उठे कि मैं नहीं उठ रहा हूं; सारा कर्तृत्व छोड़ दे।

तो एक तो संन्यास एक विचार की तरह ले लिया, और एक फिर पूरे जीवन की एकतानता साधी; फिर चित्त ही संन्यासी हो गया।

तो बुद्ध ने कहा है कि भिक्षु सोए भी, एक भिक्षु सो रहा हो और एक गृहस्थ सो रहा हो, तो देखने वाला बता सके कि कौन भिक्षु है, कौन गृहस्थ है। सोने की क्वालिटी, सोने का ढंग भिक्षु का बदल जाना चाहिए, संन्यासी का बदल जाना चाहिए। क्योंकि जिसका चित्त बदल गया हो पूरा, उसकी सभी क्रियाओं में उसकी छाया, और रंग, और ध्वनि फैल जानी चाहिए। फैल ही जाएगी।

तो एक विचार की तरह नहीं, एकतानता की तरह निदिध्यासन। और--

'फिर ध्याता तथा ध्यान का त्याग करके, चित्त केवल एक ध्येय को ही विषय रूप माने और वायुरहित स्थान में रखे हुए दीए के समान निश्चल बन जाए, उसको समाधि कहते हैं।'

समाधि परम घटना है। ये तीन उसकी तरफ पहुंचने के चरण हैं, चौथा चरण समाधि है। उसके पार शब्द का जगत नहीं है। उसके पार, कहा जा सके, उसका जगत नहीं है। समाधि तक की बात कही जा सकती है। उस तरफ, उस तरफ जो है, उसके बाबत कभी कुछ कहा नहीं गया, और कभी कुछ कहा नहीं जा सकेगा।

पर समाधि के द्वार पर जो खड़ा हो जाता है, वह उसे देख लेता है, जो दिखाई नहीं पड़ता; उसे जान लेता है, जिसे जानना असंभव है; उससे उसका मिलन हो जाता है, जिसके बिना मिले ही सारा दुख, सारी पीड़ा, सारा संताप है। वह जो अज्ञेय है, वह ज्ञेय बन जाता है। और वह जो रहस्य है, खुल जाता है, प्रकट हो जाता है। सब ग्रंथियां टूट जाती हैं। खुले आकाश की भांति सत्य के बीच, सत्य में एक हो जाता है चैतन्य।

समाधि निदिध्यासन के बाद की बात है। जिसने अपने चित्त को ऐसे महावाक्यों के साथ--तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, सोऽहम्--ऐसे महावाक्यों के साथ एकतान कर लिया, जिसका चरित्र और जिसका चित्त इनकी अभिव्यक्ति बन गया। जो उठता है तो उसके उठने में स्वर है तत्त्वमसि का, उसके उठने में भी वह मुद्रा और वह गेस्चर और वह खबर है कि वह ब्रह्म के साथ एक होकर डोल रहा है; ऐसा व्यक्ति समाधि को उपलब्ध हो पाता है।

ध्याता और ध्यान, दोनों ही खो जाएं, सिर्फ ध्येय रह जाए--यह समाधि है।

इसे समझ लें। तीन शब्द हैंः ध्याता, ध्यान, ध्येय। उदाहरण के लिए, तत्त्वमसि, तू वही है--यह ध्येय है। इसी महावाक्य को हम समझ रहे हैं। यह ध्येय है। यह पाने जैसा है। यही पाने जैसा है। यही है लक्ष्य। यही अंतिम गंतव्य है। फिर मैं हूं--जो ध्याता है, जो इस ध्येय को सोच रहा है; इस ध्येय को विचार रहा है; इस ध्येय की अभीप्सा कर रहा है; इस ध्येय के लिए प्यासा है, आतुर है--कैसे इस ध्येय तक पहुंच जाए!

ध्येय हैः वह मैं ही हूं। यह मैं हूं, ध्याता; इस ध्येय की तरफ जा रही चेतना। और जब ध्याता ध्येय की तरफ दौड़ने लगता है; और सारी तरफ दौड़ बंद हो जाती है, बस एक ही दौड़ रह जाती है चेतना की, ध्येय की तरफ, तो उस दौड़ का नाम ध्यान है। जब चेतना की सारी धारा ध्येय की तरफ एकजुट होकर बहने लगती है, अलग-अलग पच्चीस धाराओं में नहीं बहती; सभी तरफ से चेतना इकट्ठी होकर एक ही धार बन जाती है और ध्येय की तरफ तीर की तरह बहने लगती है, सतत--इस बहती हुई चेतना का नाम ध्यान है।

समाधि, उपनिषद कहता है कि जब यह ध्यान सारे के सारे प्राणों को उलीच कर ध्येय में डूब जाए, और जब ध्याता की--वह जो ध्यान कर रहा था--ध्याता की, मेडिटेटर की सारी ऊर्जा, सारी चेतना, इस ध्यान की विधि में यात्रा करके ध्येय के साथ एक हो जाए, और ऐसी घड़ी आ जाए कि ध्याता को पता न रहे कि मैं हूं--आती है--पता न रहे कि मैं हूं, ध्याता को यह भी पता न रहे कि ध्यान है, सिर्फ तत्त्वमसि, वह जो ध्येय है, वही मात्र रह जाए, उसको उपनिषद ने कहा समाधि। एक ही रह जाए, तीन न रहें; ध्याता, ध्यान, ध्येय--तीन न रहें, एक ही रह जाए।

इसे थोड़ा समझ लें। क्योंकि अलग-अलग साधना-पद्धतियों ने, कौन एक रह जाए, इसका अलग-अलग चुनाव किया है।

उपनिषद कहते हैं, ध्येय रह जाए, ध्याता और ध्यान खो जाएं। महावीर कहते हैं, ध्याता रह जाए, ध्यान और ध्येय खो जाएं; आत्म भर रह जाए; शुद्ध मैं रह जाऊं। विपरीत मालूम पड़ता है। सांख्य कहता है, ध्याता और ध्येय दोनों खो जाएं, ध्यान रह जाए; सिर्फ चैतन्य रह जाए, सिर्फ बोध, सिर्फ अवेयरनेस।

लगता है कि बड़ी विपरीत बातें हैं। जरा भी विपरीत नहीं हैं; और पंडित बड़ा विवाद करते रहे हैं! पंडितों के विवाद बड़े हास्यास्पद हैं, हंसने योग्य हैं। बड़ा विवाद करते रहे हैं; विवाद होगा भी। जो शब्द को ही समझते हैं, वे विवाद करेंगे कि ये तीनों तो विपरीत बातें हैं। उपनिषद कहते हैं ध्येय रह जाए, कोई कहता है ध्यान रह जाए, कोई कहता है ध्याता रह जाए, तो समाधि क्या है फिर? यह तो तीन तरह की समाधि हो गई! और अगर ध्येय रह जाए यह समाधि है, तो ध्याता रह जाए वह फिर कैसे समाधि होगी? तो तय करना पड़ेगा, सही समाधि कौन सी है। दो गलत होंगी, एक ठीक होगी।

पंडित शब्दों में जीता है, अनुभवों में नहीं। अनुभव का बड़ा मजा और है। ये तीनों एक ही बात हैं। क्यों? क्योंकि ये तीनों के साथ एक मजा है कि दो खो जाएं--कोई भी दो खो जाएं--एक बच जाए, तो उस एक का नाम देना बिल्कुल कृत्रिम है। वह कौन सा नाम आप देते हैं, आप पर निर्भर है।

ये तीन हैं अभीः ध्याता है, ध्यान है, ध्येय है। साधक के लिए, निदिध्यासन वाले साधक के लिए ये तीन हैं। जब इन तीनों का खोना हो जाता है और एक बचता है, तो इन तीन में से वह कोई भी एक नाम चुनता है। वह चुनाव बिल्कुल निजी है। उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता कि उसको क्या नाम आप देते हैं। चाहें तो उसको चौथा नाम भी चुन सकते हैं। अनेक उपनिषदों ने उसको चौथा ही नाम दे दिया; तीनों ही खो जाते हैं; झगड़ा नहीं रखा। कि इन तीन में से चुनेंगे, तो लगेगा कि वह कोई पक्षपात हैः दो छोड़े और एक बचा। तो उन्होंने कहा, तुरीय--दि फोर्थ। उन्होंने चौथे को भी सिर्फ चौथा ही नाम दिया। उसको नाम भी नहीं दिया ताकि झंझट खड़ी हो कोई। कहा, चौथा।

लेकिन झंझट करने वालों को कोई अड़चन नहीं है। वे कहते हैं, तीन थे, चौथा आया कहां से? यह चौथा कौन है? उन तीन में से कौन है? या कि वे तीनों ही खो गए, यह चौथा बिल्कुल अलग है? या कि तीनों का जोड़ है? यह चौथा क्या है?

उससे कोई फर्क नहीं पड़ता, जिसको विवाद करना है, उसके लिए कोई भी चीज विवाद शुरू करने के लिए काफी है। जिसको साधना करनी है, उसकी यात्रा बिल्कुल अलग है।

इन तीन में से एक नाम उपनिषदों ने चुन लिया, ध्येय बच जाता है। महावीर ने चुना, ध्याता बच जाता है। सांख्य ने कहा, ध्यान बच जाता है। ये सिर्फ नाम हैं। एक बच जाता है, यह तय है। तीन नहीं रह जाते, एक रह जाता है, यह तय है। नाम कृत्रिम हैं, कोई भी नाम दे दें। इतना ही याद रखें कि जब एक बच जाता है, तो

समाधि है! जब तक दो बचे हैं, तब तक जानना कि तीन बचे हैं। क्योंकि दो जब तक बचते हैं, दोनों को जोड़ने वाला एक तीसरा बीच में खड़ा रहता है।

दो अकेले नहीं बच सकते। दो का मतलब सदा तीन होता है। इसलिए जो लोग बहुत गणित की भाषा में सोचते हैं, वे जगत को द्वैत नहीं कहते, वे त्रैत कहते हैं। जो बहुत व्यवस्था में सोचते हैं और गणित के ढंग से सोचते हैं, वे जगत को कहते हैं, जगत है त्रैत--द्वैत नहीं। क्योंकि दो होंगे तो तीसरा होगा ही। क्योंकि दो को जोड़ेगा कौन? या दो को अलग कौन करेगा? दो के बीच तीसरा अनिवार्य हो जाता है। तीन अस्तित्व का ढंग है।

इसलिए हमने त्रिमूर्ति बनाई। वह त्रैत की सूचक है, कि जगत तीन से मिल कर बना है। लेकिन तीन चेहरे बनाए हैं एक ही आदमी के; वह है चौथा। ये तीनों चेहरों के भीतर से कहीं से भी प्रवेश करें, भीतर जब पहुंचेंगे तो तीनों चेहरे न रह जाएंगे। लेकिन साधक जहां से प्रवेश करेगा, वहां से पसंद करेगा। कोई विष्णु के मुंह से प्रवेश करे भीतर, कोई ब्रह्मा के, कोई महेश के। तो जहां से वह प्रवेश करेगा, वही नाम वह जो भीतर पहुंचेगा, तो दे देगा चौथे को; कहेगा कि विष्णु, कहेगा कि महेश, कहेगा कि ब्रह्मा। मगर भीतर पहुंच कर तीनों चेहरे खो जाते हैं। भीतर कोई चेहरा नहीं है, भीतर एक है।

यह त्रिमूर्ति सिर्फ मूर्ति नहीं है, यह हमारी परम साधना की निष्पत्ति है।

तीन हैं आखिरी छलांग के पहले, तीन बच जाते हैंः ध्याता, ध्यान, ध्येय। और इन तीन में से जिसने छलांग लगाई--एक बच जाता है। उसे जो नाम देना चाहें, मर्जी; नाम से कोई अंतर नहीं पड़ता। न देना चाहें, मर्जी। चौथा कहना चाहें, सुंदर। कुछ न कहना चाहें, चुप रह जाएं, उससे बेहतर कुछ भी नहीं।

सुनें, सुनने को श्रवण बनाएं। सोचें, सोचने को मनन बनाएं। मनन करें, निष्पत्ति लें, निष्पत्ति को निदिध्यासन बनने दें, एकतानता लाएं। एकतानता एकतानता ही न रहे, अंत में ऐक्य बन जाए।

फर्क समझ लें। एकतानता का अर्थ है, अभी दो बाकी हैं और दोनों के बीच तालमेल बैठ गया है; लेकिन दो बाकी हैं। ऐक्य का अर्थः दो खो गए, तालमेल ही रह गया।

एकतानता है निदिध्यासन और एकता है समाधि।

ग्यारहवां प्रवचन

धर्म-मेघ समाधि

वृत्तयस्तु तदानीमप्यज्ञाता आत्मगोचरा :।

स्मरणादनुमीयन्ते व्युत्थितस्य समुत्थिता :।। 36।।

अनादाविह संसारे संचिता : कर्मकोटय:।

अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मोऽभिवर्धते।। 37।।

धर्ममेधमिमं प्राहु: समाधि योगवित्तमा :।

वर्षत्येष यथा धर्मामृतधारा : सहस्रश :।। 38।।

अमुना वासनाजाले नि:शेष प्रविलापिते।

समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मसंचये।। 39।।

वाक्यमप्रतिबद्धं सत प्राक परोक्षावमासते।

करामलकवद्बोधमपरोक्षं प्रसूयते।। 40।।

इस समाधि के समय वृत्तियां केवल आत्मरूप विषय वाली होती हैं, इससे जान नहीं पड़तीं, पर समाधि में से उठे हुए साधक की वे उत्थान पाई हुई वृत्तियां स्मरण से अनुमान की जाती हैं।

इस अनादि संसार में करोड़ों कर्म इकट्ठा कर लिए जाते हैं, पर इस समाधि द्वारा वे नष्ट हो जाते हैं, और शुद्ध धर्म बढ़ते हैं।

उत्तम योगवेत्ता इस समाधि को धर्म-मेघ कहते हैं, क्योंकि वह मेघ की तरह धर्मरूप हजार धाराओं की वर्षा करती है।

इस समाधि द्वारा वासनाओं का समूह पूर्णत: लय को प्राप्त होता है और पुण्य-पाप नाम के कर्मों का समूह जड़ से उखड़ जाता है, तब यह तत्त्वमसि वाक्य प्रथम परोक्ष ज्ञानरूप में प्रकाशित होता है, और फिर हाथ में रखे आमला की तरह अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करता है।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि, इन चार चरणों के संबंध में सुबह हमने बात की। समाधि संसार का अंत और सत्य का प्रारंभ है। समाधि मन की मृत्यु और आत्मा का जन्म है। इस ओर से देखें तो समाधि अंतिम चरण है, उस ओर से देखें तो समाधि पहला चरण है।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन, इनसे मन क्षीण होता चलता है, लीन होता चलता है; समाधि में पूरी तरह लीन हो जाता है। और जहां मन पूरी तरह लीन हो जाता है, वहां उसका अनुभव शुरू होता है, जो वस्तुत: हम हैं। इस समाधि के संबंध में यह सूत्र है। और इस सूत्र में कुछ बहुत गहरी बातें हैं।

'समाधि के समय वृत्तियां केवल आत्मरूप विषय वाली होती हैं, इससे जान नहीं पड़तीं, पर समाधि में से उठे हुए साधक की वे उत्थान पाई हुई वृत्तियां स्मरण से अनुमान की जाती हैं।'

यह पहली बात काफी ख्याल से समझ लें। जो साधना में लगे हैं, उनके लिए, आज नहीं कल, काम की होगी।

समाधि में कोई अनुभव नहीं होता। सुन कर कठिनाई होगी। समाधि में कोई अनुभव हो भी नहीं सकता। और समाधि परम अनुभव भी है। यह विरोधाभासी वक्तव्य है, उलटा दिखाई पड़ता है। लेकिन कुछ कारण से उलटा दिखाई पड़ता है। समाधि में परम आनंद का अनुभव होता है, लेकिन समाधि में डूबे हुए साधक को कोई भी पता नहीं चलता; क्योंकि साधक और आनंद एक हो गए होते हैं, पता चलने के लिए दूरी नहीं रहती।

हमें पता उन्हीं चीजों का चलता है जिनसे हम भिन्न हैं, अलग हैं, दूर हैं। समाधि में आनंद की जो प्रतीति होती है, जो अनुभव होता है, उसका कोई पता समाधि में नहीं चलता। जब साधक समाधि से वापस लौटता है, तब अनुमान करता है कि आनंद हुआ था; पीछे से स्मरण करता है कि परम आनंद हुआ था, अमृत बरसा था; जीए थे किसी और ढंग में और जीवन की कोई गहन स्थिति अनुभव की थी--यह पीछे से स्मरण आता है, जब मन लौट आता है।

इसे हम ऐसा समझें कि श्रवण, मनन, निदिध्यासन, समाधि, ये चार सीढ़ियां हैं। इनसे साधक समाधि के द्वार पर जाकर अनुभव करता है। अगर समाधि में ही साधक रह जाए और वापस न लौट सके, तो अपने अनुभव को कभी भी न कह सकेगा। अपने अनुभव को बताने का फिर कोई उपाय नहीं है। लेकिन जो साधक समाधि को उपलब्ध हो जाता है, वह वही का वही वापस कभी नहीं लौटता, नया ही होकर लौटता है। लौट कर सारे संबंध उसके मन से बदल जाते हैं; लेकिन लौटता है मन में।

पहले जब मन में था तो गुलाम था मन का, कोई मालकियत न थी अपनी। मन जो चाहता था, करा लेता था; मन जो बताता था, वही मानना पड़ता था; मन जहां दौड़ाता था, वहीं दौड़ना पड़ता था। मन की गुलामी थी; मन के हाथ में लगाम थी आत्मा की।

समाधि के द्वार से लौटता है साधक जब वापस मन में, तो मालिक होकर लौटता है। लगाम उसकी अब अपने हाथ में होती है। अब मन को जहां ले जाना चाहता है, वहां ले जाता है। नहीं ले जाना चाहता तो नहीं ले जाता। चलाना चाहता है तो चलाता है, नहीं चलाना चाहता तो नहीं चलाता है। मन की अब अपनी कोई सामर्थ्य नहीं रह जाती। लेकिन समाधि को उपलब्ध साधक जब मन में लौटता है--मालिक होकर--तभी वह स्मरण कर सकता है। क्योंकि स्मरण मन की क्षमता है। तभी वह पीछे लौट कर देख सकता है मन के द्वारा कि क्या हुआ था!

इसका मतलब यह हुआ कि मन केवल संसार की ही घटनाओं को अंकित नहीं करता है, जब साधक समाधि में पहुंचता है, और जो घट रहा होता है, वह भी मन अंकित करता है। मन दोहरा दर्पण है। उसमें बाहर का जगत भी प्रतिबिंबित होता है, उसमें भीतर का जगत भी प्रतिबिंबित होता है। तो जब साधक लौटता है मन में तभी अनुभव कर पाता है कि क्या घटा! तो फिर वह तीन सीढ़ियों से लौटे, तो ही अभिव्यक्ति कर सकता है।

पहली सीढ़ी होगी साधक की समाधि से लौटते वक्त, निदिध्यासन। निदिध्यासन में उसको अनुभव होना शुरू होगा; समाधि में जो उसने जाना था सूक्ष्म में, गहन तल में, अपने आत्यंतिक केंद्र पर, वह निदिध्यासन की सीढ़ी पर आकर उसको अपने आचरण में झलकता हुआ दिखाई पड़ेगा। वह पैर उठाएगा, तो पैर पुराना नहीं मालूम पड़ेगा। इस पैर में कोई नृत्य की ध्वनि समा गई! वह आंख उठा कर देखेगा, तो यह पुरानी आंख नहीं मालूम पड़ेगी; ताजी हो गई, जैसे सुबह की ओस! उठेगा तो निर्भार मालूम पड़ेगा, जैसे आकाश में उड़ सकता है! भोजन करेगा तो दिखाई पड़ेगा कि भोजन शरीर में जा रहा है और मैंने कभी भी भोजन नहीं किया है।

अब वह जो कुछ भी करेगा--समाधि से लौटा हुआ साधक--निदिध्यासन की पहली सीढ़ी पर अपने आचरण में समाधि का प्रतिफलन देखेगा; सब जगह उसका आचरण दूसरा हो जाएगा। वह कल जो आदमी था,

मर गया। वह जो समाधि के पहले निदिध्यासन की सीमा में खड़ा आदमी था, यह वही नहीं है। सीढ़ी वही है, आदमी उतरता हुआ दूसरा है। यह कुछ जान कर लौटा है। और ऐसी बात जान कर लौटा है कि इसका पूरा जीवन रूपांतरित हो गया है। वह जानने में पुराना मर गया है और नए का जन्म हो गया है।

निदिध्यासन में उसे झलक दिखाई पड़ेगी; जो समाधि में घटा है, रस जो बहा है भीतर, वह अब उसके रोएं-रोएं, व्यवहार में सब तरफ बहता हुआ मालूम पड़ेगा।

महाकाश्यप बुद्ध से बार-बार जाकर पूछता था, कब होगी समाधि? तो बुद्ध कहते थे, तू फिक्र मत कर, मुझसे पूछने न आना पड़ेगा। जब हो जाएगी तो तू पहचान लेगा। और तू ही क्यों पहचान लेगा, जो भी तुझे देखेंगे, वे भी पहचान लेंगे, अगर उनके पास थोड़ी सी भी आंख है। क्योंकि जब भीतर वह क्रांति घटती है, तो उसकी किरणें तन-प्राण, सभी को पार करके बाहर आ जाती हैं।

निदिध्यासन की सीढ़ी पर साधक को पता चलेगा कि मैं दूसरा हो गया; मैं नया हूं, मेरा दूसरा जन्म हो गया। साधक को पता चलेगा कि जो मैं गया था समाधि में, वही लौटा नहीं हूं। कोई और गया था, कोई और लौटा है।

निदिध्यासन से नीचे है मनन। जब साधक निदिध्यासन से और नीचे उतरेगा मन में, तो मनन का क्षण आएगा। अब साधक सोच सकेगा, क्या हुआ? अब वह लौट कर विचार कर सकेगा, क्या हुआ? क्या मैंने देखा? क्या मैंने जाना? क्या मैं जीया? अब वह विचार में, शब्द में, प्रत्यय में अनुभव को बांधने की कोशिश करेगा।

जो लोग मनन की सीढ़ी पर आकर अनुभव को बांध सके हैं, उनसे ही निकले हैं वेद, उपनिषद, बाइबिल, कुरान। बहुत लोग समाधि तक गए हैं, लेकिन जो जाना है, उसे मनन तक वापस लौटाना बड़ा कठिन काम है।

ध्यान रखना, पहली यात्रा इतनी कठिन नहीं थी जो हमें बहुत कठिन मालूम पड़ रही है। इस दूसरी यात्रा से तुलना करें तो पहली यात्रा बहुत सरल थी। यह दूसरी यात्रा अति कठिन है।

लाखों लोग समाधि तक पहुंचते हैं। उनमें से कुछ थोड़े से लोग वापस निदिध्यासन में खड़े हो पाते हैं। उनमें से भी कुछ थोड़े से लोग मनन तक उतर पाते हैं। और उनमें से भी बहुत थोड़े लोग पहली सीढ़ी, जिसको हम श्रवण कहते हैं--उसका नाम लौटते वक्त बदल जाता है, वह मैं आपसे बात करूंगा--हजारों लोग पहुंचते हैं समाधि तक, एकाध आदमी बुद्ध हो पाता है। समाधि तो हजारों लोगों को लगती है, एकाध आदमी बुद्ध हो पाता है। बुद्ध का मतलब यह कि जो वापस इन चार सीढ़ियों को उतर कर, जो जाना है उसने, जगत को दे पाता है।

मनन का अर्थ है लौटते वक्त विचार में बांधना उसको जो निर्विचार है।

इस जगत में असंभव से असंभव घटना यही है। जो नहीं बोला जा सकता, नहीं सोचा जा सकता, उसे शब्द की सीमा में रखना, बांधना।

आप भी देखते हैं, सुबह का सूरज ऊगता है। कभी कोई चित्रकार, कभी, उस ऊगते सूरज को पकड़ पाता है। सूरज को पकड़ लेना बहुत कठिन नहीं है। बहुत से चित्रकार बना लेंगे सूरज को, लेकिन ऊगते सूरज को पकड़ना कठिन है। वह जो ऊगने की घटना है, वह जो गुण है विकास का, वह जो उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ है, वह भी चित्र में अंकित हो जाए, और चित्र देख कर ऐसा लगे कि सूरज अब बढ़ा आगे, अब ऊगा, अब ऊगा।

वृक्ष को पकड़ लेना कठिन नहीं है, लेकिन जीवंतता को पकड़ लेना कठिन है। ऐसा लगे कि पत्ते अब हिल जाएंगे, हवा का जरा सा झोंका और फूल झर जाएंगे। वह बहुत कठिन है। वह बहुत कठिन है। और वही फर्क है

फोटोग्राफी में और पेंटिंग में। फोटोग्राफी कितना ही पकड़ ले, मुर्दा ही पकड़ पाती है। कभी कोई पिकासो, कोई वानगॉग, कोई सीजां पकड़ पाता है, वह जो जीवंतता है, उसको।

मगर सूरज, पौधे, फूल आम जीवन के अनुभव हैं, इन्हें पकड़ा जा सकता है। समाधि असाधारण अनुभव है। करोड़ों-करोड़ों में कभी एकाध को होता है। और वहां जो होता है, सारी इंद्रियां असमर्थ हो जाती हैं खबर देने में। कान वहां सुनते नहीं, आंखें वहां देख नहीं सकतीं, हाथ वहां छू नहीं सकते, और अनुभव होता है अपरिसीम। विराट जैसे टूट पड़े आपके छप्पर पर, सारा आकाश आ जाए आपके आंगन में, तो जैसी मुसीबत हो जाए और कुछ सूझ-समझ न पड़े, वैसा समाधि के क्षण में होता है। छोटा सा चेतना का अपना घेरा, उसमें सारा सागर उतर जाता है।

कबीर ने कहा है कि पहले तो मैं समझा था कि बूंद सागर में गिर गई। जब होश आया, तब पाया कि बात उलटी हुई है : सागर बूंद में गिर गया है। तो कबीर ने कहा है कि पहले तो सोचे थे कि कुछ न कुछ बता ही देंगे लौट कर। वह भी कठिन मालूम पड़ा था। बूंद जब सागर में गिर जाएगी तो लौटेगी कैसे? वह भी कठिन मालूम पड़ा था। कठिन है ही। कबीर का वचन है :

हेरत-हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराई।

बुंद समानी समुंद में, सो कत हेरी जाई।।

वह जो गिर गई बूंद समुद्र में, अब उसे कैसे बाहर निकालें? ताकि वह खबर दे सके कि क्या हुआ। यह तो कठिन था ही। लेकिन कबीर ने बाद में दूसरी पंक्तियां लिखीं और पहली पंक्तियों को रद्द कर दिया। और कहा कि भूल हो गई जल्दी में। अनुभव नया था, ठीक से समझ न पाए क्या हुआ; आदत पुरानी थी, उसकी वजह से उलटा दिखाई पड़ गया। दूसरी पंक्तियां लिखींः

हेरत-हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराई।

समुंद समाना बुंद में, सो कत हेरी जाई।।

वह समुद्र जो है, वह बूंद में समा गया है। बूंद को तो किसी तरह खोज भी लेते समुद्र में गिर गई थी तो। यह उलटा हो गया है : समुद्र पूरा का पूरा आकर बूंद में गिर गया है। अब इस बूंद को हम खोजने भी जाएं तो कहां जाएं! इस बूंद का अब कोई पता नहीं चल सकता।

तो समाधि के क्षण में जो जाना गया है, संसार में जो हमने जाना है, उसको पकड़ने के सारे उपकरण व्यर्थ हो जाते हैं। हम ही व्यर्थ हो जाते हैं। हमारा होना ही बिखर जाता है। और कोई बड़ा होना, जिसकी कोई सीमा नहीं, हम पर टूट पड़ता है--आकस्मिक। मर जाते हैं हम।

समाधि महामृत्यु है, मृत्यु से बड़ी। क्योंकि मृत्यु में तो मरती है केवल देह, मन बचा रह जाता है। समाधि में मर जाता है मन। पहली दफे हमारा सारा संबंध मन से टूट जाता है। पहली दफा हम मन के सारे धागों से विच्छिन्न और अलग हो जाते हैं। और हमारा सारा ज्ञान मन का था। इसलिए पहली दफा समाधि में हम परम अज्ञानी होकर खड़े होते हैं।

इसे फिर से दोहरा दूं : समाधि में हमारा ज्ञान काम नहीं आता; क्योंकि ज्ञान सब सीखा था मन ने। वह मन रह गया बहुत पीछे, बहुत दूर! हम निकल गए मन से आगे। जो जानता था, वह साथी नहीं है वहां। जो सब बातें समझता था; शब्द का, सिद्धांत का जिसे बोध था; शास्त्र जिसे रच-पच गए थे, वह बहुत पीछे छूट गया। वस्त्र ही नहीं छूट जाते, शरीर ही नहीं छूट जाता, मन छूट जाता है। जो हमारा गहरे से गहरा अनुभव है, वह

सब पीछे पड़ा रह गया। मन से उछाल लगा कर साधक द्वार पर खड़ा हो गया समाधि के। अब जानने का उसके पास कुछ उपाय नहीं।

समाधि के द्वार पर जो भी खड़ा होता है, वह परम अज्ञानी की तरह खड़ा हो जाता है--परम अज्ञानी की तरह! कुछ भी जानने का उपाय नहीं, जानने की व्यवस्था नहीं, जानने के साधन नहीं, सिर्फ जानना मात्र खड़ा रह जाता है। फिर लौट कर खबर देना बड़ी मुश्किल है। कौन खबर दे? कौन खबर लाए?

लेकिन खबर दी गई है। कुछ लोगों ने अथक चेष्टा की है। वे ही परम कारुणिक हैं इस जगत में, जिन्होंने समाधि के द्वार से लौट कर खबर दी है। क्यों? क्योंकि समाधि से लौटने का भी भाव नहीं उठता है। समाधि से लौटना ऐसे ही है, जैसे आप, जो चाहते थे वह मिल गया; सब इच्छा पूरी हो गई; हिलने-डुलने का भी कोई कारण न रहा; गति का कोई सवाल न रहा; वहां से लौटना।

कहते हैं बुद्ध को समाधि हुई तो सात दिन तक वे नहीं लौटे। बड़ी मीठी कथा है। कथा है कि सारे देवता उनके चरणों में इकट्ठे हो गए, और इंद्र रोने लगा, और ब्रह्मा ने चरणों पर सिर पटका, और कहा कि ऐसा मत करें! क्योंकि हम देवता भी तरसते हैं उस बात के लिए, जो समाधि को जानने वाला लौट कर देता है। और कितने जन्मों से कितने-कितने लोग प्रतीक्षा कर रहे हैं कि कोई हो जाए बुद्ध, लौट कर खबर दे, लौट कर बोले, बताए जो जाना हो। आप चुप न रहें, आप बोलें!

लेकिन बुद्ध ने कहा, बोलने वाला नहीं रहा, बोलने की कोई इच्छा नहीं रही। और फिर जो देखा है, वह बोला जा सकता है, यह खुद ही भरोसा नहीं आता, तो सुनने वाले क्या समझ सकेंगे!

देवता नहीं माने तो बुद्ध ने कहा कि नहीं मानते हो तो मैं कहूं, लेकिन मैं तुमसे कहता हूं कि ये बातें, जो मैं किसी से कहूंगा, अगर जानने के पहले मुझसे कोई कहता, तो मैं नहीं समझता। तो कोई क्या समझेगा! और फिर बुद्ध ने कहा, इस अनुभव से यह भी अनुभव आ गया है कि जो मेरी बात को समझ सकेंगे, वे मेरे बिना भी वहां पहुंच सकते हैं; और जो मेरी बात नहीं समझ सकेंगे, उनके सामने सिर धुनने से कुछ बहुत प्रयोजन नहीं है।

लेकिन देवताओं ने एक बड़ी मीठी दलील दी। और उन्होंने कहा, हम जानते हैं, यह बात सच है कि जो लोग समझ सकेंगे, वे वे ही लोग हैं, जो किनारे पर ही खड़े हैं--जो आपकी आवाज सुन लें; एक कदम का फासला है--वे आपके बिना भी किसी न किसी तरह एक कदम पार कर जाएंगे। नहीं, उनके लिए हम नहीं कहते कि आप बोलें। और यह भी हम मानते हैं कि ऐसे भी लोग हैं जो एक कदम भी नहीं चले हैं, उन तक आपकी आवाज भी नहीं पहुंचेगी, वे समझेंगे भी नहीं। उनके लिए भी हम नहीं कहते हैं कि आप बोलें। पर ऐसे भी लोग हैं, जो दोनों के बीच में हैं। जो आप न बोलेंगे तो शायद न समझ सकेंगे, जो आप बोलेंगे तो शायद समझ सकते हैं।

शायद ही, देवताओं ने कहा। लेकिन उन्होंने एक बात और बुद्ध को कही कि ये जो शायद हैं--शायद समझ लें, शायद न समझें--अगर आप न बोले और एक भी समझ सकता व्यक्ति, वह अगर इस कारण चूक गया, तो आप सोच लें। पीड़ा आपकी ही है, पीड़ा आपको ही रहेगी। और ऐसा बुद्धों ने कभी नहीं किया है।

तो बुद्ध बोले।

समाधि के क्षण में ऐसा लगना बिल्कुल स्वाभाविक है कि अब--अब कहीं कुछ कहना, सुनना, बताना, व्यर्थ हो गया। किसको बताना है? किसको कहना है? किसको सुनना है? फिर भी कुछ लोग लौटे हैं।

मनन की सीढ़ी पर आकर ऐसे लोगों को बड़ी दुरूह घटना घटती है। और इसलिए महानतम कलाकार वे हैं--वे नहीं जो छंद और गीत रच लेते हैं, कलाकार हैं; वे भी नहीं जो चित्र-मूर्तियां बना लेते हैं, कलाकार हैं--लेकिन महा कलाकार वे हैं, जो समाधि के बिल्कुल अगोचर, अदृश्य अनुभव को गोचर और दृश्य शब्दों में मनन

की सीढ़ी पर बांधते हैं; चेष्टा करते हैं कि किसी तरह कुछ इशारे पैदा किए जा सकें; कुछ उपाय रचते हैं, कुछ विचार कीशृंखला निर्मित करते हैं, कुछ विचार की व्यवस्था बनाते हैं जहां से आपको भी थोड़ी सी झलक, कम से कम मन के तल पर ही थोड़ी सी चोट, पुलक का अनुभव हो सके।

लेकिन मनन भी बहुत लोग कर लेते हैं। वह आखिरी सीढ़ी जो है, जिसे हमने पहली दफे जाते वक्त श्रवण कहा था, वही सीढ़ी लौटते वक्त प्रवचन बन जाती है। वही सीढ़ी है। सुनना, बोलना। जाते वक्त जो सुनना था, राइट लिसनिंग थी, ठीक-ठीक सुनना था, श्रवण था, लौटते वक्त वही राइट स्पीकिंग, ठीक-ठीक बोलना बन जाता है।

और ध्यान रहे, पहली सीढ़ी पर होता है शिष्य और इस लौटती हुई आखिरी सीढ़ी पर होता है गुरु, और इन दोनों के बीच जो मिलन है, वह उपनिषद है। जहां सुनने वाला ठीक-ठीक मौजूद है, और जहां बोलने वाला ठीक-ठीक मौजूद है, इन दोनों के बीच जो मिलन की घटना है, वह उपनिषद है।

उपनिषद शब्द का अर्थ है : गुरु के पास रह कर जिसे जाना; गुरु के पास बैठ कर जिसे सुना; पास होकर जो अनुभव में आया; निकटता में जिसकी ध्वनि मिली; सामीप्य में जिसका स्पर्श हुआ।

उपनिषद का अर्थ है : पास बैठ कर, पास होकर, निकटता पाकर।

तो शिष्य हो कान, सुनना और गुरु रह जाए सिर्फ वाणी। सुनने वाला न हो, बोलने वाला न हो। यहां हो सिर्फ वाणी, वहां हो सिर्फ सुनने की क्षमता। तब उपनिषद घटता है।

यह सूत्र कहता है : 'समाधि में वृत्तियां केवल आत्मरूप विषय वाली होती हैं।'

आनंद का अनुभव हो, मौन का अनुभव हो, शांति का अनुभव हो, शून्य का अनुभव हो, मुक्ति का अनुभव हो, लेकिन ये कोई अनुभव समाधि में सीधे पकड़े नहीं जा सकते।

'इससे जान नहीं पड़ती हैं।'

ये वृत्तियां जान नहीं पड़ती हैं।

'पर समाधि में से उठे हुए साधक की वे उत्थान पाई हुई वृत्तियां स्मरण से अनुमान की जाती हैं।'

तो बुद्ध भी ऐसा नहीं कह सकते कि ऐसा ही है समाधि में। वे भी इतना ही कहते हैं, ऐसा मेरा अनुमान है कि समाधि में ऐसा है। इसलिए महावीर तो अपनी वाणी में स्यात लगा कर ही बोलते हैं। वे कहते हैं, स्यात वहां आनंद है।

इससे कोई यह न समझ ले कि महावीर को पता नहीं है। वाणी से ऐसा ही लगता है कि महावीर भी अगर कहते हैं कि स्यात, तो इनको अभी संदेह है कुछ?

संदेह के कारण नहीं, अत्यंत सत्यनिष्ठा के कारण। महावीर की सत्यनिष्ठा इतनी अछूती और इतनी कुंवारी है कि वैसी सत्यनिष्ठा खोजनी मुश्किल है।

तो महावीर यह कहते हैं कि जिस मन से मैं अब यह जान रहा हूं, वह मन वहां मौजूद नहीं था। यह दूर से सुनी हुई खबर है मन के लिए। घटना जहां घटी थी, वहां मन मौजूद न था। मन चश्मदीद गवाह नहीं है। दूर था, अनुमान किया है इसने, इनफर किया है, सोचा है; घटना घटी थी दूर। जैसे हम यहां बैठे हों और गौरीशंकर के शिखर पर जमी हुई बर्फ को हम देख सकते हैं यहीं बैठे। मन बहुत दूर था। और गौरीशंकर के शिखर पर जो शीतलता बरसी थी, उसका उसने अनुमान किया है।

इसलिए महावीर स्यात ही का उपयोग करते हैं। वे कहते हैं, स्यात वहां परम आनंद है। यह अत्यधिक सत्यनिष्ठा के कारण। क्योंकि अनुमान ही है यह मन का। मन का! महावीर के लिए अनुमान नहीं है। महावीर ने

जाना है। लेकिन जिसने जाना है, जानते क्षण में इतनी एकता हो जाती है कि अनुभव नहीं होता। जान कर जब महावीर वापस लौटते हैं मन में... ।

ऐसा समझ लें कि आप जाएं गौरीशंकर के शिखर पर, और शीतलता के साथ एक हो जाएं; आप भी शीतलता हो जाएं। या बर्फ के साथ एक हो जाएं, आप भी बर्फ की तरह जम जाएं। तो वहां कोई अनुभव न हो, क्योंकि अनुभोक्ता अलग न हो। फिर आप उतरें और नीचे जमीन पर आकर अपनी दूरबीन उठा कर फिर गौरीशंकर को देखें।

तो वह जो गूंजता हुआ अनुभव रह गया है भीतर, जो जाना था, लेकिन निकटता इतनी थी कि जानने लायक दूरी न होने से जाना नहीं जा सका था। अब इस दूरी पर पर्सपैक्टिव, परिप्रेक्ष मिल गया। अब अपनी दूरबीन मन की उठा कर वापस देखा है। अब अनुमान होता है कि परम शीतलता थी! कि परम शुभ्र बर्फ का विस्तार था! कि कैसी ऊंचाई थी! कि सारा गुरुत्वाकर्षण खो गया था! कि उड़ जाते आकाश में ऐसे पंख लग गए थे! कि कितना शुद्ध था आकाश! कि कैसी नीलिमा थी! कि बादल भी सब नीचे छूट गए थे! निरभ्र शून्य आकाश रह गया था! लेकिन यह सब जमीन पर खड़े होकर पुनर्विचार है।

इसलिए सूत्र कहता है : 'स्मरण से अनुमान की जाती हैं।'

'इस अनादि संसार में करोड़ों कर्म इकट्ठा कर लिए जाते हैं, पर इस समाधि द्वारा वे नष्ट हो जाते हैं, और शुद्ध धर्म बढ़ते हैं।'

इस दूसरे सूत्र में दो शब्द बड़े कीमत के हैं : कर्म और धर्म। जो हम करते हैं वह कर्म है; और जो हम हैं वह धर्म है। धर्म का अर्थ है हमारा स्वभाव, और कर्म का अर्थ है जो हम करते हैं। कर्म का अर्थ है, हमारा स्वभाव अपने से बाहर जाता है। कर्म का अर्थ है, हम अपने से बाहर जगत में उतरते हैं। कर्म का अर्थ है, हम अपने से अतिरिक्त किसी दूसरे से जुड़ते हैं। स्वभाव का अर्थ है, दूसरे से पृथक, जगत में बिना गए, जो मैं हूं; मेरा जो भीतरी होना है। मेरे करने से उसका कोई संबंध नहीं। मैं क्या करता हूं, इससे वह निर्मित नहीं होता, वह मेरे सब करने के पहले मौजूद है। वह जो मेरा स्वभाव है।

कर्म में भूल हो सकती है, धर्म में कोई भूल नहीं होती। कर्म में चूक हो सकती है, धर्म में कोई चूक नहीं होती। ध्यान रखना, धर्म का अर्थ यहां मजहब या रिलीजन नहीं है। यहां धर्म का अर्थ है गुण, स्वभाव। वह जो हमारा आंतरिक स्वभाव है, हमारा होना है, बीइंग है।

तो हम जितने कर्म करते हैं, उतना ही आच्छादित होता चला जाता है स्वभाव। हम जो-जो करते हैं, उससे हमारा होना दबता जाता है। और धीरे-धीरे कर्म की इतनी पर्तें हो जाती हैं कि हम यह भूल ही जाते हैं कि कर्मों के अतिरिक्त भी हमारा कोई होना है।

अगर कोई आपसे पूछे, आप कौन हैं? तो आप जो भी उत्तर देते हैं वह कर्मों के बाबत है, आपके धर्म के बाबत नहीं। आप कहते हैं मैं इंजीनियर हूं, आप कहते हैं मैं डाक्टर हूं, आप कहते हैं मैं व्यापारी हूं। आपने ख्याल किया, व्यापार कर्म है। आप व्यापारी नहीं हैं, व्यापार करते हैं। कोई आदमी डाक्टर कैसे हो सकता है? डाक्टरी कर सकता है। कोई आदमी इंजीनियर कैसे होगा? आदमी और इंजीनियर हो जाए! तो आदमी खतम ही हो गया। आदमी इंजीनियरी करता है। वह उसका कर्म है, उसका होना नहीं है।

आप जो भी अपना परिचय देते हैं, अगर गौर से देखेंगे तो पाएंगे : आप सदा अपने कर्म का परिचय देते हैं, कभी अपने होने की खबर नहीं देते। दे भी नहीं सकते। उसकी खबर आपको ही नहीं है। आप इतना ही जानते हैं, जो आप करते हैं। करने का आपको पता है कि मैं क्या करता हूं, क्या कर सकता हूं। मैंने पीछे क्या किया है,

और आगे मैं क्या करने के योग्य हूं, यही आप खबर देते हैं। जो सर्टिफिकेट लेकर आप घूमते हैं, आप क्या कर सकते हैं, उसकी खबर देते हैं। आप क्या हैं, उसकी नहीं। अगर आप कहते हैं मैं साधु हूं, तो उसका मतलब यह है कि आप साधुता करते हैं। कोई कहता है मैं चोर हूं, उसका मतलब वह चोरी करता है। एक का कर्म साधुता है, एक का कर्म चोरी है।

लेकिन होना क्या है? आपके भीतर क्या है? जब आप पैदा नहीं हुए थे मां के पेट से, तब साधु क्या था? चोर क्या था? इंजीनियर क्या था? डाक्टर क्या था? मां के पेट में अगर इनसे कोई पूछता, कौन हो? तो बड़ी मुश्किल में पड़ जाते! क्योंकि इंजीनियर थे नहीं तब, डाक्टर थे नहीं तब, व्यापार कुछ किया नहीं था। मां के पेट में अगर कोई पूछता, कौन हो भीतर? तो कोई उत्तर नहीं आ सकता था; कि आ सकता था? कोई उत्तर नहीं आ सकता था। मगर थे आप मां के पेट में। उत्तर नहीं आ सकता था।

आज तो ब्रेनवाश, मस्तिष्क को धो डालने के बहुत उपाय खोज लिए गए हैं। आप कहते हैं मैं इंजीनियर हूं, आपका मस्तिष्क धोया जा सकता है, साफ किया जा सकता है। क्लीनिंग ठीक से हो जाए, फिर आपसे पूछें, कौन हो? आप खाली रह जाएंगे। क्योंकि वह जो इंजीनियर होना था, वह स्मृति में था। पढ़े थे, लिखे थे, सर्टिफिकेट पाया था, कुछ किया था। यश पाया था, अपयश पाया था, वह स्मृति में था, वह धो दी गई। अब आप कोई उत्तर नहीं दे सकते कि कौन हैं। लेकिन हैं। होना नष्ट नहीं किया जा सकता है स्मृति के धोने से, लेकिन कर्म की रेखाएं साफ की जा सकती हैं।

यह सूत्र कहता है : 'अनादि संसार में करोड़ों कर्म इकट्ठा कर लिए जाते हैं।'

स्वभावतः! प्रतिदिन, प्रतिपल कर्म इकट्ठे किए जा रहे हैं। उठते हैं, बैठते हैं, श्वास लेते हैं--कर्म हो रहा है। सोते हैं, स्वप्न देखते हैं--कर्म हो रहा है। कोई आदमी कर्म छोड़ कर भाग नहीं सकता; क्योंकि भागना भी कर्म है। कहां जाइएगा? जंगल में बैठ जाएंगे जाकर? बैठना भी कर्म है। आंख बंद कर लेंगे? आंख बंद करना भी कर्म है। कुछ भी करिए; जहां करना है, वहां कर्म है।

तो प्रतिपल न मालूम कितने कर्म किए जा रहे हैं! उनकी छाया, उनकी स्मृति, उनकी रेखा, उनका संस्कार, भीतर छूटता जा रहा है। जो भी आप कर रहे हैं, वह आपके होने पर इकट्ठा होता जा रहा है। जैसे कि रिकार्ड पर ग्रूव बन जाते हैं। फिर ग्रामोफोन की सुई लगा कर चलाएं, तो जो-जो भर गया है रिकार्ड की रेखाओं में, वह पुनरुज्जीवित होकर प्रकट होने लगता है। ठीक आपका मन आपके सब कर्मों की संगृहीत संहिता है; सब इकट्ठा है। जो-जो आपने किया है, उस सबकी आपके ऊपर रेखाएं खिंच गई हैं। और ये रेखाएं अनंत जन्मों की हैं। यह भार बड़ा है। और आप करीब-करीब उसी-उसी को फिर-फिर दोहराते रहते हैं। करीब-करीब आपकी हालत घिसे रिकार्ड जैसी है; कि सुई फंस गई, चलाए जा रहे हैं! वही लकीर दोहर रही है बार-बार!

क्या कर रहे हैं आप? कल भी वही किया, आज भी वही किया, परसों भी वही किया था, कल भी वही करिएगा। वही क्रोध, वही लोभ, वही मोह, वही काम, वही सब का सब--घिसे रिकार्ड! फंस गई सुई, निकल नहीं पाती गड्ढे से, वही आवाज बार-बार दिए जाती है!

इसलिए तो जिंदगी में इतनी ऊब है, इतनी बोरडम है। होगी ही! क्योंकि नया कुछ होता नहीं। सुई आगे बढ़ती ही नहीं। लौट कर देखें आपकी तीस-चालीस साल की जिंदगी! क्या किया है आपने? एक ही रिकार्ड बजा रहे हैं! वही रोज दोहरता जाता है, पुनरुक्त होता चला जाता है। इसी को भारत के मनीषियों ने आवागमन कहा है। वही फिर, फिर वही। इस जन्म में वही, अगले जन्म में वही, उसके अगले जन्म में वही; अतीत की कथा वही, भविष्य की कथा वही। वही कामवासना है, वही प्रेम, वही क्रोध, वही घृणा, वही मित्रता, वही शत्रुता, वही धन

का कमाना, वही मकान बनाना, और फिर सब करके एक दिन पाना कि हवा का झोंका आया, और वह जो ताश का महल बनाया था, गिर गया!

मगर जैसे बच्चे तत्काल फिर से पत्तों को इकट्ठा करके मकान बनाने लगते हैं, वैसे ही हम फिर तत्काल नया जन्म लेकर फिर पत्तों का मकान बनाने में लग जाते हैं। अब की दफे और मजबूत बनाने की कोशिश करते हैं। मगर मकान वही है, ढांचा वही है, मन वही है। फिर हम वही कर लेते हैं और फिर उसी तरह अस्त होते रहते हैं। यह सूरज ही नहीं है जो रोज सांझ डूब कर सुबह फिर ऊग आता है। आप भी ऐसे ही डूबते-ऊगते रहते हैं। एक वर्तुलाकार है, एक व्हील। संसार शब्द का अर्थ होता है चाक, व्हील, जो घूमता रहता है एक ही धुरी पर।

यह जो अनंत-अनंत कर्म इकट्ठे कर लिए जाते हैं, इस समाधि के द्वारा नष्ट हो जाते हैं।

यह थोड़ा समझने जैसा है। क्योंकि अनेक लोग सोचते हैं कि अगर कर्म बुरे इकट्ठे हो गए हैं तो अच्छे कर्म करके उनको नष्ट कर दें, वे गलती में हैं। बुरे कर्मों को अच्छे कर्म करके नष्ट नहीं किया जा सकता। बुरे कर्म बने रहेंगे और अच्छे कर्म और इकट्ठे हो जाएंगे, बस इतना ही होगा। वे काटते नहीं हैं एक-दूसरे को। काटने का कोई उपाय नहीं है।

एक आदमी ने चोरी की, फिर वह पछताया और साधु हो गया। तो साधु होने से वह चोरी का कर्म और उसके जो संस्कार उसके भीतर पड़े थे, वे कटते नहीं हैं। कटने का कोई उपाय नहीं है। साधु होने का अलग कर्म बनता है, अलग रेखा बनती है। चोर की रेखा पर से साधु की रेखा गुजरती ही नहीं है। चोर से साधु का क्या लेना-देना!

आप चोर थे, आपने एक तरह की रेखाएं खींची थीं; आप साधु हुए, ये रेखाएं उसी स्थान पर नहीं खिंचती हैं जहां चोर की रेखाएं खिंची थीं। क्योंकि साधु होना मन के दूसरे कोने से होता है, चोर होना मन के दूसरे कोने से होता है। तो होता क्या है, आपके चोर होने की रेखा पर साधु होने की रेखाएं और आच्छादित हो जाती हैं, कुछ कटता नहीं। तो चोर के ऊपर साधु सवार हो जाता है, बस। उसका मतलबः चोर-साधु, ऐसा आदमी पैदा होता है। साधुता चोरी को नहीं काट सकती। चोर तो बना ही रहता है भीतर। इम्पोजीशन हो जाता है। एक और सवारी उसके ऊपर हो गई।

तो चोर भी ठीक था एक लिहाज से और साधु भी ठीक था एक लिहाज से, यह जो चोर और साधु की खिचड़ी निर्मित होती है, यह भारी उपद्रव है। यह एक सतत आंतरिक कलह है। क्योंकि वह चोर अपनी कोशिश जारी रखता है, और यह साधु अपनी कोशिश जारी रखता है।

और हम इस तरह न मालूम कितने-कितने रूप अपने भीतर इकट्ठे कर लेते हैं, जो एक-दूसरे को काटते नहीं, जो पृथक ही निर्मित होते हैं।

इसलिए यह सूत्र कहता है कि समाधि के द्वारा वे सब कट जाते हैं।

कर्म से कर्म नहीं कटता, अकर्म से कर्म कटता है। इसको ठीक से समझ लें। कर्म से कर्म नहीं कटता, कर्म से कर्म और भी सघन हो जाता है; अकर्म से कर्म कटता है। और अकर्म समाधि में उपलब्ध होता है, जब कि कर्ता रह ही नहीं जाता। जब हम उस चेतना की स्थिति में पहुंचते हैं जहां सिर्फ होना ही है; जहां करना बिल्कुल नहीं है; जहां करने की कोई लहर भी नहीं उठी है कभी; जहां मात्र होना, अस्तित्व ही रहा है सदा; जहां बीइंग है, डूइंग नहीं--उस होने के क्षण में अचानक हमें पता चलता है कि कर्म जो हमने किए थे, वे हमने किए ही नहीं थे।

कुछ कर्म थे जो शरीर ने किए थे--शरीर जाने। कुछ कर्म थे जो मन ने किए थे--मन जाने। और हमने कोई कर्म किए ही नहीं थे।

इस बोध के साथ ही समस्त कर्मों का जाल कट जाता है। आत्मभाव समस्त कर्मों का कट जाना है। आत्मभाव के खो जाने से ही वहम होता है कि मैंने किया।

एक आदमी चोरी कर रहा है। या तो शरीर करवाता है, या मन करवाता है। कुछ लोगों के शरीर इस हालत में हो जाते हैं कि चोरी करनी पड़ती है। एक भूखा आदमी है, शरीर चोरी करवा देता है। आत्मा कभी कोई चोरी नहीं करती। भूख है, पीड़ा है, परेशानी है, बच्चा मर रहा है और दवा नहीं है; और एक आदमी चोरी कर लेता है। यह शरीर के कारण हुई चोरी है। अभी तक हम फर्क नहीं कर पाए, शरीर के चोर और मन के चोरों में। क्योंकि शरीर का चोर अपराधी नहीं है। शरीर के चोर का मतलब है कि समाज अपराधी है। मन का चोर अपराधी है। मन का चोर अलग चीज है। कोई जरूरत नहीं है, घर में तिजोरी भरी है; लेकिन एक पैसा सड़क पर पड़ा हुआ मिला जाए, तो उठा कर जेब में रख लेता है।

यह जो आदमी है, यह मन का चोर है। मतलब इनकी कोई शारीरिक, शरीर इनसे नहीं कह रहा है चोरी करो, इनका लोभ! इस एक पैसे से इनका कुछ बढ़ेगा भी नहीं, लेकिन फिर भी, कुछ तो बढ़ेगा ही। एक पैसा भी बढ़ेगा। करोड़ों रुपए हों और एक पैसे को भी उठाने की नियत बनी रहे, यह है असली अपराधी। लेकिन यह पकड़ में नहीं आता, पकड़ में वह शरीर का अपराधी आ जाता है। यह है असली अपराधी। क्योंकि कोई कारण नहीं है शरीर के तल पर भी कि यह चोरी करे; लेकिन यह चोरी कर रहा है। चोरी करना इसकी आदत है। चोरी में इसका रस है।

मनोविज्ञान एक बीमारी की बात करता है, क्लेप्टोमैनिया। एक बीमारी होती है मन की, अधिक लोग उसके बीमार हैं। कुछ लोगों को मनोविज्ञान पकड़ता है, जो बहुत ज्यादा बीमार हो जाते हैं।

मैं एक प्रोफेसर को जानता रहा हूं। पैसे वाले थे, सुविधा-संपन्न थे, सब कुछ था। एक ही लड़का था, वह लड़का क्लेप्टोमैनियाक था। उसको चोरी की बीमारी थी। तो वह कुछ भी चुरा लेता था। इससे कोई संबंध नहीं था कि वह क्या है। आपके घर में गया, एक बटन टूटी पड़ी है, फौरन वह खीसे में रख लेगा! उसका कोई उपयोग नहीं है। एक सुई मिल जाए पड़ी, वह मार लेगा! किताब देख रहा है आपकी, एक पन्ना ही फाड़ कर खीसे में रख लेगा! उन्होंने मुझे कहा कि क्या करना इसका? और कोई ऐसी भी चोरी करके नहीं लाता है कि लगे कि भई कोई चोरी कर रहा है! कुछ भी ले आता है! और लड़का एम.ए. में पढ़ता था। होशियार लड़का था।

तो मैं उस लड़के से थोड़ा संबंध बनाया। तो उसने मुझे ले जाकर अपनी अलमारी दिखाई। उस अलमारी में उसने जो-जो चीजें कभी चुराईं, सब रखी हुई थीं। उन पर साथ-साथ चिट्ठियां लगी हुई थींः कि किसको धोखा दिया, किसके घर से मार कर लाए। इस बात का अभी तक पता नहीं चल सका किसी को। वह इसका रस ले रहा था। बटन उठा लाया आपके घर की, उस पर लिखा हुआ था, कागज पर, कि यह फलां आदमी के घर से बटन लाया हूं। और वह आदमी सामने ही बैठा था, लेकिन अंदाज भी नहीं हुआ कि ले गया। अब यह रस और तरह का है, इसका शरीर से कोई लेना-देना नहीं है।

या तो शरीर की चोरी है या मन की चोरी है, आत्मा की कोई चोरी नहीं है। तो जिस दिन आप आत्मा में प्रवेश करते हैं, उसी दिन अचानक आप पाते हैं कि वह चोरी तो मैंने कभी की ही नहीं थी; वे कर्म मैंने किए नहीं, मैं उन कर्मों में केवल मौजूद था। यह सच है कि मेरे बिना वे कर्म नहीं हो सकते थे। यह भी सच है कि मैंने वे कर्म नहीं किए थे।

तो विज्ञान एक शब्द का प्रयोग करता है, वह कीमती है। विज्ञान में एक शब्द प्रयोग किया जाता है, कैटेलेटिक एजेंट। अगर आप पानी को तोड़ें, तो उसमें से उदजन और आक्सीजन मिलती है, और कुछ नहीं मिलता। एच टू ओ उसका फार्मूला है। दो परमाणु उदजन के, एक आक्सीजन का; उनसे मिल कर पानी बनता है। तो आप दो अनुपात में उदजन और एक अनुपात में आक्सीजन मिला कर पानी बनाना चाहें, तो भी बनेगा नहीं। यह बड़े मजे की बात है। अगर पानी को तोड़ें तो दो अनुपात उदजन, एक अनुपात आक्सीजन मिलती है। स्वभावतः, अगर आप दो अनुपात उदजन और एक अनुपात आक्सीजन को मिलाएं तो पानी बनना चाहिए, लेकिन पानी बनता नहीं।

तो एक और चीज है जिसकी मौजूदगी की जरूरत पड़ती है। वह भीतर प्रवेश नहीं करती, लेकिन सिर्फ उसकी मौजूदगी में घटना घटती है। वह है बिजली। इसलिए आकाश में जब बिजली चमकती है, वह कैटेलेटिक एजेंट है। उसकी वजह से पानी बनता है। जो बिजली चमकती है, उसकी मौजूदगी जरूरी है। वह कुछ करती नहीं, वह पानी में प्रवेश नहीं होती।

हाइड्रोजन और आक्सीजन को आप रख दें, और बीच में बिजली कौंधा दें, पानी बन जाएगा। फिर पानी को तोड़ें, तो बिजली नहीं निकलेगी, सिर्फ हाइड्रोजन और आक्सीजन निकलेगी। उसका मतलब यह हुआ कि बिजली भीतर प्रवेश नहीं करती पानी के निर्माण में, लेकिन पानी निर्मित नहीं हो सकता बिजली की बिना मौजूदगी के। इस खास घटना को विज्ञान कहता है, कैटेलेटिक एजेंट। ऐसी उपस्थिति जिसके बिना घटना नहीं घटेगी, फिर भी वह वस्तु घटना में भीतर प्रवेश नहीं करती।

तो आप चोरी नहीं कर सकते हैं बिना आत्मा के। आत्मा कैटेलेटिक एजेंट है। उसकी मौजूदगी जरूरी है। शरीर अकेला, लाश कहीं कोई चोरी करने नहीं जाती। लाश के खीसे में भी पैसा रख दें, तो भी हम उसको चोरी नहीं कहेंगे। लाश का चोरी से क्या संबंध! क्योंकि लाश कर्म ही नहीं कर सकती।

अकेला मन भी चोरी करने नहीं जाता। अकेला मन कितना ही सोचे, चोरी नहीं कर सकता। और अगर भीतर आत्मा न हो तो सोच भी नहीं सकता। आत्मा की मौजूदगी जरूरी है, तब चोरी घटती है। लेकिन फिर भी जिस दिन आदमी आत्मा में पहुंचता है, उस दिन पाता है कि मौजूदगी में घटी थी, लेकिन आत्मा चोरी में प्रवेश नहीं थी; आत्मा सिर्फ मौजूद थी। उसकी मौजूदगी इतनी शक्तिशाली है कि घटनाएं घटनी शुरू हो जाती हैं।

एक चुंबक पड़ा है, लोहे के टुकड़े खिंच रहे हैं। आप शायद सोचते होंगे, चुंबक खींच रहा है! तो आप गलती में हैं। चुंबक का होना ही काफी है। चुंबक को खींचना नहीं पड़ता, खींचने के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता; कोई अस्थि, मांस-पेशियां सिकोड़नी नहीं पड़तीं, कि खींचो। चुंबक को कुछ पता ही नहीं चलता। चुंबक का होना ही, लोहे के टुकड़े खिंचना शुरू हो जाते हैं।

आत्मा की मौजूदगी, और कर्म शुरू हो जाते हैं; शरीर सक्रिय हो जाता है, मन सक्रिय हो जाता है, कर्म की यात्रा शुरू हो जाती है।

जिस दिन आप इस आत्मा में पुनः प्रवेश करते हैं समाधि में, उस दिन सारे कर्म से छुटकारा हो जाता है। इसलिए नहीं कि उन्होंने आपको बांधा था, बल्कि इसलिए कि उन्होंने कभी बांधा ही नहीं था। और आप अपने तक कभी पहुंचे नहीं थे कि समझ पाते कि मैं अनबंधा हूं।

यह जो उपनिषद की दृष्टि है, एक अर्थ में बड़ी नीति-विरुद्ध है। और इसलिए उपनिषदों का बड़ा विरोध भीतर गहरे मन में रहा है। जो भी नीतिवादी है, वह कहेगा कि बुरे कर्म को अच्छे कर्म से काटो; अच्छे कर्म करो,

बुरे कर्म मत करो। उपनिषद कहते हैं, कर्म करते हो, यही बुरा है। अच्छा करते हो कि बुरा करते हो, यह तो गौण बात है। कर्म करने का तुम्हें ख्याल है, तुम कर्ता हो; बस यही बुराई है।

तो बुराई दो तरह की है : बुरी बुराई, अच्छी बुराई; बाकी दोनों बुराई हैं। क्योंकि तुम कर्म करते हो, यही भ्रांति है। तुम सिर्फ मौजूद हो और कर्म हो रहा है। तुम्हारी मौजूदगी में कर्म हो रहा है। तुम सिर्फ साक्षी हो, कर्ता नहीं हो।

जिस दिन इस मौजूदगी को तुम इसकी मौजूदगी में ही समझ लोगे--कर्ता की तरह नहीं, साक्षी की तरह--उसी दिन तुम पाओगे कि जो भी हुआ, वह मेरे आस-पास हुआ; जो भी हुआ, मैंने नहीं किया, मेरे आस-पास हुआ; वह घटना घटी थी, मेरे आस-पास घटी थी, लेकिन मैं फिर भी अछूता और दूर रह गया।

रात जैसे आप स्वप्न देखते हैं और सुबह जाग कर कहते हैं, स्वप्न घटा और आप अछूते रह जाते हैं। स्वप्न में हो सकता है चोरी की हो; और स्वप्न में यह भी हो सकता है कि जेलखाने में चले गए हों; स्वप्न में यह भी हो सकता है रिश्वत देकर बच गए हों, जेलखाने न गए हों। स्वप्न में कुछ भी हो सकता है। लेकिन सुबह जब आप जागते हैं, तो स्वप्न ऐसे ही तिरोहित हो जाता है, जैसे हुआ ही न हो। सुबह उठ कर आप अपने को चोर अनुभव नहीं करते।

लेकिन क्या कभी आपने ख्याल किया, आपके बिना स्वप्न हो सकता था? आप थे तो ही स्वप्न हो सका। आप न होते तो मुर्दे को, लाश को सपना नहीं आता। आप थे तो स्वप्न घटा। आपकी मौजूदगी जरूरी थी। फिर भी सुबह उठ कर आप ऐसा अनुभव नहीं करते कि अब क्या करें? रात चोरी कर ली! व्रत करें? उपवास करें? कोई दान, त्याग करें? क्या करें? कुछ भी अनुभव नहीं करते। जागने के बाद दो मिनट से ज्यादा स्वप्न याद भी नहीं रहता; खो जाता है धुएं की रेखा की तरह।

ठीक समाधि की स्थिति में पूरा जीवन स्वप्नवत मालूम होता है। जो-जो जीया--एक जीवन नहीं, अनंत जीवन में जो-जो जीया--समाधि की अवस्था में पहुंचते ही जैसे आप सुबह नींद से जागने में पहुंचते हैं, ऐसे ही इस तथाकथित जागने से जब आप समाधि में पहुंचते हैं, तब पीछे का सारा का सारा वर्तुल, सब धुआं, स्वप्न हो जाता है।

समाधि में पहुंचा हुआ पहली दफा जानता है, मैं सिर्फ हूं; कर्म मेरे पास घटे स्वप्न जैसे। और उनकी जरा भी चिंता और पश्चात्ताप नहीं रह जाता, न उनकी कोई आत्म-प्रशंसा और आत्म-स्तुति रह जाती है कि मैंने कैसे बड़े-बड़े कर्म किए, कि मैंने कैसे छोटे-छोटे कर्म किए। नहीं, वे सब खो जाते हैं।

रात सपने में आप सम्राट थे, कि रात सपने में आप एक परम संन्यासी थे, कि रात सपने में चोर-हत्यारे थे, सुबह चाय पीते वक्त स्वाद में तीनों बातों से कोई फर्क नहीं पड़ता; तीनों व्यर्थ हो जाते हैं। सुबह ऐसा नहीं कि सम्राट रहे रात तो बड़ी अकड़ से चाय पी रहे हैं! सपने के ही सम्राट थे। कि रात चोर रहे, बेईमान रहे, हत्या की, तो चाय में बिल्कुल स्वाद नहीं आ रहा, बड़ा अपराधी मन है, तिक्त-तिक्त मालूम हो रही है! कि रात साधु रहे, तो कैसे चाय पीएं, ऐसा भी सुबह नहीं होता। रात भर साधु रहे, और सुबह से चाय पी रहे हैं, कैसा जघन्य कृत्य! नहीं, सुबह आप जब चाय पीते हैं, तब सपने सब खो गए।

सुना है मैंने, बड़ा फकीर था जापान में, रिंझाई। एक सुबह उठा और अपने एक शिष्य से--जैसे ही वह उठा, उसका शिष्य पास खड़ा था--उससे उसने कहा कि रात मैंने एक सपना देखा है, तुम व्याख्या करोगे, तो मैं सपना बोलूं।

उसके शिष्य ने कहा, दो मिनट रुकें, जरा मैं हाथ-मुंह धोने के लिए आपके लिए पानी ले आऊं।

वह हाथ-मुंह धोने के लिए पानी ले आया। रिंझाई ने हाथ-मुंह धो लिया, मुस्कुराया। तब तक एक दूसरा शिष्य आ गया। रिंझाई ने कहा कि मैंने रात एक सपना देखा, मैं इस नंबर एक के शिष्य को कहने जा रहा था कि बताऊं तुझे सपना, तू व्याख्या करेगा? लेकिन मेरे बिना बताए इसने व्याख्या कर दी। तुझे बताऊं?

उसने कहा, रुकें! जरा एक गरम चाय की प्याली ले आऊं, फिर हो जाए।

चाय की प्याली पीकर रिंझाई हंसा और कहा कि मैं खुश हूं, अब कोई सपना बताने की जरूरत नहीं है। तीसरा एक व्यक्ति मौजूद सब यह देख रहा था। नासमझी की हद हो गई! उसने कहा कि सीमा की भी कोई बातें होती हैं! वह सपना बताया ही नहीं गया है; व्याख्याएं भी हो चुकी हैं, और सब हल भी हो गया है! उसने कहा कि महाराज, कम से कम सपने का तो पता चल जाए, सपना क्या था?

रिंझाई ने कहा कि इनकी परीक्षा कर रहा था। अगर ये आज सपने की व्याख्या करने की तैयारी दिखाते, तो इन्हें मैं बाहर कर देता आश्रम के। सपने की कोई व्याख्या करनी होती है! सपना ही था, बात खतम हो गई। इसने ठीक किया, इसने कहा कि अभी भी कुछ सपने की मदहोशी बाकी है, जरा हाथ-मुंह धो लो। इस दूसरे ने भी ठीक ही किया कि मालूम होता है हाथ-मुंह धोने से भी काम नहीं हुआ, सपना अभी भी कुछ धूमिल-धूमिल सरक रहा है, जरा गरम-गरम चाय पी लो, फिर। जरा जाग जाओ, यही सपने की व्याख्या है। सपने की कोई और व्याख्या हो सकती है? जाग जाओ, सपना व्यर्थ हो जाता है, व्याख्या क्या करनी है! व्यर्थ की तो कोई व्याख्या नहीं करता है।

समाधि में, जिनको हमने बड़े-बड़े कर्म, छोटे कर्म, अच्छे कर्म, बुरे कर्म--कितने-कितने बांटे थे, विभाजन किए थे, नीति और अनीति, सदाचार और अनाचार--सब के सब बेमानी हो जाते हैं, व्यर्थ हो जाते हैं। जाग कर समाधि में पता चलता है कि एक बड़ा स्वप्न था--लंबा, अनंतकालीन, अनादि--लेकिन स्वप्न था, और मैं सिर्फ मौजूद था; मैं प्रविष्ट नहीं हुआ था, बाहर ही खड़ा था।

इसलिए सब कट जाता है कर्म, और धर्म का उदय होता है।

जब कर्म कट जाता है--जो हम करते थे, वह कट जाता है--तब हमें पता चलता है, जो हम हैं, जो हमारा होना है, स्वभाव है। स्वभाव है धर्म।

'उत्तम योगवेत्ता इस समाधि को धर्म-मेघ कहते हैं, क्योंकि वह मेघ की तरह धर्मरूप हजार धाराओं की वर्षा करती है।'

धर्म-मेघ बड़ा प्यारा शब्द है। मेघ तो हमने देखे हैं। आषाढ़ आता है और मेघ घिर जाते हैं आकाश में। लेकिन पूरी घटना का हमें ख्याल नहीं है। वे जो आकाश में मेघ घिर जाते हैं आषाढ़ में, और मोर नाचने लगते हैं। और जमीन, जगह-जगह दरारें बन जाती हैं, ओंठ खोल देती है अपने; अपने हृदय तक पानी की बूंदों को पी जाने के लिए अपने द्वार तोड़ देती है सब तरफ से। और प्यासी धरती बहुत दिन से प्रतीक्षा में थी, प्यासे वृक्ष तड़फ रहे थे मछलियों की तरह--जैसे रेत में किसी ने उनको फेंक दिया हो। फिर घिरते हैं बादल, और फिर उन काले मेघों की छाया में वर्षा शुरू हो जाती है, और एक नृत्य सारी प्रकृति पर और एक गीत सारी प्रकृति पर छा जाता है।

धर्म-मेघ ऐसी ही आषाढ़ की भीतर घटी घटना है। ऐसी कि जन्मों-जन्मों से प्राण प्यासे थे, दरारें पड़ गई थीं, कोई प्यास बुझाने वाला पानी न मिला था। पीते थे पानी, उससे प्यास केवल बढ़ती थी, बुझती नहीं थी। बहुत पानी पीए, और बहुत घाटों की यात्रा की, और न मालूम क्या-क्या खोजा और पकड़ा, लेकिन सब बार आशा निराशा हुई, हाथ कुछ लगा नहीं। वह धरती पूरे प्राणों की फटी-प्यासी, अभीप्सा से भरी, समाधि के क्षण

में पहली दफा उसके ऊपर मेघ घिरते हैं, समाधि के क्षण में पहली दफा आषाढ़ आता है भीतर और अमृत की एक वर्षा--सिर्फ प्रतीक है--अमृत की एक वर्षा भीतर होने लगती है, आत्मा नहा जाती है, और अनंत-अनंत धाराओं में उन मेघों से अमृत गिरने लगता है।

यह सिर्फ प्रतीक है। घटना इससे बहुत बड़ी है। न तो अमृत कहने से कुछ पता चलता है उसके बाबत, लेकिन फिर भी थोड़ी सी सूचना मिलती है, कि मेघ घिर गए ऊपर, और उनसे वर्षा होने लगी, और जो प्यासी थी आत्मा जन्मों-जन्मों से वह तृप्त हो गई।

'उत्तम योगवेत्ता इस समाधि को धर्म-मेघ कहते हैं, क्योंकि वह मेघ की तरह धर्मरूप हजार धाराओं की वर्षा करती है।'

लेकिन धर्म-मेघ क्यों कहते हैं?

क्योंकि स्वभाव की वर्षा पहली दफा स्वयं पर होती है। धर्म यानी स्वभाव। अब तक जो भी जाना, पर-भाव था। कभी सौंदर्य दिखा, तो किसी और में; कभी प्रेम पाया, तो किसी और से; सुख मिला, दुख मिला, सदा किसी और से; सब जानकारी किसी और की थी, अपना कोई अनुभव न था। पहली दफा अपनी ही वर्षा अपने ऊपर! अब तक सारी वर्षा दूसरे की थी--कोई और, कोई और, कोई और--हमेशा दि अदर, वह दूसरा ही महत्वपूर्ण था। पहली दफा दूसरा हट गया और स्वयं की ही वर्षा स्वयं पर होने लगी। जैसे अपना ही झरना टूटा, जैसे अपनी ही धारा फूटी, जैसे अपने ही स्रोत को पा लिया, और अपने पर ही अपनी वर्षा होने लगी।

धर्म-मेघ का अर्थ है, स्वभाव बरसने लगा। खुद उसमें नहा गए, डूब गए, ताजे हो गए, नए हो गए। सारे कर्म, सारे कर्मों की धूल, अनंत-अनंत यात्राओं का उपद्रव, सारा कचरा जो ऊपर इकट्ठा हो गया था, सब बह गया। रह गई सहजता, स्पांटेनिटी; रह गए स्वयं, और कुछ भी न बचा।

एक लिहाज से इसे हम कह सकते हैं, परम धन्यता। एक लिहाज से हम कह सकते हैं, यही है परम संपदा। और एक लिहाज से कह सकते हैं, यही है परम दरिद्रता। अगर संसार को सोचें, तो यह आदमी संसार से बिल्कुल दरिद्र हो गया। अगर परमात्मा को सोचें, तो यह आदमी परम धन को पा गया।

जीसस ने इसी धर्म-मेघ समाधि के लिए कहा है, पावर्टी ऑफ स्पिरिट। जब कोई इस जगह पहुंचता है तो सब भांति दरिद्र हो जाता है। उसके पास कुछ भी नहीं है अब सिवाय अपने के; सिवाय स्वयं के और कुछ भी न बचा। इसको ही कहेंगे दरिद्रता।

इसी वजह बुद्ध ने अपने संन्यासियों को स्वामी नहीं कहा, भिक्षु कहा। यह धर्म-मेघ समाधि की वजह से। बुद्ध ने कहा कि मैं नहीं कहूंगा अपने संन्यासियों को स्वामी, मैं कहूंगा भिक्षु। पर दोनों बातें एक ही अर्थ रखती हैं। अगर संसार की तरफ से देखें तो हो गए भिखारी, भिक्षु, और अगर परमात्मा की तरफ से देखें तो हो गए स्वामी, सम्राट।

हिंदू उपयोग कर रहे थे स्वामी का उस दूसरी तरफ से, कि समाधि पाकर व्यक्ति हो जाता है सम्राट, मालिक--पहली दफा। अब तक भिखारी था। अब तक मांगता फिर रहा था; हाथ जोड़े था, भिक्षापात्र फैलाए था। अब तक उसकी आत्मा सिवाय भिक्षापात्र के और कुछ भी न थी। उसमें जो भी टुकड़े कोई फेंक देता था, वही उसकी संपदा थी। झूठे, उधार, बासे, दूसरों की टेबल से गिरे हुए टुकड़े, वह सब इकट्ठे कर लेता था। उसी को मानता था कि मेरी संपदा है। अब तक भिखारी था।

इसलिए हिंदुओं ने इस धर्म-मेघ समाधि को उपलब्ध करने वाले संन्यासी को कहा स्वामी।

लेकिन बुद्ध ने कहा कि जो भी था अब तक--सारा संसार, साम्राज्य, धन--सब छूट गया; कुछ भी न बचा पराया, खुद ही बचे। दीनता आखिरी आ गई।

जब आप अकेले ही हों, और कुछ भी न हो--कपड़ा-लत्ता भी नहीं, मकान भी अपना नहीं, जमीन भी अपनी नहीं, कुछ भी अपना नहीं, सिर्फ खुद ही बचे। इससे ज्यादा दरिद्र... । भिखारी के पास भी खुद से कुछ ज्यादा होता है। थोड़ा होता होगा, लेकिन होता है; खुद से कुछ ज्यादा। एक लंगोटी सही, लेकिन वह भी संपदा होती है। एक भिखारी भी इतना भिखारी नहीं है कि अकेला ही हो, कुछ भी न हो।

बुद्ध ने अपने भिक्षु को कहा कि संसार इस तरह छूट जाए तुमसे कि कुछ भी न बचे, संसार की रेखा भी न बचे; तुम बिल्कुल भिखारी हो जाओ संसार की दृष्टि में।

पर ये दोनों बातें एक हैं। संसार की तरफ से जो हो जाए भिखारी, आत्मा की तरफ से हो जाता है स्वामी; आत्मा की तरफ से जो हो जाए स्वामी, संसार की तरफ से हो जाता है भिखारी। इसीलिए भिक्षु को हमने इतना आदर दिया जितना हमने किसी स्वामी को कभी नहीं दिया। हमने भिक्षु को उस सिंहासन पर बिठा दिया जहां हमने किसी सम्राट को कभी नहीं बिठाया। भिक्षु आदृत हो गया शब्द। कभी-कभी भाषा में भी... ।

अब भिक्षु शब्द का मतलब तो भिखारी ही होता है। और किसी को भिखारी कह दो, झगड़ा हो जाए। लेकिन बुद्ध ने अपने परम धन्य शिष्यों को भिक्षु कहा। और जिसको भिक्षु कह दिया, वह धन्यभागी हो गया। कभी-कभी भाषा में ऐसे लोग बड़ी अड़चनें डाल जाते हैं। बुद्ध जैसे लोग भाषा को अस्तव्यस्त कर जाते हैं। भिखारी का मतलब साफ था। खराब कर दिया। नया ही अर्थ दे दिया। भिक्षु हो गया सम्राट। सम्राट भिक्षु के पैरों में गिरे हैं। तो यह भिक्षु--परम गरिमा हो गई।

धर्म-मेघ समाधि एक तरफ से बना देगी भिखारी, एक तरफ से बना देगी सम्राट।

'इस समाधि द्वारा वासनाओं का समूह पूर्णतः लय को प्राप्त होता है और पुण्य-पाप नाम के कर्मों का समूह जड़ से उखड़ जाता है।'

ध्यान रखना, पुण्य-पाप दोनों। यहीं उपनिषद की चिंतना की गहराई है। पुण्य-पाप दोनों का समूह। वह जो अच्छा किया था वह भी, जो बुरा किया था वह भी, दोनों का समूह जड़ से कट जाता है।

यह मत सोचना कि परमात्मा के पास जब पहुंचेंगे, तो अपने पुण्य का बैंक बैलेंस साथ लिए रहेंगे। कि धर्मशाला बनवाई थी एक, क्या हिसाब रखा उसका? कि एक मंदिर बनवा दिया था! कि इतने ब्राह्मणों को भोजन करवा दिया था! उसका हिसाब अगर लेकर पहुंच गए, तो दरवाजे पर भला स्वर्ग लिखा हो, भीतर नर्क ही पाएंगे; कोई स्वर्ग मिलने वाला नहीं है।

पाप और पुण्य इस जगत की भाषा में ऊंच-नीच हैं। पाप बुरा है, पुण्य अच्छा है। समाज की दृष्टि से ठीक है, लेकिन उस परम दृष्टि में पाप-पुण्य दोनों ही व्यर्थ हैं; क्योंकि वहां कर्ता होना पाप है, अकर्ता होना पुण्य है। वहां तो सीधी बात है एक कि वहां जो अकर्ता है, निरहंकारी है, वही प्रवेश कर पाएगा। वहां तो वही प्रवेश कर पाएगा जो है ही नहीं; जो मिट गया और शून्य होकर जा रहा है। अगर थोड़े से भी आप हैं, तो रास्ता बहुत संकरा है, आप प्रवेश न कर पाएंगे।

जीसस का वचन है, उसका आध्यात्मिक अर्थ कभी भी नहीं किया गया। असल में पश्चिम के पास आध्यात्मिक अर्थों की खोज करने की क्षमता नहीं है। इसलिए जो भी अर्थ होता है, वह सांसारिक हो जाता है। जीसस का वचन है कि सुई के छेद से ऊंट निकल जाए, लेकिन धनी आदमी मेरे प्रभु के राज्य में प्रवेश न कर पाएगा।

लेकिन पूरी ईसाइयत के दो हजार साल, और एक बार भी किसी ने इस वाक्य की ठीक व्याख्या नहीं की। दो हजार साल लंबा वक्त है। सारी व्याख्या यह हुई कि धनी आदमी स्वर्ग नहीं जा सकता। ऊंट के निकल जाने की संभावना है सुई के छेद से, जो कि नहीं हो सकता। सुई के छेद से ऊंट कैसे निकलेगा? जो नहीं निकल सकता, वह भी जीसस कहते हैं, हो सकता है निकल जाए; कोई तरकीब खोज ले, कोई रास्ता बन जाए, कि सुई के छेद से ऊंट निकल जाए, लेकिन धनी आदमी स्वर्ग के द्वार में प्रवेश नहीं पा सकेगा। इसका सीधा-सीधा अर्थ जो हो सकता था, वह ईसाइयत ने लिया। वह इसका अर्थ नहीं है। धनी आदमी से अर्थ है उस आदमी का, जिसे थोड़ा भी लगता है कि मेरे पास कुछ है। जिसे लगता है कि मेरे पास कुछ है, वह धनी आदमी है। जिसको ख्याल है कि मेरे पास कुछ है, वह धनी आदमी है।

तो अगर किसी को लगता है कि मैंने पुण्य कमाया है, यह धनी आदमी है। किसी को लगता है मैं साधु था, संयमी था, तपस्वी था, यह धनी आदमी है। धनी आदमी का मतलब हुआ कि जो कहता है मेरे अलावा भी मेरे पास कुछ है, वह धनी आदमी है। अगर यह कहता है मैंने इतनी प्रार्थनाएं की, इतने उपवास किए, इतने दिन धूप में खड़ा रहा; पैर पर ही खड़ा रहता था, बैठता भी नहीं था वर्षों तक; मैंने दरिद्रों की इतनी सेवा की, इतने अस्पतालों में गया--यह किया, वह किया--अगर इसके पास कुछ भी कहने को है कि मेरे पास इतना है, तो यह आदमी धनी आदमी है।

अब सूत्र को फिर सुन लें : ऊंट गुजर जाए सुई के छेद से, लेकिन धनी आदमी मेरे प्रभु के राज्य में प्रवेश नहीं कर सकेगा।

निर्धन कौन है? ईश्वर के सामने खड़ा होकर जिसके पास कहने को कुछ भी नहीं है कि मेरे पास कुछ है, कि मेरे पास ध्यान है, कि मेरे पास पुण्य है, कि मेरे पास धर्म है। जो ईश्वर के सामने खड़ा हो जाता है शून्यवत, और कहता है मेरे पास कुछ भी नहीं है, अकेला मैं हूं--या जो कुछ भी हूं, जो तुमने ही मुझे दिया है, वही मैं हूं, उसके अतिरिक्त मेरी कोई भी कमाई नहीं है; मेरा होना ही मेरा सब कुछ है, मेरे पास कर्म का कोई भी लेखा-जोखा नहीं है--ऐसा शून्यवत जो उस द्वार पर खड़ा होता है, वह है दरिद्र आदमी। वह है बुद्ध का भिक्षु, जीसस का दरिद्र आदमी। वही प्रवेश कर पाता है।

तो दरिद्रता का ठीक अर्थ हुआ कि जो बिल्कुल शून्य है। जो शून्य है, वही प्रवेश कर पाता है। और इसीलिए ऊंट की बात कही। सुई का छेद बहुत छोटा है; इससे ऊंट के निकलने का कोई उपाय नहीं है। मोक्ष का द्वार सुई के छेद से भी बहुत छोटा है; उसमें से सिर्फ शून्य ही निकल सकता है। अगर जरा सा भी पदार्थ आपके पास है, जरा सा भी मैं--अटक जाएगा। ऊंट लेकर जा रहे हैं आप सुई के छेद में से निकलने। ऊंट छोड़ दें।

लेकिन सवारियां छोड़नी बड़ी मुश्किल होती हैं, क्योंकि सवारियों पर हम ऊंचे मालूम पड़ते हैं। ऊंट इसीलिए जीसस को ख्याल में आ गया होगा। जो भी अहंकार पर बैठे हैं, ऊंट पर बैठे हैं। और जानते हैं कि ऊंट की सवारी कैसी दुखद है। ऊंट की सवारी है अहंकार की सवारी; काफी दचके खाने पड़ते हैं, ऊंचा-नीचा होता रहता है पूरे वक्त। लेकिन फिर भी ऊंचे तो मालूम पड़ते हैं!

ऊंट से नीचे उतरना पड़े। जो भी आपके पास है, वह कर्म से मिला है--जो भी। कर्म से जो भी मिला है, उसकी सीमा मन है। आत्मा तक कर्म से मिला हुआ कुछ भी नहीं पहुंचता।

'समस्त समूह वासना का हो जाता है नष्ट, पुण्य-पाप नाम के कर्म जड़ से उखड़ जाते हैं, तब यह तत्त्वमसि वाक्य परोक्ष ज्ञानरूप में प्रकाशित होता है।'

तब पहली दफा अनुभव होता है कि क्या है यह ऋषि-वचन, तत्त्वमसि--वह तू ही है, दैट आर्ट दाऊ--यह क्या है। इसका पहली दफा परोक्ष अनुभव होता है। परोक्ष! अभी भी यह साफ-साफ दिखाई नहीं पड़ता। अभी भी लगता है, स्पर्श होता है, अनुमान होता है; अभी भी सीधा साक्षात्कार नहीं होता। यह धर्म-मेघ की जब वर्षा हो जाती है ऊपर, जब चित्त बिल्कुल शून्य हो जाता है और दरिद्रता परम हो जाती है, और आदमी भीतर एक शून्य हो जाता है, तब पहली दफा इस तत्त्वमसि महावाक्य का, कि तू ब्रह्म ही है, परोक्ष अनुभव होता है।

गजब के लोग हैं उपनिषद के ऋषि! अभी वे कहते हैं, अभी भी सीधा साक्षात्कार नहीं होता। अभी भी ऐसा होता है कि जैसे हम आंख बंद किए बैठे हों और किसी के पैरों की ध्वनि सुनाई पड़े, और हमें लगे कि कोई आता है; यह परोक्ष है। दिखाई न पड़ता हो, अंधेरा हो, और किसी के गीत की कड़ी गूंज जाए, और हमें लगे कि कोई गाता है--दिखाई न पड़े--तो परोक्ष।

परोक्ष का मतलब है : अभी ठीक आमना-सामना नहीं हुआ, अभी पास ही कहीं प्रतीति हो रही है। धर्म-मेघ की वर्षा के बाद जो पहली घटना होती है, वह है तत्त्वमसि वाक्य की परोक्ष प्रतीति--कि ठीक कहा है ऋषियों ने, कि ठीक कहा है उपनिषद ने। कि वह जो वचन सुना था; वह जो श्रवण में सुना था, मौन में सोचा था, निदिध्यासन में साधा था, समाधि में एकता पाई थी, अब धर्म-मेघ की वर्षा पर पता लगता है--ठीक ही कहा था।

ठीक ही कहा था, यह परोक्ष है; किसी ने कहा था। आज पता चलता है, उसका स्वाद आता है, लगता है--ठीक ही कहा था।

'परोक्ष ज्ञानरूप में प्रकाशित होता है, और फिर... ।'

जब यह परोक्ष ज्ञान थिर हो जाता है, और इसमें किसी तरह की कहीं कोई जरा सी भी लहर नहीं रह जाती विपरीत की; बिल्कुल निस्संदिग्ध ठहर जाता है, आस्था बन जाती है, तब--

'फिर हाथ में रखे आंवले की तरह अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करता है।'

और जब यह परोक्ष ज्ञान बिल्कुल थिर हो जाता है, प्राणों की पूरी शक्ति कहती है, अनुभव करती है, कि ठीक कहा था ऋषियों ने तत्त्वमसि--वह तू ही है--जब इसमें कहीं भी कोई लहर भी इसके विपरीत नहीं रह जाती; जब पूरा-पूरा यह असंदिग्ध मालूम होने लगता है, लेकिन परोक्ष, तब जैसे हाथ में कोई फल को रख दे आंवले के, ऐसा यह तत्त्वमसि वाक्य प्रत्यक्ष हो जाता है; अपरोक्ष हो जाता है। तब फिर ऐसा व्यक्ति यह नहीं कहता कि ऋषियों ने जो कहा, ठीक। ऐसा व्यक्ति तब कहता है, अब मैं कहता हूं, तत्त्वमसि।

परोक्ष ज्ञान में यह आदमी कहता है कि ऋषियों ने कहा है, इसलिए मैं कहता हूं कि ठीक है; प्रत्यक्ष ज्ञान में यह आदमी कहेगा, मैं कहता हूं यह ठीक है, इसलिए ऋषियों ने भी ठीक ही कहा होगा।

इस फर्क को ठीक से ख्याल में ले लें।

परोक्ष ज्ञान में प्रमाण था--वेद, ऋषि, ज्ञान, शास्त्र। उससे ही श्रवण से शुरू की थी यात्रा। गुरु ने कहा था, इसलिए ठीक ही कहा होगा, इस आस्था से खोज चली थी। परोक्ष था तब तक, जब तक गुरु ने कहा है, ठीक ही कहा होगा। और जो गुरु को जानता है, वह निश्चित ही स्वीकार कर लेता है कि ठीक ही कहा होगा।

बुद्ध के पास कोई रहा हो, और बुद्ध कहें, तत्त्वमसि। जिसने बुद्ध को जाना है, वह सोच भी नहीं सकता, उसे कुछ भी पता नहीं है कि यह वाक्य ठीक है या नहीं, लेकिन बुद्ध को जानता है। इसलिए बुद्ध जो कहते हैं, वह प्रमाण हो जाता है। बुद्ध से कुछ अप्रमाण निकल सकता है, इसकी कोई बात ही नहीं बनती, इसका कोई ख्याल ही नहीं आता।

जो गुरु के पास रहा है, गुरु को जाना है, गुरु का वचन उसे प्रमाण है। लेकिन गुरु का ही वचन प्रमाण है। यह परोक्ष है। दूसरे के द्वारा आया है। पहली प्रतीति तो यही होगी, जब बुद्ध का साधक पहुंचेगा समाधि में, तो हाथ जोड़ कर बुद्ध के चरणों में सिर झुकाएगा, कहेगा : ठीक कहा था, जो कहा था वह जाना। लेकिन जब यह प्रतीति और गहरी होगी, और डूबेगा, और डूबेगा, तो स्थिति बिल्कुल बदल जाएगी। तब वह कहेगा कि मैं जानता हूं कि मैं वही हूं। और अब मैं कहता हूं कि चूंकि मेरा अनुभव कहता है कि ठीक है, इसलिए गुरु ने जो कहा था, वह ठीक है।

अब प्रमाण बन जाता है व्यक्ति स्वयं, और व्यक्ति बन जाता है स्वयं शास्त्र। ऐसे व्यक्तियों को हमने बुद्ध, तीर्थंकर, अवतार कहा है। जो व्यक्ति स्वयं प्रमाण है। जो यह नहीं कहते कि ऐसा वेद में लिखा है, इसलिए सही; जो कहते हैं, ऐसा मैंने जाना, इसलिए सही। और अगर वेद भी ऐसा कहते हों, तो मेरे जानने के कारण वेद भी सही; और अगर ऐसा न कहते हों तो वेद गलत। अगर ऐसा न कहते हों तो वेद गलत। अब कसौटी अपना ही अनुभव है। अब अपना ही निकष उपलब्ध हो गया है।

यह सिद्धावस्था है। समाधि जब परोक्ष ज्ञान से अपरोक्ष ज्ञान में प्रवेश करती है, तो सिद्धावस्था हो जाती है। ऐसी अवस्था को पाया हुआ व्यक्ति ही अगर लौटे समाधि, निदिध्यासन, मनन, प्रवचन तक, तो हमें खबर मिलती है उस जगत की।

इसलिए अगर हमने शास्त्रों को इतना आदर दिया है तो उसका कारण यही है कि वे उन लोगों के वचन हैं, जिनके पास रहने वाले लोगों ने उनसे वचन सुने थे और पाया था कि यह जो आदमी कहता है, गलत कह ही नहीं सकता। फिर भी ऐसे लोग कहते नहीं कि हम जो कहें, मान लो।

बुद्ध कहते हैं, सोचना, विचारना, मनन करना, निदिध्यासन करना, साधना, और फिर तुम्हें अनुभव में आए तो ही मानना। बुद्ध कहते हैं, मैं कहता हूं इसलिए मत मानना; बुद्ध कहते हैं इसलिए मत मानना; शास्त्र कहते हैं इसलिए मत मानना--खोजना। और जब स्वयं का अनुभव बन जाए, तो गवाह बन जाना।

समाधि को उपलब्ध व्यक्ति साक्षी हो जाता है समस्त शास्त्रों का। ज्ञाता नहीं, साक्षी। पंडित ज्ञाता होता है, समाधिस्थ साक्षी होता है। पंडित कहता है कि शास्त्र ठीक कहते हैं, क्योंकि तर्क में जंचती है बात। समाधिस्थ कहता है, शास्त्र ठीक कहते हैं, क्योंकि मेरा भी अनुभव यही है।

बारहवां प्रवचन

वैराग्य आनंद का द्वार है

वासनाऽनुदयो भोग्ये वैराग्यस्य तदाऽवधिः।
अहंभावावोदयाभावो बोधस्य परमावधिः।। 41।।
लीनवृत्तेरनुत्पत्तिर्मर्यादोपरतेस्तु सा।
स्थितप्रज्ञो यतिरयं यः सदानन्दमश्नुते।। 42।।
ब्रह्मण्येव विलीनात्मा निर्विकारो विनिष्क्रियः।
ब्रह्मात्मनो शोधितयोरेकभावावगाहिनी।। 43।।
निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिःप्रज्ञेति कथ्यते।
सा सर्वदा भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते।। 44।।
देहेन्द्रियेष्वहंभाव इदंभावस्तदन्यके।
यस्य नो भवतः क्वापि स जीवन्मुक्त इष्यते।। 45।।

भोगने लायक पदार्थ के ऊपर वासना जाग्रत न हो, तब वैराग्य की अवधि जान लेनी; और अहं-भाव का उदय न हो, तब ज्ञान की परम अवधि समझना।

इसी प्रकार लय को प्राप्त हुई वृत्तियां फिर से उत्पन्न न हों, वह उपरति की अवधि है। ऐसा स्थितप्रज्ञ यति सदा आनंद को पाता है।

जिसका मन ब्रह्म में ही लीन हुआ हो, वह निर्विकार और निष्क्रिय रहता है। ब्रह्म और आत्मा (जीव) शोधा हुआ और दोनों के एकत्व में लीन हुई वृत्ति विकल्परहित और मात्र चैतन्य रूप बनती है, तब वह प्रज्ञा कहलाती है। यह प्रज्ञा जिसमें सर्वदा होती है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

देह तथा इंद्रियों पर जिसको अहं-भाव न हो, और इनके सिवाय अन्य पदार्थों पर यह मेरा है, ऐसा भाव जिसको न हो, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

'भोगने लायक पदार्थ पर वासना जाग्रत न हो, तब समझना वैराग्य की अवधि; और अहं-भाव का उदय न हो, तब समझना ज्ञान की परम अवस्था।'

वैराग्य से साधारणतः लोग समझते हैं, विराग। राग है, उसके विपरीत विराग है।

राग का अर्थ है, वस्तुओं को देख कर भोगने की आकांक्षा का जगना। सौंदर्य दिखाई पड़े, स्वादिष्ट वस्तु दिखाई पड़े, सुखद परिस्थिति दिखाई पड़े, तो उसे भोग लेने का, उसमें डूबने का, लीन होने का जो मन पैदा होता है, वह है राग। राग का अर्थ है जुड़ जाने की इच्छा; अपने को खोकर किसी वस्तु में डूब जाने की इच्छा। अपने से बाहर कोई सुख दिखाई पड़े, तो अपने को सुख में डुबा देने की आकांक्षा राग है।

विराग का अर्थ है, कोई वस्तु दिखाई पड़े भोगने योग्य, तो उससे विकर्षण का पैदा हो जाना; उससे दूर हटने का मन पैदा हो जाना; उसकी तरफ पीठ कर लेने की इच्छा हो जाए।

आकर्षण है राग, विकर्षण है विराग--भाषा की दृष्टि से। जिसकी तरफ जाने का मन हो, वह है राग; और जिससे दूर हटने का मन हो, वह है विराग। विराग का अर्थ हुआ विपरीत राग। एक में खिंचते हैं पास, दूसरे में हटते हैं दूर। विराग राग से पूरी तरह मुक्ति नहीं है, उलटा राग है। कोई धन की तरफ पागल है; धन मिल जाए

तो सोचता है सब मिल गया। कोई सोचता है धन छोड़ दूं तो सब मिल गया! लेकिन दोनों की दृष्टि धन पर है। कोई सोचता है पुरुष में सुख है, स्त्री में सुख है; कोई सोचता है स्त्री-पुरुष के त्याग में सुख है। बाकी दोनों का केंद्र स्त्री या पुरुष का होना है। कोई सोचता है संसार ही स्वर्ग है और कोई सोचता है संसार नर्क है, लेकिन दोनों का ध्यान संसार पर है।

भाषा की दृष्टि से विराग राग का उलटा रूप है, लेकिन अध्यात्म के खोजी के लिए वैराग्य राग का उलटा रूप नहीं, राग का अभाव है। इस फर्क को ठीक से समझ लें। शब्दकोश में देखेंगे तो राग का उलटा विराग है, अनुभव में उतरेंगे तो राग का उलटा विराग नहीं है, राग का अभाव, एब्सेंस, विराग है। फर्क थोड़ा बारीक है।

स्त्री के प्रति आकर्षण है, यह राग हुआ। स्त्री के प्रति विकर्षण पैदा हो जाए, कि स्त्री को पास सहना मुश्किल हो जाए, स्त्री से दूर भागने की वृत्ति पैदा हो जाए, स्त्री से दूर-दूर रहने का मन होने लगे, यह हुआ विराग--भाषा, शब्द, शास्त्र के हिसाब से। अनुभव, समाधि के हिसाब से यह भी राग है।

समाधि के हिसाब से विराग तब है, जब स्त्री में न आकर्षण हो, न विकर्षण हो; न खिंचाव हो और न विपरीत। स्त्री का होना और न होना बराबर हो जाए, पुरुष का होना, न होना बराबर हो जाए। गरीबी और समृद्धि बराबर हो जाए; चुनाव न रहे, अपना कोई आग्रह न रहे कि यह मिलेगा तो स्वर्ग, यह छूटेगा तो स्वर्ग; बाहर के मिलने और छूटने से कोई संबंध ही न रह जाए सुख का, सुख अपना ही हो जाए; बाहर कोई मिले, न मिले--ये दोनों बातें गौण, ये दोनों बातें व्यर्थ हो जाएं--तब वैराग्य।

वैराग्य का अर्थ यह हुआ कि हमारी दृष्टि ही पर पर जानी बंद हो जाएः न अनुकूल, न प्रतिकूल; न आकर्षण में, न विकर्षण में। दूसरे से पूरा छुटकारा वैराग्य है।

दूसरे से दो तरह के बंधन हो सकते हैंः मित्र मिलता है तो सुख होता है, शत्रु मिलता है तो दुख होता है; शत्रु जब छूट जाता है तो सुख होता है, मित्र छूट जाता है तो दुख होता है।

बुद्ध ने कहा है--बड़ा गहरा मजाक किया है--बुद्ध ने कहा है कि शत्रु भी सुख देते हैं, मित्र भी दुख देते हैं। मित्र जब छूटते हैं तब दुख देते हैं, शत्रु जब मिलते हैं तब दुख देते हैं। फर्क क्या है?

लेकिन शत्रु से भी हमारा लगाव रहता है; मित्र से भी लगाव रहता है। शत्रु मर जाए आपका, तो भी आपके भीतर कुछ टूट जाता है; खाली हो जाती है जगह। कई बार तो मित्र से भी ज्यादा खाली जगह हो जाती है शत्रु के मरने से, क्योंकि उससे भी एक राग था--उलटा राग था; उसके होने से भी आप जुड़े थे। मित्र से भी जुड़े हैं, शत्रु से भी जुड़े हैं। तो जिन चीजों से आपका विरोध हो गया है, उनसे भी संबंध है।

वैराग्य का अर्थ है, संबंध ही न रहा, असंग हो गए, असंबंधित हो गए। तो वैराग्य की परम अवधि की परिभाषा की है इस सूत्र में कि भोगने लायक पदार्थ के ऊपर वासना जाग्रत न हो।

भाषा में, शब्द में जो विराग का अर्थ है, उसका अर्थ है भोगने लायक पदार्थ को छोड़ कर चले जाना। वैराग्य का अर्थ है, भोगने लायक पदार्थ हो, मौजूद हो, निकट हो, तो भी उसके भोगने की आकांक्षा न जगनी। भोग भी रहे हों तो भी भोग की आकांक्षा न जगनी।

जनक रह रहे हैं अपने महल में, सब कुछ वहां है भोगने योग्य, लेकिन भोगने की वासना नहीं है। आप जंगल भाग जाएं; कुछ भी नहीं है भोगने योग्य वहां, लेकिन भोगने की वासना सपने बनेगी, वृत्तियां उठाएगी; मन दौड़-दौड़ कर वहां जाएगा जहां भोगने योग्य पदार्थ होंगे।

तो भोगने योग्य पदार्थ की उपस्थिति या गैर-उपस्थिति का सवाल नहीं है, वासना का सवाल है। और यह बड़े मजे की बात है कि जहां पदार्थ न हों, वहां वासना ज्यादा प्रखर रूप से मालूम पड़ती है; जहां पदार्थ हों वहां उतनी प्रखर मालूम नहीं पड़ती। अभाव में और भी ज्यादा खटक पैदा हो जाती है।

यह सूत्र कहता है कि जो आदमी सब छोड़ कर चला आया हो, सब छोड़ दिया हो उसने, यह भी वैराग्य की परम अवधि नहीं है, यह भी वैराग्य का चरम रूप नहीं है; क्योंकि हो सकता है राग भीतर रहा हो। यह भी हो सकता है कि छोड़ कर भागना राग का ही एक अंग रहा हो।

तो परम परिभाषा क्या होगी?

सब भोगने योग्य मौजूद हो और भीतर भोगने की वासना न हो।

कौन तय करेगा यह? यह व्यक्ति को स्वयं ही निर्णय करना है। दूसरों के निर्णय की बात नहीं है, आप अपने निर्णायक हैं। भीतर वासना न जगती हो, भोगने योग्य पदार्थ मौजूद हों और भीतर कोई वासना न दौड़ती हो--पक्ष में या विपक्ष में; इधर या उधर मन भागता ही न हो; आप डांवाडोल न होते हों; आप वैसे ही हों, जैसे बाहर कुछ भी नहीं है; पदार्थ हो बाहर, और भीतर प्रतिबिंब किसी तरह का रस या विरस पैदा न करता हो--तो वैराग्य की अवधि।

हमारे लिए अति कठिन मालूम पड़ेगा, क्योंकि हम सबने विराग का राग से विपरीत रूप समझ रखा है। एक आदमी अपने पत्नी-बच्चे, घर-परिवार को छोड़ कर भाग जाता है, हम कहते हैं विरागी है। लेकिन भागता है, उससे खबर देता है कि राग अभी जुड़ा था। कोई भागता है तो मकान से डर कर नहीं भागता, अपने भीतर की वासना से ही डर कर भागता है। मकान क्या भगाएगा! और अगर मकान अभी भगा सकता है, तो अभी आत्म-स्थिति बनी नहीं है। एक आदमी खोज रहा है मकान बड़े, और मकान उसे भगा रहा है, दौड़ा रहा है। और एक आदमी मकान से डर कर जंगलों में भाग रहा है, मकान उसे भी दौड़ा रहा है। पीठ मकान की तरफ है, लेकिन जुड़ा मकान से ही है।

न, एक आदमी को वस्तुएं भगाना बंद कर देती हैं, दौड़ाना बंद कर देती हैं। वस्तुओं की कोई भी चुनौती आदमी के ऊपर नहीं रह जाती। वह वस्तुओं की चुनौती ही स्वीकार नहीं करता है। तब तो वैराग्य का अर्थ हुआ आत्म-स्थिति; अपने में ठहर गया जो।

हम में से कोई भी अपने में ठहरा हुआ नहीं है। पुरानी कहानियां हैं, बच्चों की कहानियों में अभी भी उस तरह की घटना घटती है, कि कोई राजा है, उसके प्राण किसी तोते में बंद हैं। राजा को मारो, मरेगा नहीं, जब तक कि तोते को न मार दो। तो प्राण तोते में छिपा रखे हैं। जब तक तोता बचा है, राजा बचा रहेगा। यह कहानी नहीं है सिर्फ, हम सबके भी प्राण कहीं और बंद हैं। आपकी तिजोड़ी में हो सकते हैं आपके प्राण बंद हों, तोते में न हों। तिजोड़ी चली जाए... ।

उन्नीस सौ तीस में, इकतीस में अमरीका में वाल स्ट्रीट के अमरीका के बड़े-बड़े करोड़पतियों में से कई ने आत्महत्या कर ली--एकदम से! क्योंकि अमरीका में ह्रास हुआ मुद्रा का। इतना तीव्रता से हुआ कि सटोरिए और बड़े करोड़पति एकदम दीन-हीन हो गए। उनके बैंक बैलेंस एकदम खाली हो गए। तो पचास मंजिल से, साठ मंजिल से कूद कर उन्होंने तत्काल आत्महत्या कर ली। क्या हुआ इन व्यक्तियों को? क्या घटना घटी कि अचानक इनको मरने के सिवाय कोई रास्ता न सूझा?

इनके प्राण तिजोरियों में बंद थे; तिजोरी में प्राण थे। तिजोरी मर गई, ये मर गए। यह जो कूदना था, कुछ और नहीं हुआ था, दुनिया सब वैसी थी; लेकिन बैंक में कुछ आंकड़े खो गए। आंकड़े! किसी के नाम पर दस के आंकड़े थे, वे दो के रह गए। जहां बड़ी लंबी कतार थी आंकड़ों की, वहां शून्य हो गया। यह सब बैंक में हुआ। यह सब कागज पर हुआ। पर इनके प्राण वहां बंद थे। वही इनका प्राण था। इनको मार डालते, ये न मरते। तिजोरी खाली हो गई, ये मर गए!

किसी का किसी से प्रेम है। प्रेमी मर जाए, प्राण निकल गए।

हम सब अगर अपनी खोज करें तो हमारे प्राण कहीं न कहीं, किन्हीं न किन्हीं तोतों में बंद हैं। जब तक आपके प्राण कहीं और बंद हैं, तब तक आप आत्म-स्थित नहीं हैं। आपके प्राण वहां नहीं हैं जहां होने चाहिए। आपके भीतर होने चाहिए, वहां नहीं हैं, कहीं और हैं।

यह कहीं और होना बहुत तरह का हो सकता है। एक आदमी सोचता है कि उसकी आत्मा उसका शरीर है, तो यह भी कहीं और है। कल यह बूढ़ा होने लगेगा, तो पीड़ित होगा, दुखी होगा, क्योंकि शरीर दीन-हीन होने लगा, झुर्रियां पड़ने लगीं, कुरूप होने लगा--रुग्ण, जीर्ण। यह मरने के पहले मरा हुआ अनुभव करेगा। क्योंकि इसने जिस जवान शरीर में अपने प्राण रखे थे वह जा रहा है।

कहां आप अपने प्राण रख लिए हैं, इसमें भेद हो सकता है, लेकिन कहीं आपके प्राण हैं, बाहर, तो आप राग में जी रहे हैं। राग का मतलब हैः आत्मा अपनी जगह नहीं, कहीं और है। फिर इसके उलटे भी आप भाग सकते हैं, लेकिन आत्मा कहीं और है।

आत्मा अपने भीतर है, मैं अपने में ठहरा हुआ हूं, कोई चीज खींचती नहीं और मेरे भीतर किसी तरह की तरंगें पैदा नहीं करती, वैराग्य की यही परिभाषा है। इसलिए वैराग्य आनंद का द्वार है। क्योंकि जो अपने में ठहर गया, उसे दुखी करने का कोई उपाय नहीं।

और ध्यान रहे, वे कहानियां बच्चों की ठीक कहती हैं। जो अपने में ठहर गया, जिसके प्राण अपने में आ गए, उसे मारने का भी कोई उपाय नहीं है। प्राण नहीं मरते कभी भी, तोते मर जाते हैं। जहां-जहां रखते हैं, वे चीजें खिसक जाती हैं, वे मर जाती हैं। इसलिए खुद आदमी अपने को मरा हुआ अनुभव करता है।

आत्मा तो अमृत है, लेकिन हम उसे मृत वस्तुओं के साथ जोड़ देते हैं। वे मृत वस्तुएं, आज नहीं कल, बिखरेंगी। वह उनका स्वभाव है। जब वे बिखरेंगी तब यह भ्रम पैदा होगा कि मैं भी मर गया। यह स्वयं का मर जाना एक भ्रम है, जो पैदा होता है मरणधर्मा वस्तुओं से स्वयं को जोड़ लेने से।

वैराग्य का अर्थ है, जिसने सारे संबंध तोड़ कर उसको जान लिया, जो सदा संबंधित होता रहा था।

'भोगने लायक पदार्थ के ऊपर वासना जाग्रत न हो... ।'

विपरीत वासना जाग्रत हो नहीं, वासना ही जाग्रत न हो, किसी भी अर्थ की। तब वैराग्य की अवधि जान लेना। यह खुद के लिए सूत्र दिया जा रहा है। इससे दूसरे की जांच करने मत जाना।

हम सब बहुत होशियार हैं! हमें परिभाषाएं मिल जाएं तो हम दूसरे की जांच करने जाते हैंः कि अच्छा, तो फलां आदमी विरागी है या नहीं?

आपका कोई प्रयोजन नहीं है, दूसरे से आपका कोई लेना-देना नहीं है; राग में होगा तो दुख भोगेगा, विराग में होगा तो आनंद भोगेगा; आपका कोई भी संबंध नहीं है।

लेकिन हम इतने कुशल हैं स्वयं के साथ धोखा करने में, कि अगर हमारे हाथ में कोई परिभाषा, कोई कसौटी लगे, तो हम दूसरों को कसने निकल जाते हैं, खुद को कसने की फिक्र नहीं करते।

अपने को कसना, यह सूत्र आपके लिए है। यह सूत्र किसी और पर चिंतन करने के लिए नहीं हैः कि महावीर विरागी हैं या नहीं? कि कृष्ण विरागी हैं या नहीं?

होंगे या न होंगे, कुछ भी लेना-देना नहीं है। यह उनकी अपनी बात है। होंगे विरागी तो आनंद पाएंगे, नहीं होंगे तो दुख पाएंगे, आप कहीं बीच में आते नहीं हैं।

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं, कैसे पता चले कि कोई आदमी वस्तुतः ज्ञान को उपलब्ध हो गया? जरूरत क्या है कि कोई आदमी वस्तुतः ज्ञान को उपलब्ध हो गया है, इसका आपको पता चले? आप हुए हैं कि

नहीं, इतना पता चलता रहे, काफी है। दूसरा हो भी गया हो, तो उसके होने से आप नहीं हो जाते। दूसरा न भी हुआ हो, तो उसके न होने से आपको कोई बाधा नहीं पड़ती।

लेकिन क्यों हम ऐसा सोचते हैं? उसके कारण हैं। हम पक्का कर लेना चाहते हैं कि कोई वैराग्य को उपलब्ध नहीं हुआ। उससे हमको राहत मिलती है कि फिर कोई हर्ज नहीं; हम भी न हुए, तो कोई हर्ज नहीं; कोई उपलब्ध नहीं हुआ! इससे मन को सांत्वना मिलती है, इससे मन को आधार मिलता है कि हम जैसे हैं, ठीक हैं; क्योंकि कोई कभी उपलब्ध नहीं हुआ; हम भी नहीं हो रहे हैं!

इसीलिए हमारा मन कभी मानने का नहीं करता कि कोई वैराग्य को उपलब्ध हुआ। हम खोजते हैं तरकीब कि पता चल जाए कि नहीं हुआ। अगर कोई वैराग्य को उपलब्ध हुआ है तो हमें अड़चन होती है भीतरी। वह अड़चन यह है कि कोई और हो गया उपलब्ध, तो मैं भी हो सकता हूं, लेकिन हो नहीं पा रहा। इससे ग्लानि पैदा होती है।

इसलिए दुनिया में कोई भी आदमी दूसरे का ठीक होना स्वीकार नहीं करता। दूसरे से कोई मतलब नहीं है। दूसरे के ठीक होना स्वीकार न करने से अपनी बुराई को स्वीकार करने में आसानी होती है। अगर सारी दुनिया चोर है, तो आपको चोर होने में कोई आत्मग्लानि नहीं होती। अगर सारी दुनिया बुरी है, तो आपका बुरा होना भी सहज मालूम पड़ता है। अगर सारी दुनिया भली है, तो फिर आपका बुरा होना आपको कांटे की तरह गड़ने लगता है। फिर एक आत्मदंश शुरू होता है; ग्लानि पैदा होती है, अपराध मालूम पड़ता है, और लगता है कि जो होना चाहिए वह नहीं हो पा रहा है। और आपके जीवन में बेचैनी पैदा होती है।

वह बेचैनी पैदा न हो, हम नींद में गहरे सोए रहें, इसलिए हम कभी दूसरे में भला नहीं देखते। अगर कोई आकार कहे कि फलां आदमी वैराग्य को उपलब्ध हुआ, आप कहेंगे कि नहीं, वैराग्य को उपलब्ध नहीं हुआ। आप पच्चीस आधार खोज लेंगे कि नहीं हुआ। यह हमारे मन के गहरे जाल का एक हिस्सा है। इसके प्रति सावधान होना जरूरी है। दूसरे से कोई प्रयोजन ही नहीं है।

एक मित्र तीन दिन से मेरे पास पहुंचते थे। समय ज्यादा वे चाहते थे। कहते थे, संन्यास तो मुझे लेना है, लेकिन संन्यास के पहले कोई दो-तीन जरूरी सवाल पूछने हैं।

सोचा कि जरूरी सवाल होंगे। एक भी सवाल जरूरी नहीं था। सवाल दूसरों के संबंध में थे, उनके संबंध में न थे। संन्यास उन्हें लेना था, सवाल दूसरे के संबंध में थेः कि क्या कृष्ण वस्तुतः ज्ञान को उपलब्ध हुए हैं? तो फिर जैनों ने उनको नर्क में क्यों डाला हुआ है?

जैनों ने कृष्ण को नर्क में डाला हुआ है अपने शास्त्रों में, क्योंकि जैनों की अपनी व्याख्या और परिभाषा है वैराग्य की; उसमें कृष्ण नहीं आते। छोड़ कर जाना चाहिए सब, वह उनकी परिभाषा है। और कृष्ण तो कुछ छोड़ कर गए नहीं! इसलिए अड़चन है।

कृष्ण की परिभाषा यही है कि अगर छोड़ कर ही भागते हो, तो अभी विरागी नहीं हुए। इसलिए हिंदुओं ने अपने शास्त्रों में महावीर का उल्लेख भी नहीं किया। कोई उल्लेख करने योग्य बात नहीं मानी। कम से कम जैनियों ने थोड़ा प्रेम दर्शाया है कृष्ण के प्रति; नर्क में डाला है! हिंदुओं ने उल्लेख ही नहीं किया महावीर का। बात ही करने लायक नहीं समझी। नर्क में भी डाला, तो थोड़ी फिक्र तो ली है! वे कृष्ण को एकदम छोड़ नहीं सके, कुछ न कुछ वक्तव्य, कृष्ण के लिए कोई न कोई जगह बनानी पड़ी है। नर्क ही सही! लेकिन महावीर को हिंदुओं ने नर्क में तक नहीं डाला! बात ही छोड़ दी। क्योंकि अगर कृष्ण की परिभाषा को कोई पकड़ कर चले, तो अड़चन हो जाती है।

लेकिन ध्यान रहे, सब परिभाषाएं आपके लिए हैं, साधक के लिए हैं, ताकि वह अपने भीतर खोज-बीन करता रहे। एक निकष हाथ में रहे, कसौटी, तौलता रहे। और हम सब होशियार हैं; उस कसौटी पर हम दूसरों को कसने जाते हैं! दूसरों से कोई लेना-देना नहीं है। कृष्ण नर्क में होंगे तो वे समझें, इससे किसी को क्या लेना-

देना है! आप कोई कृष्ण की जगह नर्क में पड़ने को तैयार हो नहीं सकते, कि हम जगह लिए लेते हैं आपकी, आप मोक्ष चले जाओ! और कृष्ण मोक्ष में होंगे तो आपका मोक्ष निर्मित नहीं होता है। आपके अतिरिक्त आपकी सारी चिंतना दूसरे के संबंध में व्यर्थ है।

एक दूसरे मित्र आए थे पूछने कि अगर आपको और कृष्णमूर्ति को मिलने की व्यवस्था की जाए, तो क्या आप मिलने को राजी हैं?

अब यह मेरे और कृष्णमूर्ति के बीच की बात है! इसमें इन मित्र को क्या प्रयोजन हो सकता है?

फिर उन्होंने पूछा हुआ था कि अगर आप दोनों का मिलना हो तो नमस्कार कौन पहले करेगा?

अब यह भी मेरे और कृष्णमूर्ति के बीच का मामला है!

चित्त दूसरों के चिंतन में लगा है। चित्त अपना चिंतन कर ही नहीं रहा है। साधक को निर्णय कर लेना चाहिए कि ये सब व्यर्थ की चिंतनाएं हैं। मेरे अतिरिक्त, और मेरे भीतरी विकास के अतिरिक्त, सब बातें साधक के लिए नहीं हैं। व्यर्थ हैं। उन जिज्ञासाओं में, कुतूहल में उलझना ही नहीं चाहिए। उससे कुछ भी लेना-देना नहीं है। उससे कुछ आपके जीवन में होगा भी नहीं।

तो यह ध्यान रखें, ये परिभाषाएं आपके लिए हैं। और अपने भीतर आप तौलते रहें, इसलिए उपनिषद ने आपको मापदंड दिए हैं; ताकि भीतर के अगम रास्ते पर आपको कठिनाई न हो। अपने भीतर देखते रहना, जब तक वस्तुओं को देख कर वासना जगती हो, तब तक समझना कि वैराग्य उपलब्ध नहीं हुआ है। और वैराग्य के सतत श्रम में लगना, उस श्रम की हम धीरे-धीरे बात कर रहे हैं।

'अहं-भाव का उदय न हो तब ज्ञान की परम अवधि समझना।'

बड़े अजीब लोग हैं उपनिषद के ऋषि! वे यह नहीं कहते कि परमात्मा का दर्शन हो जाए तो ज्ञान की अवधि समझना। परमात्मा तक के दर्शन की बात को उन्होंने ज्ञान की अवधि नहीं कहा, कि आपके बिल्कुल सब चक्र खुल जाएं और कुंडलिनी जाग्रत हो जाए और सहस्र दल कमल खिल जाए तो ज्ञान की परम अवधि समझना। नहीं! कि आप सातों स्वर्ग चढ़ जाएं--और न मालूम कितने हिसाब जारी हैं--कि सारे चौदह खंडों की यात्रा पूरी हो जाए और सच-खंड में प्रवेश हो जाए, तो भी उपनिषद कहते हैं कि इस सबसे कोई मतलब नहीं है। कसौटी की बात एक है कि अहं-भाव का उदय न हो।

कुंडलिनी से भी अहं-भाव का उदय होता है। साधक को लगता है कि हमारी कुंडलिनी जाग्रत हो गई! अब हम कोई साधारण आदमी नहीं! किसी को लगता है कि हमारा आज्ञाचक्र जग गया, ज्योति के दर्शन होने लगे, हम कोई साधारण आदमी नहीं! किसी को लगता है कि हृदय में नीलमणि प्रकट हो गई, नीली ज्योति दिखाई पड़ने लगी, अब हम मुक्त हो गए, अब हमारे लिए कोई संसार नहीं!

ध्यान रहे, जिस चीज से भी मैं निर्मित होता हो वह अज्ञान का ही हिस्सा है, चाहे नाम आप कुछ भी देते चले जाएं। उपनिषद कहते हैं, अहं-भाव जब तक पैदा हो--कारण कोई भी हो--जब तक ऐसा लगे कि मैं कुछ हो गया, तब तक जानना कि अभी ज्ञान पका नहीं; अभी ज्ञान में फूल नहीं खिले; अभी ज्ञान का विस्फोट नहीं हुआ। एक ही सूत्र दिया है कि अहं-भाव पैदा न हो।

तो यह भी हो सकता है कि दुकान पर बैठा हुआ आदमी--न जिसकी कुंडलिनी जगी हो, और न जिसने नील-ज्योति देखी हो, और न सच-खंडों की यात्रा की हो--कुछ भी न किया हो, सीधा दुकान पर बैठ कर अपना काम कर रहा हो, लेकिन अहं-भाव न जगता हो, तो वह भी ज्ञान की परम अवधि को पहुंच गया। और बड़ा योगी हो, और हिमालय के ऊंचे शिखर पर खड़ा हो; और जितना हिमालय का ऊंचा शिखर हो, उतना ही भीतर अहंकार का भी शिखर हो; और सोचता हो कि मैं पहुंच गया और कोई नहीं पहुंचा, सोचता हो मैंने पा लिया और किसी ने नहीं पाया--तो समझना कि अभी ज्ञान की घटना नहीं घटी है। एक ही कसौटी है कि ऐसी घड़ी आ जाए भीतर, कि कोई भी चीज अहं-भाव को निर्मित न करती हो। कुछ भी होता रहे--खुद परमात्मा

सामने आकर खड़ा हो जाए--तो भी यह भाव पैदा न हो कि अहोभाग्य मेरे, पा लिया परमात्मा को भी! यह परमात्मा सामने खड़े हैं, दर्शन हो रहा है।

मैं की वृत्ति निर्मित न हो तो ज्ञान की परम अवधि समझना।

इसको भी भीतर खोजते रहना, नहीं तो हर चीज से अकड़ आनी शुरू हो जाती है--हर चीज से! मन बड़ा कुशल है, और हर चीज में से अहं-भाव को निकाल लेता है; इतना कुशल है कि विनम्रता तक में से अहं-भाव को निकाल लेता है! कि एक आदमी कहने लगता है कि मुझसे ज्यादा विनम्र और कोई भी नहीं! मुझसे ज्यादा विनम्र और कोई भी नहीं! मगर वह मुझसे ज्यादा कोई भी नहीं। वह कुछ भी हो--चाहे धन हो, चाहे यश हो, चाहे पद हो, चाहे ज्ञान हो, चाहे मुक्ति हो, चाहे विनम्रता हो--मुझसे ज्यादा कोई भी नहीं। वह जो मैं है, निर्मित होता चला जाता है।

तो भीतर जांचते रहना, खोजते रहना, नहीं तो आध्यात्मिक तलाश भी सांसारिक तलाश हो जाती है। आध्यात्मिक और सांसारिक खोज में वस्तुओं का भेद नहीं है, आध्यात्मिक और सांसारिक खोज में अहंकार का भेद है। एक आदमी संसार में धन के ढेर लगा लेता है तो अहंकार मजबूत होता है। एक दूसरा आदमी सारे धन का त्याग कर देता है और त्याग से अहंकार को मजबूत कर लेता है। दोनों की यात्रा सांसारिक है। आध्यात्मिक यात्रा तो शुरू होती है अहंकार के विसर्जन से। एक ही त्याग है करने जैसा, और वह मैं का त्याग है। बाकी सब त्याग फिजूल हैं, क्योंकि उन त्याग से भी मैं भर लेता है।

कल ही एक सज्जन मुझे मिलने आए थे। वे कहते हैं कि चौदह साल से मैंने अन्न नहीं लिया! और उनकी अकड़ देखने लायक थी। अन्न लेने से भी इतनी अकड़ पैदा नहीं होती, जितनी उनको अन्न न लेने से पैदा हो गई है! तो यह अन्न का न लेना तो जहर हो गया। उनकी अकड़ ही और थी! चौदह साल से अन्न नहीं लिया, होने ही वाली है अकड़। अब किस पर कृपा की है आपने अन्न नहीं लिया तो? न लें! लेकिन इसको वे बताते फिर रहे हैं कि चौदह साल से अन्न नहीं लिया! अब यही अहंकार बन रहा है। अन्न से भी अहंकार इतना नहीं भरता, यह न अन्न से भरा जा रहा है!

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं कि हम दूध ही ले रहे हैं वर्षों से! दूध उनके लिए जहर मालूम हो रहा है। वे जमीन पर नहीं चल रहे हैं, क्योंकि वे दूध ले रहे हैं। क्या फर्क कर रहे हैं आप? कौन सी बड़ी क्रांति हुई जा रही है कि दूध ले रहे हैं?

मगर उसका कारण है। क्योंकि उन्हें लगता है, वे कुछ विशेष कर रहे हैं जो दूसरे नहीं कर रहे हैं। बस जहां विशेष का ख्याल आया, अहंकार निर्मित होना शुरू हो जाता है, फिर वह कोई भी विशेष हो। किसी भी कारण से आप विशिष्टता पैदा कर लें अपने लिए, तो अहंकार निर्मित होता है।

तो साधक का क्या अर्थ हुआ? साधक का अर्थ हुआ कि अपने भीतर से विशेषता पैदा करना बंद करता जाए; धीरे-धीरे ऐसा हो जाए कि नोबडी, कोई भी नहीं वह। धीरे-धीरे इतना सामान्य हो जाए भीतर, कि यह भाव ही पैदा न हो कि मैं भी कुछ हूं; ना-कुछ हो जाए। जिस दिन साधक ना-कुछ हो जाता है, ज्ञान की परम अवधि आ जाती है।

ज्ञान के संग्रह से नहीं, अहंकार के विसर्जन से।

जानकारी के संग्रह से नहीं, मैं की मृत्यु से।

'इसी प्रकार लय को प्राप्त हुई वृत्तियां फिर से उत्पन्न न हों, वह उपरति की अवधि है। ऐसा स्थितप्रज्ञ यति सदा आनंद को पाता है।'

'लय को प्राप्त हुई वृत्तियां फिर से उत्पन्न न हों।'

बहुत बार वृत्तियां लय हो जाती हैं, बहुत बार। लेकिन वह लय होना, वापस-वापस लौट आता है। एक दिन लगता है कि मन बिल्कुल शांत हो गया, दूसरे दिन फिर अशांत हो जाता है। एक दिन लगता है बड़ा आनंद है, दूसरे दिन फिर दुख में घिर जाते हैं।

मन के कुछ नियम हैं, वे समझने चाहिए। एक नियम तो मन का यह है कि वह सतत एक जैसा कभी नहीं रहता, परिवर्तन उसका स्वभाव है। तो जो शांति मिले और खो जाए, समझना कि वह आध्यात्मिक शांति नहीं है, मन की ही शांति थी--एक बात। जो आनंद मिले और खो जाए, समझना कि वह आध्यात्मिक आनंद न था, मन का ही आनंद था। जो भी बने और बिखर जाए, वह मन का है। जो आए और चला जाए, वह मन का है। जो आए और फिर कभी न जाए; जो आए तो बस आ जाए, और जाने का कोई उपाय न रहे; आप चेष्टा भी करें और उसे हटा न पाएं।

ख्याल रखें फर्कः मन में शांति आ जाए, तो आप लाख चेष्टा करें कि बनी रहे, बनी नहीं रहेगी, बदलेगी ही; और आत्मिक शांति आ जाए, तो आप लाख चेष्टा करें उसे नष्ट करने का, तो भी आप नष्ट नहीं कर सकते, वह बनी ही रहेगी। मन में प्रयास से भी सातत्य नहीं रह सकता, और आत्मा में प्रयास से भी सातत्य तोड़ा नहीं जा सकता।

तो जो वृत्तियां उठनी बंद हो जाएं, जल्दी मत करना, यह मत सोच लेना कि पहुंच गए। प्रतीक्षा करना कि वे दुबारा तो नहीं उठती हैं। अगर दुबारा उठती हैं तो समझना कि क्रम अभी मन के तल पर ही चल रहा है। और मन की शांति का क्या मूल्य है? वह तो आएगी और चली जाएगी और फिर अशांति आ जाएगी। मन में तो प्रतिपल विपरीत की तरफ गति होती रहती है। जब आप अशांत होते हैं तो मन शांति की तरफ गति करता है, और जब शांत होते हैं तो अशांति की तरफ गति करता है। मन द्वंद्व है। इसलिए विपरीत हमेशा मौजूद रहेगा और गति करता रहेगा।

कैसे अनुभव करेंगे कि जो हो रहा है वह मन का है?

अगर मन शांत हो, तो एक बुनियादी ख्याल रखनाः जब मन शांत हो--जब मन ही शांत हो और भीतर के तल पर शांति न पहुंची हो--तो शांत होते ही एक वासना पैदा हो जाएगी कि यह शांति बनी रहे, मिट न जाए। अगर यह वासना पैदा हो तो समझना कि यह मन का मामला है; क्योंकि मिटने का डर मन में ही होता है। शांति आ जाए और यह डर न आए कि मिट तो नहीं जाएगी, तो समझना कि यह मन की नहीं है।

दूसरी बातः मन हर चीज से ऊब जाता है--हर चीज से! दुख से ही नहीं, सुख से भी ऊब जाता है। यह मन का यह दूसरा नियम है कि मन किसी भी थिर चीज से ऊब जाता है। अगर आप दुख में हैं तो दुख से ऊबा रहता है और कहता है सुख चाहिए। पर आपको पता नहीं है कि यह मन का नियम है कि सुख मिल जाए, तो सुख से ऊब जाता है। और तब भीतरी दुख की मांग करने लगता है।

ऐसा मैं निरंतर, इतने लोगों पर प्रयोग चलते हैं तो देखता हूं, कि उनको अगर सुख भी ठहर जाए थोड़े दिन, तो वे बेचैन होने लगते हैं; अगर शांति भी थोड़े दिन ठहर जाए, तो वे बेचैन होने लगते हैं, क्योंकि उससे भी ऊब पैदा होती है।

मन हर चीज से ऊब जाता है। मन सदा नए की मांग करता रहता है। नए की मांग से ही सब उपद्रव पैदा होता है। मन के बाहर--आत्मिक तल पर--नए की कोई मांग नहीं है; पुराने की कोई ऊब नहीं हैः जो है, उसमें इतनी लीनता है, कि उसके अतिरिक्त किसी की कोई मांग नहीं है।

सूत्र कहता है कि लय को प्राप्त हुई वृत्तियां फिर से उत्पन्न न हों, तो उपरति की अवधि है। तो समझना कि विश्राम मिला। वे फिर-फिर पैदा होती रहें, तो समझना कि सब मन का ही जाल है।

क्यों, इसको सोच रखने की जरूरत क्यों है? क्योंकि मन के साथ हमारा इतना गहरा संबंध है कि हम मन की ही शांति को अपनी शांति समझ लेते हैं। उससे बड़ा कष्ट होता है। क्योंकि वह खो जाती है।

क्या करें हम? साक्षी के सूत्र का प्रयोग करना उपयोगी है। तो मन के बाहर जाने का रास्ता बनता है और परम उपरति उपलब्ध होती है।

करते क्या हैं हम? जब मन अशांत होता है तो हम उससे हटना चाहते हैं, और जब मन शांत होता है तो हम उससे जुड़ना चाहते हैं। शांति को हम बचा रखना चाहते हैं, अशांति को हटाना चाहते हैं। जब मन दुखी होता है, तो हम मन को फेंक देना चाहते हैं कि कैसे छुटकारा हो जाए मन से! और जब मन सुखी होता है, तो हम उसका आलिंगन कर लेते हैं और उसको बचा लेना चाहते हैं। तब तो आप मन से कभी न छूट पाएंगे; क्योंकि यह तो मन की व्यवस्था ही है कि दुख से छूटो, सुख को पकड़ो।

मन से छूटने का उपाय यह है कि जब सुख मन दे रहा हो, तब भी साक्षी बने रहना और उसको पकड़ना मत। जैसे आप यहां ध्यान कर रहे हैं, ध्यान में कभी अचानक शांति का झरना फूट पड़ेगा। तो उस वक्त उसको आलिंगन मत कर लेना, खड़े देखते रहना दूर, कि शांति घट रही है, मैं साक्षी हूं। सुख का झरना टूट पड़ेगा, भीतर रोएं-रोएं में सुख व्याप्त हो जाएगा किसी क्षण, तो उसको भी दूर खड़े होकर ही देखते रहना, उसको पकड़ मत लेना जोर से कि ठीक आ गई मुक्ति; उसको खड़े होकर साक्षी-भाव से देखते रहना, कि मन में सुख घट रहा है, पकड़ूंगा नहीं।

मजे की बात यह है कि जो सुख को नहीं पकड़ता, उसके दुख समाप्त हो जाते हैं; जो शांति को नहीं पकड़ता, उसकी अशांति सदा के लिए मिट जाती है। शांति को पकड़ने में ही अशांति का बीजारोपण है, और सुख को पकड़ने में ही दुख का जन्म है। पकड़ना ही मत। पकड़ का नाम मन है। क्लिगिंग, पकड़ का नाम मन है। कुछ न पकड़ना। खुली मुट्ठी! और आप मन के पार हट जाएंगे और उसमें प्रवेश हो जाएगा, जहां से फिर वृत्तियां दुबारा जन्म नहीं पातीं; परम लय हो जाता है। उस परम लय को कहा है उपरति, विश्राम।

'ऐसा स्थितप्रज्ञ यति सदा आनंद को पाता है।'

स्थितप्रज्ञ बड़ा मीठा शब्द है। अर्थ है उसकाः जिसकी प्रज्ञा अपने में ठहर गई; जिसका बोध अपने में रुक गया; जिसकी चेतना स्वयं को छोड़ कर कहीं भी नहीं जाती। ठहर गई चेतना जिसकी, ऐसा यति, ऐसा साधक, ऐसा संन्यासी, सदा आनंद को पाता रहता है।

मन के तल पर है सुख और दुख, द्वंद्व; शांति-अशांति, द्वंद्व; अच्छा-बुरा, द्वंद्व; जन्म-मृत्यु, द्वंद्व; मन के पीछे हटते ही निर्द्वंद्व है, आनंद है। आनंद के विपरीत कोई शब्द नहीं है; वह द्वंद्व के बाहर है। और जो द्वंद्व के बाहर है, ऐसा यति सदा आनंद को पाता रहता है।

हमारी बड़ी तकलीफ है! हमारी तकलीफ यह है कि आनंद तो हम भी पाना चाहते हैं। और इस तरह की बातें सुन कर हमारा लोभ जगता है कि अगर आनंद सदा मिले, तो फिर हम भी पाना चाहते हैं। कोई रास्ता बता दे, तो सदा आनंद को हम भी पा लें।

लेकिन ध्यान रखना, यह जो परिभाषा है, यह केवल स्थिति-सूचक है। अगर इससे वासना का जन्म होता है तो आप इस स्थिति को कभी न पाएंगे। इसका फर्क ठीक से समझ लें।

एक मित्र मेरे पास आएः जल्दी से मुक्ति हो जाए; ध्यान लग जाए; समाधि आ जाए--जल्दी से!

तो मैंने उनको कहा कि जितनी जल्दी करिएगा, उतनी देर हो जाएगी। क्योंकि जल्दी करने वाला मन शांत हो ही नहीं सकता। जल्दी ही तो अशांति है।

और हम सब अनुभव करते हैं कि कभी-कभी जल्दी में कैसी मुश्किल हो जाती है। ट्रेन पकड़नी है और जल्दी में हैं। तो जो काम दो मिनट में हो सकता था वह पांच मिनट लेता है! कोट के बटन उलटे लग जाते हैं! फिर खोलो, फिर लगाओ। चश्मा हाथ में उठाते हैं, छूट जाता है, टूट जाता है! चाबी बंद कर रहे हैं सूटकेस की, चाबी ताले में ही नहीं जाती! जल्दी! जल्दी में तो निरंतर ही देर हो जाती है। क्योंकि जल्दी का मतलब यह है

कि चित्त बहुत अस्तव्यस्त है, और भूल-चूक हो जाएगी। तो जब छोटी-छोटी चीजों में जल्दी देर करवा देती है, तो इस विराट की यात्रा पर तो जल्दी बहुत देर करवा देगी।

तो उन मित्र से मैंने कहा कि जल्दी मत करो, नहीं तो देर हो जाएगी। यहां तो तैयारी रखो कि अनंत काल में कभी भी हो जाएगा तो हम राजी हैं, कोई जल्दी नहीं, तो शायद जल्दी भी हो जाए।

तो उन्होंने कहा, ऐसा! अगर हम अनंत काल के लिए तैयारी रखें, तो जल्दी हो जाएगी न?

यहां मन दिक्कत देता है। वे तैयार हैं इसके लिए भी! लेकिन जल्दी के लिए ही। यह भी उपयोग कर रहे हैं वे। अब इनको कैसे समझाया जाए? वे कहते हैं, हम प्रतीक्षा करने को भी राजी हैं, मगर आप भरोसा दिलाते हैं कि इससे जल्दी हो जाएगी न? तब यह प्रतीक्षा झूठी हो जाएगी। और जल्दी का क्या मतलब रहा फिर?

प्रतीक्षा अगर आप अनंत करेंगे, तो जल्दी परिणाम है; आप जल्दी की वासना नहीं बना सकते। इस फर्क को समझ लें। अगर आप प्रतीक्षा करने को तैयार हैं तो जल्दी होगी, लेकिन वह प्रतीक्षा करने वाले चित्त का परिणाम है। अगर आप कहते हैं कि इसीलिए हम प्रतीक्षा करेंगे कि जल्दी हो जाए, तो आप प्रतीक्षा कर ही नहीं रहे, और जल्दी कभी नहीं होगी। जल्दी की वासना से प्रतीक्षा कैसे निकल सकती है? यही तकलीफ रोज-रोज की है। हम सबको लगता है कि आनंद तो हमें भी चाहिए। तो हम कैसे आनंद को पा लें! कैसे आनंद को पा लेने का जो विचार और वासना है, वह तो बाधा है आनंद के लिए। आनंद परिणाम है। उसको आप वासना मत बनाएं। वह घटेगा। आप मौन चुपचाप यात्रा करते जाएं, वह घटेगा।

इसलिए बड़ी कठिनाई घटती है, और वह यह, कि इन सूत्रों को पढ़ कर अनेक लोग वासनाग्रस्त हो जाते हैं आनंद की। न मालूम कितने लोग सदियों से इस तरह के सूत्रों को पढ़ कर वासना से भर जाते हैं! और ये सूत्र जो हैं वासनामुक्ति के लिए हैं। और नई वासना पकड़ लेती है कि कैसे मिले आनंद? कैसे हो जाएं स्थितप्रज्ञ? कैसे आ जाए उपरति? कैसे आ जाए वैराग्य? इस वासना से भर जाते हैं। और तब वे दौड़ते रहते हैं जन्मों-जन्मों, और कभी यह घटना नहीं घटती उनके जीवन में। तब उन्हें संदेह होने लगता है। तब उन्हें संदेह होने लगता है कि कहीं ये सब बातें झूठी तो नहीं हैं, क्योंकि कहा तो था कि आनंद आ जाएगा, वह अभी तक नहीं आया!

इस संदर्भ में आपको एक बात बता दूं। रोज हम दुनिया को अधार्मिक होते हुए देखते हैं, रोज। लोग ज्यादा से ज्यादा अधार्मिक होते चले जाते हैं और उनकी निष्ठा धर्म पर कम होती चली जाती है। कारण आपको पता है? कारण इस सूत्र में है। आप में से हर एक ने आनंद की, मोक्ष की, परमात्मा की कई जन्मों में वासना कर ली है--और आनंद नहीं मिला, मोक्ष नहीं मिला, परमात्मा नहीं मिला। उसका जो परिणाम होना था, वह हो गया है। वह परिणाम यह हुआ है कि अब आपको लगता है कि ये कोई मिलने वाली चीजें ही नहीं हैं। आपकी वासना निष्फल चली गई। इन सूत्रों पर से भरोसा उठ गया है।

दस हजार साल से ये सूत्र आदमी को पता हैं। इस दस हजार साल में सभी लोगों ने करीब-करीब, कोई बुद्ध के पास, कोई कृष्ण के पास, कोई क्राइस्ट के पास, कोई मोहम्मद के पास--सभी लोगों ने करीब-करीब इस पृथ्वी पर, यह आनंद की वासना कर ली है, इसके लिए प्रयास कर लिए हैं; कभी ध्यान किया, कभी योग किया, कभी तंत्र साधा, कभी मंत्र साधा; सब कर चुके हैं। जब मैं लोगों को उनके भीतरी तल पर देखता हूं, तो मुझे ऐसा आदमी अब तक नहीं मिला, जो किसी न किसी जन्म में कुछ न कुछ न कर चुका हो। हर आदमी किसी न किसी जन्म में साधना के पथ पर चल चुका है--लेकिन वासनाग्रस्त होकर। उस वासना के कारण ही साधना निष्फल चली गई है, और भीतर गहरी चेतना में वह असफलता बैठ गई है। उसका कारण है कि सारी दुनिया में अधर्म बढ़ता हुआ दिखाई पड़ता है। क्योंकि धर्म अधिक लोगों के लिए असफल हो गया है।

आपको याद भी नहीं है, लेकिन आप धर्म को असफल कर चुके हैं अपने भीतर। और कारण आप हैं। क्योंकि आपने, जिसकी वासना नहीं की जा सकती, उसकी वासना करके भूल कर ली है। ये परिणाम हैं। आप

साधना से गुजरेंगे तो ये परिणाम घटते हैं। इनकी आपको चिंता नहीं करनी है, न इनका विचार करना है, और न इनकी आकांक्षा करनी है, और न जल्दी करनी है कि ये घट जाएं। उस जल्दी से ही सब विपरीत हो जाता है।

दुनिया में अधर्म तब तक बढ़ता ही चला जाएगा, जब तक हम धर्म की भी वासना करते हैं। और आप कोई नए नहीं हैं। इस जमीन पर कोई भी नया नहीं है। सब इतने पुराने और प्राचीन हैं, जिसका हिसाब नहीं। और सब इतने-इतने रास्तों पर, इतने-इतने मार्गों पर चल चुके हैं, जिसका हिसाब नहीं। और उन सबमें असफलता पाकर आप निराश और हताश हो गए हैं। वह हताशा प्राणों में गहरे बैठ गई है। उस हताशा को तोड़ना ही आज सबसे बड़ी कठिनाई की बात हो गई है। और अगर कोई तोड़ना चाहे, तो एक ही उपाय दिखता है कि फिर आपकी वासना को कोई जोर से जगाए, और कहे कि इससे यह हो जाएगा, तभी आप थोड़ा हिम्मत जुटाते हैं। लेकिन वही, वासना का जगाना ही तो सारे उपद्रव की जड़ है।

बुद्ध ने एक अनूठा प्रयोग किया था। और बुद्ध के समय में भी हालत यही थी, जो आज हो गई है। यह हमेशा हो जाती है। और जब भी दुनिया में बुद्ध या महावीर जैसे लोग पैदा होते हैं तो उनके पीछे हजारों साल तक एक छाया का काल व्यतीत होता है। होगा ही। जब बुद्ध या कृष्ण जैसा कोई व्यक्ति पैदा होता है, तो उसको देख कर, उसके अहसास में, उसके संपर्क में, उसकी हवा में हजारों लोग वासना से भर जाते हैं धर्म की। और उनको लगता है कि हो सकता है। भरोसा जगता है देख कर, कि जब बुद्ध को हो सकता है, तो हमें भी हो सकता है। और अगर इन्होंने भूल कर ली और इस होने को वासना बना लिया, तो बुद्ध के बाद ये व्यक्ति हजारों साल तक उस वासना के कारण धीरे-धीरे परेशान होकर अधार्मिक हो जाएंगे।

शर्त समझ लें! आनंद उपलब्ध हो सकता है, लेकिन आप उसको लक्ष्य न बनाएं। वह लक्ष्य नहीं है। परम शांति हो सकती है, लेकिन लक्ष्य न बनाएं। वह लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य तो बनाएं आप ज्ञान को, समझ को; लक्ष्य तो बनाएं आप ध्यान को; लक्ष्य तो बनाएं आप अपने भीतर थिरता को; लक्ष्य बनाएं रुक जाने को, अपने भीतर आ जाने को--परिणाम में आनंद चला आएगा। वह उसके पीछे आ ही जाता है। उलटा न करें; आनंद को लक्ष्य न बनाएं। जिसने आनंद को लक्ष्य बनाया, बस वह मुश्किल में पड़ गया।

परिणाम परिणाम हैं--लक्ष्य नहीं हैं।

ऐसा समझें; सामान्य जीवन से कोई उदाहरण ले लें, तो आसानी हो जाए। आप कोई खेल खेलते हैं। फुटबाल खेलते हैं, हाकी खेलते हैं, टेनिस खेलते हैं--कुछ भी खेलते हैं; कबड्डी खेलते हैं--कोई खेल खेलते हैं; बड़ा आनंद अनुभव होता है। किसी से आप कहें कि कबड्डी खेलता हूं, टेनिस खेलता हूं, बड़ा आनंद आता है! वह आदमी कहे, आनंद तो हमें भी चाहिए, कल हम भी आकर देखेंगे खेल कर कि आनंद आता है कि नहीं। वह आदमी खेलने आए, और सतत इस बात का ख्याल रखे, कि आनंद आ रहा है कि नहीं? तो आनंद आ रहा है कि नहीं, इस ख्याल की वजह से पहली तो बात यह कि खेल में लीन ही नहीं हो पाएगा; खेल हो जाएगा गौण, आनंद हो जाएगा प्रमुख। हर बार जब वह तू-तू करके कबड्डी में प्रवेश करेगा, तो वह तू-तू रह जाएगी गौण, भीतर खोजता रहेगाः अभी तक आनंद आया नहीं! यह आनंद आ नहीं रहा, यह मैं क्या कर रहा हूं तू-तू? इससे क्या होने वाला है? अभी तक आनंद आया नहीं! खेल के बाद वह सिर्फ थकेगा और कहेगा कि कुछ आनंद वगैरह मिलता नहीं, यह क्या है?

आनंद जो खेल में पाने जाएगा--खेल भी खराब हो जाएगा, आनंद तो मिलेगा नहीं। आनंद है बाइ-प्रॉडक्ट। खेल में पूरे लीन हो जाएं, तो आनंद घटता है। आनंद का ही ख्याल बना रहे तो लीन नहीं हो पाते। लीन नहीं हो पाते तो आनंद कैसे घटेगा!

यह पूरा जीवन ऐसा है। यहां सब चीजें बाइ-प्रॉडक्ट हैं। जो भी महत्वपूर्ण है, वह चुपचाप घटता है। जो भी गहरा है, उसका लक्ष्य नहीं बनाना होता। लक्ष्य बनाने से ही उसका द्वार बंद हो जाता है। अनायास घटता है आनंद, आकस्मिक घटता है आनंद। सचेत कोई बैठा रहे, तो वह सचेत बैठने में ही इतना तनाव हो जाता है कि द्वार बंद हो जाते हैं, दीवाल बन जाती है तनाव की, और आनंद नहीं घटता है।

इस सूत्र पर ख्याल रखना, यह सूत्र खतरनाक है। यह सूत्र सभी शास्त्रों में है। और जिन-जिन ने उन शास्त्रों को पढ़ा है, उनकी वासना जग गई है। और वे खोज में लगे हैं कि कैसे हथिया लें मोक्ष को! मोक्ष हथियाए नहीं जाते; लीन होकर मोक्ष मिलता है। कैसे पा लें आनंद को! कैसे आनंद नहीं पाया जाता। कुछ करें, जिसमें इतने डूब जाएं कि अपनी भी खबर न रहे, आनंद की भी खबर न रहे--और अचानक जाग कर पाया जाता है कि आनंद ही आनंद रह गया है; आप जो खोजते थे, जो खोज-खोज कर नहीं मिलता था, वह मिल गया है।

बुद्ध के जीवन में बड़ी साफ बात है। बुद्ध छह साल तक कोशिश करते रहे--अथक--मिल जाए मोक्ष, मिल जाए शांति, मिल जाए सत्य। नहीं मिला। सब गुरुओं के चरणों को टटोल आए। गुरु भी उनसे थक गए। क्योंकि वे आदमी तलाशी थे, पक्के थे; क्षत्रिय की जिद्द थी, कि खोज कर रहूंगा; क्षत्रिय का अहंकार था, कि ऐसी क्या चीज हो सकती है जो हो और न मिले! असंभव नहीं मानता है क्षत्रिय। वही क्षत्रिय का अर्थ है। तो जिन-जिन गुरुओं के पास गए, वे भी उनसे मुसीबत में पड़ गए। क्योंकि गुरु जो भी कहते, बुद्ध तत्काल करके दिखा देते। कितना ही कठिन हो, कितना ही शीर्षासन करना पड़े, कितना धूप-वर्षा में खड़ा रहना हो, कितना उपवास करना हो--जो भी कोई कहता--पूरा करके बता देते और कुछ भी न होता! वे गुरु भी थक गए। उन्होंने कहा, हम भी क्या करें!

गुरु साधारण शिष्य से नहीं थकता; क्योंकि साधारण शिष्य कभी मान कर चलता ही नहीं। इसलिए कभी ऐसी नौबत नहीं आती कि गुरु को यह कहना पड़ेः अब हम क्या करें; जो हम कर सकते थे, कर चुके! बुद्ध जैसा शिष्य मिले तो बहुत मुश्किल खड़ी हो जाती है; क्योंकि बुद्ध, जो भी गुरु कहता, पूरा करते। उसमें गुरु भी भूल नहीं निकाल सकता था। और कुछ होता नहीं! आखिर एक गुरु कहता है कि अब मैं जो कर सकता था, जो बता सकता था, मैंने बता दिया; इसके आगे मुझे भी पता नहीं है; अब तुम कहीं और चले जाओ!

सब गुरु उनसे ऊब गए! और वे जिद्दी पक्के थे। छह वर्ष तक, जिसने जो कहा--सही, गलत; संगत, असंगत--सब उन्होंने पूरा किया, और बड़ी निष्ठा से पूरा किया। एक भी गुरु यह नहीं कह सका कि तुम पूरा नहीं कर रहे, इसलिए नहीं हो रहा है। क्योंकि वे इतना पूरा कर रहे थे कि गुरुओं तक ने उनसे क्षमा मांगीः कि जब तुम्हें हो जाए कुछ और ज्यादा, हमको भी खबर करना। क्योंकि जो भी हम जानते थे, वह पूरा बता दिया है। कुछ भी नहीं हो रहा है!

ऐसा नहीं था कि जो बताया था, उससे उन गुरुओं को नहीं हुआ था; उससे उनको हुआ था। क्रिया बराबर बुद्ध भी वही कर रहे थे, जो गुरु ने की थी और पाया था। तो गुरु भी मुश्किल में था, कि यही क्रिया पूरी कर रहे हो, मुझसे भी ज्यादा पूरी कर रहे हो, इतनी निष्ठा से मैंने भी कभी नहीं किया था, फिर क्यों नहीं हो रहा!

पर कारण था। उस गुरु को हुआ होगा, क्योंकि उसने क्रिया की थी बिना किसी लक्ष्य के ख्याल के। बुद्ध को लक्ष्य प्रगाढ़ था। कर रहे थे वे, लेकिन नजर लक्ष्य पर थी कि कब सत्य, कब आनंद, कब मोक्ष मिले! तो क्रिया पूरी कर देते थे, लेकिन वह जो लक्ष्य था, वह बाधा बन रहा था।

आखिर बुद्ध भी थक गए। छह वर्ष के बाद एक दिन उन्होंने सब छोड़ दिया। संसार तो पहले ही छोड़ चुके थे, फिर संन्यास भी छोड़ दिया। भोग तो पहले ही छोड़ चुके थे, ये छह साल योग में बर्बाद किए थे, फिर योग भी छोड़ दिया। और एक रात उन्होंने तय कर लिया कि अब कुछ भी नहीं करना; अब खोजना ही नहीं। समझ

लिया कि कुछ है नहीं मिलने वाला। तनाव पर पहुंच गए थे आखिरी खोज के। श्रम, प्रयास चरम हो गया था; छोड़ दिया। उस रात वृक्ष के नीचे सो गए।

वह पहली रात थी अनेक-अनेक जन्मों में, जब बुद्ध ऐसे सोए कि सुबह करने को कुछ भी बाकी नहीं था। कुछ था ही नहीं बाकी करने को! राज्य छोड़ चुके थे, घर छोड़ चुके थे, संसार की सारी आयोजना छोड़ चुके थे, दूसरी योजना पकड़ी थी, वह भी व्यर्थ हो गई थी, अब कोई हाथ में था ही नहीं काम सुबह। कल उठें तो ठीक, न उठें तो ठीक; जन्म रहे तो बराबर, मृत्यु हो जाए तो बराबर--अब कोई अंतर न था; कल सुबह करने को कुछ बचा ही नहीं था; कल का कोई मतलब ही नहीं था।

और जब कोई रात ऐसे सो जाता है कि जिस रात में सुबह की कोई योजना न हो, तो समाधि घटित हो जाती है। सुषुप्ति समाधि बन जाती है; क्योंकि सुबह की कोई वासना ही न थी, कोई लक्ष्य शेष न रहा था, कुछ पाने को नहीं था, कहीं जाने को नहीं था; सुबह होगी तो क्या करेंगे--यह सवाल था। अब तक करना था, करना था, करना था। अब करना बिल्कुल नहीं था। बुद्ध रात ऐसे सोए कि सुबह उठेंगे तो क्या करेंगे? सूरज ऊगेगा, पक्षी गीत गाएंगे, मैं क्या करूंगा? शून्य था उत्तर।

लक्ष्य जब नहीं होते, भविष्य नष्ट हो जाता है। लक्ष्य जब नहीं होते, समय व्यर्थ हो जाता है। लक्ष्य जब नहीं होते, योजनाएं टूट जाती हैं, मन की यात्रा बंद हो जाती है। क्योंकि मन की यात्रा के लिए योजना चाहिए; मन की यात्रा के लिए लक्ष्य चाहिए; मन की यात्रा के लिए कुछ पाने का बिंदु चाहिए; मन की यात्रा के लिए भविष्य चाहिए, समय चाहिए। सब नष्ट हो गया।

बुद्ध उस रात सो गए, जैसे कोई आदमी जिंदा जी मर गया हो। जीते थे, मौत घट गई। सुबह पांच बजे आंख खुली। तो बुद्ध ने कहा है, मैंने आंख नहीं खोली। क्या करेंगे आंख खोल कर भी? न कुछ देखने को बचा, न कुछ सुनने को बचा, न कुछ पाने को बचा; क्या करेंगे आंख खोल कर भी? इसलिए बुद्ध ने कहा, मैंने आंख नहीं खोली, आंख खुली। थक गई बंद रहते-रहते, रात भर बंद थी, विश्राम पूरा हो गया, पलक खुल गई। शून्य था भीतर। जब भविष्य नहीं होता, भीतर शून्य हो जाता है। उस शून्य में बुद्ध ने रात का आखिरी तारा डूबता हुआ देखा। और उस आखिरी तारे को डूबते देख कर बुद्ध परम ज्ञान को उपलब्ध हो गए। उस डूबते तारे के साथ बुद्ध का सब अतीत डूब गया। उस डूबते तारे के साथ सारी यात्रा डूब गई, सारी खोज डूब गई।

बुद्ध ने कहा है कि मैंने पहली दफा निष्प्रयोजन आकाश में डूबते तारे को देखा--निष्प्रयोजन। कोई प्रयोजन नहीं था। न देखते तो चलता, देखते तो चलता। इस तरफ, उस तरफ चुनने की भी कोई बात न थी। आंख खुली थी, इसलिए तारा दिख गया। डूब रहा था, डूबता रहा। उधर तारा डूबता रहा, उधर आकाश तारों से खाली हो गया, इधर भीतर मैं बिल्कुल खाली था, दो खाली आकाशों का मिलन हो गया। और बुद्ध ने कहा है जो खोज-खोज कर न पाया, वह उस रात बिना खोजे मिल गया। दौड़ कर जो न मिला, उस रात बैठे-बैठे मिल गया; पड़े-पड़े मिल गया। श्रम से जो न मिला, उस रात विश्राम से मिल गया।

पर क्यों मिल गया वह? आनंद, जब आप भीतर शून्य होते हैं, उसका सहज परिणाम है। आनंद के लिए जब आप दौड़ते हैं, शून्य ही नहीं हो पाते, वह आनंद ही दिक्कत देता रहता है, शून्य ही नहीं हो पाते, इसलिए सहज परिणाम घटित नहीं होता है।

'जिसका मन ब्रह्म में लीन हुआ हो, वह निर्विकार और निष्क्रिय रहता है। ब्रह्म और आत्मा शोधा हुआ, और दोनों के एकत्व में लीन हुई वृत्ति विकल्परहित और मात्र चैतन्य रूप बनती है, तब प्रज्ञा कहलाती है। यह प्रज्ञा जिसमें सर्वदा होती है, वह जीवन्मुक्त है।'

ऐसा जब भीतर का आकाश बाहर के आकाश में एक हो जाता है, जब भीतर का शून्य बाहर के शून्य से मिल जाता है, तब सब निर्विकार और निष्क्रिय हो जाता है। विकार उठ ही नहीं सकते बिना विचार के; विचार ही विकार है। और विचार उठता ही इसलिए है कि कुछ करना है, ध्यान रखना!

लोग मेरे पास आते हैं, वे कहते हैं कि विचार से छुटकारा नहीं होता।

विचार से होगा नहीं छुटकारा। आपको कुछ करना है। कुछ करना है तो विचार से छुटकारा कैसे होगा? वह कुछ करना है, उसकी योजना विचार है। अगर आपको विचार से छुटकारा भी करना है, तो भी छुटकारा नहीं होगा; क्योंकि वह उसकी योजना में विचार लगा रहेगा।

लोग मुझसे कहते हैं कि हम बैठते हैं, बड़ी कोशिश करते हैं कि निर्विचार हो जाएं।

निर्विचार होने की योजना विचार के लिए मौका है। तो मन यही सोचता रहता है, कैसे निर्विचार हो जाएं? अभी तक निर्विचार नहीं हुए! कब होंगे? होंगे कि नहीं होंगे?

ध्यान रखिए, वासना है कोई भी--स्वर्ग की, मोक्ष की, प्रभु की--तो विचार जारी रहेगा। विचार का कोई कसूर नहीं है। विचार का तो इतना ही मतलब होता है कि आप जो वासना करते हैं, मन उसका चिंतन करता है कि कैसे पूरा करे। जब तक कुछ भी पाने को बाकी है, विचार जारी रहेगा। जिस दिन आप राजी हैं इस बात के लिए कि मुझे कुछ पाना ही नहीं--निर्विचार भी नहीं पाना--आप अचानक पाएंगे कि विचार विदा होने लगे; उनकी कोई जरूरत न रही। जब भीतर सब शून्य हो जाता है, कोई योजना नहीं रहती, कुछ पाने को नहीं बचता, कहीं जाने को नहीं रहता, सब यात्रा व्यर्थ मालूम पड़ने लगती है। और चेतना बैठ जाती है रास्ते के किनारे, मंजिल-वंजिल की बात छोड़ देती है--मंजिल मिल जाती है।

'ब्रह्म में लीन हुआ निर्विकार और निष्क्रिय रहता है।'

फिर ऐसा व्यक्ति निर्विकार और निष्क्रिय रहता है। उसके भीतर कुछ भी नहीं उठता। दर्पण खाली रहता है। उस पर कुछ भी बनता नहीं। और निष्क्रिय रहता है। करने की कोई वृत्ति नहीं रहती।

इसका यह मतलब नहीं है कि वह कोई मुर्दे की तरह पड़ा रहता है। क्रियाएं घटित होती हैं; लेकिन क्रियाओं की कोई योजना नहीं होती।

इस फर्क को ठीक से समझ लें।

यहां मैं आया। उपनिषद के इस सूत्र पर मुझे बोलना है। अगर इसकी मैं योजना करके आऊं, सोच कर आऊं कि क्या बोलना है और क्या नहीं बोलना है, तो चित्त में विचार चलेगा और विकार होगा; और चित्त में क्रिया चलेगी। आ जाऊं; सूत्र को देख लूं, और बोलने लगूं; और जो भी निकल जाए, उससे राजी रहूं; तो यह क्रिया क्रिया नहीं है।

फिर बोल कर चला जाऊं; फिर रास्ते में यह ख्याल आए कि जो बोला वह ठीक नहीं था; अच्छा होता कि यह बोल देता, या वह बोल देता; अच्छा होता कि यह छोड़ देता; तो विकार है। बोल कर चला जाऊं; और जैसे ही बोलना बंद हो जाए, भीतर उस बोलने के संबंध में कुछ और न रह जाए, कोई धारा न चले, तो निर्विकार है।

सुना है मैंने अब्राहम लिंकन के बाबत। लौटता था एक रात अपनी पत्नी के साथ, एक व्याख्यान देकर। घर लौटा तो बच्चों ने लिंकन को पूछा कि व्याख्यान कैसा रहा? तो लिंकन ने कहा, कौन सा व्याख्यान? जो देने के पहले मैंने तैयार किया, वह? या जो मैंने दिया, वह? या देने के बाद जो मैंने सोचा कि देना चाहिए था, वह? कौन सा व्याख्यान? तीन दे चुका हूं। एक तो जाने के पहले जो दे रहा था अपने मन ही मन में। और फिर एक वस्तुतः जो दिया। और फिर एक जो पीछे पछताता रहा और सोचता रहा कि यह कहना था, और यह कहना था, और यह छोड़ दिया।

तो यह व्याख्यान क्रिया हो गई। व्याख्यान में क्रिया नहीं है, उसकी आयोजना में।

तो अगर चित्त तय करता है पहले से, चित्त लौट कर विचार करता है, तो विकार है। क्रिया अगर घटित होती है--न तो पूर्व आयोजित होती है, और न पश्चात चिंतन होता है--तो निष्क्रिय से निकलती है क्रिया। क्रिया तो जारी रहेगी। बुद्ध बुद्ध हो गए, फिर भी जारी रहेगी। लेकिन फर्क पड़ गया। कृष्ण कृष्ण हो गए, फिर भी जारी रहेगी। लेकिन फर्क पड़ गया।

गीता इसी अर्थ में कीमती है कि गीता में जो भी कृष्ण ने कहा है, वह एकदम सहज है। युद्ध के मैदान पर कोई व्याख्यान की तैयारी करके जाता भी नहीं। सोचा भी नहीं होगा, कृष्ण को कभी ख्याल भी न होगा कि इस मुसीबत में पड़ेंगे युद्ध के मैदान पर। कल्पना में भी नहीं हो सकता। कोई योजना नहीं हो सकती। अचानक, अनायास एक घटना, आकस्मिक, और कृष्ण के झरने का फूट पड़ना।

यह बोलना नहीं है, यह अबोल से निकला हुआ बोलना है। यह क्रिया नहीं है, यह निष्क्रिय से जन्मी हुई क्रिया है। इसीलिए गीता इतनी कीमती हो गई। इतनी आकस्मिक थी, इसलिए इतनी कीमती हो गई। दुनिया में बहुत शास्त्र हैं, लेकिन गीता जैसी आकस्मिक परिस्थिति किसी शास्त्र की नहीं है। युद्ध का मैदान है, शंख बज चुके हैं, योद्धा तैयार हैं मरने-मारने को, वहां ब्रह्मचर्चा! कोई, कहीं कोई संगति नहीं बैठती। गीता किसी आश्रम में, किसी गुरुकुल में दी गई होती, समझ में आती थी। चूंकि इतनी सहज है, इसीलिए इतनी गहरी भारतीय मन में उतर गई। निष्क्रिय से निकली है। बिना आयोजना के निकली है। इसीलिए हमने उसे भगवत गीता कहा है; उसे हमने कहा, प्रभु का गीत। उसमें कोई योजना आदमी की नहीं है। उसमें कृष्ण आदमी जैसे व्यवहार ही नहीं कर रहे हैं। गहरी भगवत्ता से निकला हुआ संदेश है।

तो जब सारी क्रियाएं भीतर की निष्क्रियता से जन्मती हों, और विचार भी निर्विचार से आता हो, और शब्द भी मौन में जन्म लेता हो, ऐसा व्यक्ति जीवन्मुक्त कहलाता है।

एक तो--भारत में दो तरह की मुक्ति की धारणा है--एक तो मुक्त है जीवन्मुक्त, जो जीते जी मुक्त है। और एक है मुक्त, जो मृत्यु के साथ मुक्त होता है। ये दोनों घटनाएं घटती हैं।

एक व्यक्ति जीवन भर खोज करता है, खोज करता है, खोज करता है। जैसे मैंने बुद्ध का कहा; खोज करते हैं, करते हैं, करते हैं--और थक जाते हैं एक दिन खोज से और घटना घट जाती है। ऐसा कभी-कभी ऐसा होता है कि आदमी जीवन भर खोज करता है--छह साल नहीं, जीवन भर--और थकता नहीं और खोजता जाता है, खोजता जाता है। और जब मौत आती है, तभी उसे अनुभव होता है कि सब खोज व्यर्थ गई, कुछ पाया नहीं। और मौत के क्षण में सारी खोज शिथिल हो जाती है।

मरने के पहले अगर सारी खोज शिथिल हो जाए, और सारी योजना बंद हो जाए, और भविष्य न रहे, तो जो बुद्ध को घटना घटी बोधि-वृक्ष के नीचे, वह मृत्यु के वृक्ष के नीचे घट जाती है। तब मृत्यु और मुक्ति एक साथ घटित हो जाती है। क्योंकि मृत्यु बहुत रिलैक्स कर सकती है, अगर खोज व्यर्थ हो गई हो। अगर आपको यह अनुभव आ गया हो पक्का कि सब खोजना बेकार है, कहीं कुछ मिला नहीं--न संसार में कुछ पाया, न साधना में कुछ पाया--कुछ भी नहीं पाया; अगर यह बिल्कुल साफ हो जाए, और मन में कोई मन न रह जाए आगे के लिए, कि अब आगे भी जीवन चाहिए कुछ पाने को; यह भी भाव न रह जाए कि अभी न मरूं, दो दिन बच जाऊं तो कुछ कर लूं--मौत आती है, राजी हो जाएं।

अगर सब व्यर्थ हो गया, तो आदमी मौत के लिए राजी हो जाता है। जैसे बुद्ध उस सांझ सो गए, सुबह क्या करेंगे, यह भी सवाल न रहा। ऐसे ही अगर कोई मरते क्षण में मर जाए, बिना यह सोचे कि अब मर गए, कुछ काम अधूरे रह गए, कुछ करने को पूरा था, वह पूरा नहीं हुआ, दो दिन बच जाते तो कुछ पूरा कर लेते--

ऐसा कोई भाव न हो, मृत्यु सहज उतर आए, जैसे सांझ उतर आती है और आदमी सो जाता है--तो मृत्यु भी मुक्ति बन जाती है। ऐसे व्यक्ति को मुक्त कहा है।

लेकिन यह घटना कभी जीवन के बीच में भी घटती है, और आदमी मुक्ति के बाद भी बच जाता है। बचना अलग कारणों पर निर्भर है।

जब आप पैदा होते हैं तो शरीर एक सीमित जीवन लेकर पैदा होता है। सत्तर साल चलेगा, अस्सी साल चलेगा, लेकिन अगर चालीस साल की उम्र में वह घटना घट जाए, तो वे जो चालीस साल बच गए हैं, वह शरीर तो पूरा करेगा। आप तो मर गए चालीस साल में, लेकिन शरीर तो अस्सी साल में मरेगा। आप तो खतम हो गए चालीस साल में, लेकिन शरीर चालीस साल और चलेगा। वह उसकी अपनी योजना है, उसके अपने अणुओं की अपनी व्यवस्था है। वह जन्म के साथ अस्सी साल चलने की क्षमता लेकर पैदा हुआ, वह अस्सी साल चलेगा।

तो बुद्ध मर गए, महावीर मर गए चालीस साल में, और चालीस साल शरीर और चला। भीतर तो चलना बंद हो गया, लेकिन शरीर चलता रहा। ऐसे ही, जैसे कि आपके हाथ पर घड़ी बंधी है, आपने उसमें चाबी भर दी है, वह सात दिन चलने वाली है। और आप जंगल में भटक गए और गिर गए और मर गए--आप मर गए और घड़ी चलती रही। घड़ी में सात दिन की चाबी थी, आपके मरने से कोई फर्क नहीं पड़ता। घड़ी चलती रही और टिक-टिक करती रही।

आपका शरीर तो एक यंत्र है। आप अगर परम ज्ञान को उपलब्ध हो जाएं तो आज ही मर गए, लेकिन शरीर टिक-टिक करता रहेगा। चालीस साल तक वह जो शरीर टिक-टिक करता रहेगा और भीतर की चेतना ऐसे हो गई जैसे नहीं है, ऐसी अवस्था को जीवन्मुक्त कहा है।

'ब्रह्म और आत्मा शोधा हुआ, और दोनों के एकत्व में लीन हुई वृत्ति विकल्परहित और मात्र चैतन्य रूप बनती है, तब प्रज्ञा कहलाती है।'

जब बुद्धि किसी और के संबंध में नहीं सोचती, सोचती ही नहीं, असोच हो जाती है; जब विचार गिर जाते हैं और केवल विचारणा की शक्ति भीतर रह जाती है; जब बुद्धि किसी विषय के साथ नहीं जुड़ती, शुद्ध! जैसे कि कोई दीया जल रहा हो, और दीए से कोई चीज प्रकाशित न होती हो, बस अकेला शून्य में दीया जल रहा हो--ऐसी जब चेतना हो जाती, तो उसके लिए भारतीय शब्द है प्रज्ञा। तब आप वास्तविक ज्ञान की ज्योति को उपलब्ध हुए। और जिसमें ऐसी प्रज्ञा सदा जलती रहती है, वह जीवन्मुक्त है।

'देह तथा इंद्रियों पर जिसको अहं-भाव न हो, और इनके सिवाय अन्य पदार्थों पर यह मेरा है, ऐसा भाव न हो, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।'

ये भाव तो गिर ही जाएंगे। मेरा, मैं, ये तो कब के गिर गए। अहंकार के गिरने के साथ ही तो ज्ञान हुआ। अब उसे कुछ मेरा, कुछ मैं से जुड़ा हुआ नहीं मालूम होता। ऐसा चैतन्य यह भी नहीं कहता है कि मैं आत्मा हूं। मैं की कहीं भी कोई वृत्ति नहीं जोड़ता; होना ही शेष रह जाता है। हम कहते हैं मैं हूं, ऐसा व्यक्ति कहता है हूं। मैं गिर जाता है। बस होना, शुद्ध होना, प्योर एमनेस, हूं--यही स्थिति रह जाती है।

इस हूं-पन को, इस एमनेस को, जीवन्मुक्त अवस्था कहा है। मैं तो मिट जाए और होना रह जाए, तो आप जीते जी मोक्ष को उपलब्ध हो गए।

प्रयास इस दिशा में वासनारहित हो, तो अभी यह घटना घट सकती है; वासनापूर्ण हो, तो देर लगती है।

तेरहवां प्रवचन

जीवन्मुक्त है संत

न प्रत्यग्ब्रह्मणोभेदं कथाऽपि ब्रह्मसर्गयोः।
प्रज्ञया यो विजानाति स जीवन्मुक्त इष्यते।। 46।।
साधुभिः पूज्यमानेऽस्मिन पीड्यमानेऽपि दुर्जनैः।
समभावो भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते।। 47।।
विज्ञातब्रह्मतत्वस्य यथापूर्व न संसृतिः।
अस्ति चेन्न स विज्ञातब्रह्मभावो बहिर्मुखः।। 48।।
सुखाद्यनुभवो यावत तावत प्रारब्धमिष्यते।
फलोदयः क्रियापूर्वो निष्क्रियो न हि कुत्रचित्।। 49।।
अहं ब्रह्मेति विज्ञानात कल्पकोटिशतर्जितम्।
संचितं विलयं याति प्रबोधान स्वप्नकर्मयत्।। 50।।

जीवात्मा तथा ब्रह्म का भेद और ब्रह्म तथा सृष्टि का भेद बुद्धि द्वारा जो कभी नहीं जानता, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

सज्जन सत्कार करें और दुर्जन दुख दें, तो भी जिसको सदैव सबके ऊपर सम-भाव रहे, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है।

जिसने ब्रह्म तत्व को जान लिया है, उसकी दृष्टि में संसार पहले जैसा नहीं रहता, इसलिए अगर वह संसार को पूर्ववत ही देखता है तो मानना पड़ेगा कि उसने अभी तक ब्रह्म-भाव को जाना ही नहीं है और वह बहिर्मुख है।

जहां तक सुख वगैरह का अनुभव होता है, वहां तक यह प्रारब्ध कर्म है, ऐसा माना गया है, क्योंकि प्रत्येक फल का उदय क्रियापूर्वक ही होता है, क्रिया बिना किसी स्थान पर कोई फल होता ही नहीं।

जिस प्रकार जग जाने से स्वप्न की क्रिया नाश को प्राप्त होती है, वैसे ही मैं ब्रह्म हूं ऐसा ज्ञान होने से करोड़ों और अरबों जन्म से इकट्ठा किया संचित कर्म नाश पाता है।

जीवन्मुक्त की आंतरिक दशा के लिए कुछ और निर्देश।

जीवन्मुक्त है वह व्यक्ति, जिसने जीते जी मृत्यु को जान लिया है। मृत्यु तो सभी जानते हैं, मरते समय ही जानते हैं। उसे भी जानना नहीं कह सकते, क्योंकि ठीक मरने के क्षण में ही चित्त बेहोश हो जाता है, मूर्च्छित हो जाता है।

तो मृत्यु हम अपनी कभी नहीं जानते हैं, हम सदा दूसरे की मृत्यु जानते हैं। आपने दूसरे को मरते देखा है, अपने को कभी भी नहीं। मृत्यु का ज्ञान तक हमारा उधार है। और जब दूसरा मरता है तो हम क्या जानते हैं? हम जानते हैं कि वाणी खो गई, कि आंखें बंद हो गईं, कि नाड़ी खो गई, कि हृदय बंद हो गया--शरीर का तंत्र अब काम नहीं करता, इतना ही हम जानते हैं। भीतर जो तंत्र के छिपा था, उस पर क्या बीती, क्या हुआ--वह बचा, नहीं बचा; वह था भी वहां, या कभी नहीं था--इस संबंध में हम कुछ भी नहीं जानते।

मृत्यु घटती है भीतर, हम केवल बाहर उसके परिलक्षण देख पाते हैं। दूसरे को मरते देख कर कैसे मृत्यु का पता चलेगा? मरे हम भी बहुत बार हैं, लेकिन अपने को मरते हम कभी नहीं देख पाए। मरने के पहले बेहोश हो

गए हैं, मूर्च्छित हो गए हैं। इसीलिए, कितने ही लोगों को आप मरते देखें, आपको भीतर भरोसा नहीं आता कि आप भी मरेंगे। कभी आपको यह भरोसा आया है कि मैं भी मरूंगा? कितने ही रोज लोग मरें, मरघट भर जाए, महामारी फैल जाए, प्रतिपल जहां दिखे लाश दिखे, फिर भी सदा ऐसा लगता है दूसरे ही मरते रहेंगे; ऐसा कभी भी भीतर भाव नहीं आता कि मैं मरूंगा। आता भी हो तो ऊपर-ऊपर ही होता है, गहरे में प्रवेश नहीं कर पाता।

क्यों? क्योंकि अपनी मृत्यु तो कभी देखी नहीं; उसका कोई अनुभव नहीं है; उसकी कोई याद नहीं है। कितना ही सोचो पीछे लौट कर, पता ही नहीं चलता कि कभी मरे हों! तो जो कभी नहीं हुआ, वह आगे भी कैसे होगा?

मन का तो सारा का सारा हिसाब अतीत पर निर्भर है। मन तो भविष्य को भी सोचता है तो अतीत के ही शब्दों में सोचता है। जो कल हुआ है वही आने वाले कल में हो सकता है; थोड़ा-बहुत हेर-फेर होगा। लेकिन जो कभी नहीं हुआ है वह कल भी कैसे होगा! इसीलिए मन कभी मृत्यु को मान नहीं पाता। और जब अपनी मृत्यु घटती है, तब मन बेहोश हो गया होता है।

इसलिए जीवन के दो बड़े अनुभव, जन्म का और मृत्यु का अनुभव हमें होता ही नहीं। जन्मते भी हम हैं, मरते भी हम हैं। और अगर इन दो बड़ी घटनाओं का अनुभव नहीं होता, तो इनके बीच में जो जीवन की धारा है, उसका भी हमें क्या अनुभव होगा, कैसे होगा? जो जीवन के शुरुआत को नहीं जान पाता, अंत को नहीं जान पाता, वह मध्य को भी कैसे जान पाएगा? जन्म और मृत्यु के बीच में जो धारा है, वही है जीवन। न शुरू का हमें पता है, न अंत का हमें पता है, तो बीच भी अपरिचित ही रह जाएगा। धुंधली-धुंधली खबर होगी--जैसे दूर सुनी गई कोई बात हो, कोई देखा गया स्वप्न हो। लेकिन जीवन से भी हमारा सीधा संस्पर्श नहीं हो पाता।

जीवन्मुक्त का अर्थ है कि जिसने जीवन में ही, जागते, होशपूर्वक मृत्यु को जान लिया। यह शब्द बड़ा अदभुत है। जीवन्मुक्त का अर्थ है... बहुत तरह का। एक अर्थ हम कर सकते हैं कि जो जीवन में मुक्त हो गया, दूसरा अर्थ हम कर सकते हैं कि जो जीवन से मुक्त हो गया। दूसरा अर्थ ज्यादा गहरा है। असल में पहला अर्थ दूसरे अर्थ के बाद ही उपयोगी है। जो जीवन से मुक्त हो गया, वही जीवन में मुक्त हो सकता है।

जीवन से कौन मुक्त होगा? जीवन से वही मुक्त हो सकता है, जिसने जान लिया हो कि समस्त जीवन मृत्यु है; जिसे दिखाई पड़ा हो कि जिसे हम जीवन कहते हैं, वह मृत्यु की एक लंबी यात्रा है। जन्म के बाद मरने के सिवाय हम कुछ और करते नहीं। कुछ भी करते रहें, मरने की क्रिया जारी रहती है--हर पल। सुबह से सांझ हो गई, आप मर गए बारह घंटे और। सांझ से फिर सुबह होगी, आप मर गए बारह घंटे और। जीवन चुकता जाता है, बूंद-बूंद समय रिक्त होता जाता है।

तो जिसे हम जीवन कहते हैं, वह वस्तुतः मरने की एक लंबी प्रक्रिया है। जन्म के बाद और कोई कुछ भी करे, सब एक काम जरूर करते हैं, वह है मरने का--मरते रहने का। जन्मे नहीं कि मरना शुरू हो गया। बच्चे ने पहली सांस ली, अंतिम सांस की व्यवस्था हो गई। अब मौत से बचने का कोई उपाय नहीं। जो जन्म गया, वह मरेगा। देर-अबेर, समय का अंतर हो सकता है, लेकिन मौत सुनिश्चित हो गई।

जीवन को जो मृत्यु की लंबी प्रक्रिया की भांति देख लेता है--समझ लेता है, नहीं कह रहा हूं--देख लेता है! क्योंकि समझ तो आप भी सकते हैं कि ठीक है, इससे जीवन्मुक्त नहीं हो जाएंगे। जो देख लेता है, इसका साक्षी हो जाता है, यह उसको दर्शन हो जाता है, कि मैं मर रहा हूं--प्रतिपल।

एक तो हमें पता ही नहीं चलता कि हम मरेंगे; मैं मरूंगा, यह पता नहीं चलता। दूसरे मरते हैं सदा। दूसरी बात, हमें सदा, अगर हम कभी सोचते हैं, अनुमान भी करते हैं दूसरों के मरने से अपनी मृत्यु का, तो मृत्यु

कभी भविष्य में घटित होगी, उसे अभी टाला जा सकता है। वह अभी घटित नहीं हो रही है, आज नहीं घटित हो रही है। बिस्तर पर मरणासन्न पड़ा हुआ आदमी भी यह नहीं सोचता कि मृत्यु आज घटित हो रही है, इस क्षण में आ रही है--कल! टालता है, स्थगित करता है। टाल कर हम बच जाते हैं। जीवन होता है अभी और मौत होती है कभी दूर।

जिसे दिखाई पड़ जाता है कि पूरा जीवन मृत्यु है, उसे यह भी दिखाई पड़ जाता है कि मृत्यु कल नहीं है, अभी है, इसी क्षण है--इसी क्षण मैं मर ही रहा हूं। यह जो मरने की घटना मेरी घट रही है इसी क्षण, इसकी प्रतीति कैसे हो? इसे कैसे हम देख पाएं? देख पाएं, तो आदमी फिर जीवन की वासना नहीं करता। बुद्ध ने कहा है, जो जीवेषणा नहीं करता, वह जीवन्मुक्त है। जो मांग नहीं करता कि मुझे जीवन और मिले; जो और जीना नहीं चाहता; जिसकी जीने की अब कोई इच्छा नहीं रह गई है, कोई वासना नहीं रह गई है; मृत्यु आए तो सहजता से स्वीकार कर लेगा; एक क्षण भी मौत से न कहेगाः रुको, ठहरो, मैं थोड़ा निपट लूं। तैयार ही रहेगा। प्रतिपल तैयार रहेगा।

जीवेषणा जिसकी समाप्त हो गई हो, वह जीवन से मुक्त हो सकता है। जो जीवन से मुक्त हो जाता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। फिर वह जीवन में ही मुक्त हो जाता है। फिर यहीं और अभी वह हमारे साथ होता है, लेकिन हमारे जैसा नहीं होता। वह भी उठता है, बैठता है, खाता है, पीता है, चलता है, सोता है। लेकिन उसका सोना, उठना, बैठना, सब का गुण, सब की क्वालिटी रूपांतरित हो जाती है। हमारे जैसे काम करते हुए भी वह हमारे जैसे काम नहीं करता है। यह संसार जैसा हमें दिखाई पड़ता है, ऐसा ही रहता है, लेकिन उसे किसी और भांति दिखाई पड़ने लगता है। उसकी दृष्टि बदल जाती है, देखने वाला केंद्र बदल जाता है; सारा जगत रूपांतरित हो जाता है।

इस जीवन्मुक्त की परिभाषा और निर्देश इस सूत्र में हैं। इन्हें एक-एक कर गौर से समझ लेना है।

'जीवात्मा तथा ब्रह्म का भेद... ।'

कुछ मित्रों को ज्यादा खांसी आती हो, एकदम यहां से चले जाएं। या अपनी खांसी रोक कर बैठ जाएं। ये दोनों काम नहीं चलेंगे।

'जीवात्मा तथा ब्रह्म का भेद और ब्रह्म तथा सृष्टि का भेद बुद्धि द्वारा जो कभी नहीं जानता, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।'

पहली लक्षणा। स्वयं के और परम के बीच--वह जो भीतर छिपा जीव है वह, और वह जो विराट में छिपा हुआ ब्रह्म है वह--दोनों के बीच जिसे कोई भी भेद बुद्धि के द्वारा दिखाई नहीं पड़ता, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। दो बातें हैंः कोई भेद दिखाई नहीं पड़ता, बुद्धि के द्वारा।

सभी भेद बुद्धि के द्वारा दिखाई पड़ते हैं। बुद्धि ही भेद को देखने की व्यवस्था है। जैसे पानी में हम लकड़ी को डाल दें तो लकड़ी तिरछी दिखाई पड़ने लगती है। लकड़ी को बाहर खींच लें, लकड़ी फिर सीधी दिखाई पड़ने लगती है। फिर पानी में डालें, फिर तिरछी दिखाई पड़ने लगती है। लकड़ी तिरछी होती नहीं पानी में, सिर्फ दिखाई पड़ती है, क्योंकि पानी और पानी के बाहर किरणों की यात्रा का पथ बदल जाता है। पानी के माध्यम में किरणें तिरछी यात्रा करती हैं, इसलिए लकड़ी तिरछी दिखाई पड़ने लगती है।

पानी के माध्यम में कोई भी चीज सीधी डालें, वह तिरछी दिखाई पड़ेगी। वह तिरछी होती नहीं है, सिर्फ दिखाई पड़ती है। और मजा यह है कि आपको बिल्कुल पक्का पता है कि तिरछी होती नहीं, तो भी तिरछी दिखाई पड़ती है। हजार दफे निकाल कर बाहर देख लें, फिर पानी में डाल दें, तो ऐसा नहीं है कि आप हजार बार देख चुके, परख चुके, पानी के अंदर हाथ डाल कर भी लकड़ी को देख लें तो वह सीधी मालूम पड़ती है--

हाथ को, लेकिन आंख को तिरछी ही दिखाई पड़ती है; क्योंकि पानी का माध्यम और हवा का माध्यम किरणों के लिए यात्रा-पथ बदल देता है।

इसे ऐसा समझें, आपने प्रिज्म देखा हो कांच का--खास तरह का बना हुआ टुकड़ा होता है त्रिकोण। उसमें से सूरज की किरणें निकलें, तो सात हिस्सों में टूट जाती है सूरज की किरण। इंद्रधनुष देखते हैं आप? वह प्रिज्म का ही खेल है। जब आप इंद्रधनुष देखते हैं तो होता क्या है? सूरज की किरणें तो हमेशा आकाश से आ रही हैं जमीन पर। लेकिन जब कभी पानी की बूंदें हवा में होती हैं, छोटी बूंदें, तो पानी की छोटी बूंदें प्रिज्म का काम करती हैं, कांच के टुकड़े का काम करने लगती हैं। उनमें किरण प्रवेश करती है, तत्काल सात हिस्सों में टूट जाती है। वे सात रंग आपको इंद्रधनुष जैसे दिखाई पड़ते हैं। इंद्रधनुष पानी की बूंदों से गुजरी हुई सूरज की किरण ही है। इसलिए सूरज न हो तो भी इंद्रधनुष दिखाई नहीं पड़ेगा। आकाश में बादल न हों और हवा में पानी के कण न लटके हों, तो भी इंद्रधनुष दिखाई नहीं पड़ेगा।

प्रिज्म, कांच का टुकड़ा, या पानी की बूंद, सूरज की किरण को सात हिस्सों में तोड़ देती है; माध्यम! अगर आप पानी की बूंद से सूरज को देखेंगे तो सात रंग दिखाई पड़ेंगे। अगर पानी के बाहर सूरज की किरण को देखेंगे तो वह सफेद है, सफेद कोई रंग नहीं है। सफेद कोई रंग नहीं है, सफेद रंग का अभाव है।

बुद्धि भी ऐसा ही एक माध्यम है। जैसे पानी में लकड़ी तिरछी हो जाए, और प्रिज्म में सूरज की सात किरणें हो जाएं, एक के सात टुकड़े हो जाएं, ऐसा ही बुद्धि, विचार सूक्ष्म माध्यम है। इससे जिस चीज को भी हम देखते हैं वह दो में टूट जाती है; भेद निर्मित हो जाता है। जहां भी बुद्धि को देखेंगे, बुद्धि से देखेंगे, वहां चीजें दो हो जाएंगी, भेद निर्मित हो जाएगा।

बुद्धि भेद निर्मात्री है। कोई भी चीज को बुद्धि से देखें। दृष्टांत के लिए, समझने के लिए, प्रकाश को बुद्धि से देखें, तो तत्काल दो हिस्से हो जाते हैंः अंधेरा और उजाला। वस्तुतः अस्तित्व में प्रकाश और अंधेरे में कोई भी फर्क नहीं है, वह एक ही चीज का क्रमिक विस्तार है। इसीलिए तो अंधेरे में भी कुछ पक्षी देखते हैं। अंधेरा बिल्कुल अंधेरा होता, तो उल्लू भी रात को देख नहीं सकता था। उल्लू देखता है रात में, इसीलिए देख पाता है कि अंधेरा भी प्रकाश है; सिर्फ आपकी आंख उसको पकड़ने में समर्थ नहीं, उल्लू की आंख पकड़ने में समर्थ है। सूक्ष्म प्रकाश है अंधेरा भी।

आपके पास से बहुत बड़ा प्रकाश भी गुजरता है, वह आपको दिखाई नहीं पड़ता; क्योंकि आपकी आंख की देखने की एक क्षमता है, उसके नीचे भी दिखाई नहीं पड़ता, उसके ऊपर भी नहीं दिखाई पड़ता; दोनों तरफ अंधेरा हो जाता है। कभी आपने ख्याल किया है कि अगर आपकी आंख एकदम महाप्रकाश के सामने आ जाए तो अंधेरा छा जाएगा; क्योंकि उतना प्रकाश आंख देख नहीं पाती है।

तो अंधेरे दो तरह के हैं। जितने दूर तक आपकी आंख की क्षमता है देखने की, उधर प्रकाश--उसके उस पार भी अंधेरा, इस पार भी अंधेरा। आपकी आंख की क्षमता बड़ी हो जाए, तो अंधेरा प्रकाश हो जाता है; आपकी आंख की क्षमता छोटी हो जाए, तो प्रकाश अंधेरा हो जाता है। अंधे आदमी की क्षमता बिल्कुल नहीं है, इसलिए सभी अंधेरा है, कोई प्रकाश है ही नहीं उसके लिए। पर प्रकाश और अंधेरा अस्तित्व में एक हैं, बुद्धि के कारण दो दिखाई पड़ते हैं।

बुद्धि हर चीज को दो में बांट देती है। बुद्धि के देखने का ढंग ऐसा है कि बिना बंटे कोई चीज रह नहीं सकती। बुद्धि है विश्लेषण; बुद्धि है भेद; बुद्धि है विभाजन, डिवीजन। इसीलिए हमें जन्म और मृत्यु दो दिखाई पड़ते हैं, बुद्धि से देखने के कारण; अन्यथा दो नहीं हैं। जन्म शुरुआत है, मृत्यु उसी का अंत है; दो छोर हैं एक ही चीज के। हमें सुख और दुख अलग दिखाई पड़ते हैं, बुद्धि के कारण; वे दो नहीं हैं। इसीलिए तो दुख सुख बन

जाते हैं, सुख दुख बन जाते हैं। आज जो सुख मालूम पड़ता है, सुबह दुख हो सकता है। सुबह तो बहुत दूर है, अभी मालूम होता था सुख, अभी दुख हो सकता है।

यह असंभव होना चाहिए। अगर सुख और दुख दो चीजें हैं अलग-अलग, तो सुख कभी दुख नहीं होना चाहिए, दुख कभी सुख नहीं होना चाहिए। पर हर घड़ी यह बदलाहट चलती रहती है। अभी प्रेम है, अभी घृणा हो जाती है। अभी लगाव लगता था, अभी विकर्षण हो जाता है। अभी मित्रता लगती थी, अभी शत्रुता हो जाती है। ये दो चीजें नहीं हैं, नहीं तो रूपांतरण असंभव होना चाहिए। जो अभी जिंदा था, अभी मर गया! तो जीवन और मृत्यु ये अलग चीजें नहीं होनी चाहिए, नहीं तो--नहीं तो जीवित आदमी मर जाए! कैसे? जीवन मृत्यु में कैसे बदल जाएगा?

हमारी भूल है कि हमने दो में बांट रखा है। हमारी भूल है कि हमने दो में बांट रखा है! हमारे देखने का ढंग ऐसा है कि चीजें दो में बंट जाती हैं।

इस देखने के ढंग को जो एक तरफ रख देता है, बुद्धि को जो हटा देता है अपनी आंख के सामने से और बिना बुद्धि के जगत को देखता है, तो सारे भेद तिरोहित हो जाते हैं। अद्वैत का अनुभव उन्हीं लोगों का अनुभव है, वेदांत का सार-अनुभव उन्हीं लोगों का अनुभव है, जिन्होंने बुद्धि को एक तरफ रख कर जगत को देखा। फिर जगत जगत नहीं, ब्रह्म हो जाता है। और तब जो भीतर जीव मालूम पड़ता था और वहां ब्रह्म मालूम पड़ता था, वे भी एक चीज के दो छोर रह जाते हैं। जो मैं यहां हूं भीतर, और जो वहां फैला है सब ओर वह, दोनों एक ही हो जाते हैंः तत्त्वमसि। तब अनुभव होता है कि मैं वही हूं, उसका ही एक छोर हूं। वह जो आकाश बहुत दूर तक चला गया है, वही आकाश यहां मेरे हाथ को भी छू रहा है। वही हवा का विस्तार जो सारी पृथ्वी को घेरे हुए है, वही मेरी श्वास बन कर भीतर प्रवेश कर रहा है। इस सारे अस्तित्व के प्राण कहीं धड़क रहे हैं, जिनसे यह सारा जीवन है--तारे चलते हैं और सूरज ऊगता है, और चांद में रोशनी है, और वृक्षों में फल लगते हैं, और पक्षी गीत गाते हैं, और आदमी जीता है--सब के भीतर छिपा हुआ जो प्राण धड़क रहा होगा कहीं विश्व के केंद्र में, और मेरे शरीर में जो हृदय की धीमी-धीमी धड़कन है, वे एक ही चीज के दो छोर हैं। वे दो नहीं हैं।

लेकिन बुद्धि को अलग करके जब कोई देखेगा, तभी। बुद्धि को अलग करके देखना बड़ी मुश्किल की बात है, क्योंकि जब भी हम देखते हैं, बुद्धि से ही देखते हैं। हमारी आदत सुनिश्चित हो गई है। बुद्धि के अतिरिक्त आप देखिएगा कैसे? कोई भी चीज देखिएगा, विचार बीच में आ जाएगा।

एक फूल के पास खड़े हो जाएं। देख भी नहीं पाएंगे फूल कि बुद्धि कहेगी, गुलाब का फूल है; बड़ा सुंदर है! देखें, सुवास कितनी अच्छी है! आप देख भी नहीं पाए फूल को अभी, अभी फूल भीतर पहुंच भी नहीं पाया, अभी उसकी खबर, उसकी भनक आत्मा तक लगी भी नहीं, कि बुद्धि ने खबर दी, कि गुलाब का फूल है--अतीत के स्मरण से, अनुभव से। सुवासित है, सुंदर है--ये सब वक्तव्य बुद्धि ने दे डाले। उसने एक जाल फैला दिया बीच में। फूल बाहर रह गया, आप भीतर रह गए, बीच में बुद्धि के विचारों का जाल तन गया। इस जाल के भीतर से ही आप फूल को देखते हैं।

हमारा सभी देखना ऐसा है। तो बुद्धि के पार उठने के लिए तो गहन अभ्यास की जरूरत पड़ेगी। फूल के पास बैठे हैं, बुद्धि को न उठने दें, सिर्फ फूल को देखें सीधा, मन में यह विचार भी न उठने दें कि फूल है, कि गुलाब है, कि सुंदर है, शब्द को ही न बनने दें। थोड़ा अभ्यास करें, तो कभी-कभी क्षण भर को झलक मिलेगीः कि उधर रह जाएगा फूल, इधर रह जाएंगे आप, बीच में एक क्षण को विचार नहीं होंगे। और तब आपको उस फूल में उस लोक का दर्शन होगा, जिसको आपने कभी भी जाना नहीं।

टेनिसन ने कहा है, एक फूल को भी कोई देख ले पूरा, तो सारा जगत देख लिया, कुछ देखने को बच नहीं जाता है। बच भी नहीं जाता, क्योंकि एक फूल में सारा जगत समाया हुआ है। वह जिसे हम क्षुद्र कहते हैं, वह विराट की ही अनुकृति है; जिसे हम छोटा कहते हैं, वह बड़े का ही छोटा रूप है। जैसे एक छोटे से दर्पण में सारा आकाश झलक जाए, एक छोटी सी आंख में आकाश के करोड़ों तारे झलक जाएं, ऐसे एक छोटे से फूल में सारा ब्रह्मांड... ।

लेकिन वह तभी होता है, जब बुद्धि बीच में खड़ी न हो। तो इसका अभ्यास करते रहें। खाली बैठे हैं, पक्षी गीत गा रहा है, तो बुद्धि को बीच में न आने दें, सिर्फ कान बन जाएं--सुनें, और सोचें मत।

पहले बड़ी मुश्किल होगी--सिर्फ आदत के कारण; नहीं तो कोई मुश्किल नहीं है। धीरे-धीरे, धीरे-धीरे झलकें मिलनी शुरू होंगी। पक्षी गाता रहेगा, बुद्धि का कोई स्वर न होगा, आप सुनते रहेंगे, आप और पक्षी के बीच एक सीधा संबंध स्थापित हो जाएगा, बीच में कोई माध्यम न होगा। और तब आप बहुत हैरान हो जाएंगे! यह तय करना मुश्किल हो जाएगा कि आप गा रहे हैं कि पक्षी गा रहा है! आप सुन रहे हैं कि पक्षी सुन रहा है! जैसे ही बुद्धि बीच से हटती है, आप और पक्षी का गीत एक ही चीज के दो हिस्से हो जाते हैं। वह जो पक्षी का कंठ है वह एक छोर, और आपका जो कान है वह दूसरा छोर, और गीत बीच में जोड़ हो जाता है।

फिर वह जो फूल खिल रहा है वहां, और यह जो हृदय है भीतर, यह जो चैतन्य है भीतर--यह; ये एक ही घटना के हिस्से हो जाते हैं। और बीच में जो तरंगें दौड़ रही हैं, वे इन दोनों के बीच, दो के बीच जोड़ने का सेतु बन जाती हैं। और तब ऐसा नहीं लगता कि फूल वहां दूर खिल रहा है, और मैं यहां दूर खड़ा देख रहा हूं, तब ऐसा लगता है कि मैं फूल में खिल रहा हूं और फूल मुझ में खड़ा देख रहा है।

लेकिन यह भी उस क्षण नहीं लगता, यह भी जब हम उस क्षण के बाहर निकल आते हैं, तब लगता है। उस क्षण तो इतना भी पता नहीं चलता; क्योंकि जिसे पता चलता है, सोच-विचार होता है, वह बुद्धि एक तरफ रख दी गई है। और तब प्रतिपल का अनुभव ब्रह्म का अनुभव बन जाता है। प्रतिपल का अनुभव ब्रह्म का अनुभव बन जाता है!

बोकोजू को किसी ने पूछा है कि तुम्हारे ब्रह्म का अनुभव क्या है?

तो बोकोजू कहता है, ब्रह्म? ब्रह्म का मुझे कोई भी पता नहीं।

करते क्या रहते हो? पूछने वाले ने पूछा, फिर तुम्हारी साधना क्या है?

तो बोकोजू ने कहा है कि जब कुएं से--उस वक्त वह कुएं से पानी भर रहा था--तो उसने कहा है कि कुएं से जब मैं पानी भरता हूं, तो मुझे ठीक-ठीक पता नहीं लगता कि कुआं मुझे भर रहा है कि मैं कुएं से भर रहा हूं। और जब मेरी बालटी आवाज करती कुएं में उतरती है तो मुझे ऐसा नहीं लगता कि यह बालटी उतरी, कि मैं ही उतर गया हूं! और जब पानी भर कर ऊपर आने लगता है, तब भरोसा मानो, मुझे कुछ साफ नहीं रहता कि क्या क्या है; क्या हो रहा है! यह तुम पूछते हो, इसलिए तुमसे सोच कर कहता हूं। तुमने पूछा, इसलिए मैंने सोचा और कहा, अन्यथा मैं खो गया हूं। ब्रह्म का मुझे कोई पता नहीं है। मुझे अपना ही पता नहीं रहा है!

जब अपना ही पता नहीं रहता है, तभी तो जिसका पता चलता है, वही ब्रह्म है। अपना पता कब खोता है? जब आपके पास कोई बुद्धि प्रत्येक चीज के साथ विचार चिपकाने को नहीं रह जाती। बुद्धि का काम है विचार चिपकाना; हर चीज को लेबल लगाना; हर चीज को शब्द देना, नाम देना, रूप देना।

बच्चा पैदा होता है। बच्चे की आंख खुलती है। बुद्धि नहीं होती बच्चे के पास उस समय। बुद्धि धीरे-धीरे विकसित होगी, बनेगी, शिक्षित होगी, संस्कारित होगी। तो वैज्ञानिक कहते हैं कि बच्चा जब आंख खोलता है, तब उसे कुछ भेद दिखाई नहीं पड़ता। लाल रंग उसे भी लाल ही दिखाई पड़ेगा, लेकिन वह यह अनुभव नहीं कर सकता कि यह लाल है। क्योंकि लाल शब्द तो अभी सीखना पड़ेगा। हरा रंग उसे भी हरा ही दिखाई पड़ेगा,

क्योंकि आंखें तो रंग देखती हैं, तो हरा दिखाई पड़ेगा। लेकिन बच्चा यह नहीं कह सकता कि यह हरा है। बच्चा यह भी नहीं कह सकता कि यह रंग है। और बच्चा यह भी नहीं कह सकता कि कहां लाल समाप्त होता है, कहां हरा शुरू होता है; क्योंकि लाल और हरे का उसे कोई भी बोध नहीं है। बच्चे की दृष्टि में जगत एक इकट्ठी घटना की तरह दिखाई पड़ता है, जहां सब चीजें एक-दूसरे में मिली हुई हैं, और किसी चीज को अभी भिन्न नहीं किया जा सकता, अलग नहीं किया जा सकता। एक सागर--अनुभव का, अविभाज्य। पर यह भी हमारा अनुमान है, बच्चे को क्या होता है, कहना मुश्किल है।

लेकिन संतों को, जो कि पुनः बच्चे हो गए हैं, जो कि फिर वैसे ही सरल हो गए हैं जब बुद्धि नहीं थी, जो अब फिर वैसे ही निर्दोष और अबोध हो गए हैं जब बुद्धि नहीं थी, ऐसा अनुभव होता है कि सब चीजें एक हो जाती हैं। एक चीज दूसरे से जुड़ जाती है, दूसरी तीसरे से जुड़ जाती है। चीजें दिखाई देनी बंद हो जाती हैं, भीतर का जोड़ ही दिखाई पड़ने लगता है।

हमारी स्थिति ऐसी है कि हमें माला के मनके दिखाई पड़ते हैं, भीतर जोड़ा हुआ धागा दिखाई नहीं पड़ता। बुद्धि मनके देखती है। और जब बुद्धि हट जाती है, तो वह जो चैतन्य है, बुद्धि से मुक्त, वह भीतर अनुस्यूत धागे को देखता है। उस एकता को देख लेता है जो सब में घिरी है, सब में जुड़ी है; जो सबके भीतर छिपी है, और जो आधार है।

बुद्धि जहां भी काम करती है, वहां विभाजन करती है। विज्ञान बुद्धि की व्यवस्था है। इसलिए विज्ञान तोड़ता है, एनालिसिस, विश्लेषण करता है। और परमाणु पर पहुंच गया तोड़ते-तोड़ते, आखिरी जगह। उसे जहां भी दिखाई पड़ता है--टुकड़े, खंड। एकता बिल्कुल दिखाई नहीं पड़ती।

बुद्धि को छोड़ता है धर्म। तो उलटी प्रक्रिया शुरू होती है, चीजें जुड़ती जाती हैं और एक होती जाती हैं। विज्ञान पहुंच गया परमाणु पर, और धर्म पहुंचता है परमात्मा पर। परमाणु है छोटे से छोटा हिस्सा, जो हम तोड़ सके हैं। और तोड़ लेंगे तो दूसरा, और तोड़ लेंगे तो तीसरा; तोड़ती जाएगी बुद्धि। और परमात्मा है बड़े से बड़ा हिस्सा, जो हम बिना बुद्धि के जोड़ सके हैं। बुद्धि से तोड़ा है तो परमाणु हाथ आया है, परमाणु विज्ञान की शक्ति है। और बुद्धि के बिना देखा है तो परमात्मा अनुभव में आया है, परमात्मा धर्म की शक्ति है।

इसलिए ध्यान रहे, जो धर्म तोड़ता हो वह धर्म नहीं है--कहीं भी तोड़ता हो, किसी भी तल पर। अगर हिंदू मुसलमान से अलग हो जाता हो, तो समझना कि ये दो तरह की राजनीतियां हैं, धर्म नहीं हैं। अगर जैन हिंदू से अलग मालूम पड़ता हो, तो समझना कि ये दो तरह की समाज व्यवस्थाएं हैं, धर्म नहीं हैं। और समझ लेना कि इनके पीछे बुद्धि ही काम कर रही है, जो तोड़ने की व्यवस्था रखती है; इनके पीछे वह बुद्धि का अतिक्रमण कर गई चेतना का अनुभव नहीं है, जहां सब चीजें जुड़ जाती हैं और एक हो जाती हैं।

'जीवात्मा तथा ब्रह्म का भेद और ब्रह्म तथा सृष्टि का भेद बुद्धि द्वारा जो कभी नहीं जानता, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।'

'सज्जन सत्कार करें और दुर्जन दुख दें, तो भी जिसको सदैव सब के ऊपर सम-भाव रहे, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।'

सम-भाव! पहली बातः अद्वैत। दूसरी बातः समत्व, समता, सम-भाव। यह थोड़ा शब्द कठिन है, इसका जो हम व्यवहार करते हैं उसके कारण।

एक आदमी आपको गाली दे जाए, और एक आदमी आपके चरण स्पर्श कर जाए, तो सम-भाव का क्या अर्थ होगा? क्या आप अपने को सम्हाल कर सम-भाव रखें? कि नहीं, गाली दे गया, उस पर क्रोध नहीं करना; सम्मान कर गया, उस पर प्रसन्न नहीं होना--ऐसी चेष्टा करें? अगर चेष्टा करें तो सम-भाव नहीं है। फिर

आयोजित संयम है। फिर व्यवस्था दी गई है; अनुशासन है; अपने को सम्हाल लिया है। लेकिन सम-भाव का यह अर्थ है कि कोई गाली दे, कि कोई सम्मान करे, भीतर दोनों से कोई भी प्रतिक्रिया पैदा न हो। कोई भी प्रतिक्रिया पैदा न हो। भीतर कुछ हो ही न। गाली भी बाहर घूमे, सम्मान भी बाहर घूमे, भीतर कुछ प्रवेश ही न हो।

यह कब होगा? यह तभी होता है जब भीतर साक्षी हो। जब कोई गाली देता है तो हममें प्रतिक्रिया क्यों होती है? क्योंकि गाली देते ही तत्काल हमें लगता है, मुझे दी गई गाली। बस कष्ट शुरू हो जाता है। सम्मान कोई करता है तो सुख मिलता है, क्योंकि लगता है, मुझे दिया गया सम्मान! सुख शुरू हो जाता है। इसका मतलब हुआ, मेरे साथ जो भी किया जाता है, उसके साथ मैं अपना तादात्म्य जोड़ लेता हूं। उस से ही सुख-दुख पैदा होता है। और वैषम्य पैदा होता है, संतुलन खो जाता है।

नैतिक व्यक्ति भी समता की चेष्टा करता है। लेकिन नैतिक व्यक्ति की समता आरोपित होती है, कल्टीवेटेड होती है। वह भी अपने को समझाता है कि ठीक है, किसी ने गाली दी तो क्या हर्ज! और किसी ने सम्मान किया तो ठीक है, उसकी मर्जी! मैं दोनों में सम-भाव रखूंगा।

यह सम-भाव ऊपर-ऊपर रहेगा; यह बहुत गहरे जाने वाला नहीं है। क्योंकि इस व्यक्ति को अभी तक साक्षी का कोई भी पता नहीं है। इसका सम-भाव चरित्रगत होगा। तो कभी मौके-बेमौके, जब यह जरा होश में न होगा, इसको छेड़ा जा सकता है। और कभी मौके-बेमौके चरित्र में संधि मिल जाए, तो इसके भीतर का वैषम्य प्रकट हो सकता है।

चरित्रगत समता का मूल्य नहीं है उपनिषद की नजर में। उपनिषद की नजर में मूल्य है आत्मगत समता का। आत्मगत समता का अर्थ हुआ कि चाहे कुछ भी बाहर होता रहे, मैं साक्षी से ज्यादा नहीं हूं।

राम को न्यूयार्क में कुछ लोगों ने गालियां दीं, कुछ लोगों ने पत्थर मारे, तो राम नाचते हुए वापस लौटे। शिष्यों ने कहा, क्या हुआ? आप बड़े खुश हैं! तो राम ने कहा, खुशी की बात है। आज राम बड़ी मुश्किल में पड़ गए थे। कुछ लोग गाली देने लगे, कुछ पत्थर मारने लगे, मजाक उड़ाने लगे। राम को फंसा देख कर बड़ा मजा आया कि बुरे फंसे। देखो, अब फंसे।

जो साथ थे, उन्होंने पूछा, आप किसके बाबत बात कर रहे हैं? कौन राम?

तो राम ने कहा, यह राम। छाती पर हाथ रखा और कहा, यह राम। ये बड़े फंस गए थे, और हम खड़े देखते रहे। हमने उनको भी देखा जो गाली दे रहे थे, और इन सज्जन को भी देखा जो फंस गए थे और गाली खा रहे थे। हम खड़े देखते रहे।

यह तीसरा बिंदु आपको मिल जाए तो समता। अगर दो ही हैं आपके बिंदु, तो समता नहीं हो सकती है। कोई गाली दे रहा है और आप गाली खा रहे हैं, तो आप चेष्टा कर सकते हैं भाव अच्छा बनाने का, सज्जन का लक्षण वह है; करनी चाहिए। चेष्टा कर सकते हैं कि नहीं, कोई हर्जा नहीं; गाली दे दी, हमारा क्या बिगड़ा! यह समझाना है। आपको लग रहा है कि कुछ बिगड़ तो गया, इसीलिए समझा रहे हैं कि क्या बिगड़ा। और उसने अपनी जबान खराब की, हमारा क्या गया! लेकिन कुछ गया। यह कंसोलेशन है, यह सांत्वना है।

सज्जन सांत्वना में जीता है। वह सोचता है कि ठीक है, गाली दी, अपना-अपना कर्म, अपना-अपना फल पाएगा वह आदमी। हम क्यों कुछ कहें? गाली दी है, दुख पाएगा, नरक जाएगा, पाप किया है। वह सांत्वना कर रहा है अपने मन में। वह जो खुद नहीं कर पा रहा है नर्क उसके लिए पैदा, वह सोच रहा है भगवान करेगा। अपना काम वह भगवान से ले रहा है। बाकी अपने को समझा रहा है। वह कह रहा है कि जो बुरा बोएगा, वह

बुरा काटेगा; जो अच्छा बोएगा, वह अच्छा काटेगा। हम अच्छा ही बोएंगे, ताकि अच्छा काटें। यह बुरा बो रहा है, अपने आप काटे बुरा।

यहां तक भी वह कर सकता है कि जो तोहे कांटा बुवे, वाहे बो तू फूल। वह यह भी कर सकता है कि यह हमें कांटे बो रहा है, हम इसके लिए फूल बोएं। क्योंकि यह कांटे ही काटेगा और हम फूल काटेंगे। बाकी है यह गणित दुकानदार का, व्यवसायी का, सौदा है इसमें। समझदारी का सौदा है, बाकी समता नहीं है।

समता कहां है? समता तो तभी होती है जब यह दो बिंदु के पार तीसरा बिंदु दिखाई पड़ना शुरू हो जाए। जब मुझे लगे कि यह रहा गाली देने वाला, यह रहा मेरा रूप, मेरा नाम, गाली खाने वाला, और यह तीसरा रहा मैं देखने वाला। इन दोनों से मेरी दूरी बराबर होनी चाहिए तो समता। जो गाली दे रहा है उससे भी मैं उतना ही दूर, और जिसको गाली दी जा रही है उससे भी मैं उतना ही दूर। अगर इस दूरी में जरा भी फर्क है और जरा भी कमी है, और गाली देने वाला मुझे ज्यादा दूर मालूम पड़ता है और गाली खाने वाला कम दूर मालूम पड़ता है मुझसे, तो समता डोल गई, तो विषमता आ गई।

समता का मतलब है कि तराजू के पलड़े दोनों के दोनों सम हो जाएं, और मैं तराजू के तीर की तरह बीच में तीसरा हो जाऊं, और जरा भी अंतर न दिखाऊं--गाली खाने वाले की तरफ न झुकूं, गाली देने वाले की तरफ न झुकूं--मैं पार ही खड़ा रहूं, मैं दूर ही खड़े होकर देखता रहूं।

यह साक्षी का भाव समता है। और जीवन्मुक्त समता में जीएगा, क्योंकि जीवन्मुक्ति आती ही साक्षित्व से है।

यह दूसरा सूत्र ध्यान रखेंः सांत्वना से सज्जन पैदा होगा, साक्षी से संत पैदा होता है। संत और सज्जन में बड़ा फर्क है। सज्जन ऊपर-ऊपर संत होता है; भीतर उसमें और दुर्जन में कोई फर्क नहीं होता। दुर्जन बाहर-भीतर दुर्जन होता है; सज्जन बाहर सज्जन होता है, भीतर दुर्जन होता है।

संत में और सज्जन में बड़ा फर्क है। एक अर्थ में तो संत में और दुर्जन में एक समानता है। दुर्जन बाहर भी दुर्जन होता है, भीतर भी दुर्जन होता है। सज्जन भीतर दुर्जन होता है, बाहर सज्जन होता है। संत बाहर भी सज्जन होता है, भीतर भी सज्जन होता है। एक अर्थ में दुर्जन से समानता है। वह समानता यह है कि दुर्जन भी एकरूप होता है बाहर-भीतर और संत भी एकरूप होता है बाहर-भीतर; रूप अलग हैं, बाकी एकरूप होता है। सज्जन दोनों के बीच में अटका होता है।

इसलिए सज्जन के कष्ट का कोई अंत नहीं है; क्योंकि सज्जन का मन तो होता है दुर्जन जैसा और आचरण होता है संत जैसा। इसलिए सज्जन बड़ी दुविधा में जीता है। और सज्जन के मन में सदा द्वंद्व बना रहता है।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं कि कभी बुरा नहीं किया, कभी चोरी नहीं की, बेईमानी नहीं की, और इतना कष्ट पा रहे हैं हम! और जिन्होंने चोरी की, बेईमानी की, मजा कर रहे हैं! तो इस जगत में न्याय नहीं है। या सज्जन अपने मन में समझा लेता है कि कुछ भी हो, प्रभु का नियम है कुछः देर है, अंधेर नहीं है। समझाता है अपने मन को कि थोड़ी देर लग रही है; अभी बेईमान बीच में सफल हुए जा रहे हैं, आखिर में तो हम ही सफल होंगे! देर है, अंधेर नहीं है--यह समझा रहा है अपने को।

लेकिन एक तो बात साफ है कि देर दिखाई पड़ रही है। और शक अंधेर का भी हो रहा है कि कुछ गड़बड़ तो नहीं है! कि हम दोनों तरफ से तो नहीं चूक गए--न माया मिली, न राम! कहीं ऐसा न हो कि अभी माया खो रहे हैं और आखिर में पता चले कि राम थे ही नहीं! तो वह जो जीत गया माया में, वह आखिरी में भी जीता हुआ मालूम पड़े।

सज्जन को सदा पीड़ा बनी रहती है। और जिसको पीड़ा बनी रहे अपनी सज्जनता से, उसका अर्थ साफ हुआ कि उसका भाव तो दुर्जन का है। भीतर से चाहता तो वह भी वही है जो दुर्जन कर रहा है, और दुर्जन पा

रहा है, लेकिन सज्जनता का आचरण उसने बना रखा है। उसके दोहरे लोभ हैं। उसकी गाड़ी के बैल दो तरफ जुते हैं, और दोनों तरफ गाड़ी खींची जा रही है। उसका लोभ यह भी है कि धन भी मिल जाए, यश भी मिल जाए, अहंकार की भी तृप्ति हो। दुर्जन के जो लोभ हैं, वे उसके लोभ हैं। उसका लोभ यह भी है कि परमात्मा भी मिल जाए, आत्मा भी मिल जाए, मोक्ष भी मिल जाए, शांति और आनंद भी मिल जाए। जो संत की अभीप्सा है, वह भी उसका लोभ है। उसके दोहरे लोभ हैं। और उन दोनों लोभों के बीच वह परेशान है। और इसलिए अक्सर सज्जन बड़ी ही अशांति में उपलब्ध होगा।

अगर सज्जन शांत हो, तो संत हो जाता है। और सज्जन अगर अशांत बना रहे, तो आज नहीं कल, दुर्जन हो जाता है। ज्यादा देर टिक नहीं सकता। वह मध्य की कड़ी या तो नीचे गिरे, या ऊपर जाए, बीच में कोई उपाय नहीं है ठहरने का।

जीवन्मुक्त है संत। वह इसलिए नहीं दूसरे के साथ बुराई कर रहा है कि बुराई करने से खुद का बुरा होगा कभी। नहीं, वह बुराई कर नहीं सकता है, क्योंकि वह तीसरे बिंदु पर खड़ा है जिसके साथ कभी कोई बुराई की नहीं गई।

सिकंदर एक संन्यासी को ले जाना चाहता था भारत से। ददामी उस संन्यासी का नाम था। जाने को ददामी राजी नहीं था। तो सिकंदर ने तलवार खींच ली और कहा, काट कर टुकड़े-टुकड़े कर दूंगा, चलो मेरे साथ! मैं अगर हिमालय को भी आज्ञा दूं तो जाना पड़ेगा।

तो ददामी ने कहा, हो सकता है कि हिमालय को जाना पड़े, लेकिन तुम मुझे न ले जा सकोगे।

सिकंदर की कुछ समझ में न पड़ा कि एक दुबला-पतला फकीर, नग्न खड़ा था नदी की रेत में, यह इतनी हिम्मत की बातें कर किस बलबूते पर रहा है? उसने तलवार खींच ली और अपने सिपाहियों को कहा कि घेर लो! नंगी तलवारों से ददामी घेर लिया गया। ददामी खिलखिला कर हंसा और उसने कहा, लेकिन तुम मुझे नहीं घेर रहे हो, तुम उसे घेर रहे हो जो मैं नहीं हूं। और तुम्हारी कोई सामर्थ्य नहीं कि तुम मुझे घेर लो, क्योंकि मेरा घेरा उस विराट घेरे के साथ एक हो गया है।

सिकंदर ने कहा कि मैं दर्शन की, तत्वज्ञान की बातें नहीं जानता हूं। मैं सिर्फ तलवार जानता हूं; गर्दन अभी कट कर गिर जाएगी! तो ददामी ने कहा, बड़ा आनंद आएगा! तुम भी देखोगे कि गर्दन कट कर गिर गई, और मैं भी देखूंगा कि गर्दन कट कर गिर गई; हम दोनों ही देखेंगे।

यह तीसरा बिंदु है कि मैं भी देखूंगा कि गर्दन कट कर गिर गई। अगर आप अपनी गर्दन को कट कर गिरता हुआ देख सकें, तो उसका मतलब सिर्फ एक हुआ कि इस शरीर से आपका तादात्म्य न रहा, इसके आप साक्षी हो गए; आप दूर खड़े हो गए, बाहर खड़े हो गए--अपने से ही। इस बिंदु पर ही संतत्व का जन्म है; और यह बिंदु ही जीवन्मुक्ति है।

'जिसने ब्रह्म तत्व को जान लिया, उसकी दृष्टि में संसार पहले जैसा नहीं रहता। इसलिए अगर वह संसार को पूर्ववत ही देखता हो, तो मानना पड़े कि उसने अभी भी ब्रह्म-भाव को जाना नहीं और वह बहिर्मुख है।'

संसार तो यही रहेगा; आपके बदलने से संसार नहीं बदलेगा; लेकिन आपके बदलने से आपका संसार बदल जाएगा। जैसा मैंने पहले कहा, हम सबके अपने-अपने संसार हैं। मैं अज्ञानी हूं, तो भी ये आबू के पर्वत ऐसे ही हैं; मैं ज्ञानी हो जाऊं, तो भी आबू के पर्वत ऐसे ही होंगे। आकाश ऐसा ही होगा, चांद ऐसा ही होगा, जमीन ऐसी ही होगी। यह संसार तो ऐसा ही होगा। लेकिन जब मैं अज्ञानी हूं, तो मैं इस संसार को जिस ढंग से देखता हूं, जिस ढंग से चुनता हूं, जो मुझे दिखाई पड़ता है--हो सकता हैः यह पहाड़ मेरा है, जब मैं अज्ञानी हूं। पहाड़ पहाड़ है। मेरा है!

ज्ञान के क्षण में, जीवन-मुक्ति के अनुभव में, पहाड़ पहाड़ रहेगा, मेरा नहीं रह जाएगा। वह जो मेरा इस पर आरोपित था, वह तिरोहित हो जाएगा। और मेरे के हटते ही पहाड़ का सौंदर्य पूरा प्रकट होगा। वह जो मेरा

ममत्व था, जो मेरा राग था, वही मेरा दुख था, वही मेरी पीड़ा थी। वही मेरी बुद्धि थी जो बीच में खड़ी हो जाती थी। जब भी इस पहाड़ को देखता था, लगता थाः मेरा पहाड़ है। वह मेरा बीच में आता था और मैं पर्दे से देखता था। अब पहाड़ पहाड़ है, मैं मैं हूं।

जापान में झेन फकीरों ने दस चित्र निर्मित किए हैं। वे चित्र सदियों से चले आते हैं और ध्यान करने के काम में आते हैं। वे चित्र समझने जैसे हैं। इस सूत्र को समझने में उपयोगी होंगे।

पहले चित्र में कुछ दिखाई नहीं पड़ता; गौर से देखें तो समझ में आता है कि पहाड़ है, वृक्ष हैं, और वृक्ष की आड़ से किसी बैल का सिर्फ पीछे का हिस्सा, दो पैर और पूंछ दिखाई पड़ रही है। बस इतना ही।

दूसरे चित्र में इतना है और साथ में बैल को खोजने वाला आकर खड़ा हो गया है, और वह चारों तरफ देख रहा है कि बैल कहां है। अभी उसे दिखाई नहीं पड़ रहा है; धुंधलका है सांझ का। वृक्ष हैं, लताएं हैं, उनमें बैल छिपा खड़ा है, जरा सी पूंछ और दो पैर पीछे के दिखाई पड़ते हैं; वह भी रेखाएं गौर से देखें तो।

तीसरे चित्र में उसे दिखाई पड़ गया है। दूसरे चित्र में वह उदास खड़ा था, चारों तरफ देखता मालूम पड़ता था, कोई झलक न थी उसकी आंखों में। तीसरे चित्र में उसकी आंखों में झलक आ गई, पैर में गति आ गई, बैल उसे दिखाई पड़ गया है। चौथे चित्र में पूरा बैल प्रकट हो गया है और खोजने वाला बैल के पास पहुंच गया है। पांचवें चित्र में उसने बैल की पूंछ पकड़ ली है। छठवें चित्र में उसने बैल के सींग पकड़ लिए हैं। सातवें चित्र में उसने बैल को घर की तरफ मोड़ लिया है। आठवें चित्र में वह बैल के ऊपर सवारी कर रहा है। नौवें चित्र में वह बैल को अपने लगाम में बांध कर, कब्जे में करके घर की तरफ लौट रहा है। और दसवें चित्र में कुछ भी नहीं है। न बैल है, न उसका मालिक उस पर सवार है। जंगल रह गया, पहाड़ रह गया; न बैल है, न उसका मालिक है, वे दोनों नदारद हो गए हैं।

ये दस चित्र झेन परंपरा में ध्यान के लिए उपयोग में लाए जाते हैं। ये आत्मा की खोज के चित्र हैं।

पहले चित्र में कुछ पता नहीं खोजी का, कहां है। दूसरे चित्र में खोजी जगा है; आकांक्षा जगी है आत्मा को पाने की, खोजने की। तीसरे चित्र में थोड़ी सी झलक आत्मा की मिलनी शुरू हुई है। चौथे चित्र में पूरी झलक आत्मा की मिल गई है। पांचवें चित्र में झलक ही नहीं मिल गई है, आत्मा की पूंछ हाथ में पकड़ आ गई है; एक कोने से आत्मा पर अधिकार हो गया है। बाद के चित्र में पीछे से नहीं, सामने से, आमना-सामना हो गया है, आत्मा के सींग पकड़ लिए गए हैं। बाद के चित्र में सींग ही नहीं पकड़ लिए गए हैं, आत्मा को घर की तरफ वापस--घर की तरफ, ब्रह्म की तरफ मोड़ दिया गया है। बाद के चित्र में मोड़ ही नहीं दिया गया है, खोजी स्वयं पर सवार होकर घर की तरफ चल पड़ा है। और आखिरी चित्र में दोनों खो गए हैं; न खोजी है, न खोज है, जगत शून्य रह गया है। पहाड़ अब भी खड़े हैं, वृक्ष अब भी खड़े हैं, लेकिन वे दोनों खो गए हैं।

यही है अनुसंधान। जब खोजने निकले हैं, तो यह जगत जैसा आज दिखाई पड़ रहा है, वैसा दिखाई खुद जाग जाने पर नहीं पड़ेगा। सारा ममत्व क्षीण हो जाएगा। सारी संगृहीत धारणाएं क्षीण हो जाएंगी। जगत के साथ जो-जो प्रोजेक्शन, प्रक्षेपण थे अपने, वे भी नष्ट हो जाएंगे। जगत से जो अपेक्षाएं थीं, वे भी गिर जाएंगी। जो मांग थी, वह भी नहीं रह जाएगी। जगत में जो सुख को देखने का ख्याल था, वह भी चला जाएगा। जगत से दुख मिलता है, यह भ्रांति भी टूट जाएगी। जगत से हमारा कोई लेन-देन भी है, यह भी समाप्त हो जाएगा।

तो सूत्र कहता हैः 'जिसने जान लिया ब्रह्म को, उसकी दृष्टि में संसार पहले जैसा नहीं रहता।'

संसार तो रहता है, पहले जैसा नहीं रहता। और अगर अब भी पहले जैसा रह जाए, तो जानना कि उसने अभी जाना नहीं है। यह खुद की परीक्षा के लिए है। यह खुद ही देखते चलना है।

पत्नी है; मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं कि पत्नी है, बच्चे हैं, कलह है, परिवार है, धंधा है, कुछ हो नहीं सकता इसमें, हम छोड़ कर भाग जाएं!

मैं उनसे कहता हूं, छोड़ कर मत भागो। भाग कर जाओगे भी कहां? संसार सब जगह है। और तुम अगर जैसे हो वैसे ही रहे, तो कोई दूसरी तुम्हारी पत्नी बन जाएगी, कोई दूसरा घर बस जाएगा, कोई दूसरा धंधा शुरू हो जाएगा। धंधे बहुत तरह के हैं, धार्मिक किस्म के धंधे भी हैं। नहीं खोली दुकान, एक मठ खोल लेंगे। कुछ न कुछ तो हो ही जाएगा। करोगे क्या! वह जो आदमी भीतर बैठा है, वह अगर वैसा ही है, तो वह जानता जो है, वही तो करेगा!

भागो मत, वहीं रह कर डूबते चले जाओ, खोजते चले जाओ। खोज उस दिन पूरी समझ लेना, जिस दिन बाजार में बैठे रहो और बाजार भी रहे, और तुम्हारे लिए बाजार न रह जाए। पत्नी पास बैठी हो, पत्नी के मन में पत्नी ही रहेगी, रही आए। तुम्हारे लिए पहले तो पत्नी न रह जाए। वह जो मेरे होने का भाव है, वह विसर्जित हो जाए। स्त्री रह जाएगी। पर स्त्री भी तभी तक दिखाई पड़ेगी जब तक कामवासना है। फिर ध्यान और गहरा हो, कामवासना भी क्षीण हो जाए, तो फिर वह स्त्री भी न रह जाएगी; फिर वह देह भी न रह जाएगी। और जैसे-जैसे तुम्हारे भीतर कुछ टूटता जाएगा, वैसे-वैसे बाहर तुम्हारा जो प्रक्षेपण था, उस स्त्री के ऊपर तुम्हारे जो भाव थे--पत्नी के, स्त्री के--वे भी विलीन होते चले जाएंगे। एक दिन ऐसा आएगा कि तुम जहां बैठे हो, वहीं शून्य हो जाओगे। चारों तरफ संसार वही होगा, लेकिन तुम वही नहीं रहोगे। इसलिए तुम्हारी दृष्टि बदल जाएगी।

इसे खोजते रहना है निरंतर कि मुझे कहीं वैसा ही तो नहीं है सब? सब वैसा ही तो नहीं चल रहा है? नाम बदल जाते हैं, वस्तुएं बदल जाती हैं, लेकिन ढंग भीतर का अगर वही चल रहा है, और सब वैसा ही दिखाई पड़ रहा है, तो फिर... तो फिर समझना कि जीवन्मुक्ति बहुत दूर है, सत्य की झलक बहुत दूर है।

सत्य की झलक का अर्थ ही है कि तुम्हारे और तुम्हारे संसार के बीच में संबंध बदल जाए; संसार तो वही रहेगा। संबंध भी तभी बदलेगा, जब मैं बदल जाऊं।

'जहां तक सुख का अनुभव होता है--या दुख का--वहां तक प्रारब्ध कर्म है, ऐसा माना गया है। क्योंकि प्रत्येक फल का उदय क्रियापूर्वक होता है, क्रिया बिना किसी स्थान पर कोई फल नहीं।'

'पर जिस प्रकार जग जाने से स्वप्न की क्रिया नाश को प्राप्त होती है, वैसे ही मैं ब्रह्म हूं, ऐसा ज्ञान होने से करोड़ों और अरबों जन्म से इकट्ठा किया हुआ संचित कर्म नाश पाता है।'

सुख और दुख होते हैं कर्मों के कारण। तो जो जीवन्मुक्त हो गया है, ऐसा मत सोचना कि उसे दुख या सुख होने बंद हो जाएंगे।

रमण को मरते समय कैंसर हो गया। बड़ी पीड़ा थी। कैंसर की पीड़ा स्वाभाविक थी। नासूर था गहरा, और बचने का कोई उपाय न था। बहुत डाक्टर आते, रमण को देखते तो बड़े हैरान होते; क्योंकि सारा शरीर पीड़ा से जर्जर हो रहा था, पर आंखों में कहीं कोई पीड़ा की झलक न थी। आंखों में तो वही शांत झील थी, जो सदा से थी। आंखों से तो साक्षी ही जागता था; वही देखता था, वही झांकता था।

डाक्टर कहते कि आपको बहुत पीड़ा हो रही होगी? तो रमण कहते, पीड़ा तो बहुत हो रही है, लेकिन मुझे नहीं हो रही। पीड़ा तो बहुत हो रही है, लेकिन मुझे नहीं हो रही, मुझे सिर्फ पता चल रहा है कि पीड़ा हो रही है। शरीर पर बड़ी पीड़ा हो रही है, मुझे सिर्फ पता चल रहा है। मैं देख रहा हूं; मुझे नहीं हो रही।

बहुत लोगों के मन में सवाल उठता है कि रमण जैसा ज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति, जीवन्मुक्त, उसको कैंसर क्यों हो गया?

इस सूत्र में उसका उत्तर है। जीवन्मुक्त को भी सुख-दुख आते रहेंगे, क्योंकि सुख-दुखों का संबंध उसके पिछले कर्मों से है, संस्कारों से है। उसने जो किया है, जागने के पहले उसने जो किया है... ।

समझ लें कि जागने के पहले, और मैंने बीज बो दिए हैं अपने खेत में। तो मैं जाग जाऊं, वे बीज तो फूटेंगे और अंकुर बनेंगे। सोया रहता तो भी अंकुर बनते, फूलते, फल लगते। अब भी अंकुर बनेंगे, फूलेंगे, फल लगेंगे। एक ही फर्क पड़ेगाः सोया रहता, तो सोचता मेरी फसल है और छाती से संभाल कर रखता। अब जाग गया हूं, तो समझूंगा जो बीज बोए थे, वे अपनी नियति को उपलब्ध हो रहे हैं, मेरा इसमें कुछ भी नहीं है; देखता रहूंगा। अगर सोया रहता, तो इस फसल को काटता और बीजों को संभाल कर रखता, ताकि अगले वर्ष फिर बो सकूं। जाग गया हूं, इसलिए देखता रहूंगा; बीज फूटेंगे, अंकुरित होंगे, फल लगेंगे, अब मैं उन्हें इकट्ठा नहीं करूंगा। वे फल लगेंगे और वहीं से गिर जाएंगे और नष्ट हो जाएंगे; मेरा उनसे संबंध टूट जाएगा। मेरा संबंध उनसे बोने का था, अब मैं उन्हें दुबारा नहीं बोऊंगा। मुझसे उनका आगे कोई संबंध नहीं बनेगा।

तो जीवन्मुक्त को भी सुख-दुख आते रहेंगे। पर जीवन्मुक्त जानेगा कि यह पिछले कर्मों कीशृंखला का हिस्सा है, मेरा कुछ लेन-देन नहीं। वह देखता रहेगा। जब रमण को कोई चरणों में जाकर फूल चढ़ा आता है, तब भी वे बैठे देखते रहते हैं कि किसी पिछली कर्म-शृंखला का हिस्सा होगा कि यह आदमी मुझे सुख देने आया है। मगर वे सुख लेते नहीं; यह आदमी देता है, वे लेते नहीं। अगर वे ले लें, तो नए कर्म की यात्रा शुरू हो जाती है। इसे वे रोकते भी नहीं कि तू मत दे--ये फूल मत चढ़ा, ये पैर मत छू--वे रोकते भी नहीं; क्योंकि रोकना भी कर्म है और फिरशृंखला शुरू हो जाती है।

इसे थोड़ा समझ लें। यह आदमी फूल रखने आया है; यह एक हार गले में डाल गया है; इसने चरणों पर सिर रख दिया है; रमण बैठे क्या कर रहे होंगे भीतर? वे देख रहे हैं कि इस आदमी से कुछ लेन-देन होगा, कोई प्रारब्ध कर्म होगा; यह अपना पूरा कर रहा है। लेकिन अब सौदा पूरा कर लेना है, अब आगे सिलसिला नहीं करना है। यह बात यहीं समाप्त हो गई, अब इसमें से आगे कुछ नहीं निकालना है। तो वे बैठे रहेंगे, वे यह भी नहीं कहेंगे कि मत कर। क्योंकि मत करने का मतलब क्या होता है? इसका मतलब होता है, एक तो आप अपना पिछला किया हुआ लेने को राजी नहीं हैं, जो कि लेना ही पड़ेगा। और दूसरा उसका मतलब यह हुआ कि अब इस आदमी से आप एक और संबंध जोड़ रहे हैं इसे रोक कर, कि मत कर। यह संबंध कब पूरा होगा? एक नया कर्म कर रहे हैं, आप एक प्रतिक्रिया कर रहे हैं।

न, रमण देखते रहेंगे; चाहे आदमी फूल लेकर आए, और चाहे कैंसर आ जाए। तो वे कैंसर को भी देखते रहेंगे।

रामकृष्ण भी मरते वक्त कैंसर से मरे। गले का कैंसर था। पानी भी भीतर जाना मुश्किल हो गया, भोजन भी जाना मुश्किल हो गया। तो विवेकानंद ने एक दिन रामकृष्ण को कहा कि आप, आप कह क्यों नहीं देते काली को, मां को? एक क्षण की बात है, आप कह दें, और गला ठीक हो जाएगा! तो रामकृष्ण हंसते, कुछ बोलते नहीं। एक दिन बहुत आग्रह किया तो रामकृष्ण ने कहा, तू समझता नहीं। जो अपना किया है, उसका निपटारा कर लेना जरूरी है। नहीं तो उसके निपटारे के लिए फिर आना पड़ेगा। तो जो हो रहा है, उसे हो जाने देना उचित है। उसमें कोई भी बाधा डालनी उचित नहीं है। तो विवेकानंद ने कहा कि न इतना कहें, इतना ही कह दें कम से कम कि गला इस योग्य तो रहे जीते जी कि पानी जा सके, भोजन जा सके! हमें बड़ा असह्य कष्ट होता है। तो रामकृष्ण ने कहा, आज मैं कहूंगा।

और सुबह जब वे उठे, तो बहुत हंसने लगे और उन्होंने कहा, बड़ी मजाक रही। मैंने मां को कहा, तो मां ने कहा कि इसी गले से कोई ठेका है? दूसरों के गलों से भोजन करने में तुझे क्या तकलीफ है? तो रामकृष्ण ने कहा कि तेरी बात में आकर मुझे तक बुद्धू बनना पड़ा है! नाहक तू मेरे पीछे पड़ा था। और यह बात सच है, जाहिर है, इसी गले का क्या ठेका है? तो आज से जब तू भोजन करे, समझना कि मैं तेरे गले से भोजन कर रहा हूं। फिर

रामकृष्ण बहुत हंसते थे उस दिन, दिन भर। डाक्टर आए और उन्होंने कहा, आप हंस रहे हैं? और शरीर की अवस्था ऐसी है कि इससे ज्यादा पीड़ा की स्थिति नहीं हो सकती! रामकृष्ण ने कहा, हंस रहा हूं इससे कि मेरी बुद्धि को क्या हो गया कि मुझे खुद ख्याल न आया कि सभी गले अपने हैं। सभी गलों से अब मैं भोजन करूंगा! अब इस एक गले की क्या जिद करनी है!

व्यक्ति कैसी ही परम स्थिति को उपलब्ध हो जाए, शरीर के साथ अतीत बंधा हुआ है; वह पूरा होगा। सुख-दुख आते रहेंगे, लेकिन जीवन्मुक्त जानेगा, वह प्रारब्ध है। और ऐसा जान कर उनसे भी दूर खड़ा रहेगा; और उसके साक्षीपन में उनसे कोई अंतर नहीं पड़ेगा। उसका साक्षी-भाव थिर है।

'और जिस प्रकार जग जाने से स्वप्न की क्रिया नाश को प्राप्त होती है, वैसे ही मैं ब्रह्म हूं, ऐसा ज्ञान होने से करोड़ों और अरबों जन्मों से इकट्ठा किया हुआ संचित कर्म नाश पाता है।'

इस संबंध में हमने पीछे बात की है। जैसे स्वप्न से जाग कर स्वप्न खो जाता है, ऐसा ही जाग कर, जो भी मैंने किया, वह मैंने कभी किया ही नहीं था, खो जाता है। लेकिन मेरे यह जान लेने पर भी मेरे शरीर को कोई ज्ञान नहीं होता है। मेरा शरीर तो अपनी यंत्रवत प्रक्रिया में घूमता है और अपनी नियति को पूरा करता है। जैसे हाथ से तीर छूट गया हो, वह वापस नहीं लौटाया जा सकता; और ओंठ से शब्द निकल गया हो, उसे भुलाया नहीं जा सकता, लौटाया नहीं जा सकता--ऐसे ही शरीर तो एक यंत्र-व्यवस्था है, उसमें जो हो गया, वह जब तक पूरा न हो जाए, तीर जब तक अपने लक्ष्य पर न पहुंच जाए, और शब्द जब तक आकाश के अंतिम छोर को न छू ले, तब तक विनाश को उपलब्ध नहीं होता।

तो शरीर तो झेलेगा ही। और एक बात इस संदर्भ में कह देनी उचित है। ख्याल में आ गया होगा आपको भी कि यह बात थोड़ी अजीब सी है कि रामकृष्ण को भी कैंसर! रमण को भी कैंसर! इतनी बुरी बीमारियां? बुद्ध की मृत्यु हुई जहरीले भोजन से विषाक्त हो जाने से रक्त के। महावीर की मृत्यु हुई भयंकर पेचिस हो जाने से; छह महीने तक पेट की असह्य पीड़ा से, जिसका कोई इलाज न हो सका। तो ख्याल में उठना शुरू होता है कि इतनी महान, शुद्धतम आत्माओं को ऐसी जघन्य बीमारियां पकड़ लेती हैं! क्या होगा कारण? हमें पकड़ें, अज्ञानी-जन को पकड़ें, पापी-जन को पकड़ें--समझ में आता है कि फल है, भोगते हैं अपना। महावीर को, बुद्ध को, रमण को या रामकृष्ण को ऐसा हो, तो चिंतना आती है मन में कि क्या बात है?

उसका कारण है। जो व्यक्ति जीवन्मुक्त हो जाता है, उसके जीवन की आगे की यात्रा तो समाप्त हो गई, यही जन्म आखिरी है। आपकी तो आगे की लंबी यात्रा है। समय बहुत है आपके पास। आप सारे दुख रत्ती-रत्ती करके झेल लेंगे। समय बहुत है आपके पास। बुद्ध, महावीर या रमण के पास समय बिल्कुल नहीं है। दस, बीस, पच्चीस, तीस साल का वक्त है। आपके पास जन्मों-जन्मों का भी हो सकता है। इस छोटे से समय में सारे कर्म, सारे संस्कार इकट्ठे, संगृहीत होकर फल दे जाते हैं।

इसलिए दोहरी घटनाएं घटती हैं। महावीर को एक तरफ तीर्थंकर का सम्मान मिलता है, वह भी सारे सुखों का इकट्ठा अनुभव है; और दूसरी तरफ असह्य पीड़ा भी झेलनी पड़ती है, वह भी सारे दुखों का इकट्ठा संघात है। रमण को एक तरफ हजारों-हजारों लोगों के मन में अपरिसीम सम्मान है। वह सारा सुख इकट्ठा हो गया। और फिर कैंसर जैसी बीमारी है, सारा दुख इकट्ठा हो गया। समय थोड़ा है। सब संगृहीत और जल्दी और शीघ्रता में पूरा होता है।

इसलिए ऐसे व्यक्ति परम सुख और परम दुख दोनों को एक साथ भोग लेते हैं। समय कम होने से सभी चीजें संगृहीत और एकाग्र हो जाती हैं। लेकिन भोगनी पड़ती हैं। भोगने के सिवाय कोई उपाय नहीं है।

(मा आनंद मधु ने खड़े होकर एक प्रश्न पूछा।)

प्रश्नः जिसके पास ज्यादा समय हो, वह यह बीमारी को ले सकता है कि नहीं? ले सकता है तो उपाय क्या?

नहीं, कोई उपाय नहीं, और लिया भी नहीं जा सकता। क्योंकि बीमारी लेने का तो मतलब यह होगा कि मेरे किए हुए का फल किसी दूसरे को मिल सकता है। तो सारी अव्यवस्था हो जाएगी। और अगर मेरे किए का फल दूसरे को मिल सकता है, तो इस जगत में फिर कोई नियम, कोई ऋत नहीं रह जाएगा। तब तो मेरी स्वतंत्रता भी किसी को मिल सकती है और मेरी जीवन्मुक्ति भी किसी को मिल सकती है। मेरा दुख, मेरा सुख, मेरा ज्ञान, मेरा अनुभव, मेरा आनंद, फिर तो कोई भी चीज ट्रांसफरेबल हो जाती है, हस्तांतरित हो जाती है।

नहीं, इस जगत में कोई भी चीज हस्तांतरित नहीं होती। होने का कोई उपाय नहीं है। कोई उपाय नहीं है। और उचित है कि उपाय नहीं है। हां, मन में ऐसा भाव पैदा होता है; वह भी उचित है और शुभ है। रमण को कोई प्रेम करने वाला चाह सकता है कि कैंसर आपका मैं ले लूं। यह चाह सुखद है। और इस चाह से इस व्यक्ति को पुण्य का फल मिलेगा। यह कर्म हो गया इसकी तरफ से।

समझ लें इसको। रमण मर रहे हैं और कैंसर है। कोई कह सकता है कि कैंसर मुझे मिल जाए, पूरे भाव से। तो भी मिल नहीं जाएगा। लेकिन इसने यह भाव किया है इतना, अपने ऊपर लेने का; यह कर्म हो गया; यह एक पुण्य हो गया। और इसका सुख इसे मिलेगा।

यह बड़ी अजीब बात हैः मांगा था दुख, लेकिन दुख मांगने वाला एक अदभुत पुण्य कर्म कर रहा है। इसे इसका सुख मिलेगा। लेकिन रमण से इसकी तरफ कुछ भी नहीं आ सकता। यह जो कर रहा है भाव, यह इसका ही कर्म बन रहा है। यह कर्म इसे लाभ देगा।

(किसी अन्य ने खड़े होकर दूसरा प्रश्न पूछना चाहा।)

प्रश्नः अरविंद के बारे में...

न, यह आदत खराब की मधु शुरू। यह तो नुकसान होगा।

यह मेरा इरादा है।

तुम्हारे इरादे अलग हैं, ये इतने लोग यहां बैठे हैं! इस तरह नहीं शुरू करो, नहीं तो मुश्किल होगा। वह सारी बात को अव्यवस्था हो जाएगी।

चौदहवां प्रवचन

आकाश के समान असंग है जीवन्मुक्त

स्वमसंगमुदासीनं परिज्ञाय नत्रो यथा।
न श्लिष्यते यतिः किंचित कदाचिद्भाविकर्मभिः।। 51।।
न नभो घटोयोगेन सुरागन्धेन लिप्यते।
तथाऽऽत्मोपाधियोगेन तद्धर्मैनेव लिप्यते।। 52।।
ज्ञानोदयात पुराऽऽरब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति।
यदत्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टवाणवत्।। 53।।
व्याघ्रबुद्ध्या विनिर्मुक्तो वाणः पश्चातु गोमतौ।
न तिष्ठति भिनत्येव लक्ष्यं वेगेन निर्भरम्।। 54।।
अजरोऽस्म्यमरोऽस्मीति य आत्मानं प्रपद्यते।
तदात्मना तिष्ठतोऽस्य कुतः प्रारब्ध कल्पना।। 55।।

आकाश के समान अपने को असंग तथा उदासीन जान कर योगी भविष्य के कर्मों में लेशमात्र लिप्त नहीं होता।

जिस प्रकार मदिरा के घड़ों में रहा हुआ आकाश मदिरा की गंध से लिप्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा उपाधि का संयोग होने पर भी उसके धर्मों से लिप्त नहीं होता।

जिस प्रकार लक्ष्य को उद्देश्य करके छोड़ा बाण लक्ष्य को बींधे बिना नहीं रहता, वैसे ही ज्ञान के उदय होने के पहले किया गया कर्म, ज्ञान का उदय होने के बाद भी उसका फल दिए बिना नहीं रहता। (अर्थात, किए हुए कर्म का फल तो ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर भी भोगना पड़ता है। ज्ञान द्वारा कर्म का नाश नहीं हो सकता।)

बाघ समझ कर छोड़ा हुआ बाण, छूटने के बाद, यह बाघ नहीं है वरन गाय है, ऐसी बुद्धि होने पर भी रुक नहीं सकता, पर वेगपूर्वक लक्ष्य को पूर्ण तरह बेधता ही है। इसी प्रकार किया हुआ कर्म ज्ञान हो जाने के बाद भी फल प्रदान करता है।

मैं अजर हूं, मैं अमर हूं--इस प्रकार जो अपने को आत्मारूप स्वीकार करता है तो वह आत्मारूप ही रहता है, अर्थात उसको प्रारब्ध कर्म की कल्पना कहां से हो? (अर्थात ज्ञानी को प्रारब्ध कर्म का संबंध नहीं रहता।)

चैतन्य के स्वरूप के संबंध में कुछ गहरे इशारे हैं। जीवन्मुक्त ही इन अनुभवों से गुजरता है। जीवन्मुक्त ही जान पाता है इन सूत्रों को। क्योंकि हमें चैतन्य का सीधा कोई अनुभव नहीं है। जो भी हम चेतना के संबंध में जानते हैं, वे भी मन में पड़े हुए प्रतिबिंब ही हैं।

इस बात को पहले समझ लें, फिर हम सूत्रों में प्रवेश करें।

मन एक अदभुत यंत्र है। और अब तो इस बात को वैज्ञानिक आधार भी मिल गए हैं कि मन यंत्र से ज्यादा नहीं है। अब तो कंप्यूटर मन से भी ज्यादा कुशल काम करता है। आदमी को चांद पर भेजने की जरूरत नहीं है, एक यंत्र भी भेजा जा सकता है। रूस ने यंत्र भेजे हुए हैं, वे कंप्यूटर हैं। वे चांद के संबंध में सूचनाएं इकट्ठी करके रूस को भेज देते हैं। यंत्र मात्र है, लेकिन मन जैसा ही सूक्ष्म है और आस-पास जो भी घटित होता है उसको संगृहीत कर लेता है।

मैंने पीछे आपको कहा कि जब समाधि से लौटता है जीवन्मुक्त वापस, तो एक मित्र पूछने आए थे कि जब समाधि में जाती है चेतना, तो मन तो पीछे छूट जाता है, और मन ही स्मृति रखता है, तो जो अनुभव चेतना को

घटित होते हैं, जब चेतना मन में लौटती है, तो किसे उनका स्मरण आता है? क्योंकि चेतना गई थी अनुभव में, और चेतना कोई स्मृति रखती नहीं, चेतना पर कोई रेखा छूटती नहीं, और मन गया नहीं अनुभव में, मन पीछे रह गया था, तो स्मरण किसको आता है? फिर कौन पीछे लौट कर देखता है?

मन अनुभव में नहीं गया, लेकिन अनुभव के द्वार पर ही छूट गया था। लेकिन द्वार से ही जो भी घटना घट रही है उसे पकड़ता है। मन तो यंत्र है, और उसका उपयोग दोतरफा हैः बाहर के जगत में जो घट रहा है उसे भी मन पकड़ता है, भीतर के जगत में जो घट रहा है उसे भी मन पकड़ता है। मन तो दोनों तरफ, उसकी परिधि में जो भी घटता है, उसे पकड़ता है। इससे कोई संबंध नहीं है कि मन जाए। वहां दूर कैमरा रखा हो, तो यहां जो घट रहा है वह कैमरा पकड़ता रहेगा। वहां दूर टेपरिकार्डर रखा हो, यहां जो मैं बोल रहा हूं, पक्षी गीत गाएंगे, हवाएं गुजरेंगी वृक्षों से, पत्ते गिरेंगे, वह टेपरिकार्डर उन्हें पकड़ता रहेगा।

मन को ठीक से समझ लें कि मन सिर्फ एक यंत्र है, मन में कोई चेतना नहीं है, मन में कोई आत्मा नहीं है, मन प्रकृति के द्वारा विकसित जीव-यंत्र है, जैविक यंत्र है, बायोलाजिकल मशीन है। मन, हमारी आत्मा और जगत के बीच में है। यह यंत्र जो है, शरीर में छिपा है और जगत और आत्मा के बीच में है। जगत में जो घटता है मन उसे भी पकड़ता है। इसे पकड़ने के लिए उसने पांच इंद्रियों के द्वार खोले हुए हैं।

इंद्रियां आपके मन के द्वार हैं। जैसे कि टेपरिकार्डर है, तो उसका माइक मेरे पास लगा हुआ है। टेपरिकार्डर हजारों मील दूर रख दें, यह माइक पकड़ता रहेगा और टेपरिकार्डर तक खबर पहुंचती रहेगी।

आपकी इंद्रियां माइक की तरह हैं मन के। पांच इंद्रियां मन के पांच द्वार हैं। रंग के जगत में, प्रकाश के जगत में, रूप के जगत में कुछ भी घटित होता है, तो मन ने शरीर तक आंख पहुंचाई हुई है, वह आंख पकड़ती रहती है। आंख का कैमरा घूमता रहता है, वह पकड़ता रहता है। ध्वनि के जगत में कुछ घटित होता है, संगीत होता है, शब्द होता है, मौन होता है, तो कान पकड़ता रहता है। और प्रतिपल जो पकड़ा जा रहा है, वह मन को संवादित किया जा रहा है। मन उसे संगृहीत करता रहता है। हाथ छूता है, जीभ स्वाद लेती है, नाक गंध लेती है, वह सब मन तक पहुंच रहे हैं।

आपकी सारी इंद्रियां मन के द्वार हैं। ये पांच इंद्रियां मन के द्वार हैं। एक और इंद्रिय है, जिसका नाम आपने सुना होगा, लेकिन कभी इस भांति नहीं सोचा होगा, वह है अंतःकरण। वह इंद्रिय, भीतर जो भी घटित होता है, उसको पकड़ती है। वह भी इंद्रिय है। भीतर जो भी घटित होता है, जब एक आदमी समाधि में डूब जाता है, तो अंतःकरण पकड़ता रहता है--क्या घट रहा है! शांत, मौन, आनंद, परमात्मा की प्रतीति--क्या हो रहा है!

अंतःकरण भीतर की तरफ खुला हुआ माइक है। वह भीतर की तरफ गई रिसेप्टिविटी है। और वहां एक की ही जरूरत है, वहां पांच की जरूरत नहीं है। पांच की तो जरूरत इसलिए है कि पंच महाभूत हैं बाहर और हर महाभूत को पकड़ने के लिए एक अलग इंद्रिय चाहिए। भीतर तो एक ब्रह्म ही है, इसलिए पांच इंद्रियों की कोई जरूरत नहीं; एक ही अंतःकरण भीतर के अनुभव को पकड़ लेता है।

तो छह इंद्रियां हैं आदमी कीः पांच बहिर्मुखी, एक अंतर्मुखी। और मन यंत्र है बीच में खड़ा हुआ; एक शाखा भीतर गई है, वह पकड़ती रहती है। भीतर कुछ भी घटित हो, मन पर सब अंकन हो जाते हैं। मन के जाने की जरूरत नहीं है। और इसीलिए जब समाधि से साधक लौटता है मन में, तो मन ही अपने रिकार्ड उसे दे देता है कि यह-यह भीतर हुआ। तुम जब यहां नहीं थे, तब यह-यह भीतर हुआ।

आप यहां चले जाएं अपने टेपरिकार्डर को छोड़ कर, घंटे भर बाद आप लौटें, टेपरिकार्डर आपको बता देगा यहां क्या-क्या शब्द बोले गए, क्या-क्या ध्वनि हुई। टेपरिकार्डर का जीवंत होना जरूरी नहीं है। मन भी

जीवंत नहीं है; मन भी पदार्थ है और सूक्ष्म यंत्र है। यह जो पदार्थ यंत्र है, यह दोनों तरफ से संगृहीत करता चला जाता है। इसलिए समाधि से लौटा हुआ साधक मन के द्वारा ही अनुमान करता है, मन से ही जानता है।

तो जितना परिशुद्ध मन हो, उतनी मन की खबर सही होती है; और जितना अशुद्ध मन हो, उतनी गलत होती है। जैसे कि टेपरिकार्डर आपका बिगड़ा हो, तो जो कहा जाए वह रिकार्ड तो करे, लेकिन पीछे समझ में न आए कि क्या कहा गया। रूप बिगड़ जाए, आकार बिगड़ जाए, ध्वनि बिगड़ जाए--कुछ समझ में आए, कुछ समझ में न आए।

इसलिए श्रवण से, मनन से, निदिध्यासन से पहले मन पूरी तरह शुद्ध कर लिया जाता है। और मन शुद्ध ग्राहक बन जाता है; जो भी हो, उसकी शुद्ध प्रतिलिपि देने लगता है; तब समाधि में प्रवेश होता है।

तो अंतःकरण सब पकड़ लेता है। फिर भी सत्यनिष्ठा के कारण मुनियों ने, ऋषियों ने कहा है कि वह अनुमान है, क्योंकि मन भीतर तो कभी गया नहीं, इसलिए जो भी कह रहा है, वह यांत्रिक खबर है। उस खबर में भूल-चूक हो ही सकती है। और इसीलिए एक बात और ख्याल में ले लें। अगर एक हिंदू समाधि में जाएगा, अगर एक मुसलमान समाधि में जाएगा, एक ईसाई समाधि में जाएगा, एक जैन समाधि में जाएगा, तो चारों के मन थोड़ी-थोड़ी अलग-अलग खबर देंगे। क्योंकि चारों का जो यंत्र है मन का, उसकी बनावट में थोड़ी-थोड़ी फर्क है। समाधि का अनुभव तो एक है, लेकिन मन की बनावट में फर्क है।

और जो आदमी जैन घर में पैदा हुआ है, उसका मन जैन ढंग से विकसित हुआ है, उसके यंत्र में जैन होना प्रवेश कर गया है। बचपन से उसने सुना है कोई परमात्मा नहीं है, तो उसकी बिल्ट-इन, उसके मन की एक प्रक्रिया हो गई हैः कोई परमात्मा नहीं है। और जो अंतिम अनुभव है, वह आत्मा का अनुभव है, परमात्मा का अनुभव नहीं है--यह उसके मन ने सुन रखा है। यह मन तैयार है, संस्कारित है।

फिर जब समाधि घटित होगी, तो यही मन तो रिकार्ड करेगा। समाधि तो एक है, किसी को भी घटित हो, लेकिन मन अलग-अलग हैं। यह मन रिकार्ड करेगा। इस मन ने जाना है कि परमात्मा तो है ही नहीं। अंतिम अनुभव आत्मा का अनुभव है, इससे ऊपर कोई अनुभव नहीं है। या यही अनुभव परमात्मा का अनुभव है, लेकिन अलावा कोई परमात्मा नहीं है। यह मन, जब समाधि में घटना घटेगी, तत्काल रिकार्ड करेगा कि यह आत्मा का परम अनुभव हो रहा है।

हिंदू, जिसने सुन रखा है परमात्मा का अनुभव, और जिसने जान रखा है कि आत्मा जब लीन होती है भीतर, तो जो दर्शन होता है वह परमात्मा का है। उसका मन रिकार्ड करेगाः यह परमात्मा का दर्शन हो रहा है। घटना वही घट रही है, यह परमात्मा का अनुभव हो रहा है।

बौद्ध, जो आत्मा को भी नहीं मानता और परमात्मा को भी नहीं मानता, उसका मन दोनों ही बातें रिकार्ड नहीं करेगा। उसका मन कहेगाः निर्वाण घटित हो गया--तुम मिट गए, शून्य हो गया।

इसीलिए शास्त्रों में फर्क है, क्योंकि शास्त्र मनों के रिकार्ड हैं--अनुभवों के नहीं। इसलिए हिंदू शास्त्र, जैन शास्त्र, बौद्ध शास्त्र में अंतर होगा। अंतर कभी-कभी ऐसा लगेगा कि बड़ा विपरीत है, क्योंकि मन के पास तो शब्द हैं, जो सीखे हैं। मन है सीखा हुआ, निर्मित।

ऐसा समझ लें, धर्म को अलग कर दें, ऐसा समझ लें कि आप संस्कृत सीखे हैं, या ग्रीक सीखे हैं, या अरेबिक सीखे हैं। तो मन के पास एक भाषा है। जब समाधि का अनुभव घटित होगा तो समाधि के अनुभव में भाषा का कोई भी सवाल नहीं है, लेकिन मन तो अपनी ही भाषा में रिकार्ड करेगा। जो अरबी जानता है, उसका मन यह कभी नहीं कह सकता कि समाधि घट गई; समाधि शब्द का ही उस मन को कोई पता नहीं है। तो सूफी कहेगा, फना! मिट गए! मतलब वही है।

आप देखते हैं, संन्यासी की कब्र को हम समाधि कहते हैं--इसीलिए; हर किसी की कब्र को समाधि नहीं कहते। उसी की कब्र को समाधि कहते हैं जो जीते जी मिट गया हो और मौत को मिटाने के लिए कुछ बचा ही न हो; मौत जब आए तो मिटाने को कुछ बचा ही न हो; जो खुद ही फना हो गया हो, समाप्त हो गया हो।

तो सूफी कहेगा फना, हिंदू कहेगा समाधि, बौद्ध कहेगा निर्वाण। ये शब्द तो मन के पास हैं। तो मन तत्काल अपनी भाषा में अनुवादित कर लेगा; जो भी भीतर घटित होगा, मन का यंत्र अनुवादित कर लेगा। हमें कठिनाई लगती है कि यंत्र कैसे अनुवादित करता होगा?

तो आपको यंत्रों के संबंध में बहुत पता नहीं है, इसलिए कठिनाई लगती है। नवीनतम जो यंत्रों की शोध है, वह बहुत अदभुत है। जो मन कर सकता है, वह काम सभी यंत्र कर सकता है। ऐसा कोई भी काम मन का नहीं है, जो यंत्र न कर सके। इससे एक बड़ी खतरनाक बात हो गई कि अगर मन का सारा काम यंत्र कर लेता है तो मन तो यांत्रिक हो गया। तो जो लोग मानते हैं कि मन के पार कोई आत्मा नहीं है, उनके लिए आदमी यंत्र हो गया, फिर उसमें कुछ बचा नहीं। अगर यह सच है कि कोई आत्मा नहीं है, तो आदमी सिर्फ एक यंत्र है। और बहुत कुशल यंत्र भी नहीं, उससे ज्यादा कुशल यंत्र हो सकते हैं।

यू.एन.ओ. में पांच भाषाओं में यंत्र अनुवाद कर देते हैं। मैं यहां बोल रहा हूं हिंदी में, तो पांच भाषाओं में अनुवाद करने की व्यवस्था यू.एन.ओ. में की गई है; पांच बड़ी भाषाओं में तत्काल अनुवाद हो जाता है। कोई अनुवादक नहीं करता, यंत्र ही। मैं यहां कहता हूं प्रेम, तो अंग्रेजी में अनुवाद करने वाला यंत्र तत्काल लव कर देता है। यह प्रेम की जो चोट पड़ती है भीतर यंत्र पर, यंत्र वैद्युतिक रूप से इसको दूसरी चोट में बदल देता है, जो लव का उदघोष कर देती है।

तो यंत्र अनुवाद करते हैं; यंत्र गणित करते हैं; यंत्र स्मृति रखते हैं; यंत्र सभी काम करने लगे हैं जो मनुष्य का मन करता है। इसलिए जब पहली दफा योगियों ने, उपनिषदों ने, तांत्रिकों ने कहा था कि मन एक यंत्र है, तो दुनिया की समझ में नहीं आया था। लेकिन अब तो विज्ञान ने यंत्र बना दिए हैं, और कोई अड़चन नहीं है।

यह मन दोतरफा संग्रह करता है--समाधि का भी, संसार का भी। संसार की खबर भी मन से मिलती है और ब्रह्म की खबर भी मन से मिलती है।

अब हम इस सूत्र में प्रवेश करें। जिसको यह अनुभव हो जाता है कि सारे प्रतिबिंब मन पर निर्मित होते हैं, जिसे यह अनुभव हो जाता है कि जितने भीतर मैं प्रवेश करता हूं, केंद्र पर जाकर, मेरे ऊपर कोई भी संस्कार निर्मित नहीं होते हैं, सारे संस्कार मन पर ही निर्मित होते हैं, स्वयं पर नहीं--तब यह सूत्र समझ में आएगा।

'आकाश के समान अपने को असंग तथा उदासीन जान कर योगी भविष्य के कर्मों में लेशमात्र लिप्त नहीं होता।'

बहुत बातें हैं इसमें समझने की।

'आकाश के समान अपने को असंग तथा उदासीन जान कर... ।'

आकाश को हम देखते हैं रोज। एक पक्षी आकाश में उड़ता है, कोई चिह्न पीछे नहीं छूट जाते। जमीन पर चलते हैं, पदचिह्न छूट जाते हैं। गीली जमीन हो, और ज्यादा छूट जाते हैं। पत्थर की जमीन हो, हलके छूटते हैं। लेकिन कोशिश करके गहरे किए जा सकते हैं। लेकिन आकाश में पक्षी उड़ता है तो कोई पदचिह्न नहीं छूटते। पक्षी उड़ जाता है, आकाश वैसा का वैसा होता है, जैसा पहले था पक्षी के उड़ने के। कोई उपाय नहीं है पता लगाने का कि यहां से पक्षी उड़ा है। आकाश में बादल घिरते हैं, आते हैं, चले जाते हैं, आकाश वैसा ही बना रहता है जैसा था।

आकाश को अशुद्ध करने का, संस्कारित करने का, आकाश में निशान बनाने का कोई उपाय नहीं है। पानी में हम बनाते हैं लकीरें, बनती हैं, बनते ही मिट जाती हैं। पत्थर पर बनाते हैं, बनती हैं, मिटने में हजारों वर्ष लग जाते हैं। आकाश में लकीर ही नहीं खिंचती। बनती ही नहीं, मिटने का कोई सवाल नहीं है।

फर्क को समझ लेंः आकाश में लकीर बनती ही नहीं। मैं अपनी अंगुली खींचता हूं आकाश में, अंगुली खिंच जाती है, लकीर नहीं बनती; मिटने का कोई सवाल नहीं है।

जिस दिन कोई व्यक्ति मन के पार उठता है, जिस दिन चेतना मन के पीछे सरक जाती है, उस दिन अनुभव होता है कि इस आत्मा पर आकाश की भांति अब तक कोई भी--कोई भी--निशान निर्मित नहीं हुआ है; यह सदा से शुद्ध, और सदा से बुद्ध, इस पर कोई विकृति घटित नहीं हुई है।

'आकाश की तरह अपने को असंग... ।'

असंग बड़ा कीमती शब्द है। असंग का अर्थ है, सबके साथ है और फिर भी साथ नहीं है। आकाश सब तरफ मौजूद है। वृक्ष को भी आकाश ने घेरा है, आपको भी आकाश ने घेरा है, साधु को भी आकाश घेरे हुए है, असाधु को भी आकाश घेरे हुए है; अच्छा कर्म हो रहा हो तो भी आकाश मौजूद है, बुरा कर्म हो रहा हो तो भी आकाश मौजूद है; पाप करो, पुण्य करो; जीयो, मरो, आकाश मौजूद है, लेकिन असंग। आपके साथ मौजूद है, लेकिन संगी नहीं है आपका। आपसे कोई संबंध नहीं बनाता। मौजूद है, लेकिन मौजूदगी असंग है। हमेशा मौजूद है, फिर भी आपसे कोई दोस्ती नहीं बनती, कोई संबंध निर्मित नहीं होता। असंग का अर्थ है असंबंधित। है तो, लेकिन कोई संबंध नहीं है। आप हट जाएं, तो आकाश को पता भी नहीं चलता कि आप कभी थे।

कितनी पृथ्वियां बनती हैं और खो जाती हैं! कितने लोग जन्मते हैं और मर जाते हैं! कितने महल खड़े होते हैं, धूल-धूसरित हो जाते हैं! कितना हो चुका है, आकाश के पास कोई भी हिसाब नहीं है। आकाश से पूछो, आकाश के पास कोई इतिहास नहीं है; सब खाली है। जैसे कभी कुछ न हुआ हो, आकाश ऐसा ही है। लौट कर पीछे देखें, अरबों-खरबों वर्ष! कहते हैं पृथ्वी को ही हुए चार अरब वर्ष हो गए! इस चार अरब वर्ष में इस छोटी सी पृथ्वी पर कितना नहीं घटा हैः कितने युद्ध, कितने प्रेम, कितनी मित्रताएं, कितनी शत्रुताएं, कितनी जीत, कितनी हार, कितने लोग। आकाश के पास कोई हिसाब नहीं। जैसे कभी कुछ न हुआ हो, कोई रेखा नहीं छूट गई।

भारतीयों ने इतिहास नहीं लिखा। पश्चिम के लोग बहुत हैरान होते हैं कि भारत के पास ऐतिहासिक बुद्धि क्यों नहीं है! हमें कुछ पक्का पता नहीं कि राम कब हुए। हमें कुछ पक्का हिसाब नहीं कि कृष्ण की जन्मतिथि सच में, ऐतिहासिक रूप से क्या है। कोई पक्का नहीं है। कथाएं हमारे पास हैं, लेकिन ऐतिहासिक प्रमाण नहीं हैं।

इतिहास को मनुष्य की दुनिया में प्रवेश कराने का श्रेय ईसाइयत को है। जीसस जिस अर्थ में ऐतिहासिक हैं, उस अर्थ में बुद्ध, कृष्ण, परशुराम ऐतिहासिक नहीं हैं। जीसस के साथ दुनिया दो हिस्सों में बंट जाती है। पहली दुनिया, उसके पहले की दुनिया गैर-ऐतिहासिक हो जाती है, प्रि-हिस्टारिकल, पूर्व-ऐतिहासिक; और जीसस के बाद की दुनिया ऐतिहासिक हो जाती है, हिस्टारिकल हो जाती है। इसलिए उचित ही है कि सन जीसस का चले। ईसवी सन चले, यह उचित ही है, क्योंकि जीसस के साथ जगत में इतिहास प्रवेश करता है। इसलिए हम कहते हैं जीसस के पूर्व और जीसस के बाद--रेखा खिंच जाती है।

भारत ने कभी इतिहास नहीं लिखा है, उसका कारण है। उसका एक कारण बुनियादी यही है कि भारत ने यह अनुभव किया है कि जिसके भीतर सब घटता है--जिस आकाश के भीतर--वही कोई हिसाब नहीं रखता, तो हम व्यर्थ का हिसाब क्यों रखें? जिसके भीतर सब घटता है, उसके पास ही कोई हिसाब नहीं रहता, तो हम फिजूल पंचायत में क्यों पड़ें हिसाब रखने कीः कौन कब पैदा हुआ और कौन कब मरा!

तो हमने इतिहास नहीं रखा, हमने पुराण निर्मित किया। पुराण भारतीय घटना है। पुराण भारतीय घटना है, इतिहास नहीं। पुराण का मतलब कुछ और होता है। पुराण का मतलब हमने तिथि, तारीखें, जन्मदिन, मृत्युदिन, इनकी फिक्र नहीं की। हमने तो जो सार था--राम हुए, हमने इसकी फिक्र नहीं की कि कब हुए, किस सन में हुए, कब पैदा हुए, कब पढ़ने गए, कब विवाह हुआ, इस सबकी हमने फिक्र नहीं की; क्योंकि इसका तो कोई हिसाब रखने का प्रयोजन नहीं मालूम पड़ा। लेकिन राम के होने की जो भीतरी घटना घटी--कि एक व्यक्ति राम हो गया, एक दीया जल उठा और प्रकाशित हो गया--हमने बस उतना स्मरण रख लिया। हमने बाकी खोल का, शरीर का कोई हिसाब नहीं रखा। हमने इतना स्मरण रख लिया कि बुझा हुआ दीया जल सकता है, प्रकाशित हो सकता है। मनुष्य का जीवन दुर्गंध ही नहीं है, वहां सुगंध भी घटी है--बस इतना हमने हिसाब रख लिया। फिर, फिर हमने बाकी सब व्यर्थ की बातें छोड़ दी हैं, हमने उनका कोई हिसाब नहीं रखा।

तो हम यह जरूरी नहीं मानते कि राम हुए ही हों, इससे भी कोई प्रयोजन नहीं है। राम हो सकते हैं, बस इतना काफी है। राम के होने की घटना घट सकती है, हमने इतना स्मरण रखा है। यह स्मरण काफी है। कृष्ण हो सकते हैं। हुए हैं, नहीं हुए हैं, यह गौण है। हुए को भी हम ख्याल रखते हैं तो सिर्फ इसीलिए ताकि याद रहे कि हो सकते हैं; यह हमारे भीतर भी यह फूल खिल सकता है; और हमारे भीतर भी यह आनंद का झरना घट सकता है। इसलिए हमने पुराण--पुराण का मतलब, वह जो सारभूत है, उतना ही।

चैतन्य में प्रवेश करके पता लगता है कि आकाश में कोई रेखा नहीं छूटती, लेकिन आपका जो सार है वह छूट जाता है। इसे थोड़ा समझ लेंः आकाश में कोई रेखा नहीं छूटती, लेकिन आपकी जो सार-सुगंध है वह छूट जाती है। और वह इसीलिए छूट जाती है कि उसका आकाश से कोई विजातीय मामला नहीं है, वह स्वयं ही आकाश है आपके भीतर। आप जब मरते हैं, तो आपके भीतर का आकाश ही केवल आकाश में छूट जाता है, बाकी सब खो जाता है। उस भीतरी आकाश को हम आत्मा कहते हैं।

एक विस्तार है बाहर, एक विस्तार भीतर भी है। बाहर के आकाश में भी बादल घिरते हैं और आच्छादित मालूम पड़ता है आकाश। वर्षा के दिन में आषाढ़ के सांझ में, सब ढंक जाता है। और कोई सोच भी नहीं सकता कि वह नीला आकाश कभी था, या वह नीला आकाश फिर कभी मिलेगा। जब काले बादल घेर लेते हैं आकाश को, तो आकाश बिल्कुल दिखाई नहीं पड़ता, बादल ही दिखाई पड़ते हैं।

बाहर का आकाश भी बादलों से घिरता है, भीतर का आकाश भी बादलों से घिरता है। भीतर के आकाश के जो बादल हैं, उनको ही विचार, विकल्प, विकार--जो भी हम नाम देना चाहें--वे भीतर घिर जाते हैं। जब भीतर के आकाश पर भी बादल घिर जाते हैं, तो वहां भी ऐसा लगता है कि पीछे कोई निरभ्र आकाश नहीं है। इन बादलों को हटाना ही साधना है। इन बादलों को हटा कर ही नीले आकाश में झांक लेना, असंग आकाश में झांक लेना उपलब्धि है, सिद्ध-अवस्था है।

यह सूत्र कहता हैः 'आकाश के समान अपने को असंग और उदासीन... ।'

आकाश न आपके साथ हंसता है, न आपके साथ रोता है। आप मरें, तो आकाश से आंसू की बूंद नहीं टपकती; आप जीएं, प्रफुल्लित हों, तो आकाश आपकी खुशी में नूपुर बांध कर नाचता नहीं। आकाश बिल्कुल उदासीन है। क्या घट रहा है, इस पर आकाश कोई वक्तव्य ही नहीं देता। मुर्दे को मरघट की तरफ ले जा रहे हैं तो, नए जन्मे बच्चे की खुशी में बैंड-बाजा बजा रहे हैं तो; विवाह हो गया है और घर को फूलों से सजा लिया है तो, प्रियजन खो गया है और जीना व्यर्थ मालूम पड़ रहा है तो--आकाश उदासीन है। क्या घट रहा है, इससे कोई संबंध नहीं है।

जैसे ही कोई भीतर के अंतर-आकाश में प्रवेश करता है, वह भी ऐसा ही उदासीन हो जाता है। क्या हो रहा है, इससे कोई संबंध नहीं रह जाता। आकाश की तरह देखने लगता है जगत को।

आकाशी-भाव आ जाए, तो ही जानना कि जीवन्मुक्ति हुई। आकाश की तरह भीतर कोई रेखा न खिंचे; कुछ भी हो जाए बाहर, सब नाटक रह जाए; सब परिधि पर होने लगे, केंद्र पर कोई भी स्पर्श न पहुंचे। मन के पीछे हटते ही, ऐसा हो ही जाता है।

'आकाश के समान अपने को असंग, उदासीन जान कर योगी भविष्य के कर्मों में लेशमात्र लिप्त नहीं होता।'

यह दूसरा हिस्सा इस सूत्र का। जब कोई जान लेता है कि अतीत का कोई भी कर्म मुझे स्पर्श नहीं कर सका--हारा, तो मेरी आत्मा हारी नहीं; और जीता, तो मेरी आत्मा जीती नहीं; सम्मान हुआ, तो मेरी आत्मा में कुछ बढ़ा नहीं; अपमान हुआ, तो मेरी आत्मा में कुछ घटा नहीं--ऐसी जिसकी प्रतीति हो जाए, स्वभावतः, भविष्य के कर्म उसके लिए व्यर्थ हो जाएंगे। जब अतीत के कोई कर्म मुझे छू नहीं सके तो भविष्य के भी कोई कर्म मुझे छू नहीं सकेंगे। इसलिए भविष्य की योजना बंद हो जाएगी। फिर वह नहीं सोचेगा कि मैं सफल हो जाऊं। फिर वह नहीं सोचेगा कि कहीं मैं असफल न हो जाऊं! फिर वह नहीं सोचेगा कि मेरी प्रतिष्ठा रहे। फिर वह नहीं सोचेगा कि कहीं कोई अप्रतिष्ठित न कर दे, कोई अपमान न कर जाए! जिसने देख लिया स्वयं को, देखते ही सारा अतीत असंबंधित हो गया; उसी क्षण सारा भविष्य भी असंबंधित हो गया।

भविष्य अतीत का ही विस्तार है। जो-जो हमने भविष्य में जाना है--सुखद पाया है, दुखद पाया है--उसको ही हम भविष्य में पुनः-पुनः आयोजन करते हैं। जिसे सुखद पाया है, उसकी चाह करते हैं भविष्य में; और जिसे दुखद पाया है, उसे भविष्य में भोगना न पड़े, इसकी चाह करते हैं। हमारा भविष्य क्या है? अतीत का ही प्रतिफलन है, अतीत का ही थोड़ा सुधारा हुआ रूप है। कल कुछ किया था, उसमें दुख पाया, तो हम कल उसे नहीं करना चाहते हैं। कल कुछ किया था, सुख पाया, तो हम उसे कल और ज्यादा मात्रा में करना चाहते हैं।

अगर पूरा अतीत ऐसा दिखाई पड़ जाए कि सुख और दुख, शुभ और अशुभ, कोई भी नहीं छू सके मुझे, मैं आकाश की तरह खाली का खाली हूं, शून्य का शून्य, कोई रेखा नहीं खिंची मुझ पर, असंस्कारित, अनकंडीशंड रह गया हूं--सारी की सारी यात्रा हो गई इतनी और मैं भीतर अस्पर्शित, कुंआरा का कुंआरा रह गया हूं--तो फिर भविष्य व्यर्थ हो गया।

ध्यान रहे, जीवन्मुक्त का कोई भविष्य नहीं है। और अगर आपका थोड़ा सा भी भविष्य बाकी है, तो समझना कि अभी अंतर-आकाश का अनुभव नहीं हुआ है। अगर कोई योगी अभी भी सोच रहा है कि मोक्ष कैसे पाऊं? अभी भी सोच रहा है कि कैसे परमात्मा का दर्शन हो? तो अभी जानना कि अंतर-आकाश का अनुभव नहीं हुआ है। यह सब योजना है--भविष्य की योजना है। अभी भविष्य है। जरा सा इंच भर भी भविष्य है तो काफी भविष्य है। इंच भर भी भविष्य इस बात की खबर देता है कि अभी यह अनुभव नहीं हुआ कि आत्मा को कोई भी कर्म छूता नहीं है। मोक्ष भी नहीं छुएगा, ईश्वर भी नहीं छुएगा। असल में यह अछूतापन, यह शाश्वत अछूतापन ही मोक्ष है। यह शाश्वत अस्पर्शित रह जाना ही भगवत्ता है; यही भगवान होना है; कुछ और भगवान का अर्थ नहीं है।

कृष्ण को अगर हम भगवान कहते हैं, या महावीर को भगवान कहते हैं, या बुद्ध को भगवान कहते हैं, तो क्या अर्थ है? कोई बुद्ध ने दुनिया बनाई है, इसलिए भगवान? क्या भगवान का अर्थ है? बुद्ध को भी बीमारी आती है, बुद्ध भी जीर्ण होते हैं, बुद्ध भी मरते हैं, शरीर बिखरता है--कैसे भगवान? दुख आता है, बीमारी आती है, जीर्ण होते हैं, मरते हैं। भगवान को तो मरना नहीं चाहिए; भगवान को तो वृद्ध नहीं होना चाहिए; भगवान को तो बीमारी नहीं लगनी चाहिए। बुद्ध को भी भूख लगती है, प्यास लगती है; चाकू मार दें तो खून बहता है। कैसे भगवान? क्या अर्थ भगवान का?

भगवान का यही अर्थ है कि यह सब होता है, और भीतर जो छिपा है वह जानता है कि कुछ भी नहीं छूता। यह सब होता है। हाथ काट दो तो खून बहता है, भूख लगती है, प्यास लगती है, बुढ़ापा आता है, मृत्यु आती है--लेकिन भीतर जो अंतर-आकाश है बुद्ध के, वह जानता है कि कुछ भी छूता नहीं। न मौत छूती है, न जीवन छूता है। जीवन भी निकल जाता है, मौत भी निकल जाती है; जवानी भी, बुढ़ापा भी; और भीतर वह जो कुंआरापन है, वह अछूता, अस्पर्शित रह जाता है। उसमें कोई भंग नहीं होता; वहां कोई खबर ही नहीं पहुंचती कि बाहर क्या हो गया है। इस अनुभव का नाम भगवत्ता है।

तो कोई आदमी अगर भगवान के दर्शन की तलाश कर रहा है, तो उसका भविष्य है। जिसका भविष्य है, उसका भगवान से कभी कोई मिलन नहीं है। भविष्य यानी संसार। भविष्य का अर्थ है अतीत का सत्य अभी दिखाई नहीं पड़ा; अभी यह अनुभव में नहीं आया कि मैं आकाशवत हूं।

इसलिए यह सूत्र कहता है कि योगी के लिए भविष्य के कर्मों में लेशमात्र रस नहीं रह जाता। कल योगी के लिए है ही नहीं, बस आज है। आज भी बड़ा है, कहना चाहिए यही क्षण है--पल मात्र। अभी और यहीं उसका होना है। उसकी कोई दौड़ आगे की तरफ नहीं है।

'जिस प्रकार मदिरा के घड़ों में रहा हुआ आकाश मदिरा की गंध से लिप्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा उपाधि का संयोग होने पर भी उसके धर्मों से लिप्त नहीं होती।'

घड़ा है, शराब भरी है। तो घड़ा तो प्रभावित हो जाता है शराब से। घड़े की मिट्टी तो शराब को पी जाती है। घड़े के रोएं-रोएं में शराब भर जाती है। और अगर बहुत पुराना घड़ा हो और बहुत शराब रही हो, तो घड़े की मिट्टी भी खा जाएं तो नशा चढ़ सकता है। तो घड़े की मिट्टी तो आच्छादित हो जाती है शराब से, भर जाती है। क्यों? मिट्टी पोरस है। समझ लें थोड़ा। मिट्टी में छिद्र हैं। उन छिद्रों में शराब भर जाती है और छिप जाती है। घड़ा शराब पी लेता है और शराबी हो जाता है। घड़ा भी मतवाला हो जाता है पीकर। लेकिन घड़े में एक और तत्व भरा हुआ है--आकाश; घड़े का खालीपन... ।

अब यह बड़े मजे की बात है कि घड़े की मिट्टी में शराब भरी नहीं जाती, शराब तो भरी जाती है घड़े के भीतर के खालीपन में। शराब तो भरती है--घड़े में नहीं--घड़े के भीतर जो आकाश है, उसमें। शराब को जब हम भरते हैं, तो किस में भरते हैं, मिट्टी में? नहीं, मिट्टी तो केवल उस आकाश को चारों तरफ से बांधने का उपाय है। आकाश है बड़ा, और शराब है थोड़ी; पूरे आकाश को आप भर न सकेंगे, इसलिए छोटे से आकाश को चुनते हैं। मिट्टी की दीवाल बनाते हैं, छोटा सा आकाश चुन लेते हैं भीतर, उसमें शराब भरते हैं।

शराब भरी जाती है आकाश में, मिट्टी में नहीं। मगर मजा यह है कि मिट्टी दीवानी हो जाती है और पागल, और जिसमें भरी जाती है, आकाश, वह अछूता रह जाता है। शराब बाहर निकाल लें घड़े के, तो वह जो खाली जगह है, उसमें जरा भी शराब की गंध नहीं होती। मिट्टी में होती है। मिट्टी तो सन्निधि से भी दीवानी हो जाती है। सिर्फ सत्संग का परिणाम पड़ जाता है। और आकाश में भरा हुआ है सब, और वह अस्पर्शित रह जाता है।

तो जो भी आपने किया है, वह सब आपके शरीर को छुआ है, बस। वह आपकी मिट्टी में गया है। जो भी आपने किया है, वह आपके भीतर के आकाश, आपकी आत्मा को नहीं छुआ है। किए हों पाप, किए हों पुण्य; किया हो अच्छा, किया हो बुरा; जो भी किया है, वह आपकी मिट्टी में, आपके घड़े में समा गया है। मन भी आपकी मिट्टी है और आपका शरीर भी। इन दोनों के बीच में जो रिक्त है, शून्य है, वह है आपकी आत्मा। वहां तक कुछ भी नहीं पहुंचा है। कभी नहीं पहुंचा है। ऐसा जान लेना, ऐसा अनुभव कर लेना, तो उपाधि से मुक्त हो जाना है। उपाधि कभी आपको है ही नहीं, सब उपाधियां शरीर, मन की हैं।

लेकिन जो शरीर पी गया है, वह शरीर भोगेगा। आत्मज्ञानी का शरीर भी वह भोगेगा, जो शरीर पी गया है। अच्छा है, बुरा है; सुख है, दुख है; जो किया है, जो घटा है, अतीत रोएं-रोएं में समाया है। तो जिस दिन यह परम ज्ञान की घटना भी घटती है और व्यक्ति जाग कर आकाशवत हो जाता है, उस दिन भी शरीर में जो होता रहा है, उसकी यात्रा पूरी होगी।

यह करीब-करीब ऐसा कि आप साइकिल चला रहे हैं, और आपने पैडल मारने बंद कर दिए, आपको समझ में आ गया, यात्रा व्यर्थ है, कहीं जाना नहीं है। लेकिन साइकिल में एक मोमेंटम है; हजारों मील से आप चलाते चले आ रहे थे, तो साइकिल ने गति अर्जित कर ली है। आपने पैडल बंद कर दिए तो साइकिल अभी नहीं रुक जाएगी। साइकिल तो थोड़ा चलेगी, बिना पैडल के चलेगी। आप नहीं चला रहे हैं तो भी चलेगी; क्योंकि साइकिल ने गति अर्जित कर ली है। वह गति साइकिल के भीतर भर गई है। वह गति जब तक पूरी न निकल जाए, तब तक साइकिल चलेगी। फिर गिरेगी, जब पूरी गति निकल जाएगी। अगर आप गति देते चले जाएं, तो कभी नहीं गिरेगी। आप गति बंद कर लें तो उसी वक्त नहीं गिरेगी, थोड़ा समय लेगी।

तो हम तो जन्मों-जन्मों से शरीर पर सवार हैं, और जन्मों-जन्मों से मन की यात्रा कर रहे हैं। आज अगर जाग कर अलग भी हो जाएंगे, तो इसी वक्त मन और शरीर नहीं गिर जाएगा। मन और शरीर ने तो जो गति अर्जित कर ली है, मोमेंटम, उसको पूरा करेगा।

'जिस प्रकार लक्ष्य को उद्देश्य करके छोड़ा गया बाण लक्ष्य को बींधे बिना नहीं रहता, वैसे ही ज्ञान के उदय होने के पहले किया गया कर्म, ज्ञान के उदय होने के बाद भी उसका फल दिए बिना नहीं रहता।'

तो चाहे बुद्ध हों, और चाहे कृष्ण हों, और चाहे कोई हो, वह जो पीछे किया है, उसका फल, उसकी पूर्ण निष्पत्ति होगी, उसका परिपाक होगा।

'अर्थात किए हुए कर्म का फल तो ज्ञान उत्पन्न हो जाने के बाद भी भोगना ही पड़ता है। ज्ञान द्वारा कर्म का नाश नहीं होता।'

ज्ञान द्वारा अनुभव होता है कि मैं कर्ता नहीं हूं, लेकिन ज्ञान द्वारा कर्म का नाश नहीं होता। वह जो कर्म किया है, वह पूरा होगा। उदाहरण लिया है कि जैसे तीर छोड़ दिया; निशाना लगाया, तीर छोड़ दिया। छोड़ते ही तीर ख्याल आया, बोध आया कि यह मैं हिंसा कर रहा हूं, न करूं। तो भी अब कुछ होगा नहीं, तीर अपनी यात्रा पूरी करेगा।

एक शब्द मैंने बोला, और बोलते ही मुझे लगा कि नहीं बोलना था, लेकिन अब शब्द अपनी यात्रा पूरी करेगा। बोलते ही जो गति शब्द को मिल गई है, जब तक वह गति समाप्त न हो जाएगी, तब तक शब्द चलता रहेगा।

एक पत्थर हम फेंकते हैं, तो पत्थर जब हम फेंकते हैं तो अपनी शक्ति पत्थर को दे देते हैं। उसी शक्ति के सहारे पत्थर जाता है; जहां तक शक्ति रहती है वहां तक यात्रा करता है, फिर गिर जाता है। हमें बीच में ख्याल भी आ जाए कि नहीं फेंकना था, तो भी अब उसे लौटाने का कोई उपाय नहीं है।

कर्म छूटे हुए बाण हैं। बीच में स्मरण आने से कुछ भी न होगा; वे अपनी यात्रा पूरी करके ही गिरेंगे। और जब तक उनकी पूरी, सारे कर्मों की यात्रा पूरी नहीं हो जाती, तब तक जीवन्मुक्ति रहेगी, मोक्ष नहीं होगा। इसे समझ लें। तब तक व्यक्ति मुक्त-भाव में रहेगा, लेकिन उसके आस-पास शरीर और मन का कर्मजाल चलता रहेगा। नया पोषण नहीं होगा अब, लेकिन पुराना जो पोषण है, वह जब तक रिक्त, चुक न जाए, तब तक चलता रहेगा।

ऐसा समझें कि अगर आप उपवास करके जीवन छोड़ देना चाहें, तो आज आप उपवास करेंगे तो आज ही नहीं मर जाएंगे। तीन महीने लगेंगे, कम से कम, ज्यादा भी लग सकते हैं; लेकिन तीन महीने तो लगेंगे ही। नब्बे दिन के उपवास के बाद ही मृत्यु घटित हो सकती है।

क्यों? आपने आज उपवास किया, आज ही मर जाना चाहिए! लेकिन आपके शरीर के पास अर्जित मांस है, वह जो आपने पीछे इकट्ठा कर लिया है। तीन महीने लग जाएंगे उस मांस के पचने में। तीन महीने में आपकी हड्डी-हड्डी रह जाएगी। आपका अर्जित भोजन जो शरीर में इकट्ठा था, वह आप पचा लेंगे। इसलिए एक दिन आप उपवास करते हैं तो एक पौंड वजन कम हो जाता है। तो जितना मोटा आदमी हो, उतनी देर टिक जाएगा। संग्रह है उसके पास ज्यादा। संग्रह उसके पास ज्यादा है, वह उसको एक-एक पौंड पचाता जाएगा। जब तक उसका संगृहीत नहीं पच जाता तब तक शरीर से छुटकारा नहीं होगा, शरीर नहीं टूटेगा। तीन महीने लगेंगे।

ठीक ऐसे ही, जब चेतना जाग जाती है पूरी, उसी वक्त मोक्ष हो जाना चाहिए, पर नहीं होता। कभी-कभी हुआ है। बहुत, बहुत न्यून घटनाएं हैं, न के बराबर, कि ज्ञान के साथ और मोक्ष हो गया है। उसका मतलब यह हुआ कि कोई ऐसा आदमी हो बिल्कुल हड्डी-हड्डी, कुछ अर्जित ही न हो, कि पहले ही दिन उपवास करे और प्राणांत हो जाएं। उसका मतलब हुआ कि भीतर बिल्कुल हो ही न कुछ, मरने को तैयार ही थे। पर ऐसा आदमी खोजना कठिन है। भिखारी से भिखारी के पास भी थोड़ी संपदा रहती है। भूखे से भूखा आदमी भी थोड़ा सा अर्जित कोष रखता है। वह इमरजेंसी के लिए जरूरी है। इसलिए उसको बचाए रखता है।

संयोग से कभी ऐसा हो सकता है कि किसी व्यक्ति के कर्मों की भी समाप्ति उसी क्षण में हो, जिस क्षण में उसको बोध हो। लेकिन यह बहुत मुश्किल मामला है; बहुत, कभी ऐसा हुआ है। साधारणतः तो--चाहे बुद्ध, चाहे महावीर, चाहे कोई और--रुका है, जीया है, ज्ञान के बाद वर्षों तक। वह जीने का कारण, मुक्ति तो घटित हो गई, लेकिन अतीत के कर्मों का बोझ, और अतीत की शक्ति शरीर को धकाए लिए जाती है यात्रा में। जब वह शक्ति चुक जाएगी, उस वक्त जीवन्मुक्ति मोक्ष बन जाएगी।

पर जरूरी भी है, और उपयोगी भी है; क्योंकि जीवन्मुक्त अगर उसी वक्त मोक्ष को उपलब्ध हो जाए, तो जीवन्मुक्त ने जो जाना है, वह हमें बता भी नहीं पाएगा। जीवन्मुक्त हमें बता पाता है इसीलिए कि उसकी मुक्ति और मोक्ष के बीच अंतर है, समय है। चालीस साल बुद्ध जीए, चालीस साल महावीर जीए। ये चालीस साल ही हमारे काम पड़े। इन चालीस साल में जो उन्होंने जाना है, जो अनुभव किया है, वह उनका मन हम तक संवादित कर सका।

'बाघ समझ कर छोड़ा हुआ बाण भी छूटने के बाद, यह बाघ नहीं है वरन गाय है, ऐसी बुद्धि आ जाने पर भी रुक नहीं सकता, वेगपूर्वक लक्ष्य को पूर्ण तरह बेधेगा ही। इसी प्रकार किया हुआ कर्म ज्ञान हो जाने के बाद भी फल प्रदान करता है।'

इसलिए अगर आपको कभी ज्ञानी भी कई तरह के दुख में पड़ता हुआ दिखाई पड़े, तो आप यह मत सोचना कि इतना ज्ञानी, इतना सात्विक, फिर परमात्मा इसको क्यों सता रहा है! कोई किसी को सता नहीं रहा है। क्योंकि कोई कितना ही बड़ा ज्ञानी हो, अज्ञान की लंबी यात्रा तो पीछे है ही। ज्ञानी होने का मतलब ही यह है कि काफी अज्ञान में यात्रा हो गई है। उस यात्रा में जो धूल-धवांस इकट्ठी हो गई है उसे तो भोगना ही पड़े। पर ज्ञानी उसे भोगता है आकाश-भाव से। हां, उसके आस-पास जो लोग इकट्ठे होते हैं, वे आकाश-भाव से नहीं भोग पाते।

रामकृष्ण को कैंसर हुआ तो विवेकानंद तो रोते ही थे। अभी विवेकानंद को आकाश-भाव उत्पन्न नहीं हुआ था। रमण को कैंसर हुआ तो पूरा आश्रम तो दुखी होगा ही, क्योंकि जो इकट्ठे थे उनका तो कोई आकाश-भाव नहीं है।

रमण ने मरते वक्त, जैसे ही वे श्वास छोड़ रहे थे, किसी ने पूछा, अब हमारा क्या होगा? तो रमण ने कहा, क्या होगा! मैं यहीं रहूंगा--आई विल बी हियर; मैं यहीं रहूंगा।

आश्वासन आ गया। आंसू रुक गए रोने वालों के कि भरोसा उन्होंने दे दिया कि मैं यहीं रहूंगा, मतलब वे नहीं मरने वाले हैं। और वे मर गए! समझ में भूल हो गई। वे जो कह रहे थे, मैं यहीं रहूंगा, वे उस आकाश की बात कर रहे थे जो घड़े के फूट जाने पर भी कहां जाएगा! घड़ा ही फूटता है।

रमण कहते हैं, मैं यहीं रहूंगा। किसलिए रोते हो!

पर यह आकाश का वचन हैः मैं यहीं रहूंगा। यह घड़े का वचन नहीं है। पर जो आस-पास थे उन्होंने समझा घड़े का वचन है; घड़ा यहीं रहेगा। फिर घड़ा फूट गया। फिर वे सोचने लगे कि क्या रमण धोखा दे गए? क्या हमको समझाने को कहा था? क्या सांत्वना थी यह?

यह सांत्वना नहीं थी, यह सत्य था। लेकिन अब इस आकाशवत रमण को अनुभव करने का उपाय आपके पास तब तक नहीं है, जब तक आप अपने आकाश को अनुभव न कर लें। जब तक आप अपने को घड़ा ही समझते हैं, तब तक रमण तो गए।

रामकृष्ण मरने लगे, तो उनकी पत्नी शारदा रोने लगी, छाती पीटने लगी। तो रामकृष्ण ने कहा, तू क्यों रोती है? तू तो सधवा ही रहेगी; तू विधवा नहीं होगी।

खुश हो गई होगी शारदा। और रामकृष्ण मर गए। पर कह गए कि तू सधवा ही रहेगी; मैं कहीं मरने वाला हूं! पर शारदा अदभुत स्त्री थी। रामकृष्ण मर गए, रामकृष्ण दफना दिए गए, लेकिन शारदा की आंख से आंसू न टपका। बंगाल का जैसा रिवाज था, लोग आ गए चूड़ियां तोड़ने। शारदा ने कहा, रहने दो; क्योंकि मैं सधवा हूं। लोगों ने कहा, अब सफेद कपड़े पहन लो। शारदा ने कहा, बात ही मत करना। क्योंकि जिसने कहा है, उसके वचन का मुझे भरोसा है। वह कोई सांत्वना के लिए नहीं कहा था।

तो बड़ी मीठी कथा घटी है। शारदा जितने दिन जिंदा रही, उसने माना ही नहीं कभी स्वप्न में भी कि रामकृष्ण मर गए हैं। लोग हैरान होते थे कि या तो शारदा पागल हो गई है। लेकिन पागल नहीं थी। क्योंकि पागल का कोई और लक्षण न था। बल्कि सच तो यह है कि जिस दिन से रामकृष्ण मरे, और जिस दिन से रामकृष्ण की मृत्यु को शारदा ने स्वीकार नहीं किया, उसी दिन से वह स्वयं अमृतधर्मा हो गई। उस दिन से वह स्वयं ही आकाशवत हो गई। वह अनुभव, रामकृष्ण की मृत्यु का, सिर्फ घड़े के मिटने का अनुभव रहा। और घड़े से तो कुछ लेन-देन भी न था। यह रामकृष्ण और शारदा का विवाह असाधारण विवाह था। इसमें घड़ों का तो कभी कोई संपर्क ही नहीं हुआ था। रामकृष्ण तो शारदा को मां की तरह ही मानते रहे थे। इसमें शरीर का तो कोई लेन-देन ही न था। यह तो दो आकाश का ही मिलन था।

मीठी है बात, बड़ी अदभुत, वर्षों शारदा जीयी रामकृष्ण के मरने के बाद। लेकिन जैसे रोज वह भोजन बनाती थी और रामकृष्ण के पलंग के पास जाकर कहती थी कि परमहंसदेव, भोजन तैयार है। यह सब ऐसा ही जारी रहा; भोजन बनता रहा। शारदा रोज जाती पलंग के पास। कोई भी नहीं, किसी को रामकृष्ण... लोग रोते शारदा की बात सुन कर कि वह कहती, परमहंसदेव, भोजन तैयार है। फिर जैसे रामकृष्ण के लिए रुकी रहती, जैसा वह सदा रुकती थी। फिर वह उठते। जब तक वे उठते न, तब तक वह खड़ी रहती। फिर रामकृष्ण आगे जाते तो वह पीछे जाती। यह उसी को दिखाई पड़ता, यह किसी और को दिखाई नहीं पड़ता। फिर वह थाली पर बिठाती, फिर वह पंखा झलती रहती, फिर वह रोज उन्हें सुलाती, फिर रोज सुबह उठाती। वह सब क्रम वैसा ही चलता रहा।

किसी ने शारदा से पूछा है कि किसको उठाती हो? किसको सुलाती हो? किसको खिलाती हो? यह सब क्या है? तो शारदा ने कहा, जिसको पहले सुलाती थी, वही। अब देह खो गई है, अब सिर्फ आकाश रह गया है। जिसे खिलाती थी, उसे ही।

शारदा सधवा ही बनी रही! पूरे मनुष्य-जाति के इतिहास में यह अकेली घटना है। किसी पत्नी ने पति के मर जाने पर सधवा रहने का जो अनूठा अनुभव किया है, वह अकेली घटना है। इसलिए शारदा जैसी स्त्री खोजनी बहुत मुश्किल है।

कर्म तो पूरे होते हैं ज्ञान हो जाने पर भी, पर जिसे अनुभव हो गया भीतर के शून्य का वह देखता रहता है साक्षी-भाव से, जो भी होता है। अब उसकी कोई मर्जी और इच्छा नहीं है कि ऐसा हो और ऐसा न हो; जो होता है, वह स्वीकार कर लेता है। साक्षी अर्थात तथाता। अब जो हो रहा है, ठीक है। नहीं हो रहा है, वह भी ठीक है। और कुछ भी मेरे भीतर कभी नहीं हुआ है और कभी नहीं हो सकता है, यह अनुभव में निष्ठा बनी रहती है।

'मैं अजर हूं, मैं अमर हूं, इस प्रकार जो अपने को आत्मारूप स्वीकार करता है, तो वह आत्मारूप ही रहता है। अर्थात उसको प्रारब्ध कर्म की कल्पना कहां से हो? अर्थात ज्ञानी को प्रारब्ध कर्म का संबंध नहीं रहता।'

इसे समझ लें। यह सूत्र विपरीत सा दिखाई पड़ेगा। विपरीत नहीं है। कर्म तो रहते हैं, लेकिन ज्ञानी को उनसे संबंध नहीं रहता। जो जान लेता है मैं आकाशवत हूं--अजर और अमर, सदा अलिप्त, असंग, उदासीन, तटस्थ; कभी अपने बाहर नहीं गया, कभी कोई मेरे भीतर नहीं आया; न जन्मा हूं, न मरूंगा, सिर्फ होना मात्र ही मेरी अवस्था है--ऐसा जो अनुभव कर लेता है, उसे कर्म घटित होते रहते हैं अतीत कीशृंखला से, लेकिन उसका संबंध उनसे टूट जाता है।

दुख आता है, शरीर में पीड़ा होती है, बुढ़ापा आता है, तो वह ऐसा नहीं कहता कि मैं बूढ़ा हो रहा हूं; वह ऐसा ही कहता है कि मैं देखता हूं, शरीर बूढ़ा हो रहा है। बीमारी आती है तो वह कहता है, मैं देखता हूं कि शरीर बीमार हो रहा है। दुख आता है तो वह कहता है, मैं देखता हूं दुख आया। और सुख आता है तो वह कहता है, मैं देखता हूं सुख आया। वह अपने देखने में ही थिर होता है, वह जुड़ता नहीं। और जब कोई कर्म से नहीं जुड़ता, तो कर्म अपनी गति को पूरा करके लीन हो जाते हैं; शरीर अपनी यात्रा पूरी करके गिर जाता है; मन अपने संचित वेग को दौड़-दौड़ कर तोड़ लेता है, नष्ट हो जाता है; और साक्षी शून्य आकाश के साथ एक हो जाता है।

जब तक शरीर है, तब तक जीवन्मुक्ति; जब शरीर भी गिर जाता है, तो मोक्ष।

पंद्रहवां प्रवचन

मेरे का सारा जाल कल्पित है

प्रारब्धं सिध्यति तदा यदा देहात्मना स्थिति।
देहात्मभावो नैवेष्टः प्रारब्धं त्यज्यतामतः।। 56।।
प्रारब्धकल्पनाऽप्यस्य देहस्य भ्रांति रेष हि।। 57।।
अध्यस्तस्य कुतस्य असत्यस्य कुतोजनिः।
अजातस्य कुतो नाशः प्रारब्धमसतः कुतः।। 58।।
ज्ञानेनाज्ञानकार्यस्य समूलस्य लयो यदि।
तिष्ठत्ययं कथं देह इति शड्कावतो जडान्।। 59।।

प्रारब्ध कर्म तो उसी समय सिद्ध होता है, जब देह के ऊपर आत्म-बुद्धि होती है। पर देह के ऊपर आत्म-भाव रखना तो कभी इष्ट नहीं है, इसलिए देह के ऊपर की आत्म-बुद्धि को तज कर प्रारब्ध कर्म का त्याग करना।

देह की भ्रांति यही प्राणी के प्रारब्ध कर्म की कल्पना है। पर आरोपित अथवा भ्रांति से जो कल्पित हो, वह सच्चा कहां से हो? जो सच्चा नहीं है, उसका जन्म कहां से हो? जिसका जन्म नहीं हुआ उसका नाश कहां से हो? इस प्रकार जो असत है, वस्तु रूप है ही नहीं, उसको प्रारब्ध कर्म कहां से हो!

देह यह अज्ञान का कार्य है, उसका ज्ञान द्वारा जो समूल नाश हो जाता है तो यह देह रहती कैसे है? ऐसी शंका करने वाले अज्ञानियों का समाधान करने के लिए ही श्रुति ने बाह्य दृष्टि से प्रारब्ध कहा है। (वास्तव में न तो देह है और न प्रारब्ध है।)

सूत्र के पहले, एक-दो प्रश्न पूछे गए हैं, उनकी बात कर लेनी उचित है।

एक मित्र ने पूछा है कि आप जो कह रहे हैं वह बात समझ में भी आती है, और समझ में आती भी नहीं; तो क्या करें?

उनका प्रश्न मूल्यवान है। ऐसी सभी की प्रतीति होगी। क्योंकि समझ के दो तल हैं। एक तो जो मैं कहता हूं, वह आपकी बुद्धि की समझ में आ जाता है; आपकी बुद्धि को युक्तिपूर्ण लगता है; आपकी बुद्धि को प्रतीत होता है कि ऐसा होगा।

यह समझ ऊपर-ऊपर है। यह समझ प्राण के भीतर तक नहीं उतर सकती। यह समझ आपके पूरे व्यक्तित्व की समझ नहीं है--आत्मिक नहीं है। इसलिए ऊपर से समझ में आता हुआ लगेगा। और जब तक यहां बैठ कर सुन रहे हैं, तब तक ऐसा लगेगा, बिल्कुल समझ में आ गया। फिर यहां से हटेंगे और समझ खोनी शुरू हो जाएगी। क्योंकि जो समझ में आ गया है, वह जब तक साधा न जाए, तब तक आपके प्राणों का हिस्सा नहीं हो सकता। जो समझ में आ गया है, जब तक वह आपके खून, मांस, मज्जा में सम्मिलित न हो जाए, तब तक वह ऊपर से किए रंग-रोगन की तरह उड़ जाएगा।

फिर, जो समझ में आ गया है, उसके भीतर आपकी पुरानी सब समझ दबी हुई पड़ी है। जैसे ही यहां से हटेंगे, वह भीतर की सब समझ इस नई समझ के साथ संघर्ष शुरू कर देगी। वह इसे तोड़ने की, हटाने की कोशिश करेगी। इस नए विचार को भीतर प्रवेश करने में पुराने विचार बाधा देंगे; अस्तव्यस्त कर देंगे; हजार शंकाएं, संदेह उठाएंगे। और अगर उन शंकाओं और संदेहों में आप खो जाते हैं, तो वह जो समझ की झलक मिली थी, वह नष्ट हो जाएगी।

एक ही उपाय है कि जो बुद्धि की समझ में आया है, उसे प्राणों की ऊर्जा में रूपांतरित कर लिया जाए; उसके साथ हम एक तालमेल निर्मित कर लें। हम उसे साधें भी; वह केवल विचार न रह जाए, वह गहरे में आचार भी बन जाए--न केवल आचार, बल्कि हमारा अंतस भी उससे निर्मित होने लगे। तो ही धीरे-धीरे, जो ऊपर गया है, वह गहरे में उतरेगा, और साधा हुआ सत्य, फिर आपके पुराने विचार उसे न तोड़ सकेंगे। फिर वे उसे हटा भी न सकेंगे। बल्कि उसकी मौजूदगी के कारण पुराने विचार धीरे-धीरे स्वयं हट जाएंगे और तिरोहित हो जाएंगे।

तो यह बात ठीक है, साधक के लिए सवाल ऐसा उचित है। समझ में आ जाता है, फिर हम तो वैसे ही बने रहते हैं। अगर हम वैसे ही बने रहते हैं तो जो समझ में आया है, वह ज्यादा देर टिकेगा नहीं। कहां टिकेगा? किस जगह टिकेगा? आप अगर पुराने ही बने रहते हैं, तो जो समझ में आया है वह जल्दी ही झड़ जाएगा, भूल जाएगा, विस्मृत हो जाएगा।

ऐसे तो बहुत बार आपको समझ में आ चुका है। यह कोई पहला मौका नहीं है। न मालूम कितनी बार आप सत्य के करीब-करीब पहुंच कर वापस हो गए हैं। न मालूम कितनी बार द्वार खटखटाना भर था, कि आप आगे हट गए हैं और दीवाल हाथ में आ गई है। भूल यहीं हो जाती है कि जो हमारी समझ में आता है, उसे हम तत्काल जीवन में रूपांतरित नहीं करते हैं।

इस संबंध में यह बात ख्याल लेने जैसी है कि अगर आपको कोई गाली दे, तो आप तत्काल क्रोध करते हैं; और आपको कोई समझ दे, तो आप तत्काल ध्यान नहीं करते हैं। कुछ बुरा करना हो तो हम तत्काल करते हैं, कुछ भला करना हो तो हम सोच-विचार करते हैं। ये दोनों मन की बड़ी गहरी तरकीबें हैं; क्योंकि जो भी करना हो, उसे तत्काल करना चाहिए, तो ही होता है। क्रोध करना हो कि ध्यान करना हो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। बुरा हम करना चाहते हैं इसलिए हम तत्काल करते हैं, एक क्षण रुकते नहीं; क्योंकि रुके, तो फिर न कर पाएंगे।

कोई गाली दे, उससे कह आएं कि चौबीस घंटे बाद आकर जवाब दूंगा। फिर कोई जवाब संभव नहीं होगा। चौबीस घंटा तो बहुत लंबा वक्त है, चौबीस क्षण भी अगर आप चुपचाप विचार में व्यतीत कर दें, तो शायद क्रोध करने का मन नहीं रह जाएगा। शायद हंसी आ जाए। शायद उस आदमी की नासमझी पता चले। या शायद वह ठीक ही गाली दे रहा है, यह भी पता चल जाए। इसलिए समय खोना उचित नहीं है; जैसे ही गाली की चोट पड़े, तत्काल उबल पड़ना जरूरी है; फिर पछताने का काम पीछे कर लेंगे।

आपने ख्याल किया है कि सभी क्रोधी पछताते हैं! क्रोध करने के बाद पछताते हैं। अगर थोड़ी देर रुक जाते, तो क्रोध करने के पहले ही पछतावा आ जाता और क्रोध कभी न होता। जिसका पछतावा क्रोध के बाद आता है, वह कभी क्रोध से मुक्त नहीं हो पाएगा; जिसका पछतावा क्रोध के पहले आ जाता है, वही मुक्त हो सकता है। क्योंकि जो हो चुका, वह हो चुका; उसे अनकिया नहीं किया जा सकता।

लेकिन जगह कहां है? गाली दी आपने, इधर क्रोध भभका; दोनों के बीच में स्थान कहां है कि मैं थोड़ा सोच लूं, विचार कर लूं! विमर्श कर लूं; देख लूं अतीत के अपने संकल्प न मालूम कितनी बार किए हैं कि क्रोध न करूंगा! खोज लूं अतीत में, कितनी बार क्रोध करके पछताया हूं! उतना मौका नहीं है; समय नहीं है, स्थान नहीं है। उधर गाली, इधर आग निकलनी शुरू हो जाती है।

थोड़ी सी जगह बनाएं, क्रोध मुश्किल हो जाएगा।

क्रोध में तो नहीं बनाते जगह, लेकिन ध्यान में थोड़ी जगह बनाते हैं। इसलिए ध्यान भी मुश्किल हो जाता है। जब कोई शुभ और सही और ठीक बात की चोट पड़ती है, उसे उसी क्षण करने में हम नहीं लग जाते, हम राह देखते हैं। वह जो बीच का समय है, वही अस्तव्यस्त कर देगा। गरम लोहे पर चोट मारनी चाहिए। तो

विचार करते रहते हैं कि चोट मारे या न मारें? तब तक लोहा ठंडा हो जाता है। फिर चोट भी मारते हैं तो कोई परिणाम नहीं होता।

एक मित्र आज आए थे। वे कहते हैं, संन्यास लेना है। लेकिन अभी और थोड़ा समय चाहिए; सोचना है। मैंने उनसे पूछा, और कितनी बातों के संबंध में जीवन में सोचा है? अगर और बातों के संबंध में सोचा होता, तो संन्यास कभी का फलित हो गया होता; क्योंकि सोच-विचार का अंतिम परिणाम संन्यास है। जो भी आदमी सोचेगा, विचारेगा, इस जीवन में भोग उसके लिए व्यर्थ हो ही जाने वाला है।

तो मैंने उनसे पूछा, और कितना सोचा-विचारा है? किस-किस बात को सोच-विचार कर किया है? या कि सिर्फ संन्यास को सोच-विचार कर लेंगे? कितना समय लगाएंगे सोचने-विचारने में? और आप ही सोचेंगे न? तो कल आप सोचते हैं कि आप कुछ ज्यादा बुद्धिमान हो जाएंगे? तो जरा पीछे लौट कर देखें, बुद्धि कम भला हो गई हो, ज्यादा होती मालूम नहीं होती।

वैज्ञानिक कहते हैं कि चौदह साल और अठारह साल के बीच में आमतौर से लोगों की बुद्धि रुक जाती है, फिर कभी बढ़ती नहीं। यह भी बहुत विशेष लोगों की बात है, अठारह साल तक बुद्धि जिनकी बढ़ती हो। नहीं तो और पहले रुक जाती है।

पिछले महायुद्ध में अमरीका में जांच-पड़ताल की भर्ती के लिए युद्ध के सैनिकों की, तो औसत बुद्धि की उम्र साढ़े तेरह वर्ष पाई गई। औसत बुद्धि का साढ़े तेरह वर्ष का आंकड़ा तय हुआ कि आमतौर से आदमी की बुद्धि साढ़े तेरह वर्ष पर रुक जाती है, फिर कभी बढ़ती-वढ़ती नहीं।

आप कहेंगे कि यह बात जंचती नहीं। क्योंकि आपको लगता है कि जब आप जवान थे, उससे बूढ़े होकर आप ज्यादा बुद्धिमान हो गए हैं। भला आपको न लगता हो, लेकिन अपने बेटों को आप जंचवाते रहते हैं कि ज्यादा बुद्धिमान, मैं बूढ़ा आदमी, अनुभवी, मेरे पास बुद्धि ज्यादा है।

बुद्धि ज्यादा नहीं है आपके पास, अनुभव ज्यादा हो सकते हैं। अनुभव तो संग्रह है। बुद्धि उस संग्रह का उपयोग है, वह अलग बात है। बच्चे के पास संग्रह कम होता है, आपके पास ज्यादा है। मगर उस संग्रह का जो उपयोग है, उस संग्रह का कैसे उपयोग करना, वह बुद्धि है। बुद्धि संग्रह नहीं है।

तो यह भी हो सकता है कि एक बच्चे के पास बूढ़े से ज्यादा बुद्धि हो, यह कभी नहीं हो सकता कि एक बच्चे के पास बूढ़े से ज्यादा अनुभव हो; कभी नहीं हो सकता। अनुभव तो बच्चे के पास कम होगा ही, लेकिन बुद्धि ज्यादा हो सकती है। बूढ़े के पास अनुभव ज्यादा होता है, बुद्धि ज्यादा नहीं होती।

उन मित्र से मैंने कहा कि कल आप सोचते हैं, या परसों, बुद्धि थोड़ी ज्यादा हो जाएगी? इतना ही होगा कि अभी इस विचार की हवा में, अभी इस ध्यान की तरंग में, अभी इतने संन्यासियों के आनंद और मुक्त प्रभाव में एक ख्याल उठा है मन में। माउंट आबू से नीचे उतरते-उतरते, जैसे-जैसे आपकी बस नीचे उतरने लगेगी, वैसे-वैसे इस ख्याल से आप भी नीचे उतरने लगेंगे। माउंट आबू रोड स्टेशन तक यह विचार टिक जाए, कठिन है। माउंट आबू रोड स्टेशन पर उतर कर आप ठंडी गहरी सांस लेंगे कि अच्छा हुआ, जैसे के तैसे वापस लौट आए। कुछ खोया नहीं, कुछ गंवाया नहीं, किसी झंझट में न पड़े! महीने भर बाद आपको ख्याल भी नहीं आएगा।

वातावरण, अनेक लोगों की मौजूदगी, अनेक लोगों का सामूहिक प्रयास आपको भी उठा देता है एक ऊंचाई पर, जिस पर होना आपकी आदत नहीं है। आप नाच रहे हैं कीर्तन में। आपको पता है, अकेले इस भाव से आप नाच सकेंगे? आप कम नाच रहे हैं; इतने लोग नाच रहे हैं, उनका नाच संक्रामक हो जाता है, वह आपको भी छू लेता है। उनकी तरंगें आपके हृदय को भी कंपाने लगती हैं। उनके पैरों की गति आपके पैरों को भी उछलने का मौका देने लगती है। और फिर आपके सदा के सोचने का ढंग यह है कि कोई क्या कहेगा! और जहां सभी

लोग नाच रहे हों, एक बात पक्की है कि नाचने वाले से कोई कुछ कहने वाला नहीं है, खड़े रहने वाले से कोई कुछ भला कहे। तो गति आ जाती है; आप मुक्त अनुभव करते हैं कि ठीक है, यहां कोई अड़चन नहीं है, यहां नाचा जा सकता है।

उतरेंगे भीड़ में वापस बाजार की, यह जो एक ऊंचाई की झलक मिली थी, एक छलांग ली थी और आकाश की तरफ आंखें उठाई थीं, वे फिर जमीन की तरफ लग जाएंगी। तो क्या आशा है कि कल, परसों आप निर्णय कर सकेंगे! निर्णय तो आपको करना है, वह आज भी किया जा सकता है।

पर वे मित्र बोले कि ऐसा भी नहीं है कि मैंने निर्णय करने की कोशिश नहीं की, निन्यानबे परसेंट तो मन बिल्कुल तैयार है, बस एक परसेंट रह गया है।

उनसे मैंने पूछा कि जिंदगी में और भी कोई काम किया है जिसमें निन्यानबे परसेंट मन तैयार रहा हो और एक परसेंट तैयार न रहा हो? कभी रुके हैं इस बात से? और उनसे मैंने यह भी पूछा कि क्या आपको पता है आप क्या कह रहे हैं? जब निन्यानबे परसेंट मन संन्यास लेने को तैयार है और एक परसेंट नहीं लेने को तैयार है, तो आप एक परसेंट के पक्ष में निर्णय ले रहे हैं!

यह तो आप सोचना ही मत कि आप निर्णय लेने से बच सकते हैं। निर्णय लेने से बचने का इस जगत में कोई उपाय ही नहीं है। चाहे आप न लेने का लें, वह भी निर्णय है। रोकने का लें कि कल लेंगे, वह भी निर्णय है। दुनिया में आपके लिए चुनाव की स्वतंत्रता है कि आप क्या निर्णय लें, इसकी कोई स्वतंत्रता नहीं है कि आप निर्णय ही न लें। इसका कोई उपाय ही नहीं है। निर्णय तो लेना ही पड़ेगा।

लेकिन एक मजे की बात है कि न करने के निर्णय को हम निर्णय नहीं समझते हैं; यह बड़ी अदभुत बात है। उनको ख्याल में भी नहीं था कि नहीं लूंगा संन्यास, यह भी निर्णय है। लूंगा, यह भी निर्णय है। अगर दोनों निर्णय हैं, तो बड़ा अदभुत मन है कि एक परसेंट निर्णय के साथ रुकता है और निन्यानबे परसेंट के साथ जाने की हिम्मत नहीं जुटाता है!

हम अपने को धोखा देने में बड़े कुशल हैं। ऊपर बुद्धि को समझ में आ जाता है संन्यास, तो हम डरते भी हैं। हम सोचते हैं, थोड़ा वक्त मिल जाए। वक्त इसलिए नहीं कि हम सोच लेंगे, वक्त इसलिए कि यह प्रभाव क्षीण हो जाएगा। और वह जो निन्यानबे परसेंट है वह एक परसेंट रह जाएगा, और जो एक परसेंट है वह निन्यानबे परसेंट हो जाएगा। और जब निन्यानबे परसेंट था तब हमने नहीं निर्णय लिया संन्यास का, तो जब एक परसेंट होगा तब हम लेने वाले हैं?

तो आपकी समझ, चूंकि आप उसे रूपांतरित नहीं करते, निर्णय नहीं बनाते, डिसीजन नहीं बनाते, कभी गहरी नहीं जा सकती है। इसे ठीक से ख्याल में ले लें। बहुत बार सुन लेंगे, समझ लेंगे, फिर वैसे के वैसे रह जाएंगे। बल्कि इसका एक खतरा भी है कि जब बहुत बार सुन-सुन कर, समझ-समझ कर आप वैसे के वैसे रह जाते हैं, तो धीरे-धीरे आप चिकने घड़े हो जाते हैं; क्योंकि इतनी चीजें फिसलती हैं आप पर से तो चिकनाहट पैदा होती है। इतने विचार आप पर गिरते हैं और आप वैसे ही रह जाते हैं! और विचार गिर जाते हैं नीचे और घड़ा अपनी जगह बैठा रहता है! घड़ा चिकना हो जाता है। तो जितनी बार आप ऐसी बातें सुन कर वैसे के वैसे रह जाते हैं, उतना कठिन होता जा रहा है; क्योंकि तब बात गिरेगी नहीं कि फिसल जाएगी नीचे। घड़ा बिल्कुल चिकना हो गया है; रास्ते बन गए हैं फिसलने के।

अच्छा है, अच्छी बात ही न सुनें। सुनें, तो हिम्मत करें और अपने को बदलने का निर्णय लें। तब आपको लगेगा कि जो समझ में आया था, वह ऊपर-ऊपर नहीं रहा, प्राणों का स्वर बन गया है। और जिस दिन श्वास-श्वास में न समा जाए समझ, उसका कोई भी मूल्य नहीं है। उसका एक ही मूल्य है कि आप अच्छी बातें करना सीख जाएं। हम सभी जानते हैं, और हमारा मुल्क तो इतना कुशल है अच्छी बातें करने में! अध्यात्म तो हमारी

जबान पर रखा है! बस जबान पर ही रखा है, उससे भीतर कहीं नहीं है। किसी से भी पूछ लें, ब्रह्मज्ञान तो कोई भी जानता है! कोई भी जानता है! हमारे पूरे देश की व्यवस्था, मन की, चिकने घड़े की हो गई है। हजारों-हजारों साल से तीर्थंकरों, अवतारों, ऋषियों का हमने एक ही उपयोग किया हैः कि सुन-सुन कर हम चिकने घड़े हो गए हैं।

मुझसे कोई पूछता था, मैं एक गांव में था, और मुझसे वह कहने लगा आदमी कि यह भारत बड़ी पुण्य-भूमि है, सारे अवतार यहीं हुए, सारे तीर्थंकर यहीं हुए, सारे बुद्ध यहीं हुए!

मैंने कहा कि तू फिर से सोच, यह पुण्य-भूमि है कि यहां पापी बड़े अदभुत हैं कि इतने सब हुए फिर भी वे बिना बदले बैठे हैं? कि सब अवतार गए, हमारे चिकने घड़े पर लकीर न खींच पाए! कि सब तीर्थंकर आए, हमने कहा कि आओ और जाओ! हम उनमें से नहीं हैं कि बातों में आ जाएं!

क्या, मतलब क्या होता है? एक घर में अगर गांव भर के डाक्टर आएं तो इसका मतलब है कि गांव में वही घर सबसे ज्यादा बीमार है। सारे अवतारों को यहीं पैदा होना पड़े! और कृष्ण ने कहा है गीता में कि जब धर्म की ग्लानि बढ़ती है, और जब पाप बढ़ जाता है, और जब दुष्टजन बढ़ जाते हैं, तब मैं आता हूं। और सब अवतार यहीं आए। तो मतलब क्या है? पुण्य-भूमि है?

अगर कृष्ण का वाक्य सही है, तो जहां उनको नहीं जाना पड़ा, पुण्य-भूमि वहां हो सकती है। लेकिन सबको चुकता यहां आना पड़ा! बात जाहिर है कि इस मुल्क की आत्मा बिल्कुल चिकनी हो गई है।

हमने इतनी अच्छी बातें सुनी हैं और सुन-सुन कर हम ऐसे तल्लीन हो गए हैं कि करने की हमने कभी फिक्र ही नहीं की है।

समझ आपकी तब तक गहरी न हो पाएगी, पूरी न हो पाएगी, जब तक समझ आपकी अंतरात्मा में प्रविष्ट नहीं होती। और आप कोई निर्णय लें, तो ही समझ अंतस में प्रविष्ट होती है। निर्णय द्वार है। छोटे से निर्णय भी बड़े क्रांतिकारी हैं। किस बात का निर्णय लिया, यह बहुत मूल्य का नहीं है; निर्णय लिया। इस लेने में ही आपके प्राण इकट्ठे हो जाते हैं; एकजुट हो जाते हैं। निर्णय लेते ही आप दूसरे आदमी हो जाते हैं। वह निर्णय बिल्कुल क्षुद्र भी हो सकता है।

मैं आपसे कहता हूं कि दस मिनट खांसें भी नहीं। बड़ी अमानवीय बात मालूम पड़ती है; आपको खांसी आ रही है और मैं खांसने तक नहीं देता! दुष्टता मालूम पड़ती है। सभा में आप बैठे हैं, मैं आपको कहता हूं, खांसें मत, बिल्कुल खांसी बंद रखें।

पर आपको ख्याल में नहीं है, इतना छोटा सा निर्णय भी आपके भीतर आत्मा का जन्म बनता हैः दस मिनट नहीं खांसूंगा! और अगर इसमें आप सफल हो गए, तो एक खुशी की लहर रोएं-रोएं में फैल जाती है; आपको पता चलता है कि मैं कोई निर्णय लूं तो पूरा कर सकता हूं।

खांसी, छींक बड़ी गड़बड़ चीजें हैं। उनको रोको तो और जोर से आती हैं। रोको तो सारा ध्यान उन्हीं पर केंद्रित हो जाता है। रोको तो खांसी भी बगावत करती है। वह कहती है, ऐसा तो कभी नहीं किया! यह क्या नया ढंग सीख रहे हैं? यह क्या बात है? यह तो अपना कभी संबंध नहीं रहा ऐसा कि मैं आऊं और आप रोकें! यह तो मैं न भी आऊं, दूसरे को आ रही हो, तो आप खांस लेते थे! आपको न भी हो, तो दूसरे की भी पकड़ लेते थे! यह क्या हुआ है?

लेकिन अगर दस मिनट भी आप बिना खांसे रुक जाते हैं, तो आपके और शरीर के बीच का संबंध इस छोटी सी बात से भी बदल रहा है।

जैसे मैं आपसे कहता हूं, रुक जाएं। गुरजिएफ इसका बड़ा प्रयोग करता था ध्यान में। उसने इसके लिए स्टाप मेडीटेशन ही नाम दे रखा था। आप राजी हो जाएंगे थोड़े समय में, तो उस प्रयोग को हम पूरा करेंगे। जब

मैं आपसे कहता हूं रुक जाएं, तो मेरे इस 'रुक जाने' में, अभी मैं आप पर ज्यादा जोर नहीं दे रहा हूं। गुरजिएफ भी कहता था, रुक जाएं! लेकिन रुक जाने का मतलब था--जैसे हैं; एक पैर ऊपर है और एक पैर नीचे है, नाच रहे थे--तो वह वहीं रह जाए। गर्दन आड़ी है तो वैसी रह जाए, शरीर झुका है तो वैसा रह जाए। फिर जरा भी कोई फर्क नहीं करना है; जो हालत है, वैसी रह जाए। चाहे शरीर धड़ाम से गिर जाए, पर आपको कुछ फर्क नहीं करना है; शरीर गिरे तो गिर जाए। और जैसा गिर जाए, वैसा ही रहने देना है; आपको भीतर से इंतजाम नहीं करना है कि पैर जरा तिरछा है तो थोड़ा सा सीधा करके लेट जाएं--न।

तो गुरजिएफ इसको स्टाप मेडीटेशन कहता था। और उसने हजारों लोगों को इससे गहरे अनुभव करवाए। और यह बड़ा कीमती प्रयोग है; क्योंकि एकदम से रुक जाना! और धोखा देने में दूसरे को कोई सवाल नहीं है, आप अपने को दे सकते हैं। आपका एक पैर जरा ऊपर था, आप धीरे से नीचे रख लें तो कौन देख रहा है? बाकी आप खो गए एक मौका। कोई नहीं देख रहा है, किसी को मतलब भी नहीं है; आपका पैर है, कहीं भी रखिए। मगर आपने भीतर एक अवसर खो दिया, जहां आत्मा और शरीर का संबंध बदल सकता था; जहां आत्मा जीत सकती थी और कह सकती थी कि मैं मालिक हूं। अगर आपने धीरे से पैर रख लिया संभाल कर और फिर आराम से खड़े हो गए कि अब देखो स्टाप का प्रयोग कर रहे हैं, तो आप किसी और को धोखा नहीं दे रहे हैं, आपके शरीर ने आपको धोखा दे दिया।

छोटे-छोटे निर्णय, बहुत छोटे-छोटे निर्णय भी बड़े परिणामकारी हैं। छोटे से कोई संबंध नहीं है, निर्णय से संबंध है; डिसीसिवनेस, निर्णायक बुद्धि। तो आपकी समझ धीरे-धीरे गहरी उतर जाएगी।

तो जो मैं कह रहा हूं, उसे सिर्फ सुन न लें, उसे थोड़ा प्रयोग करें। उपनिषद बड़े व्यावहारिक पाठ हैं। इनका सिद्धांत से कोई संबंध नहीं है। इनका आपको बदलने, रूपांतरित करने की कीमिया से संबंध है। ये तो सीधे सूत्र हैं, जिनसे नए मनुष्य का निर्माण हो जाता है।

लेकिन कठिनाई यही है कि कोई दूसरा छैनी-हथौड़ी लेकर आपका निर्माण नहीं कर सकता। आप ही मूर्तिकार हैं, आप ही पत्थर हैं, आप ही छैनी-हथौड़ी हैं; तीनों काम आपको ही करने हैं। अपने ही पत्थर को, अपने ही निर्णयों की छैनी-हथौड़ी से, अपने ही संकल्प की शक्ति से काटना है, छांटना है। अपनी ही समझ के अनुसार अपनी मूर्ति को निर्मित करना है। इसमें क्षण भर का भी स्थगन सदा के लिए स्थगन हो जाता है। जिसने कहा कल करेंगे, वह फिर कभी भी नहीं करता है। और अच्छा होता कि वह कहता कि कभी नहीं करेंगे, वह भी एक निर्णय होता।

तो वे मित्र आए तो मैंने उनसे कहा कि यही निर्णय कर लो कि संन्यास कभी न लेंगे--कभी; तो भी फायदा होगा। पर तुम कहते हो कि सोचेंगे, लेंगे कि नहीं लेंगे, यह इनडिसीसिवनेस... । नहीं लेंगे, यही पक्का कर लो, तो भी कुछ निर्णय तो किया। लेंगे तो पक्का कर लो, तो कोई निर्णय किया। नहीं लेंगे, यह भीतर की स्थिति है, लेकिन इसको भी साफ नहीं होने देते। इसको भी कहते हैं कि नहीं, लेंगे जरूर, थोड़ा समय। इस तरह अपने को धोखा दे जाते हैं।

संन्यास एक निर्णय है, एक संकल्प है। परिणामकारी है। लोग मुझसे पूछते हैं, क्या होगा गेरुए वस्त्र पहन लेने से? मैं उनसे कहता हूं, कुछ भी न होगा! तो तीन महीने पहन डालो! वे कहते हैं, लोग हंसेंगे।

तो इतना तो कम से कम होगा। और तुम लोगों के हंसने को तीन महीने तक शांति से झेलना, तो बहुत कुछ हो जाएगा। लोग हंसेंगे, इसकी फिक्र ही छोड़ना, बहुत कुछ हो जाने की शुरुआत हो जाती है।

लोग मुझसे कहते हैं, बाहर की बदलाहट से क्या होगा? आप तो भीतर की बदलाहट बता दें।

मैं उनसे कहता हूं, बाहर तक की बदलाहट की हिम्मत तुम्हारी नहीं, तुम भीतर की बदलाहट की बातें कर रहे हो! कपड़े बदलने में प्राण छूटते हैं, चमड़ी अगर बदलने लगूंगा तो मुश्किल पड़ेगी। और भीतर की तुम बातें कर रहे हो?

लेकिन हम धोखा देने में कुशल हैं। हम अपने को धोखा देने में कुशल हैं। और जो आदमी अपने को धोखा दे रहा है, वह कभी धार्मिक नहीं हो सकता। ख्याल रहे, दूसरों को धोखा देने वाला धार्मिक हो सकता है, खुद को धोखा देने वाला धार्मिक नहीं हो सकता। क्योंकि फिर कोई रास्ता ही नहीं बचता है।

एक और मित्र ने पूछा हैः अच्छे कर्म बुरे कर्मों को काटते नहीं हैं बल्कि उन पर आच्छादित हो जाते हैं, इसलिए बुरे तथा अच्छे सभी कर्मों का फल भोगना अनिवार्य है। क्या बुरे कर्म तथा अच्छे कर्म क्रम से फल देते हैं या बिना क्रम के फल देते हैं? यदि बुरे कर्मों का क्षय अच्छे कर्मों से नहीं किया जा सकता, तब अच्छे कर्म करने का कोई औचित्य नहीं हो सकता। क्या यह सिद्धांत समाज के लिए उपयोगी है?

इसे थोड़ा सा ख्याल में ले लें। बुरे कर्मों का क्षय अच्छे कर्मों से नहीं किया जा सकता, तो उन मित्र को ऐसी चिंता लगी होगी कि फिर कोई अच्छा कर्म करेगा ही क्यों! और तब तो समाज के लिए बड़ा खतरा हो जाएगा!

बात बिल्कुल उलटी है। आपको अगर पता है कि बुरे कर्म अच्छे कर्म से काटे जा सकते हैं, तो आप बुरे कर्म मजे से किए जाते हैं, क्योंकि कभी भी अच्छा कर लेंगे और काट लेंगे। दवा हाथ में है, तो बीमारी से डर क्या है! गंगास्नान कर लेंगे, सब कर्म धुल जाएंगे! किसी साधु-संत का आशीर्वाद ले लेंगे, सब कर्म धुल जाएंगे! चोरी की है, दान कर देंगे--उसी पैसे से! और तो पैसा है भी कहां! बड़ा चोर बड़ा दानी हो जाएगा; लाख चुराएगा, दस हजार दान करेगा! चोरी में डर नहीं है फिर कोई, क्योंकि दान से हम चोरी को काट लेंगे। किसी की हत्या कर देना, फिर एक बच्चे को जन्म दे देना! एक जीवन लिया, एक दे दिया!

यह दुनिया इतनी बुरी सिर्फ इसलिए है कि आपको यह पक्का पता है कि बुरा भी कट जाता है। जब मैंने आपसे कहा कि बुरे को काटने का कोई भी उपाय नहीं, अच्छा कर्म भी बुरे कर्म को नहीं काटेगा, तो आपको बुरा कर्म करते वक्त पुनः सोचना होगाः कि जो नहीं कट सकता है और जिसे भोगना ही पड़ेगा अनिवार्यतया, जिसमें कोई उपाय नहीं है; न कोई अच्छा कर्म साथ देगा, न दान-पुण्य साथ देगा, न गंगा, न तीर्थ, न गुरु, न भगवान, कोई आशीर्वाद साथ न देगा; जो किया है, वह मुझे भोगना ही पड़ेगा।

तो करते वक्त आपको ठीक से सोच लेना है; क्योंकि यह बात आखिरी हुई जा रही है, इसमें अब कोई उपाय नहीं है। इसमें ऐसा नहीं है कि रोएंगे भगवान के सामने कि हम तो पतित हैं और तुम पतितपावन हो, तो कुछ करो। हमारा कुछ न बिगड़ेगा, तुम्हारा नाम बदनाम होगा कि तुम पतितपावन हो। और हम तो इसीलिए करते रहे पाप, कि न करेंगे पाप तो तुम पतितपावन कैसे रहोगे! तो अब दिखाओ अपना पतितपावन रूप।

एक महिला परसों मेरे पास पहुंच गई। भीड़ थी बहुत, उस भीड़ में उसने एकदम से कहा कि आशीर्वाद दीजिए। तो मैंने कहा, अच्छी बात। दूसरे दिन वह वापस आ गई! उसने कहा, आशीर्वाद फलेगा तो? क्योंकि अच्छे महात्मा जो होते हैं, उनका आशीर्वाद फलता है! आपने आशीर्वाद दिया था।

मैंने कहा, यह तो मुश्किल मामला दिखता है। दिखता है, मुझे तू अदालत में ले जाएगी! मुझे पता भी तो चले कि मामला क्या है? किस मामले में तेरा आशीर्वाद फलवाना है?

तो उसने कहा, लेकिन आपको ख्याल होना चाहिए कि अच्छा महात्मा तो जब भी आशीर्वाद देता है तो फलता ही है।

तो मैंने कहा, इसमें एक उपाय है मेरे लिए कम से कम, अदालत मुझे नहीं जाना पड़ेगा। न फले, तो समझना कि न मैं अच्छा था, न महात्मा था--बात खतम हो गई। इसमें एक सुविधा मेरे लिए तूने बना दी कि न फले--अब मुझे पूछना भी नहीं कि तुझे क्या चाहिए था--तो समझ लेना कि अच्छा भी नहीं था, महात्मा भी नहीं था, बात खतम हो गई।

इसे हम धार्मिक मन कहते हैं। उस महिला का ख्याल है, वह धार्मिक है!

इस जगत में नियम हैं, इस जगत में एक आंतरिक अनुशासन है। जिसको हमने ऋत कहा है वेदों में; लाओत्से ने जिसे ताओ कहा है। उसमें कोई अंतर नहीं पड़ता, उसमें कोई अपवाद नहीं होते। कर्म आप जो करेंगे, वह आपको भोगना ही पड़ेगा--यह विचार अगर गहन हो जाए, तो आपको कर्म की धारा बदलनी पड़ेगी। और यही सत्य है। यह सत्य स्पष्ट हो जाए, तो समाज के लिए उपयोगी होगा।

आप कितने दिन से समझा रहे हैं लोगों को, समाज बदलता तो दिखाई पड़ता नहीं, पाप बढ़ते जाते हैं उलटे। क्योंकि सुविधा का ख्याल है हमें कि कोई उपाय बाहर निकलने का है। अगर मैं एक पाप करता हूं, तो उस पाप के भवन में प्रवेश का द्वार ही नहीं है, एग्जिट भी है, उससे निकला जा सकता है। तो घुसने में इतना कोई डर नहीं है।

मैंने जो आपसे कहा, उसका मतलब यह कि एग्जिट नहीं है, आपको भोगना ही पड़ेगा। भोग कर ही बाहर निकल सकते हैं। काटने का उपाय नहीं है, भोगना ही काटना है। एक ही निर्जरा है कि उसे भोग लेना पड़ेगा, तो वह कट जाएगा। और कोई निर्जरा नहीं है उसकी।

और दूसरी बात उन्होंने कही कि फिर अच्छे कर्म करने का औचित्य क्या रह जाता है?

तो उनके प्रश्न से भी जाहिर है बात कि अच्छे कर्म का औचित्य उनकी नजर में भी बुरे को काटने के लिए ही है। वे पूछते हैं कि अगर आप ऐसा कहते हैं तो फिर अच्छे कर्म का औचित्य ही नहीं रह जाता। मतलब एक ही औचित्य था अच्छे कर्म का कि बुरे कर्म को काटे। अगर बुरा कर्म नहीं कटता है तो औचित्य ही खतम हो गया। तो उनके प्रश्न से भी जाहिर है, जो मैं कह रहा हूं, कि उनका चित्त भी यही मानता है कि अच्छे कर्म का एक ही औचित्य है, दान का एक ही औचित्य है कि चोरी को काटो।

तब तो चोरी महत्वपूर्ण हो गई और दान गौण हो गया। और अगर दुनिया में चोरी न हो तो दान असंभव हो जाएगा। इसलिए एक तथाकथित विचारशील व्यक्ति, करपात्री ने, अपनी एक किताब में कहा है कि अगर समाजवाद आ जाएगा तो धर्म का बड़ा ह्नास होगा; क्योंकि न होगा कोई गरीब, तो दान किसको देंगे? इसलिए गरीब रहना चाहिए, ताकि दान दिया जा सके। और दान के बिना तो मोक्ष है नहीं!

समझे मतलब आप इसका? इसका मतलब हुआ कि नर्क रहना चाहिए, भूखा आदमी सड़क पर होना चाहिए। न होगा भूखा, रोटी किसको दीजिएगा? और किसी ने रोटी आपकी दान की न ली, तो फंसे आप; मोक्ष कहां से मिलेगा?

तो आपके अच्छे कर्म का औचित्य बुरे कर्म पर निर्भर है? उसके कटने पर? तब तो इसका मतलब हुआ कि अच्छा आदमी बुरे आदमी का शोषण कर रहा है; और अच्छा कर्म बुरे कर्म की छाती से फायदा ले रहा है, खून पी रहा है।

अच्छे कर्म का औचित्य बुरे कर्म को काटना नहीं है। बुरे कर्म का औचित्य है उसके दुख में, अच्छे कर्म का औचित्य है उसके सुख में। अच्छे कर्म से सुख मिलता है, वह उसका औचित्य है। जो सुख चाहता है, वह अच्छा कर्म करता है। और जो सोचता है कि बुरा कर्म करके सुख पा लूंगा, वह नासमझी करता है। वह नियम के प्रतिकूल जा रहा है, वह दुख पाएगा।

अच्छे कर्म का औचित्य है उसके फल में, बुरे कर्म का औचित्य है उसके फल में--या अनौचित्य, जो भी कहें। बुरे कर्म में अच्छे कर्म का औचित्य कैसे हो सकता है, उनका कोई संबंध नहीं है। अच्छा कर्म फल लाता है, वह है सुख; बुरा कर्म फल लाता है, वह है दुख। और अगर हम यह ठीक से समझा सकें, और यह बात गहरी बैठ जाए चित्त में, कि जिसे भी सुख चाहिए उसे अच्छे कर्म की यात्रा करनी चाहिए, तो समाज का फायदा होगा। और जिसे दुख चाहिए, वह बुरे कर्म की यात्रा करे। और बुरे कर्म की यात्रा जो कर रहा है, उसे दुख का फल भोगना ही पड़ेगा। फिर वह पीछे यह कहने लगे कि मैं थोड़ा अच्छा कर लेता हूं, इससे मैं लीप-पोत दूंगा बुरे को, यह नहीं हो सकता।

यानी इसे ऐसा समझिए कि मैंने आपको गाली दी, तो मैंने आपको चोट पहुंचाई, दुख पहुंचाया। वह दुख तो घटित हो गया। फिर मैंने माफी मांगी और आपको सुख पहुंचाया। क्या आप सोचते हैं कि मैंने माफी मांग कर जो सुख पहुंचाया, उससे वह जो दुख हुआ था, वह नहीं हुआ? वह हो चुका। वह दुख तो हो चुका; आपको मैंने जो चोट पहुंचाई, वह दुख तो हो चुका। अब चोट पहुंचा कर जो मैंने मलहम-पट्टी की, यह दुख को नहीं मिटाती, सिर्फ उस चोट के ऊपर मलहम-पट्टी करती है।

मैंने गाली दी, मैंने एक बुरा कर्म कर लिया; गाली देकर मैंने भी दुख पा लिया। मैंने माफी मांगी; मैंने अच्छा कर्म किया, अच्छा कर्म करके मैंने भी सुख पा लिया। बुरा दुख में ले जाता है, अच्छा सुख में ले जाता है। अच्छा जितना ज्यादा होता है, उतना सुख बढ़ जाता है; बुरा जितना ज्यादा होता है, उतना दुख बढ़ जाता है। जिस आदमी को सुख में रहना है, उसे धीरे-धीरे बुरे को नहीं करना है और अच्छे को करते जाना है।

लेकिन धर्म का संबंध सुख से भी नहीं है। क्योंकि दुख से बचना तो हम सबके मन की आकांक्षा है, सामान्य। जब तक आप दुख से बचने की आकांक्षा से भरे हैं, तब तक आप साधारण आदमी हैं, धार्मिक नहीं। अभी तो आपकी चाह सुख की है। यही औचित्य है अच्छे कर्म का कि आपसे कहा जाए, अच्छा कर्म करिए; सुख चाहते हैं, सुख मिलेगा। और दुख चाहते नहीं हैं, बुरा कर्म मत करिए, इससे दुख मिलेगा। अगर बुरे और दुख की अनिवार्यता ऐसे ही दिखाई पड़ जाए, जैसे आग में हाथ डालने से जलता है, तो लोगों के हाथ आग में जाने से रुक जाएंगे। अगर अच्छे कर्म के और सुख का संबंध ऐसे ही जोड़ दिया जाए कि हाथ में फूल आने से जैसे सुगंध आती है, अगर यह इतना साफ हो जाए, तो लोग अच्छे कर्म में उतर जाएंगे।

लेकिन धर्म का इससे कोई अभी संबंध नहीं है। अभी यह नीति है; अभी यह तल समाज की नैतिकता का है। लेकिन जो आदमी सुख का अनुभव करता है, धीरे-धीरे उसे पता चलता है एक नई बात का, कि दुख तो व्यर्थ है ही, सुख भी व्यर्थ है। दुख तो दुख देता ही है, जब सुख पूरी तरह मिलता है, तो वह भी दुख देने लगता है, सुख नहीं देता। उससे भी ऊब पैदा हो जाती है। सुख का जो दुख है, वह है ऊब, बोर्डम।

आपने कभी किसी जानवर को ऊबा हुआ देखा है, बोर्ड? कि कोई गधा खड़ा हो और दिखाई पड़ जाए कि ऊबे हुए खड़े हैं? कि कोई भैंस खड़ी हो और ऊबी हुई खड़ी है?

न, आदमी को छोड़ कर जमीन पर कोई जानवर ऊबता ही नहीं; सिर्फ आदमी ऊबता है। क्यों? क्योंकि जानवर निरंतर अपनी सामान्य जीवन की सुविधा जुटाने में ही व्यतीत हो जाता है; उसे कभी इतना सुख अर्जित नहीं हो पाता कि ऊब जाए। ऊब का संबंध सुख, बहुत सुख हो, तो ही ऊब आती है।

इसलिए गरीब आदमी भी ऊबा हुआ नहीं दिखाई पड़ता; अमीर आदमी ऊबा हुआ दिखाई पड़ता है। अमीर आदमी का चेहरा देखो तो ऊबा हुआ रहता है; कुछ सार नहीं, ऐसा मालूम पड़ता है; खींचे जा रहे हैं, कुछ मतलब नहीं लेकिन। गरीब आदमी के पैर में गति होती है, चाहे पैर में ताकत न हो; खून भला कम हो, ताकत भला कम हो, लेकिन गति होती है। कहीं पहुंचने का लक्ष्य होता है और आशा होती है। और आंखों में

आशा की झलक होती है: कल एक मकान बन जाएगा, परसों एक दुकान खुल जाएगी, बेटा पढ़ लेगा; बड़ा स्वर्ग मालूम होता है भविष्य में। जिनका बेटा पढ़ कर घर आ गया है, वे जानते हैं कि बेटा घर जब पढ़ कर आता है तो क्या मतलब होता है; कैसा दुख लाता है! जिनके महल बन गए हैं, अब उनको पता चलता है कि यह महल तो कारागार हो गए। जब सुख पूरा मिल जाता है, तब पहली दफा पता चलता है कि इससे भी ऊब रहे हैं हम। मन सुख से भी ऊबता है।

इसीलिए बुद्ध और महावीर और कृष्ण और राम राजाओं के घरों में पैदा हुए। गरीब के घर में पैदा होकर कोई तीर्थंकर और अवतार नहीं हो पाता है। उसका कारण है; क्योंकि ऊब ही नहीं पाता सुख से। जैनियों के चौबीस तीर्थंकर राजाओं के बेटे हैं; बुद्ध, राम, कृष्ण, सब राजाओं के बेटे हैं। कारण है। राजा के घर में ही पता चलता है कि चीजें सब व्यर्थ हैं। हों तभी तो पता चलेगा; हों ही न तो पता कैसे चलेगा?

बुद्ध को अगर पता चला कि स्त्री देह में कुछ भी नहीं है, तो उसका कारण यह था कि बुद्ध के पिता ने, उनके राज्य में जितनी सुंदर लड़कियां थीं, सब बुद्ध के हरम में इकट्ठी कर दी थीं। तो पता चला कि कुछ सार नहीं है। असार तो तभी पता चलेगा जब आपके पास मौजूद हो कोई चीज।

इसलिए आज अमरीका सबसे ज्यादा ऊबा हुआ है। और भाग रहा है सारी दुनिया में अमरीका का जवान लड़का और जवान लड़की, कि कहीं ऊब से छुटकारा हो जाए; कहीं भी--चाहे गांजा हो, अफीम हो, मारिजुआना हो--कुछ भी हो। कोई तरकीब मिले कि यह जो ऊब है, यह मिट जाए।

सुख से जब ऊब पैदा होती है और प्राण जब इस आकांक्षा से भर जाते हैं कि अब हम सुख के ऊपर कैसे जाएं, तब धर्म का जन्म होता है। तो अच्छे कर्म के औचित्य दो हुए: एक, अच्छे कर्म का फल सुख है। इसलिए जो लोग बिना धार्मिक हुए भी सुख की आकांक्षा करते हैं--सभी करते हैं; नास्तिक हों, अधार्मिक हों, हिंदू हों, मुसलमान हों, कोई भी हों--जो लोग सुख की आकांक्षा करते हैं, अच्छे कर्म का औचित्य यह है कि अच्छे कर्म से सुख मिलता है; वह उसका परिणाम है। और अच्छे कर्म का दूसरा औचित्य यह है कि जब सुख मिल जाता है, तब सुख की व्यर्थता दिखाई पड़ती है। और जब सुख व्यर्थ होता है तो आदमी धर्म की यात्रा पर निकलता है।

धर्म की यात्रा का अर्थ है, सुख से भी कैसे छुटकारा हो? दुख से कैसे छुटकारा हो, यह संसार की यात्रा; और सुख से भी कैसे छुटकारा हो, यह मोक्ष की यात्रा।

अब हम सूत्र को लेंः

'प्रारब्ध कर्म तो उसी समय सिद्ध होता है, जब देह के ऊपर आत्म-बुद्धि होती है। पर देह के ऊपर आत्म-भाव रखना तो कभी इष्ट नहीं, इसलिए देह के ऊपर की आत्म-बुद्धि को तज कर प्रारब्ध कर्म का त्याग करना।'

कर्म तो पकड़ता ही हमें तब है, जब हम मानते हैं कि यह शरीर मेरा है। इसका अर्थ हुआ कि कर्म शरीर को पकड़ता है, हमें कभी नहीं पकड़ता। लेकिन जब हम शरीर को पकड़ लेते हैं, तो स्वभावतः, कर्म की गिरफ्त में हो जाते हैं। कर्म पकड़ता है शरीर को और हम भीतर से पकड़ लेते हैं शरीर को। कर्म पकड़ता है बाहर से शरीर को, हम भीतर से पकड़ लेते हैं शरीर को। तो कर्म से हमारा संबंध जुड़ जाता है, शरीर के माध्यम से।

कर्म आत्मा को कभी नहीं पकड़ता, सदा ही शरीर को पकड़ता है। जैसे कि अगर कोई छुरी से किसी चीज को काटे, तो जहां भी पदार्थ है, वहां छुरी से काटा जा सकता है। लेकिन आप आकाश को छुरी से काटें, तो नहीं काटा जा सकता। छुरी घूम जाएगी और आकाश अनकटा रह जाएगा।

कर्म का जो प्रभाव है, जो परिणाम है, वह जो छुरी है कर्म की, वह पदार्थ को काट सकती है। शरीर पदार्थ है; मन भी पदार्थ है। पदार्थ से पदार्थ की टक्कर हो सकती है। लेकिन भीतर जो चैतन्य है, वह शून्य आकाश है, कोई कर्म उसे काटता नहीं, छूता नहीं। लेकिन एक बात हो सकती है कि वह जो भीतर चैतन्य है, वह

अगर शरीर को मान ले मेरा--इसकी उसे स्वतंत्रता है मानने की; चेतना को स्वतंत्रता है यह मानने की कि वह मान ले कि मेरा--तो शरीर मेरा है, यह मानते ही, शरीर की जो-जो पीड़ाएं हैं, वे मुझमें फलित होने लगेंगी।

इसे हम ऐसे समझें। एक घर में, मैंने सुना, आग लग गई। तो जो मकान मालिक है, वह छाती पीट कर रो रहा है। लेकिन तभी एक पड़ोसी ने आकर कहा कि क्या कर रहे हो! तुम नाहक रो रहे हो, मकान का तो इंश्योरेंस हो चुका है। कल ही तो तुम्हारा लड़का इंश्योरेंस दफ्तर में सब करवा रहा था! लड़का कहां है तुम्हारा?

लड़का कहीं बाहर गया था। बाप ने कहा, क्या ठीक, इंश्योरेंस हो चुका? अरे, तब तो रोने की कोई बात ही नहीं। आंसू विदा हो गए! मकान अब भी जल रहा है; वही मकान। लेकिन अब इंश्योरेंस हो गया। तो मकान मेरा है, इससे संबंध तत्काल हट कर वह जो इंश्योरेंस से पैसा मिलेगा, वह मेरा है। अब मकान से मेरा हट गया। लेकिन तभी लड़का भागा हुआ आया और उसने कहा कि क्या कर रहे हैं, हंस रहे हैं खड़े होकर! मैं गया जरूर था, लेकिन हो नहीं पाया।

फिर आंसू बहने लगे! फिर आदमी छाती पीट कर रोने लगा कि मर गए, लुट गए! मकान वही का वही है; मगर बीच में क्या हुआ? मेरा मकान से अलग हो गया। फिर मकान से मेरा जुड़ गया।

शरीर के साथ हमारा मेरा भाव ही हमारे दुख का कारण है--या सुख का, हमारे सब कर्मों का। मेरा भाव हट जाए, फिर शरीर पर होते कर्मों की प्रक्रिया का स्वयं से कोई संबंध नहीं रह जाता।

तो यह सूत्र कहता है, मेरा भाव, आत्म-भाव रखना ही समस्त कर्मों की प्रक्रिया को साथ देना है; कोआपरेट करना है; सहयोग देना है। हट जाए मेरा भाव, पता चल जाए कि मैं कौन हूं--शरीर नहीं हूं--तो जैसे इस आदमी को पता चला कि यह मकान मेरा नहीं है, अब जलता रहे, ऐसा ही बुद्ध और महावीर को पता चल गया है कि यह मकान मेरा नहीं है; जलता रहे। हट गए पीछे। उसका पता चल गया जो इस मकान में रहने वाला है। उसका पता चल गया जो मकान में जरूर है, लेकिन मकान ही नहीं है। आत्म-भाव का हटना ही समस्त प्रारब्ध कर्म का त्याग है। फिर कर्म का कोई अर्थ नहीं है। त्याग हो गया।

'देह की भ्रांति यही प्राणी के प्रारब्ध कर्म की कल्पना है। पर आरोपित अथवा भ्रांति से जो कल्पित हो, वह सच्चा कहां से होगा?'

आरोपित है, कल्पित है, लगता है मेरा है।

आपका बेटा है। जी-जान दिए दे रहे हैं उसके लिए। कुर्बान हो सकते हैं खुद। और फिर एक दिन एक पत्र मिल जाए घर में, किसी पुरानी किताब में दबा, और पता चले कि पत्नी का किसी से प्रेम रहा--संदिग्ध हो जाए कि बेटा मेरा है कि नहीं है। सब डांवाडोल हो गया।

बाप को संदेह सदा थोड़ा बना भी रहता है; क्योंकि बाप बहुत प्रासंगिक घटना है, कोई बहुत महत्वपूर्ण घटना नहीं है बेटे के जन्म में। उतना ही मूल्य है बाप का, जैसे कि एक इंजेक्शन का; इससे ज्यादा मूल्य नहीं है। मां भर असंदिग्ध रूप से जानती है कि बेटा उसका है। बाप को तो थोड़ा संदेह बना ही रहता है। उसी संदेह को मिटाने के लिए हमने इतने सख्त विवाह की व्यवस्था बनाई है, कि वह संदेह बाप को सताए नहीं, नहीं तो जिंदगी भर मुश्किल हो जाएगी। जिन बेटों के लिए मेहनत करनी, उन पर संदेह बना रहे कि पता नहीं अपने हैं भी कि नहीं, तो बड़ी अस्तव्यस्तता न हो जाए, इसलिए विवाह की बड़ी सख्त व्यवस्था की है। और स्त्रियों की सारी गति पर रुकावट डाल दी है कि कहीं उनका दूसरे पुरुषों से कोई संबंध न आए। संबंध ही न आए, तो डर न रहे। और इसलिए कुंवारी लड़की पर बड़ी फिकर होती है कि शादी कुंवारी लड़की से हो। इसलिए जो और भी ज्यादा इसमें बहुत ज्यादा चिंता में रत थे, वे बाल-विवाह कर देते थे, ताकि डर का कोई उपाय ही न रह जाए। तो निश्चित रहे कि पुत्र मेरा है।

मेरा हो, तो आरोपित हो जाता हूं मैं। संदिग्ध हो, तो मुश्किल हो जाता है। जहां मेरे का आरोपण है, वहां लगता है कि बस मैं जुड़ गया। और अब मैं सब कुछ कर सकता हूं। फिर सब दुख भी झेलूंगा। जहां मेरा हटता है, वहां लगता है मैं टूट गया, अलग हो गया।

यह सब आरोपित है। मेरे का सारा भाव आरोपित है। मेरा इस जगत में कुछ भी नहीं है। मेरा शरीर भी मेरा नहीं है। वह भी मेरे मां-बाप से मिलता है। उनका भी नहीं है, उनके मां-बाप से मिलता है। खोजने अगर हम जाएं तो अरबों-खरबों वर्षों की यात्रा है छोटे से अणु की, जिससे आपका शरीर बना हुआ है। न हड्डी आपकी है, न मांस आपका, न मज्जा आपकी--कुछ भी आपका नहीं है; न मन आपका। सिर्फ आप ही आपके हैं। लेकिन उस आप का कोई पता नहीं है आपको।

वह कौन है भीतर, जो सिर्फ जिसे मैं कह सकूं मेरा? जिसे मैं कह सकूं मैं?

मेरे को हटाते जाएं, छोड़ते जाएं, इलिमिनेट करते जाएं। उपनिषद कहते हैं, कहते जाएं नेति-नेति, यह भी मैं नहीं, यह भी मैं नहीं; हटाते जाएं, सब मेरे से संबंध तोड़ लें। तब अचानक, जैसे अंधेरे में ज्योति जल जाए, उसका अनुभव होगा जो मैं हूं। मेरे से छुटकारा होने पर मैं का अनुभव होता है। और मेरे के फैलाव को बढ़ाते जाने से मैं का अनुभव क्षीण होता चला जाता है। तो जितना बड़ा मेरे का विस्तार, उतने कम मैं का अनुभव।

इसीलिए बुद्ध और महावीर घर छोड़ कर भागे। घर की वजह से तकलीफ न थी, बड़ा विस्तार था साम्राज्य का, बहुत कुछ था जो मेरा था, उस मेरे की मात्रा इतनी ज्यादा थी कि उसमें मैं का कहीं पता नहीं चलता था कि मैं कौन हूं? सारा मेरे का साम्राज्य छोड़ कर भाग गए।

महावीर ने आत्यंतिक कोशिश की है भागने की। वस्त्र तक छोड़ दिए, नग्न हो गए, ताकि कुछ भी कहने को न बचे कि मेरा, यह मेरा है; यह कपड़ा मेरा है, यह भी कहने को न बचे। क्यों? सिर्फ एक कारण से। ताकि यह जो मेरे के बड़े विस्तार में मैं की कोई अनुभूति नहीं होती, पता नहीं चलता; सब को छोड़ कर भाग जाऊं, खालिस अकेला रह जाऊं, तो शायद पता चले कि मैं कौन हूं।

मेरे से तोड़ कर मैं का पता आसान है। मेरे से जोड़ कर मैं का पता मुश्किल होता जाता है। इसलिए जितनी चीजें जुड़ती जाती हैं, जितना परिग्रह होता जाता है, जितना विस्तार होता चला जाता है, उतना ही मैं का केंद्र लुप्त होता चला जाता है, दबता चला जाता है।

मेरे का सारा का सारा जाल कल्पित है। सत्य तो हूं मैं, मेरा है असत्य।

'जो सच्चा नहीं है, उसका जन्म कहां से होता? जिसका जन्म नहीं हुआ, उसका नाश कहां होता? इस प्रकार जो असत है, वस्तु रूप है ही नहीं, उसको प्रारब्ध कर्म कहां से हो!'

बड़ी विचारपूर्ण बातें कही हैं।

जो असत है, जो है ही नहीं, मेरा, इसका जन्म कहां से होता है? कब होता है? इसका अंत कैसे होगा? कठिन है, क्योंकि हमें लगेगा कि जब मेरा है, तो उसका कहीं से जन्म तो होता ही होगा, नहीं तो होगा कैसे? और अगर मेरा कुछ है, तो कहीं उसकी मृत्यु तो होती होगी; नहीं तो फिर छुटकारा कैसे होगा?

इस बात को समझने के लिए, मैंने पीछे जो आपसे मिथ्या की कोटि कही थी, उसे ख्याल में ले लें। रस्सी पड़ी है, सांप दिखाई पड़ गया। पास जाकर देखा, सांप नहीं है, रस्सी है। अब सवाल यह है कि इस रस्सी में सांप दिखाई पड़ा, तो सांप का रस्सी में जन्म तो हुआ। दिखाई पड़ा था। मगर जन्म कहां हुआ? झूठ का जन्म कैसे होगा? और फिर अब लालटेन लेकर आए तो दिखाई पड़ा कि सांप नहीं है, तो मृत्यु भी हो गई। लेकिन मरी हुई लाश कहां है उस सांप की?

जो दिखाई पड़ता है, और था नहीं, उसका जन्म भी नहीं होता, उसकी मृत्यु भी नहीं होती; वह सिर्फ भ्रांति है। पर भ्रांति होती है; भ्रांति हो सकती है। भ्रांति आरोपित है। रस्सी में किसी सांप का कोई जन्म हुआ ही नहीं था, आपके ही मन ने प्रक्षेपण किया था और रस्सी पर सांप दिखाई दिया था।

आप सिनेमागृह में बैठते हैं, आपकी पीठ की तरफ आप लौट कर नहीं देखते। देखेंगे भी क्या, वहां कुछ होता भी नहीं देखने को! सामने पर्दे पर सब होता है; रंग का, रूप का, गीत का, संगीत का प्रवाह होता है पर्दे पर सामने। लेकिन मजे की बात यह है कि पर्दे पर कुछ भी नहीं होता, पर्दा होता है खाली; केवल छाया और धूप फेंकती हुई किरणों का जाल होता है। वैसे पर्दा खाली होता है; सब कुछ होता है भीतर, पीछे, पीठ के पीछे--जहां प्रोजेक्टर लगा होता है।

वह प्रोजेक्टर शब्द बड़ा अच्छा है। जिसे कल्पित कहा है, जिसे प्रक्षेपित कहा है, अंग्रेजी का शब्द प्रोजेक्शन उसका अनुवाद है। प्रोजेक्टर पीछे लगा है। वहां से चीजें फेंकी जा रही हैं पर्दे पर। और पर्दे पर, जहां हैं नहीं, वहां दिखाई पड़ रही हैं। जहां दिखाई पड़ रही हैं, वहां हैं नहीं; और जहां हैं, वहां आप पीठ किए हैं, वहां आप देखते नहीं।

रस्सी में सांप दिखाई पड़ा; रस्सी केवल पर्दे का काम कर रही है और मेरा मन प्रोजेक्ट कर रहा है, मेरा मन सांप की छाया भेज रहा है रस्सी पर। रस्सी पर सांप की छाया मेरा मन डाल रहा है और रस्सी सांप मालूम पड़ रही है। फिर मैं भाग रहा हूं।

जब पहली दफा थ्री डायमेंशनल पिक्चर आए, चित्र बने, तो पहली दफा बड़ी मजेदार घटनाएं सारी दुनिया में घटीं। जब लंदन में पहली दफा थ्री डायमेंशनल चित्र दिखाया गया, तो उसमें एक घुड़सवार एक भाले को फेंकता है। वह घुड़सवार भागता हुआ आता है।

तो थ्री डायमेंशनल पिक्चर का मतलब है कि बिल्कुल ऐसा दिखाई पड़ता है कि असली घोड़ा आ रहा है; चित्र नहीं दिखाई पड़ता--असली घोड़ा! तीनों आयाम हैं उसके। घोड़ा भागता हुआ आता है, टापें बढ़ती जाती हैं, घोड़ा पास आता है, फिर घुड़सवार एक भाला फेंकता है। पूरा हाल, पूरा हाल अपनी-अपनी गर्दन झुका लेता है! पूरे हाल में बीच में जगह बन जाती है भाले के निकलने के लिए। चीख मच जाती है, महिलाएं बेहोश हो जाती हैं।

क्या हुआ? कहीं कोई भाला-वाला था नहीं। मगर भाला बिल्कुल वास्तविक मालूम हो रहा था। और थ्री डायमेंशनल था, तो बिल्कुल लगा कि निकल जाएगा। तो उस क्षण में झुक जाना, क्योंकि मन को भीतर क्या पता कि भाला असली है कि नकली! कि दिखाई पड़ रहा है, है नहीं। मन तो आदतवश झुक गया कि कहीं भाला लग न जाए! यह तो क्षण में हो गया, इसके लिए सोचना थोड़े ही पड़ता है। फिर पीछे खुद ही हंसी आई होगी कि क्या पागलपन किया! लेकिन हो गया।

जब बुद्ध जगते हैं तो हंसी आती है कि क्या पागलपन किया!

रिंझाई के संबंध में कहानी है कि रिंझाई को जब ज्ञान हुआ, तो वह हंसने लगा, वह खिलखिलाने लगा। और जब उसके शिष्यों ने पूछा कि आप क्यों हंस रहे हैं? क्या हो गया?

तो रिंझाई ने कहा कि मुझे परम ज्ञान हो गया।

तो उन्होंने कहा, परम ज्ञान! पर हमने कभी ऐसा सुना नहीं कि परम ज्ञान होने के बाद कोई इस तरह हंसता है! आप हंस क्यों रहे हैं?

तो रिंझाई लोट-पोट हुआ जाता है। उसके पेट में बल पड़ रहे हैं। और वह कह रहा है, मैं इसलिए हंस रहा हूं कि खूब बुद्धू बने, और व्यर्थ बने। कुछ भी न था; जिसे पकड़े थे वह था नहीं और जिसे छोड़ने की कोशिश कर रहे थे वह भी नहीं था; खुद हम ही थे अकेले; हम ही अपने हाथ को पकड़े हुए थे।

जैसा कभी-कभी रात में होता है न कि अपने ही हाथ से अपनी छाती दबाए हुए हैं और अंदर सपना चल रहा है कि कोई छाती पर चढ़ा बैठा है। और जब आंख खुलती है तो कंप रहे हैं और पसीना छूट रहा है! अपने ही हाथ छाती पर पड़ गए थे। उनके वजन की वजह से लग रहा था। नींद में सभी इंद्रियां बहुत सतेज हो जाती हैं। इसलिए जरा सा वजन बहुत वजन मालूम पड़ता है। जरा सा वजन बहुत वजन मालूम पड़ता है! खुद का ही हाथ, लगता है कोई छाती पर चढ़ा बैठा है!

कभी कोशिश करेंः घर में कोई सोया हो, जरा पैर के पास बर्फ का एक टुकड़ा धीरे-धीरे घिस दें--उसके पैर में। बस सपना शुरू हो जाएगा भीतर। सपना होगा कुछ ऐसा कि पहाड़ पर चढ़ रहे हैं, बर्फ ही बर्फ है; मरे जा रहे हैं, गले जा रहे हैं। चीख-पुकार मच जाएगी भीतर।

जरा थोड़ा सा दीया पास ले जाकर जरा आंच दे दें पैर में किसी सोए आदमी के। वह समझेगा कि नर्क में पहुंच गए, लपटें जल रही हैं, कढ़ाए हैं, और डाले जा रहे हैं, निकाले जा रहे हैं।

क्या, भीतर क्या हो रहा है? वह मन अपनी धारणाएं रखे बैठा है। जरा सा इशारा, और मन अपनी धारणाओं का फैलाव शुरू कर देता है; पर्दा मिले कि प्रोजेक्टर काम शुरू कर देता है।

जागते में भी हम जो कर रहे हैं, वह यही है। होश से जब कोई जागता है वस्तुतः--हमारा जागरण नहीं, बुद्ध का जागरण, उपनिषद के ऋषियों का जागरण--जब कोई उस जागरण को उपलब्ध होता है, तब उसे हंसी आती हैः कैसी नासमझी की! जो था नहीं, उसे देखा! जो था नहीं, उसे पकड़ा! जो था नहीं, उसे छोड़ने की कोशिश भी की! और सारा खेल अपना था। हम ही सब तरफ से थे। हमारा मन ही सब तरफ से था।

अगर जीवन की किसी भी घटना का ठीक-ठीक विश्लेषण करेंगे तो इस सचाई का अनुभव हो जाएगा। किसी भी घटना का ठीक-ठीक विश्लेषण करेंगे, इस सचाई का अनुभव हो जाएगा। नहीं करेंगे विश्लेषण, तो पीठ की तरफ मन का कारोबार जारी है, और जगत पर्दा बना हुआ है; उस पर सब खेल चल रहा है, सब चीजें दिखाई पड़ रही हैं।

नहीं, इस माया का न कोई जन्म है और न कोई मृत्यु। मिथ्या का न कोई जन्म होता है, न कोई मृत्यु।

'देह यह अज्ञान का कार्य है, उसका ज्ञान द्वारा जो समूल नाश हो जाता है तो यह देह रहती कैसे है? ऐसी शंका करने वाले अज्ञानियों का समाधान करने के लिए ही श्रुति ने बाह्य दृष्टि से प्रारब्ध कहा है। (वास्तव में न तो देह है और न प्रारब्ध है।)'

यह बड़ी कठिन बात है। और जो मैं परसों आपसे, एक-दो दिन पहले कह रहा था, और अड़चन मालूम पड़ी होगी। मैंने आपसे कहा था कि बुद्ध को झूठ बोलना पड़ता है, महावीर को झूठ बोलना पड़ता है--आपकी वजह से। क्योंकि आप झूठ की ही भाषा समझते हैं, और कोई भाषा नहीं समझते।

यह इस सूत्र में है। यह सूत्र कह रहा है कि वास्तव में न तो देह है और न प्रारब्ध है। वस्तुतः, सत्य में, न तो देह है और न प्रारब्ध है; न कोई बुरा कर्म है और न कोई भला कर्म है; न कोई सुख है और न कोई दुख है। वास्तव में संसार नहीं है। यह तो वास्तविकता है; लेकिन यह कही नहीं जा सकती। सूत्र कहता है, अज्ञानियों से यह कहा नहीं जा सकता। क्योंकि अगर अज्ञानियों से कहो कि देह नहीं है, तो वे कहेंगे, हटो भी, आपका दिमाग ठीक है? आप अपने दिमाग का इलाज करवा लो! अज्ञानियों से कहो कि यह संसार नहीं है, तो वे आपको पागलखाने में भेज देंगे।

ज्ञानी अज्ञानियों के बीच वैसी हालत में है, जैसा अंधों के बीच में कोई आंख वाला हो। वह कहे, बड़ा प्रकाश है। और सब अंधे हंसें। वे कहें, क्या बातें कर रहे हो! मस्तिष्क तो रास्ते पर है, ठिकाने पर? कैसा प्रकाश? वह कहे, मुझे दिखाई पड़ता है। तो अंधे सब हंसें कि दिखाई पड़ने का मतलब? दिखाई पड़ने जैसी कोई चीज सुनी है कभी? होती है कभी? न हमारे बाप-दादों को हुई, न उनके बाप-दादों को हुई, जरूर तुम्हारा सिर फिर गया है!

अंधों के बीच में आंख वाले की क्या गति होगी, आप समझते हैं? अगर समझदार होगा, तो भूल कर भी वे बातें नहीं करेगा जो अंधों को दिखाई नहीं पड़ रही हैं। और अगर अंधों को भी वह आंख के रास्ते पर लाना चाहता है, तो उसे बहुत सी डिवाइसेस, उपाय करने पड़ेंगे। उसे सीधा यह कहना ठीक नहीं होगा कि मैं आंख वाला हूं और तुम सब अंधे हो; और मैं तुम्हारी आंख का इलाज करता हूं; और तुम जो हो, वह नहीं है, कुछ और है--जो आंख के खुलने पर दिखता है; तुम बिल्कुल झूठ में जी रहे हो।

तो अंधों की आंख का इलाज करने की बजाए, अंधे मिल कर उसकी आंख का इलाज कर देंगे! कई दफे हो गया हैः जीसस को हमने सूली पर लटकाया, मंसूर को हमने काट डाला, सुकरात को जहर पिला दिया। उसका कारण कुछ और नहीं है, उसका कारण सिर्फ इतना ही है कि ये लोग सीधी-सीधी बातें कहने लगे जो हमारी पकड़ के बाहर हैं। और इनकी बातें अगर हम मान कर चलें तो हम चल ही नहीं सकते। हमारा भी कसूर नहीं है।

लेकिन आप जान कर हैरान होंगे कि भारत में हमने किसी बुद्ध, किसी महावीर, किसी रामकृष्ण को फांसी नहीं दी। जीसस को सूली लग गई जेरुसलम में। मंसूर को मुसलमानों ने मार डाला। सुकरात को यूनानियों ने काट डाला। इस मुल्क में हमने किसी बुद्ध, किसी महावीर, किसी कृष्ण को कभी नहीं काटा, मारा, सूली नहीं दी। आप जानते हैं, कारण क्या है?

कारण बड़ा अदभुत है। और वह कारण यह है कि कृष्ण और बुद्ध और महावीर, जीसस और सुकरात से, अंधों के साथ बातचीत करने में ज्यादा कुशल हैं, और कोई कारण नहीं है। कुल कारण इतना है; ज्यादा कुशल हैं। और कुशलता की वजह है, क्योंकि इस मुल्क में हजारों साल से, हजारों साल से बुद्धों, महावीरों ने अंधों से बातें की हैं। तो उन्होंने तरकीबें ईजाद कर ली हैं।

जीसस गड़बड़ हालत में पड़ गए। जीसस की सारी शिक्षा तो हुई भारत में, तो उन्हें अंदाज नहीं था। भारत से वह सब सीख कर लौटे। और जेरुसलम में जाकर उन्होंने जब बोलना शुरू किया, तो जेरुसलम की परंपरा में उसकी कोई भी जगह न थी। जीसस बिल्कुल ही विजातीय मालूम पड़े। और जीसस की बातें पागलपन की मालूम पड़ीं।

पुरानी बाइबिल में कहा है कि जो एक आंख फोड़े तुम्हारी, उसकी दोनों फोड़ देना। अंधों की भाषा! और जीसस ने जाकर वहां आंख वालों की भाषा बोलनी शुरू कर दी--एकदम, अचानक, कोई बीच में सेतु नहीं था। कहा कि जो तुम्हारे बाएं गाल पर चांटा मारे, दायां भी उसके सामने कर देना; कि जो तुम्हारा कोट छीने, कमीज भी उसको दे देना; कि जो तुमसे कहे एक मील बोझ को ढो चलो, तुम दो मील तक साथ चले जाना, हो सकता है, संकोचवश उसने एक ही मील कहा हो। यह आंख वालों की भाषा--जहां नियम था कि जो ईंट मारे, पत्थर से जवाब देना--बिल्कुल समझ के बाहर पड़ गई। असल में जीसस आंख वाले की बात सीधी-सीधी कह दिए अंधों से।

बुद्ध, महावीर ज्यादा कुशल हैं। और लगभग सत्य ईजाद करने में उनका कोई मुकाबला नहीं है। यही यह उपनिषद का सूत्र कह रहा है। यह साफ ही कह रहा है। यह यह कह रहा है कि न तो यह देह है, न ये कर्म हैं, लेकिन अज्ञानियों को उनकी शंका समाधान करने के लिए बाह्य दृष्टि से, ऊपर-ऊपर की दृष्टि से, देह और कर्म और प्रारब्ध की बात कही है। वास्तव में न देह है और न प्रारब्ध है।

बड़ी मुश्किल बात है। सच है यह कि सभी शास्त्र निन्यानबे प्रतिशत झूठ हैं। झूठ इसलिए कि वे अंधों को समझाने के लिए कहे गए हैं, बाह्य दृष्टि से, नहीं तो उनकी समझ में कुछ भी नहीं पड़ता है। वे उलझन में पड़ जाएंगे उनको सीधा-सीधा समझाने से।

जैसे बच्चों को हम समझाते हैं, कहते हैं ग गणेश का। गणेश की कोई बपौती नहीं है, गधे का भी ग है। और जब से भारत धर्म-निरपेक्ष हो गया है, तो पहले स्कूल की किताबों में--जब मैं पढ़ता था--तब तो ग गणेश का होता था, अभी मैं सुनता हूं कि ग गधे का होता है। क्योंकि गधा जो है ज्यादा निरपेक्ष जानवर है। गणेश तो हिंदू

संप्रदाय के हो जाते हैं, गधा किसी संप्रदाय का नहीं है। गधे सभी संप्रदायों में पाए जाते हैं! पर बच्चे को हम समझाते हैं ग गणेश का, या ग गधे का। और बच्चा पकड़ ले, और फिर जब भी ग आए कहीं तो पहले बोले ग गधे का और फिर आगे बढ़े, तो मुश्किल हो जाएगी। वह तो सिर्फ सहारा था। वह बच्चा गधे को समझ सकता था, ग को नहीं समझ सकता था, इसलिए ग को जोड़ दिया। फिर प्रतीक भूल जाएंगे, चित्र हट जाएंगे, ग सीधा आ जाएगा।

वह जो अज्ञानी है, जहां से उसे उठाना है, उसकी ही भाषा से बात शुरू करनी पड़ती है। उससे कहना पड़ता हैः यह दुख है, यह सुख है। सुख चाहते हो तो अच्छा कर्म करो, दुख चाहते हो तो ही बुरा कर्म करो। न भी चाहते होओ दुख, बुरा करोगे तो बुरा फल पाओगे; अच्छा करोगे अच्छा फल पाओगे। अगर दोनों से छूट जाओगे, तो फिर तुम्हें कोई फल नहीं मिलेगा। और जब कोई फल नहीं मिलता है तो तुम मुक्त हो जाते हो।

लेकिन यह सारी की सारी बात, एक बात मान कर चल रहे हैं हम, कि यह सारा वास्तविक का जगत है। लेकिन जब कोई आदमी जागता है, जब होश से भरता है, जब शरीर से टूट जाता है और अज्ञान नाश होता है, तब उसे बड़ी हंसी आती है। जो छूट गया पीछे, वह वास्तविक नहीं था, एक बड़ा सपना था। एक बड़ा सपना था, वास्तविक नहीं था। और जो उपाय हमने बताए थे, वे भी सपने के भीतर सपने थे।

ऐसा समझें तो आसानी होगी। रामकृष्ण तो भक्त थे काली के, पर बड़े विनम्र थे। और कोई भी कोई और मार्ग बताए, तो सदा पालन करने को तैयार रहते थे। फिर एक वेदांत के शिक्षक तोतापुरी का आगमन हुआ। और तोतापुरी ने रामकृष्ण से कहा कि यह क्या लगा रखा है? यह क्या कीर्तन, भजन, क्या इससे होगा? एक को खोजो! ये तो दो हैं। भक्त और भगवान दो नहीं, एक ब्रह्म!

तो रामकृष्ण ने--रामकृष्ण अदभुत थे--उनके पैरों में सिर रख दिया और कहा कि ठीक, मुझे शिक्षा दें, मुझे सिखाएं। तो ध्यान पर तोतापुरी रामकृष्ण को बिठाता है। और रामकृष्ण आंख बंद करके खूब आनंदित होते हैं। तोतापुरी कहता है, क्या हो रहा है?

तो वे कहते हैं, मां दिखाई पड़ती है। तो उन्होंने कहा कि यह सब फिजूल बकवास, मैं यहां रुकूंगा नहीं! अब मां दिखाई पड़ती है तो तुम इतने काहे के लिए आनंदित हो रहे हो? यह सब कल्पना है! यह मां और यह काली, यह सब तुम्हारी ही धारणा है!

रामकृष्ण कहते हैं, होगी, लेकिन आनंद बड़ा आता है। तो तोतापुरी ने कहा कि अगर इसी आनंद में पड़े रहना है, तो परम आनंद कभी न आएगा। तो रामकृष्ण ने पूछा, क्या करूं? तो तोतापुरी ने कहा कि एक तरकीब करो, जब काली भीतर दिखाई पड़े, उठाओ एक तलवार और दो टुकड़े कर दो।

तो रामकृष्ण ने कहा, तलवार वहां कहां से लाएंगे?

स्वाभाविक, कहां से तलवार ले आएंगे एकदम से? और भीतर! अगर बाहर तलवार हो भी तो ले कैसे जाएंगे? और काली जब दिखाई पड़ेगी तो कैसे, कहां है तलवार?

तो तोतापुरी ने कहा कि जिस मन से काली को भीतर खड़ा कर लिया है, उसी मन से एक तलवार भी खड़ी कर लेना। जब तुम काली तक को भीतर खड़ा करने में सफल हो गए हो, तो छोटी सी तलवार न कर पाओगे?

यह सपने के भीतर सपने की विधि! समझे मेरा मतलब? काली भी एक कल्पना है भीतर। सुखद है, पर है तो कल्पना। अपना ही फैलाव है, अपना ही भाव है, जो मूर्तिमंत हो गया भीतर। अपनी ही चाह है, अपने ही रंग हैं, जो हमने ही डाल दिए भीतर। वह जो काली खड़ी है भीतर और रामकृष्ण भीतर जो उसके चरणों में

सिर रखे पड़े हैं, बड़े मजे की बात है कि वह काली भी रामकृष्ण का ही भाव है और वह सिर रखे हुए भी रामकृष्ण पड़े हैं!

तो तोतापुरी ने ठीक कहा कि तलवार क्या बाहर से ले जानी पड़ेगी? काली को कब बाहर से ले गए थे? तो जब भीतर काली बना ली, एक तलवार भी बना लो। और तुम तो कुशल मालूम पड़ते हो। जब काली को देखते हो, इतने आनंदित होते हो, तो मतलब तुमने बिल्कुल पक्की मजबूत काली बना ली है। और तुम्हें शक-शुबहा भी नहीं है उसकी सचाई में। एक तलवार और बना लो।

रामकृष्ण बड़े उदास हो-हो जाते थे, कि यह कैसे होगा? तलवार से मैं खुद ही काली को काटूं! तो तोतापुरी ने कहा कि अगर न कटे तलवार से, तो फिर सोचेंगे। तुम कोशिश तो करो। पर रामकृष्ण कहते थे, मैं ही खुद काटूं? तो तोतापुरी ने कहा कि फिर मैं रुकूंगा नहीं। और जब तुमने स्वीकार किया कि साधना में उतरोगे वेदांत की, तो थोड़ी हिम्मत जुटाओ। यह क्या बच्चों जैसा रोते हो!

तो तोतापुरी एक कांच का टुकड़ा ले आए और रामकृष्ण से कहा कि बैठो, ध्यान करो! और जब मैं देखूंगा काली भीतर आ गई, तो कहीं तुम भूल न जाओ, क्योंकि तुम ऐसे मोहित दिखते हो कि तुम भूल जाओगे। और अगर काली याद भी रही तो तुम्हारी हिम्मत भी नहीं दिखती कि तुम तलवार उठा लोगे। तुम इतने प्रेम से भरे दिखते हो कि तलवार तुम उठाओगे कैसे? जैसे कोई मां अपने बच्चे को काटे, उससे भी कठिन तुम्हें होगा, यह भी मैं समझता हूं। तो फिर मैं तुम्हें साथ दूंगा। तुम फिक्र न करो। जब मैं समझूंगा काली आ गई, तो यह कांच का टुकड़ा है, इससे मैं तुम्हारे तृतीय नेत्र की जगह को पूरा का पूरा काट दूंगा। जब तुम्हें यहां दरार मालूम पड़े, और लगे खून बहने लगा और दर्द उठने लगे, मैं काटता जाऊंगा, रगड़ता जाऊंगा कांच के टुकड़े से, तब तुम भी हिम्मत उठा कर उसी तरह एक जोर की चोट करना तलवार की और दो टुकड़ों में काली को ता.ेड देना।

ठीक है, अगर तीसरे नेत्र पर कांच से काटा जाए, तो भीतर तीसरे नेत्र में ही दिखाई पड़ता है सब कुछ। वह चाहे काली हो और चाहे राम हों, चाहे कृष्ण हों--कोई भी हों--वह तीसरे नेत्र में ही उनका प्रतिबिंब बनता है। तो अगर तीसरे नेत्र को बाहर से काटा जाए और भीतर से भी कोई हिम्मत जुटाए, तो तीसरे नेत्र के कटान के अनुभव के साथ ही कोई भी भीतर की प्रतिमा टूट कर दो टुकड़े हो जाती है।

रामकृष्ण ने हिम्मत की, प्रतिमा दो टुकड़े होकर टूट गई, गिर गई। रामकृष्ण ने लौट कर बाहर कहा, दि लास्ट बैरियर हैज फालेन--जो आखिरी बाधा थी, वह गिर गई।

मगर ये सब उपाय हैं। मैं समझा यह रहा था कि काली भी एक असत्य, भीतर; और तलवार भी एक असत्य, भीतर; लेकिन एक असत्य से दूसरा असत्य कट जाता है।

ये सारे उपनिषद के ऋषि, जो नहीं है, उसे काटने के लिए उपाय बता रहे हैं। क्योंकि हमने, जो नहीं है, उसे मान रखा है कि है। तो कुछ उपाय हमें दिए जा रहे हैं, जिनसे वह कट जाए। झूठी बीमारी झूठी दवा की मांग करती है। हमारा सारा भाव-संसार झूठ है। इसलिए इतनी विधियों की जरूरत है। और इसलिए कोई भी विधि काम दे सकती है। कोई भी विधि काम दे सकती है, बस पकड़ जाए आपको।

सपने के भीतर एक सपना। सपने से सपने को काटना। और कोई उपाय भी नहीं है। सत्य से सत्य नहीं काटा जाता, कट भी नहीं सकता। सत्य से असत्य भी नहीं काटा जाता, कट भी नहीं सकता, क्योंकि असत्य और सत्य का कहीं कोई मिलन ही नहीं होगा, कटेगा कैसे? असत्य से ही असत्य कटता है। एक असत्य से दूसरा असत्य कट जाता है। और जब दोनों गिर जाते हैं तो जो शेष रह जाता है... ।

ऐसा समझें कि एक कांटा लग गया पैर में, तो एक दूसरा कांटा उठा कर उसे निकाल लेते हैं। कांटे से कांटा निकलता है। फिर दोनों कांटे फेंक देते हैं।

तो यह सूत्र कह रहा है कि न तो है देह, न है कर्म, न है प्रारब्ध, न है संसार--वास्तव में।

आपसे नहीं कह रहा है कि आप मानने लगें कि न है कर्म, न है देह, न है संसार। तो अभी आप मुश्किल में पड़ जाएंगे--अभी, इसी वक्त।

नहीं, आपके लिए अभी है; क्योंकि अभी आप नहीं हैं। इसलिए सभी झूठ अभी सत्य हैं। अभी सत्य का पता नहीं है, इसलिए सभी झूठ सत्य हैं। जिस दिन आपको अपने सत्य का पता चलेगा, सभी झूठ मिथ्या हो जाएंगे।

स्वयं को जानते ही संसार मिथ्या हो जाता है।

स्वयं को न जानने से ही मिथ्या संसार सत्य मालूम होता है।

सोलहवां प्रवचन

एक और अद्वैत ब्रह्म

समाधातुं वाह्यादृष्ट्या प्रारब्धं वदति श्रुतिः।
न तु देहादिसत्यत्व बोधनाय विपश्चिताम्।। 60।।
परिपूर्णमनाद्यन्तमप्रमेयमविक्रियम्।
सद्घनं चिद्घनं नित्यमानन्दघनमव्ययम्।। 61।।
प्रत्यगेकरसं पूर्णमनन्त सर्वतोमुखम्।
अहेयमुनपादेयमनधेयमनाश्रयम्।। 62।।
निर्गुण निष्क्रियं सूक्ष्मं निर्विकल्पं निरंजनम्।
अनिरूप्यस्वरूपं यन्मनोवाचामगोचरम्।। 63।।
सत्समृद्धं स्वतः सिद्धं शुद्धं बुद्धिमनीदृशम्।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानाऽस्ति किंचन।। 64।।

देह आदि सत्य है, ऐसा ज्ञानियों को समझाने के लिए श्रुति प्रारब्ध कर्म की बात नहीं कहती। पर अज्ञानियों का समाधान करने के लिए ही श्रुति प्रारब्ध कर्म की बात कहती है। वास्तव में परिपूर्ण, आदि-अंतरहित, अमाप (नाप सकने में असंभव), विकाररहित, सत्तामय, चैतन्यमय, नित्य, आनंदमय, अविनाशी, हर एक में व्यापक होने वाला, एकरस वाला, पूर्ण, अनंत, सर्व तरफ मुख वाला, त्याग कर सकने में अथवा ग्रहण कर सकने में अशक्य, आधार के ऊपर नहीं रहने वाला, आश्रयरहित, निर्गुण, क्रियारहित, सूक्ष्म, विकल्परहित, स्वतःसिद्ध, शुद्ध-बुद्ध, अमुक के समान नहीं, एक और अद्वैत ब्रह्म ही सब कुछ है, और कोई भी नहीं।

इस प्रकार अपने अनुभव से स्वयं ही अपनी आत्मा को अखंडित जान कर तू सिद्ध हो, और निर्विकल्प स्वरूप आत्मा में ही अत्यंत सुखपूर्वक स्थिति कर।

'देह आदि सत्य है, ऐसा ज्ञानियों को समझाने के लिए श्रुति प्रारब्ध कर्म की बात नहीं कहती। पर अज्ञानियों का समाधान करने के लिए ही श्रुति प्रारब्ध कर्म की बात कहती है।'

जो कहा जाता है, वह उससे ही संबंधित नहीं होता जो कहता है, बल्कि उससे भी संबंधित होता है जिससे कहा जाता है। ज्यादा महत्वपूर्ण वही है, जिससे कहा जा रहा हैः जो उसकी समझ में आ सके; जो उसकी बुद्धि के पार न पड़ जाए; जो उसे उलझा न दे, सुलझाए; जो उसके लिए मार्ग बने, ऊहापोह नहीं; जो उसके लिए मात्र चिंतन की यात्रा न हो जाए, वरन जीवन को बदलने की व्यवस्था हो।

तो यह सूत्र कहता है कि श्रुति अज्ञानियों से और भाषा में बोलती है, ज्ञानियों से और भाषा में। सच तो यह है कि बुद्ध पुरुष प्रत्येक व्यक्ति से दूसरी भाषा में बोलते हैं। और इसीलिए शास्त्र में इतनी असंगतियां हैं; क्योंकि वक्तव्य अलग-अलग लोगों के लिए दिए गए हैं।

बुद्ध आज कुछ कहते हैं, कल कुछ कहते हैं, परसों कुछ कहते हैं। और मुश्किल हो जाती है यह सोच कर कि ये तीनों बातें एक ही व्यक्ति ने कैसे कही होंगी! क्योंकि तीनों में विपरीतता है, विरोध है, कोई संगति नहीं है। और बुद्ध को मानने वाला जबरदस्ती संगति बिठाने की चेष्टा करता है, ताकि बुद्ध असंगत न मालूम पड़ें। पर

वास्तविक बात केवल इतनी है कि बोलने वाला तो तीनों में एक है, लेकिन सुनने वाला तीनों में अलग था। और सुनने वालों को ध्यान में रख कर कही गई बातें... ।

चिकित्सक एक हो, लेकिन बीमार अलग-अलग होंगे तो दवा अलग-अलग हो जाएगी। बुद्ध के वचन सिद्धांत नहीं हैं। बुद्ध पुरुषों के वचन सिद्धांत नहीं हैं--दवाइयां हैं, औषधियां हैं। और इसलिए यह जानना जरूरी है कि किससे कही गई है बात।

श्रुति अज्ञानियों से कुछ और कहती है, ज्ञानियों से कुछ और कहती है। ज्ञानियों से कहती है कि देह है ही नहीं, अज्ञानियों से कहती है देह है, लेकिन तुम देह नहीं हो। ज्ञानियों से कहती है देह है ही नहीं, बस तुम ही हो; अज्ञानियों से कहती है देह है, लेकिन तुम देह नहीं हो।

ये दोनों बातें विपरीत हैं। अगर देह नहीं है, तो नहीं है, चाहे ज्ञानी से कही जाए, चाहे अज्ञानी से कही जाए। और अगर देह है, तो है, फिर ज्ञानी-अज्ञानी से क्या फर्क पड़ेगा?

इसे थोड़ा हम सूक्ष्मता से समझ लें।

एक तो ऐसे सत्य हैं, जिन्हें हम तथ्य कहते हैं; आब्जेक्टिव फैक्ट्स। सुबह है। तो ज्ञानी हो या अज्ञानी, इससे क्या फर्क पड़ता है! सुबह है। और रात हो गई, सूरज ढल गया। तो ज्ञानी हो या अज्ञानी, इससे क्या फर्क पड़ता है! सूरज ढल गया और रात हो गई।

विज्ञान तथ्यों की खोज करता है, इसलिए विज्ञान संगत भाषा बोलता है। विज्ञान, बाहर जो है उसकी बात करता है। इसलिए विज्ञान की भाषा में बड़ी संगति, कंसिस्टेंसी है।

धर्म, भीतर जो देखने वाला है उसके अनुकूल भाषा बोलता है; सब्जेक्टिव है। तथ्य पर उतना जोर नहीं है, जितना दृष्टि पर जोर है। तो जो देखता है उसके हिसाब से भेद पड़ जाते हैं।

ज्ञानी जब देखता है तो देह दिखाई ही नहीं पड़ती; अज्ञानी जब देखता है तो आत्मा का कोई पता नहीं चलता। अज्ञानी के देखने का ढंग ऐसा है कि देह ही पकड़ में आती है; और ज्ञानी के देखने का ढंग ऐसा है कि आत्मा ही पकड़ में आती है। ज्ञानी को देह दिखाई पड़नी असंभव है, अज्ञानी को आत्मा दिखाई पड़नी असंभव है। इसीलिए तो शंकर जैसे मनीषी कह सके कि जगत मिथ्या है, है ही नहीं। और बृहस्पति जैसे पदार्थवादी कह सके कि आत्मा-परमात्मा सब असत्य हैं, केवल पदार्थ है। इन दोनों में कोई विरोध नहीं है; क्योंकि इन दोनों में कहीं कोई मिलन ही नहीं होता। ये दो अलग ढंग से देखे गए वक्तव्य हैं। जीवन को देखने की व्यवस्था ही दोनों की अलग है। जहां से शंकर देखते हैं, वहां जगत दिखाई नहीं पड़ता; जहां से चार्वाक देखता है, वहां से जगत ही दिखाई पड़ता है। यह दृष्टि-भेद है। यह वक्तव्य बिल्कुल अलग-अलग देखे गए लोगों के वक्तव्य हैं, जिनके देखने का ढंग अलग है।

जैसे समझें कि अगर सुगंध ही आपकी परख का ढंग हो, अगर नाक ही सिर्फ आपके पास हो और गंध से ही आप पता लगाते हों... । बहुत से पशु-पक्षी हैं, बहुत से कीड़े-मकोड़े हैं, जो गंध से ही जीते हैं; गंध के ही आधार चलते हैं; गंध ही उनकी आंख है; गंध ही उनका मार्ग खोजने का ढंग है। ऐसे कीड़े-मकोड़ों को, जो गंध से ही चलते हैं, संगीत का कोई भी पता नहीं चलेगा; क्योंकि गंध से संगीत को जांचने का कोई उपाय नहीं है। संगीत में कोई गंध होती ही नहीं। अच्छा संगीत हो तो सुगंध नहीं होती और बुरा संगीत हो तो दुर्गंध नहीं होती; गंध का ध्वनि से कोई लेना-देना नहीं है।

तो जिसके पास जांचने की व्यवस्था गंध की हो, वह ध्वनि से अपरिचित रह जाएगा; उसके लिए ध्वनि है ही नहीं। हमारे लिए वही है जगत में, जिसको जांचने का हमारे पास उपाय है।

ध्यान रहे, हमारे पास पांच इंद्रियां हैं। इसलिए हमें पांच महाभूत का पता चलता है। अगर दस इंद्रियां हों तो दस महाभूतों का पता चलेगा। आदमी से नीचे पशु हैं, जिनके पास चार इंद्रियां हैं, तीन इंद्रियां हैं, दो इंद्रियां

हैं; तो जितनी उनकी इंद्रियां हैं, उतना ही उनका जगत है। जिस पशु के पास कान नहीं हैं, और सब है, उसके लिए ध्वनि का कोई अस्तित्व ही नहीं है। इसलिए नहीं कि ध्वनि नहीं है, लेकिन ध्वनि को पकड़ने का उपाय न हो तो आपके लिए तो ध्वनि नहीं हो जाती है, यह जगत शून्य है ध्वनि से। कान नहीं हैं तो जगत में कोई ध्वनि नहीं है। आंख नहीं है तो जगत में कोई प्रकाश नहीं है। तो आप किस माध्यम से खोजने चलते हैं, वही आपको मिलता है। आपका माध्यम ही आपका जगत है।

अज्ञानी शरीर के माध्यम से खोजता है। इसलिए अज्ञानी अक्सर पूछता है, कहां है ईश्वर? दिखा दो! वह यह कह रहा है, जब तक मेरी आंख गवाही न दे, मैं न मानूंगा। वह कह क्या रहा है? जब आप कहते हैं, जब तक ईश्वर का दर्शन न होगा, हम नहीं मान सकते, आप क्या कह रहे हैं? आप यह कह रहे हैं कि जब तक ईश्वर मेरी आंख का विषय न बने, तब तक मानने का मेरे पास कोई उपाय नहीं है।

लेकिन आपको यह किसने कहा कि ईश्वर आंख का विषय है? अगर वह आंख का विषय है ही नहीं, तो फिर आपका मिलन उससे कभी नहीं होगा, क्योंकि जो जिद आप कर रहे हैं आंख की, उससे उसका कोई संबंध ही नहीं हो पाएगा। रूप होता है आंख का विषय और समस्त ज्ञानी कहते हैं कि ईश्वर अरूप है। और आप कहते हैं हम आंख से देखेंगे, तब मानेंगे। तो आपने न मानने का निर्णय पक्का कर लिया है। और कोई उपाय नहीं है कभी भी कि आप आंख से ईश्वर को देख सकें। क्योंकि जिसका अरूप होना स्वभाव है, उसको आप रूप में कैसे देखेंगे?

और ध्यान रहे, अगर आपको कभी ईश्वर रूप में दिख जाए, तो आप फौरन कहेंगे, यह ईश्वर नहीं हो सकता, क्योंकि शास्त्रों में कहा है वह अरूप है।

मार्क्स ने मजाक की है। मार्क्स ने कहा है, मैं किसी ईश्वर को नहीं मानता हूं, नहीं मान सकता हूं, क्योंकि मैं तो उसी तथ्य को मानता हूं जो विज्ञान-प्रमाणित हो। अगर ईश्वर को मैं प्रयोगशाला में विज्ञान की, टेस्ट-ट्यूब में जांच सकूं, प्रयोगशाला की टेबल पर रख कर शल्य-क्रिया कर सकूं, सब तरफ छान-बीन कर सकूं भीतर, तो ही मान सकता हूं। लेकिन फिर उसने मजाक में यह भी कहा है, लेकिन अगर कभी ईश्वर ने ऐसी भूल की कि वह प्रयोगशाला की टेस्ट-ट्यूब में और प्रयोगशाला की टेबल पर आकर जांच-परीक्षा करवाने को राजी हो गया, तो फिर वह ईश्वर न रह जाएगा।

निश्चित ही, जिसको आप टेस्ट-ट्यूब में बंद करके जांच लेंगे, उससे आप बड़े हो जाएंगे। जिसको आप टेबल पर काट-पीट करके समझ-बूझ लेंगे भीतर क्या है, वह पदार्थवत हो जाएगा, वह ईश्वर नहीं रह जाएगा।

तो हमारी मांग ऐसी है कि अगर पूरी न हो तो कठिनाई है, अगर पूरी हो जाए तो कठिनाई है। लोग कहते हैं कि जब तक हम ईश्वर को प्रत्यक्ष न कर लें, आंख के सामने न कर लें--प्रत्यक्ष का मतलब होता है, आंख के सामने--तब तक हम न मानेंगे। तो उन्होंने एक बात तय कर रखी है कि जो आंख के सामने है, उतना ही उनका संसार है। जो आंख के सामने नहीं है, वह नहीं है।

जगत बड़ा है। तब ज्ञानी क्या करे? जिसने उसे देख लिया है जो आंख से दिखाई नहीं पड़ता, जिसने आंख बंद करके उसे देख लिया है जो खुली आंख से दिखाई नहीं पड़ता, जिसने कान बंद करके उसे सुन लिया है जो खुले कान से सुनाई नहीं पड़ता, और जिसने बिना हाथ से स्पर्श किए अंतस्तल में उसका स्पर्श पा लिया है, वह किस भाषा में बोले? अज्ञानी समझ सके--तो उसे कुछ और ढंग से कहना होगा। और अगर वही बात वह ज्ञानी से कहे, तो ज्ञानी को हंसी आएगी।

मुसलमान फकीर शेख फरीद और कबीर का मिलना हुआ था। तो दोनों में बात न हुई। दो दिन तक साथ रहे, हंसे, गले मिले, पास बैठे, घंटों बैठे--कोई बात न हुई! बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गई थी। कबीर के भक्त, फरीद के

भक्त, और कुतूहलवश बहुत लोग आ गए थे कि कबीर और फरीद का मिलना हुआ है, कुछ बात कीमत की होगी, थोड़ा हम भी सुन लेंगे।

लेकिन दो दिन ऐसे ही बीत गए! फिर विदा का क्षण भी आ गया। बड़ी निराशा हुई। जो इकट्ठे हुए थे सुनने, बड़े उदास हुए। और कहा, यह भी क्या मामला है? इतने बड़े दो अनुभवियों का मिलना हुआ, कुछ बात होती तो हमारे लाभ की हो जाती। लेकिन कबीर और फरीद की मौजूदगी में पूछने की किसी की हिम्मत भी न पड़ी।

फिर जब फरीद चल पड़ा अपनी यात्रा पर तो उसके भक्तों ने उसे कहा कि यह भी क्या हुआ, कुछ बोलते आप! तो फरीद ने कहा, जो बोलता, वह अज्ञानी साबित होता। जो बोलता, वह अज्ञानी साबित होता! और फिर बोलते भी क्या? जो मैं जानता हूं, वही कबीर भी जानते हैं; जहां से वे देख रहे हैं, वहीं से मैं देख रहा हूं।

कबीर से भी पूछा उनके मित्रों ने, आश्रमवासियों ने।

कबीर ने कहा, पागल हुए हो! हंस सकते थे ज्यादा से ज्यादा कि उन दो का मिलन हो रहा है जो दो हैं ही नहीं, जो मिल ही चुके हैं। बोलना किससे था?

कबीर ने कहा है कि बोलने की घटना घटती कब है? दो अज्ञानी काफी बोलते हैं एक-दूसरे से। हालांकि न एक दूसरे को समझता है, न दूसरा पहले को समझता है। दो अज्ञानी डट कर चर्चा करते हैं, परिणाम कुछ नहीं होता--विवाद; कहीं कुछ लेन-देन नहीं होता, कोई निष्कर्ष नहीं होता; विवाद होता है। तो दो अज्ञानियों की चर्चा शब्दों में होती है; हालांकि शब्द कहीं पहुंचते नहीं। दो ज्ञानी भी मिलते हैं; शब्द का उपयोग असंभव हो जाता है। मौन में मिलना होता है; शब्द नहीं बोले जाते। क्योंकि दोनों के दर्शन एक, दृष्टि एक, अनुभव एक--कहने को क्या है?

फिर बोलना कब घटित होता है? जब एक अज्ञानी और एक ज्ञानी मिलता है, तभी बोलना घटित होता है। जब एक जानता है और एक नहीं जानता तो बोलने का कोई अर्थ है; जब दोनों जानते हैं तो बोलने का कोई भी अर्थ नहीं है। और जब दोनों नहीं जानते हैं, तो रुक नहीं सकते बोलने से। बोलेंगे बहुत, अर्थ कोई भी नहीं है। तीन ही उपाय हैं।

तो जब ज्ञानी अज्ञानी से मिलता है तो वह क्या बोलेगा?

एक तो उपाय यह है कि जो उसका अनुभव है वह बोले चला जाए, बिना फिक्र किए कि किससे बोल रहा है। तब उसकी बातें दीवालों से हो रही हैं; तब कोई उसको सुनेगा नहीं, समझेगा भी नहीं; या गलत समझेगा। जो वह कहेगा, उससे विपरीत समझेगा। अनर्थ होगा, अर्थ नहीं होगा। इससे तो चुप रह जाना बेहतर है। या फिर अज्ञानी जो समझ सके वह बोले। अज्ञानी गलत ही समझ सकता है। तो क्या ऐसा कोई उपाय है कि गलत को इस ढंग से बोला जाए कि सही की तरफ अज्ञानी का मुंह हो जाए? बस इतना ही ध्यान में रखना जरूरी है।

देह है नहीं; लेकिन अज्ञानी को देह ही है। तो क्या किया जाए? बीच का कोई मार्ग, विधि खोजी जाए कि अज्ञानी को कहा जाएः देह भी है, तुम भी हो, लेकिन तुम देह नहीं हो, इसकी तलाश में लगो!

अगर अज्ञानी से यह कहा जाए कि देह है ही नहीं, तलाश ही बंद हो जाती है। वह कहेगा, अब बस चुप रहें। देह नहीं है? और मुझे देह के सिवाय कुछ अनुभव नहीं होता! देह ही है। वह कहेगा, आत्मा वगैरह कुछ भी नहीं है। और उसके कहने में गलती नहीं है; उसका जो अनुभव है, वह कह रहा है। ज्ञानी का जो अनुभव है, वह कह रहा है; अज्ञानी का जो अनुभव है, वह कह रहा है।

आपने अपने को देह के अतिरिक्त कभी भी जाना है? कभी ऐसी कोई झलक आपको मिली है कि आपको पता लगे कि मैं देह नहीं हूं? आपको यह पक्का भरोसा है कि अगर आपकी गर्दन काट दी जाए तो आप नहीं

कटेंगे? आपको इसकी थोड़ी सी भी प्रतीति है कि जब लाश आपकी जलाई जाएगी मरघट में तो आप नहीं जलेंगे?

असंभव है! क्योंकि जब पैर में कांटा गड़ता है छोटा सा तो आप में गड़ जाता है, हाथ जल जाता है तो आप जल जाते हैं। तो जब पूरा शरीर जलेगा तो यह आशा रखनी असंभव है कि आप नहीं जलेंगे। जरा सी चोट, जरा सी गाली आप में प्रवेश कर जाती है, तो जब मृत्यु आप में घुसेगी तो आप में प्रवेश नहीं करेगी, यह आप मत सोचना। आपको कोई अनुभव नहीं है कि आप शरीर के अलावा भी कुछ हैं; इतना ही अनुभव है कि शरीर हूं। हां, आप मानते हों भला कि मैं आत्मा हूं और मरूंगा नहीं, वह आपकी मान्यता है। और मान्यता बड़ी धोखे की है। और वह मान्यता भी अज्ञान का ही हिस्सा है। सभी आदमी मानना चाहते हैं कि न मरें। कोई मरना नहीं चाहता।

इस थोड़ी बात को ख्याल में ले लें। कोई मरना नहीं चाहता। और जो भी मरना नहीं चाहता उसको पक्का पता है कि मरना पड़ेगा, इसीलिए तो मरना नहीं चाहता। ज्ञानी मरना चाहता है, अज्ञानी मरना नहीं चाहता। ज्ञानी मरना चाहता है, क्योंकि वह जानता है कि मरने से भी कुछ मरता नहीं है। ज्ञानी मृत्यु में प्रवेश करना चाहता है, क्योंकि वह जानता है कि मृत्यु में प्रवेश करके अमृत का शुद्धतम अनुभव होगा। जहां विपरीत होता है, वहां अनुभव आसान होता है। सफेद रेखा खींच दें काले ब्लैक बोर्ड पर, चमक कर दिखाई पड़ती है। बादल घिरे हों काले, बिजली चमकती है, साफ दिखाई पड़ती है। दिन में सफेद बादलों में बिजली चमके, दिखाई नहीं पड़ती। ज्ञानी मृत्यु में प्रवेश करना चाहता है--आग्रहपूर्वक, आनंदपूर्वक, अहोभावपूर्वक--ताकि वह जो अमृत भीतर छिपा है, चारों तरफ मृत्यु के काले बादल घिर जाएं, तो वह अमृत की लकीर, वह शुभ्र रेखा कौंध जाए, और अनुभव साफ-साफ हो जाए कि मृत्यु सदा मेरे चारों ओर घटती है, मुझमें कभी नहीं घटती। अज्ञानी मृत्यु में जाने से डरता है, भयभीत होता है; क्योंकि उसे पक्का पता है कि मृत्यु का मतलब समाप्ति, कुछ बचेगा नहीं।

अब यह बड़े मजे की बात है कि इसीलिए अज्ञानी, कि बिल्कुल मर न जाए, आत्मा अमर है, ऐसा विश्वास करता है। यह विश्वास ज्ञान के कारण नहीं, यह विश्वास भय के कारण है। इसीलिए जवान आदमी आत्मा वगैरह में उतना विश्वास नहीं करता। जैसे-जैसे बूढ़ा होने लगता है, ज्यादा विश्वास करता है। क्योंकि मौत करीब आती है, भय बड़ा होने लगता है। खाट पर पड़ा हुआ मरता आदमी आमतौर से धार्मिक हो जाता है। जो खाट पर भी अधार्मिक है, वह जरा हिम्मत का आदमी है। मरते वक्त भी जो अधार्मिक है, वह जरा हिम्मत का आदमी है। बड़े से बड़ा नास्तिक भी मरते वक्त डांवाडोल होने लगता है, और सोचता है पता नहीं, और फिर मौत का भय और उस अंधेरे में प्रवेश। उस भय के कारण वह सब सिद्धांतों को पकड़ लेता है।

आप भी मानते हैं कि आत्मा अमर है, यद्यपि आप जानते हैं कि मैं शरीर से ज्यादा कुछ भी नहीं हूं। किस आत्मा की बात कर रहे हैं जो अमर है, जिसका आपको कोई अनुभव नहीं है! जिसकी किंचित मात्र प्रतीति नहीं हुई, वह अमर है, आप कह रहे हैं! आपका भय आपका सिद्धांत बन जाता है। जितने भयभीत लोग होते हैं, जल्दी आत्मवादी हो जाते हैं।

इसलिए हमारे मुल्क में दिखाई पड़ती है यह घटना, कि पूरा मुल्क आत्मवादी है और अंधेरे में जाने से डर लगता है, और आत्मा का पक्का भरोसा है! मौत से प्राण कंपते हैं, आत्मा का पक्का भरोसा है! आत्मवादियों का मुल्क एक हजार साल तक गुलाम रहा! आत्मवादियों के मुल्क पर कोई भी छोटी-मोटी कौम हावी हो गई! और आत्मवादी आत्मा को मानते रहे कि आत्मा अमर है, लेकिन युद्ध के मैदान पर जाने में डरते रहे!

भय आपके सिद्धांत का आधार है--अनुभव नहीं, ज्ञान नहीं। नहीं तो आत्मवादी को तो कोई गुलाम बना ही नहीं सकता। उसको तो कोई भय ही नहीं है। आखिर गुलामी बनती ही भय के कारण है कि मार डालेंगे अगर

नहीं गुलाम बनोगे तो। तो आदमी इस कीमत पर, जिंदा रहने की कीमत पर, गुलाम रहना भी पसंद कर लेता है, मरना नहीं चाहता है।

अगर यह मुल्क सच में आत्मवादी होता, जैसा कि लोग कहते फिरते हैं, तो यह मुल्क कभी गुलाम नहीं हो सकता था। यह पूरा मुल्क कट जाता, और कहता कि न शस्त्रों से हमें छेदा जा सकता है--नैनम छिन्दंति शस्त्राणि--न आग से हमें जलाया जा सकता है। तो जलाओ और छेदो! इस मुल्क को गुलाम बनाना असंभव था, अगर यह आत्मवादी होता। लेकिन यह आत्मवादी वगैरह नहीं है, परिपूर्ण देहवादी है। लेकिन भय के कारण आत्मा को माने चला जाता है।

आपकी प्रतीति तो देह की है कि मैं देह हूं और ज्ञानी की प्रतीति है कि देह है ही नहीं। तो कहां बने मिलन, जहां आप एक-दूसरे की भाषा समझ सकें? तो श्रुति ने एक उपाय खोजा है, शास्त्र ने एक विधि खोजी है, वह यह, कि आपको बिल्कुल इनकार करना उचित नहीं होगा कि देह है ही नहीं। वह इनकार तो आपका दरवाजा बंद कर देगा, फिर तो आपकी समझ मुश्किल हो जाएगी। तो आपके लिए कहते हैं कि देह है। इससे अज्ञानी आश्वस्त हो जाता है कि हम बिल्कुल गलत नहीं हैं, देह है; हमारी मान्यता भी ठीक है। इससे यस मूड पैदा होता है। इससे हां का भाव पैदा होता है।

अमरीकी विचारक डेल कारनेगी ने यस मूड पर बड़ा काम किया है; हां का भाव। उसका कोई धर्म से लेना-देना नहीं। वह तो चीजें कैसे बेची जाएं, सेल्समैनशिप, उसका ज्ञाता है; मित्रता कैसे खरीदी जाए, उसका ज्ञाता है। उसकी किताब, हाऊ टु विन फ्रेंड्स एंड इनफ्लुएंस पीपुल, बाइबिल के बाद सबसे ज्यादा बिकने वाली किताब है दुनिया में। कैसे दोस्ती जीती जाए और कैसे लोग प्रभावित किए जाएं, सीक्रेट फार्मूला हैः हाऊ टु क्रिएट दि यस मूड--दूसरे आदमी में हां का भाव कैसे पैदा किया जाए। जब हां का भाव पैदा हो जाता है तो न करना मुश्किल होने लगता है।

तो डेल कारनेगी कहता है कि अगर किसी को प्रभावित करना हो, किसी को बदलना हो, किसी का विचार रूपांतरित करना हो, तो ऐसी बात मत कहना जिसको वह पहले ही मौके पर न कह दे। क्योंकि अगर उसने पहले ही न कह दी, तो उसका न का भाव मजबूत हो गया। अब दूसरी बात--जो हो सकता था, पहले कही जाती, तो वह हां भी कह देता--अब उस बात पर भी वह न कहेगा। इसलिए पहले दो-चार ऐसी बात करना उससे जिसमें वह हां कहे, फिर वह बात उठाना जिसमें साधारणतः उसने न कही होती। चार हां कहने के बाद न कहने का भाव कमजोर हो जाता है। और जिस आदमी की हमने चार बात में हां भर दी, वृत्ति होती है उसकी पांचवीं बात में भी हां भर देने की। और जिस आदमी की हमने चार बात में न कह दी, पांचवीं बात में भी न कहने का भाव प्रगाढ़ हो जाता है।

डेल कारनेगी ने एक संस्मरण लिखा है, कि एक गांव में वह गया। जिस मित्र के घर ठहरा था, वह इंश्योरेंस का एजेंट था। और उस मित्र ने कहा कि तुम बड़ी किताबें लिखते होः कैसे जीतो मित्रता, कैसे प्रभावित करो। इस गांव में एक बुढ़िया है, अगर तुम उसका इंश्योरेंस करवा दो, तो हम समझें, नहीं तो सब बातचीत है।

डेल कारनेगी ने बुढ़िया का पता लगाया। बड़ा मुश्किल काम था, क्योंकि उसके दफ्तर में ही घुसना मुश्किल था। जैसे ही पता चलता कि इंश्योरेंस एजेंट, लोग उसे वहीं से बाहर कर देते। बुढ़िया अस्सी साल की विधवा थी; करोड़पति थी, बहुत कुछ उसके पास था, लेकिन इंश्योरेंस के बिल्कुल खिलाफ थी। जहां घुसना ही मुश्किल था, उसको प्रभावित करने का मामला अलग था।

डेल कारनेगी ने लिखा है कि सब पता लगा कर, पांच बजे सुबह मैं उसके बगीचे की दीवाल के बाहर के पास घूमने लगा जाकर। बुढ़िया छह बजे उठती थी। वह अपने बगीचे में आई, मुझे अपनी दीवाल के पास फूलों को देखते हुए खड़े होकर उसने पूछा कि फूलों के प्रेमी हो? तो मैंने उससे कहा कि फूलों का प्रेमी हूं, जानकार भी

हूं; बहुत गुलाब देखे सारी जमीन पर, लेकिन जो तुम्हारी बगिया में गुलाब हैं, इनका कोई मुकाबला नहीं है। बुढ़िया ने कहा, भीतर आओ दरवाजे से।

बुढ़िया साथ ले गई बगीचे में; एक-एक फूल बताने लगी! मुर्गियां बताईं, कबूतर बताए, पशु-पक्षी पाल रखे थे, वे सब बताए... । और डेल कारनेगी ने यस मूड पैदा कर लिया।

रोज सुबह का यह नियम हो गया। दरवाजे पर बुढ़िया उसके स्वागत के लिए तैयार रहती। दूसरे दिन बुढ़िया ने चाय भी पिलाई, नाश्ता भी करवाया। तीसरे दिन बगीचे में घूमते हुए उस बुढ़िया ने पूछा कि तुम काफी होशियार और कुशल और जानकार आदमी मालूम पड़ते हो, इंश्योरेंस के बाबत तुम्हारा क्या ख्याल है? इंश्योरेंस के लोग मेरे पीछे पड़े रहते हैं, यह योग्य है करवाना कि नहीं?

तब डेल कारनेगी ने उससे इंश्योरेंस की बात शुरू की। लेकिन अभी भी कहा नहीं कि मैं इंश्योरेंस का एजेंट हूं, क्योंकि उससे न का भाव पैदा हो सकता है। जिंदगी भर जिसने इंश्योरेंस के एजेंट को इनकार किया हो, उससे न का भाव पैदा हो सकता है। लेकिन सातवें दिन इंश्योरेंस डेल कारनेगी ने कर लिया।

जिससे हां का संबंध बन जाए, उस पर आस्था बननी शुरू होती है। जिस पर आस्था बन जाए, भरोसा बन जाए, उसको न कहना मुश्किल होता चला जाता है। अंगुली पकड़ कर ही पूरा का पूरा हाथ पकड़ा जा सकता है।

तो श्रुति अज्ञानी से ऐसी भाषा में बोलती है कि उसे हां का भाव पैदा हो जाए। तो ही आगे की यात्रा है। अगर सीधे कहा जाएः न कोई संसार है, न कोई देह है, न तुम हो। अज्ञानी कहेगा, तो बस अब काफी हो गया, इसमें कुछ भी भरोसे योग्य नहीं मालूम होता।

इसलिए श्रुति कहती है अज्ञानी से कि देह आदि सत्य है; तुम्हारा संसार बिल्कुल सत्य है। अज्ञानी की रीढ़ सीधी हो जाती है, वह आश्वस्त होकर बैठ जाता है कि यह आदमी खतरनाक नहीं है; और हम एकदम गलत नहीं हैं। क्योंकि किसी को भी यह लगना बहुत दुखद होता है कि हम बिल्कुल गलत हैं। थोड़े तो हम भी सही हैं! थोड़ा जो सही है, उसी के आधार पर आगे यात्रा हो सकती है।

लेकिन आप बिल्कुल गलत हैं; ज्ञानी का अनुभव यह है कि आप बिल्कुल गलत हैं, शत प्रतिशत गलत हैं। मगर यह कहने का मतलब यह होगा कि आगे कोई संबंध नहीं जुड़ सकता। इसलिए ज्ञानी कहता है कि नहीं, आप काफी दूर तक सही हैं। शरीर है, संसार है, सब है; इसमें कोई आपकी भूल-चूक नहीं है; भूल जरा सी है, और वह यह है कि आप शरीर को आत्मा समझ बैठे हैं।

अज्ञानी में हां का भाव पैदा हो जाता है। वह कहता है कि बहुत दूर तक तो मैं भी सही हूं; थोड़ा सा ही फर्क है मुझ में और ज्ञानी में कि मैं शरीर को आत्मा समझ बैठा हूं। और अज्ञानी भी चाहता है कि शरीर को आत्मा न समझे, क्योंकि शरीर सिवाय दुख के कुछ और देता नहीं। और फिर शरीर मरता भी है, मृत्यु भी आती है। तो वह चाहता भी है खोजना कि उसका पता चल जाए जो शरीर नहीं है; तो अमरत्व का भी पता चल जाए। और फिर ज्ञानी कहता है कि परम आनंद है उस आत्मा को जान लेने में जो शरीर नहीं है, तो अज्ञानी का लोभ भी जगता है। वह भी उस परम आनंद को जानने के लिए उत्सुक हो जाता है। तब यात्रा शुरू होती है।

लेकिन यात्रा ऐसी है कि जैसे-जैसे अज्ञानी उसमें बढ़ता है, वैसे-वैसे उसे पता चलता है कि जो ज्ञानी ने हां भरी थी कि देह है, वह है नहीं; जो संसार हां भरा था, वह है नहीं। और जैसे-जैसे गहरा होता है, वैसे-वैसे ज्ञानी उस पर शर्तें जोड़ता है; वह कहता है कि अगर आनंद का लोभ किया, तो आनंद कभी मिलेगा नहीं--हालांकि वह लोभ से ही चला था!

मगर ये बाद की बातें हैं। जब रास्ते पर चल पड़े, थोड़ी दूर यात्रा कर ली, लौटना भी मुश्किल हो गया--क्योंकि यह रास्ता ऐसा है, इस पर लौटना नहीं हो सकता। जितना आपने जान लिया, उसको फिर से अनजाना

नहीं किया जा सकता। ज्ञान से वापसी असंभव है। तो जहां तक आप आ गए, वहां से आगे ही जाया जा सकता है, पीछे नहीं जाया जा सकता।

और बड़े मजे की बात यह है कि अज्ञानी जब रास्ते पर चलने लगता है, तो जितने कष्ट में वह कभी नहीं था, आगे बढ़ कर उतने कष्ट में पड़ जाता है! क्योंकि पहले जो कुछ था, गलत ही था, लेकिन सब साफ था। जैसे ही आगे बढ़ता है, तो पिछला तो सब धुंधला और व्यर्थ हो जाता है, मध्य में अटक जाता है। पीछे लौट नहीं सकता, आगे जाने के सिवाय कोई उपाय नहीं है। इसलिए फिर ज्ञानी जो-जो शर्तें देता है, वे पूरी करनी पड़ती हैं। वह कहता है, लोभ छोड़ दो तो आनंद होगा। हालांकि पहली दफा ज्ञानी ने लोभ ही जगाया था कि परम आनंद है। कहां पड़े हो नर्क में! कहां पड़े हो दुख में! पास ही है अमृत का झरना, आ जाओ!

तो वह दुख को छोड़ने की आशा में, सुख पाने की आशा में--आनंद से लगा कि बड़ा सुख होगा वहां--इस आशा में बढ़ता है। यह लोभ ही है। लेकिन थोड़ी ही देर में ज्ञानी कहता है, लोभ बिल्कुल छोड़ दो। आनंद मांगना मत, नहीं तो मिलेगा कभी नहीं। अब बड़ी मुश्किल हुई! पीछे लौटा नहीं जा सकता। मन होता है कि वह सुख ठीक था; लेकिन अब वहां सुख दिखाई पड़ नहीं सकता; अब वहां दुख साफ दिखाई पड़ने लगा। तो जो था हाथ में वह छूटता है, और जो मिलने की आशा से छोड़ा था, वह मिलता दिखाई नहीं पड़ता। और अब ज्ञानी कहता है कि आशा भी छोड़ दो मिलने की। छोड़नी ही पड़ेगी! पीछे लौट नहीं सकते, छोड़नी ही पड़ेगी।

ऐसा इंच-इंच ज्ञानी आपके गलत मोहों को तोड़ता है, और धीरे-धीरे, धीरे-धीरे वहां ले जाता है, जहां अगर आपसे पहले ही कहा जाता कि ले जा रहे हैं, तो आप कभी न गए होते।

बुद्ध ने ऐसी भूल की है। बुद्ध से ज्यादा सीधी-सीधी बात कह देने वाले लोग बहुत कम हुए हैं। इसलिए बुद्ध-धर्म भारत में टिक नहीं सका। नहीं टिकने का कारण है, सिर्फ यही, कि अज्ञानी के साथ जो कुशलता बरतनी चाहिए, वह बुद्ध ने नहीं बरती।

बुद्ध को जो अनुभव हुआ था, उन्होंने सीधा-सीधा कह दिया। उसका कारण है, बुद्ध ब्राह्मण घर में पैदा नहीं हुए थे। ब्राह्मण पुराने चालाक हैं। लंबा उनका धंधा है; ओल्डेस्ट। इस दुनिया में ज्ञान का धंधा उन्होंने सनातन से किया है। वे कुशल हैं। उन्हें पता है, कहां से बात करनी है। ये थे क्षत्रिय के बेटे। बाप-दादों ने कभी यह धंधा किया नहीं था। इसकी कोई कुशलता न थी। धंधे में नए-नए आए थे। नई दुकान थी, ग्राहक से क्या कहना, कैसे ग्राहक को पटा लेना--उसका बुद्ध को कोई पता नहीं था। कह फंसे! जो सीधा-सीधा था, वैसा ही कह दिया।

क्या कहा बुद्ध ने, आपको पता है?

बुद्ध के पास कोई आता कि मुझे आत्मा को पाना है।

बुद्ध कहते, आत्मा है ही नहीं, पाओगे क्या खाक!

वह आदमी गया! उसने कहा कि यह क्या हो गया? आत्मा तो है! यहां तक भी समझ लेते कि शरीर नहीं है, आप कह रहे हैं आत्मा भी नहीं है!

बुद्ध के पास कोई आता और पूछता कि मोक्ष में आनंद तो बहुत होगा न?

बुद्ध कहते, कैसा मोक्ष? कैसा आनंद? शून्य रह जाता है; न कोई आनंद, न कोई मोक्ष। क्योंकि जहां तक आनंद का पता चलेगा, वहां तक दुख रहेगा। रहेगा ही; क्योंकि पता विपरीत का चलता है। तो बुद्ध कहते, वहां कोई आनंद वगैरह नहीं है। तो वह जो आदमी आया था लोभ की थोड़ी सी आशा बांध कर, उसको बिल्कुल तोड़ दिया दरवाजे पर ही। वह भीतर ही नहीं जाता। वह कहता, जब आनंद भी नहीं बचेगा तो यह क्षणभंगुर सुख भी क्या बुरा है!

शाश्वत सुख है नहीं, क्षणभंगुर सुख है। ज्ञानियों ने सदा उसके क्षणभंगुर सुख को तुड़वाया था शाश्वत सुख के लोभ में। बुद्ध ने कहा, कोई शाश्वत सुख वगैरह है नहीं। सुख है ही नहीं। न क्षणभंगुर कोई सुख है, न शाश्वत कोई सुख है, तुम धोखे में हो। तो उस आदमी ने कहा कि क्षमा करिए; जो अभी पास है, उसको ही संभालें। हाथ की आधी रोटी स्वर्ग की पूरी रोटी से बेहतर है। और आप कहते हो, न कोई स्वर्ग है, न कोई पूरी रोटी है, तो आधी रोटी हम क्यों छोड़ें?

बुद्ध से लोग पूछने जाते हैं कि ईश्वर मिलेगा? बुद्ध कहते हैं, कोई ईश्वर नहीं है।

बुद्ध के पास जब पहली दफा सारिपुत्त गया, तो वह तो ब्राह्मण का बेटा था; ज्ञानी था, जानकार था; उसने बुद्ध से कहा कि अगर कुछ भी नहीं है, शून्य ही शून्य है, तब तो फिर हमें संसार को बचाने की कोशिश करनी चाहिए, कम से कम कुछ तो है। और आप अजीब बात कर रहे हैं! सब छीनना चाहते हैं और देने का कोई भी वायदा नहीं है, तो कौन आएगा? तो वह ब्राह्मण का बेटा था, उसने कहा, आएगा कौन? सब छुड़वाना चाहते हैं! सब, कहते हैं, छोड़ दो। और पाने की जब हम पूछते हैं, तो आप कहते हैं, पाने को कुछ है नहीं। तो छोड़ेगा कोई किसलिए? छोड़ता तो आदमी पाने के मोह में है।

बुद्ध ने कहा, लेकिन जो पाने के मोह में छोड़ता है, वह छोड़ता ही नहीं।

त्याग का मतलब क्या है? त्याग अगर इसलिए है कि कुछ मिलेगा, तो यह सौदा हुआ, त्याग कहां है? एक आदमी महल छोड़ देता है कि स्वर्ग में महल मिल जाएगा; यह सौदा है। एक आदमी पुण्य करता है कि सुख मिलेगा; यह सौदा है। एक आदमी सेवा करता है, धर्म करता है, दान करता है, इस आशा में कि इसके प्रतिकार में कुछ मिलेगा किसी लोक में, किसी जन्म में; यह सौदा है। इसमें कहां त्याग है?

बुद्ध ने कहा, त्याग तो तभी है, जब कोई छोड़ता है और पाने की कोई आशा नहीं रखता। पर सारिपुत्त ने कहा कि होगा यह त्याग, लेकिन फिर आप त्यागी कहीं पा न सकेंगे। त्यागी मिलेगा कहां?

हम सब सौदेबाज हैं। हम अगर ईश्वर के साथ भी संबंध जोड़ते हैं तो वह व्यवसाय का है। अज्ञानी कुछ और कर भी नहीं सकता।

तो बुद्ध का धर्म भारत में टिक नहीं सका। और जब भारत में नहीं टिक सका तो कहां टिक सकता था! लेकिन दूसरे मुल्कों में टिका। टिका कब? टिका जब, जब बुद्ध के अनुयायियों ने वे सारी ट्रिक्स, वह सारा गोरखधंधा सीख लिया जो ब्राह्मणों को सदा से ज्ञात था, तब टिका।

आप जान कर हैरान होंगे कि बुद्ध क्षत्रिय हैं, लेकिन उनके सब बड़े शिष्य ब्राह्मण हैं; और उन्होंने टिकाया। लेकिन भारत में तो बात बुद्ध बिगाड़ गए थे, भारत में तो बुद्ध कह गए थे, इसलिए शिष्य भी उस पर जबरदस्ती दूसरी बातें नहीं थोप सकते थे। इसलिए भारत में तो नहीं टिका, लंका में टिका, बर्मा में टिका, जापान में टिका, चीन में टिका, तिब्बत में टिका, श्याम में, कोरिया में--सारे एशिया में टिक गया, भारत में नहीं टिका। क्योंकि भारत ने बुद्ध से आमने-सामने बात कर ली थी और बुद्ध ने कहा था कुछ पाने को नहीं है। इसलिए भारत में फिर से पाने का लोभ जगाना मुश्किल था। भारत के बाहर जगा दिया। इसलिए भारत के बाहर जो बुद्ध-धर्म है, वह हिंदू धर्म का रूपांतर है। वह बुद्ध की वाणी नहीं है। वह वास्तविक नहीं है, इसलिए टिका। वास्तविक था तो बिल्कुल नहीं टिका।

आप जानते हैं, महावीर क्षत्रिय थे, लेकिन महावीर के ग्यारह गणधर सब ब्राह्मण हैं, उन्होंने टिकाया। महावीर की हैसियत की बात नहीं थी टिकाने की। क्षत्रिय को पता नहीं है; यह धंधा ही नहीं उसका; वह तलवार वगैरह चलाना जानता होगा। यह शास्त्र की दुनिया, यह शब्द का जो खेल है, उसका उसे कोई पता नहीं है। तो ग्यारह के ग्यारह महावीर के जो बड़े शिष्य हैं, गणधर हैं, उन्होंने टिकाया।

और सुविधा बन गई। क्योंकि बुद्ध तो बोले खुद, इसलिए शिष्य भी उसको बिगाड़ने में मुश्किल में पड़ गए। महावीर बोले नहीं, महावीर चुप रहे; गणधर बोले। सुविधा रही। महावीर का सीधा वक्तव्य न होने से, गणधरों ने जो कहा, समझा गया यही जैन धर्म है। महावीर चुप रहे। कहा जाता है कि महावीर मौन रहे। उनके मौन को उनके गणधरों ने समझा, और गणधरों ने फिर लोगों को समझाया। इसलिए महावीर का धर्म थोड़ा सा टिका।

फिर भी बहुत ज्यादा टिका हुआ नहीं दिखाई पड़ता। कोई पच्चीस लाख जैन हैं, पच्चीस सौ साल में। अगर पच्चीस आदमी भी महावीर से प्रभावित होते, और शादी कर लेते, तो इतने बच्चे पच्चीस सौ साल में पैदा हो जाते। यह कोई संख्या किसी मतलब की नहीं है। कारण क्या है? कारण वही है, क्षत्रिय को पता नहीं है उस भाषा का, जो अज्ञानी से बोलनी चाहिए। वह तो सदियों में विकसित होती है।

यह श्रुति कहती हैः 'देह आदि सत्य है, ऐसा ज्ञानियों को समझाने के लिए श्रुति प्रारब्ध कर्म की बात नहीं कहती।'

ज्ञानियों को नहीं समझाना है ऐसा।

'पर अज्ञानियों का समाधान करने के लिए श्रुति प्रारब्ध कर्म की बात कहती है।'

'वास्तव में परिपूर्ण, आदि-अंतरहित, अमाप (नाप सकने में असंभव), विकाररहित, सत्तामय, चैतन्यरूप, नित्य, आनंदमय, अविनाशी, हर एक में व्यापक होने वाला, एकरस वाला, पूर्ण, अनंत, सर्व तरफ मुख वाला, त्याग कर सकने में अथवा ग्रहण कर सकने में अशक्य, आधार के ऊपर नहीं रहने वाला, आश्रयरहित, निर्गुण, क्रियारहित, सूक्ष्म, विकल्परहित, स्वतःसिद्ध, शुद्ध-बुद्ध, अमुक के समान नहीं, एक और अद्वैत ब्रह्म ही सब कुछ है, और कोई भी नहीं।'

बाकी सब असत्य है, वास्तव में। जो हमें सत्य दिखाई पड़ता है, वह इसीलिए सत्य दिखाई पड़ता है कि हमारे पास वह देखने की आंख ही नहीं है जो सत्य को देख सके। हमारे पास वह मन है केवल जो असत्य को जन्माता है। हमारे पास स्वप्न पैदा करने वाला मन है, सत्य देखने वाला चक्षु नहीं। इसलिए जो झूठ है वह हमें दिखाई पड़ता है, जो नहीं है वह हमें दिखाई पड़ता है, और जो है उससे हम चूक जाते हैं।

वह कैसे चक्षु पैदा हो, वह ज्ञान-चक्षु कैसे जगे, वह शिव-नेत्र कैसे खुले--जिससे हम देख सकें, क्या सत्य है?

एक छोटा बच्चा है। खिलौनों में जीता है। खिलौने उसके लिए वास्तविक हैं। इसलिए उसकी गुड़िया की टांग टूट जाए तो वह वैसे ही रोता है, जैसे वस्तुतः किसी की टांग टूट गई हो। रात उसे नींद नहीं आती। उसकी गुड़िया या गुड्डा उसके पास न रखा हो, तो उसे वैसी ही बेचैनी होती है, जैसे आपका वास्तविक प्रेमी आपके पास न हो। बच्चे के लिए अभी गुड्डा-गुड़ियां वास्तविक हैं। बड़ा होकर हंसेगा खुद ही कि मैं किस खेल में उलझा था! बड़ा होकर खुद ही गुड्डे-गुड़ियों को भूल जाएगा। वे कचरे के कोने में पड़ जाएंगे, फेंक दिए जाएंगे; रोएगा नहीं।

क्या, हुआ क्या? गुड्डा-गुड़िया वही हैं, इसको क्या हुआ?

इसकी बुद्धि ऊपर उठी। यह ज्यादा देखने में समर्थ हुआ। लेकिन सिर्फ इतने से ही कुछ फर्क नहीं हो जाएगा; गुड्डा-गुड्डी की जगह दूसरे गुड्डा-गुड्डी आ जाएंगे, ज्यादा जीवित होंगे। एक दिन गुड़िया को छाती से लगा कर सो गया था, फिर किसी स्त्री को छाती से लगा कर सो जाएगा। गुड्डे-गुड़ियां बदल जाएंगे, लेकिन चित्त?

फिर इस चित्त के भी ऊपर उठने का उपाय है। बहुत कम लोग उठ पाते हैं। बचपन से तो सभी लोग जवान हो जाते हैं। क्यों? क्योंकि जवानी के लिए आपको कुछ करना नहीं पड़ता, वह प्राकृतिक विकास है। अगर आपको ही जवान होने के लिए कुछ करना पड़े, तो इस दुनिया में दो-चार आदमी जवान मिलेंगे, बाकी सब बच्चे रह जाएंगे। आपको कुछ नहीं करना पड़ता, जवानी मजबूरी है; आप बढ़ते चले जाते हैं। आप कुछ कर नहीं

सकते, रोक नहीं सकते, इसलिए जवान हो जाते हैं। लेकिन आध्यात्मिक होश नहीं आता; क्योंकि उसके लिए कुछ आपको करना पड़ता है। कुछ करेंगे तो। वह विकास आपके निर्णय पर निर्भर है। प्रकृति उसको थोपती नहीं आपके ऊपर। आपकी स्वतंत्रता पर छोड़ दिया है।

इसीलिए दो-चार लोग बुद्ध और कृष्ण और क्राइस्ट हो पाते हैं; क्योंकि श्रम, साधना!

जिस दिन आप जाग कर देखेंगे उस दिन सारा जगत आपको बच्चों के खेल जैसा मालूम पड़ेगा। उतनी प्रौढ़ता के स्तर पर चीजें पीछे की झूठी होती चली जाती हैं।

तो यह सूत्र कहता है, वास्तव में तो एक ही है ब्रह्म। और इसके बाबत कुछ बड़ी महत्वपूर्ण सूचनाएं दी हैं, इस एक ब्रह्म के बाबत। अनेक तो हमारी परिचित हैं, उनकी मैं चर्चा नहीं करूं।

'परिपूर्ण, आदि-अंतरहित, अमाप, विकाररहित, सत्तामय, चैतन्यमय, नित्य, आनंदमय, अविनाशी, हर एक में व्यापक, एकरस वाला, पूर्ण, अनंत, सर्व तरफ मुख वाला'--ये हमारे परिचित शब्द हैं, जो ब्रह्म के लिए हमने उपयोग किए हैं। लेकिन इसमें कुछ दो-तीन लक्षण बड़े अदभुत हैं। 'त्याग कर सकने में अथवा ग्रहण कर सकने में अशक्य'--यह बड़ी महत्व की बात है। जिसे आप छोड़ न सकें और जिसे आप पकड़ भी न सकें--ऐसा। इसका क्या मतलब हुआ?

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं, ईश्वर को खोजना है। मैं उनसे पूछता हूं, खोया कब? कहां? क्योंकि जिसे खोया हो, उसे खोजा जा सकता है; जिसे खोया ही न हो, बड़ी मुश्किल की बात है! वे कहते हैं, नहीं, खोया कहां, कब, कुछ पता नहीं! तो मैं उनसे पूछता हूं, पहले इसका तो पता करो, खोया भी है कभी? खोया हो अगर, पक्का करके आओ, तो मैं खोज की तरकीब तुम्हें बता दूं। और तुमने खोया ही न हो और मैं तुम्हें खोज की तरकीब बता दूं, तो तुम मुश्किल में पड़ जाओगे। क्योंकि तुम खोजने निकल जाओगे उसको जिसे कभी खोया नहीं, तो कैसे खोज पाओगे? और तुम्हारी खोज तुम्हें भटका देगी।

परमात्मा है हमारा स्वभाव, उसे हम खो कैसे सकते हैं? हम भूल सकते हैं, विस्मृत कर सकते हैं, खो नहीं सकते। इस फर्क को समझ लें। विस्मरण हो सकता है; ध्यान न दिया हो बहुत दिन तक, भूल गए हों कि कौन भीतर छिपा है। इतने निकट है हमारे कि ध्यान देने की जरूरत न पड़ी हो। दूर की बातों पर नजर लगी रही हो और पास का स्मरण न रहा हो, यह हो सकता है। लेकिन खो नहीं सकते।

इसलिए संतों ने कहा है, उसका स्मरण ही काफी है, खोजने की कोई जरूरत नहीं है। इसलिए नानक ने, कबीर ने, दादू ने, रैदास ने नाम-स्मरण पर जोर दिया। नाम-स्मरण का कुल मतलब इतना है कि जिसे खोया नहीं, उसे खोजने की तो बात करो मत, सिर्फ उसको स्मरण करने की फिक्र करो; पुनर्स्मरण। वह भी स्मरण नहीं, पुनर्स्मरण है। वह सदा मौजूद ही है।

यह सूत्र बड़ा अदभुत और क्रांतिकारी है।

'त्याग कर सकने में अथवा ग्रहण कर सकने में अशक्य।'

जिसे हम खो नहीं सकते, वही है स्वभाव। अगर खो सकते हैं, तो वह स्वभाव न रहा। अगर आग अपनी आग्नेयता को खो दे, तो फिर वह उसका स्वभाव न रहा। अगर आग ठंडी हो, तो कुछ और होगी, आग नहीं होगी। आग का आग्नेय होना उसका स्वभाव है। आकाश का रिक्त होना उसका स्वभाव है। स्वभाव का अर्थ यह है कि चाहे कुछ भी हो जाए, जिससे हम अलग नहीं हो सकते। जिससे हम अलग हो सकते हैं, वह हमारा स्वभाव नहीं है।

इसे बहुत गहरे में बैठ जाने दें, इस विचार को। जिससे हम अलग हो सकते हैं, वह हमारा स्वभाव नहीं है। जिससे हम जुड़ सकते हैं, वह हमारा स्वभाव नहीं है। क्योंकि जिससे हम जुड़ सकते हैं, उससे हम टूट सकते हैं। न जिससे जुड़ सकते हैं, न जिससे टूट सकते हैं, वही है मेरा होना, वही है हमारा होना। ब्रह्म हमारा होना है।

उससे भागने का कोई उपाय नहीं, उससे बचने का कोई उपाय नहीं, उसे छोड़ने का कोई उपाय नहीं, उसे पाने का कोई उपाय नहीं।

लेकिन अज्ञानी को अगर यह बात कही जाए, तो वह कहेगा कि फिर ठीक, जिसे खोया ही नहीं, खोजें क्यों? और जो सदा है ही, उसको पाने की जरूरत क्या है? तो फिर ठीक है, हम अपने संसार में रहें। क्या जरूरत? पागलपन क्यों करें?

नहीं, तो अज्ञानी को यह नहीं कहा जा सकता। अज्ञानी को यह कहा जाएगा कि खो दिया है उसे तुमने; उसे तुम खो चुके हो जो तुम्हारा वास्तविक होना है; उसे खोजो। जब तक उसे न खोज लोगे, तब तक तुम दुख में रहोगे। खोजो उसे। जब तक तुम परमात्मा को न पा लोगे, तब तक तुम्हारा जीवन विषाद, चिंता और संताप ही रहेगा।

खोज की भाषा अज्ञानी को समझ में आती है। क्योंकि उसे लगता है कि ठीक। सब चीजें खोजता है--धन खोजता है, पद खोजता है, यश खोजता है--वह कहता है, ठीक है। खोज तो अपनी जारी रहेगी; धन न खोजेंगे, धर्म खोजेंगे अब। अज्ञानी खोज की भाषा को समझता है। उसने जिंदगी भर, जिंदगी-जिंदगी खोजने का ही धंधा किया है, काम किया है। एक ही व्यवसाय रहा है उसका, खोजो; आज इसे खोजो, कल उसे खोजो। वह कहता है, ठीक है। धन भी खोज लिया, यश भी खोज लिया, पद भी खोज लिया, अब आप कहते हो कि इसमें मजा नहीं मिलता--और हमको भी अनुभव आता है कि मजा नहीं मिलता--अब हम तुम्हारा परमात्मा खोजते हैं; ठीक।

जैसे वह खोज पर निकलेगा, बाद में यह बताया जाएगा कि परमात्मा को तो खोजा नहीं जा सकता; जब तक तू खोज नहीं छोड़ देगा, तब तक उसे पा नहीं सकता। अब वह मुश्किल में पड़ा; क्योंकि उसने धन की खोज छोड़ दी, पद की खोज छोड़ दी, यश की खोज छोड़ दी, वे व्यर्थ हो गईं; इसी आशा में कि अब सार्थक खोज करूंगा, वह परमात्मा की खोज में आया। जब वह इस खोज में आगे आ गया, और पीछे नहीं लौट सकता अब; अब धन की खोज में नहीं जा सकता। वह व्यर्थ हो गई, इसीलिए तो इस तरफ आया एक नई खोज की सार्थकता में। और अब उसका गुरु उसे कहेगा, अब तू खोज छोड़ दे। पहले धन छोड़ा, पद छोड़ा, यश छोड़ा, आधी बात बचा ली थी--खोज। धन की खोज--धन छोड़ दिया था, खोज बचा ली थी। धन बाहर था, खोज भीतर थी। बाहर का छोड़ना आसान था। अब यह खोज भी छोड़ दे! क्योंकि जिसे तू खोज रहा है, उसे कभी खोया ही नहीं है।

जब कोई खोज भी छोड़ कर खड़ा हो जाता है, तो तत्क्षण उसमें प्रवेश हो जाता है, जिसमें हम सदा से हैं। परमात्मा हमारा होना है। इसलिए यह सूत्र बड़ा क्रांतिकारी है और बड़ा कीमती है!

'त्याग कर सकने में अथवा ग्रहण कर सकने में अशक्य।'

बुद्ध को हुआ ज्ञान, तो किसी ने पूछा है कि क्या मिला? तो बुद्ध ने कहा, मिला कुछ भी नहीं; जो मिला ही हुआ था, उसी का पता चला है। मिला कुछ भी नहीं!

बस यही बुद्ध की गलती है। आपसे कह दें कि कुछ भी नहीं मिला, तो आप कहेंगेः चलो, अपने काम पर लगो! आठ दिन खराब किए इस आदमी के साथ। यह कहता है, कुछ भी मिला ही नहीं; जब ज्ञान हुआ तो कुछ भी नहीं मिला! तो हम काहे के लिए मेहनत कर रहे हैं, श्रम कर रहे हैं! इतना उछलकूद, थकाए डाल रहे हैं अपने को। और यह आदमी कहता है, कुछ मिलता नहीं आखिर में!

बुद्ध ने कहा, कुछ भी नहीं मिला।

जिसने पूछा था, उसने कहा, कुछ भी नहीं मिला? तो फिर शिक्षा किसकी दे रहे हैं आप लोगों को?

बुद्ध ने कहा, इसी की। उस हालत में आ जाओ, जब न कुछ पाने को रहे, न कुछ खोने को रहे, और यह अनुभव हो जाएः न कुछ पाया जा सकता है, न कुछ खोया जा सकता है।

पर यह ज्ञानी की समझ में आने वाली बात है।

'आधार के ऊपर नहीं रहने वाला, आश्रयरहित, निर्गुण, क्रियारहित, सूक्ष्म, विकल्परहित, स्वतःसिद्ध, शुद्ध-बुद्ध'--ये भी हमारे परिचित शब्द हैं।

'अमुक के समान नहीं।'

किसी से उसकी तुलना नहीं की जा सकती। अद्वितीय है, बेजोड़ है। ऐसा नहीं कहा जा सकता, इसके समान। तो जितनी तुलनाएं की जाती हैं, वे सब कामचलाऊ हैं।

हम कहते हैं, आकाश के समान शून्य।

नहीं, यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि आकाश भी उसमें समाया हुआ है। वह आकाश से बड़ा है, आकाश के समान नहीं हो सकता।

हम कहते हैं, महासूर्य की तरह तेजस्वी।

यह भी छोटी बात है; क्योंकि उसके लिए महासूर्य भी छोटे टिमटिमाते दीए हैं। इनसे कोई तुलना नहीं की जा सकती।

हम कहते हैं, आनंदरूप।

तो हमारे मन में कहीं न कहीं सुख से तुलना शुरू हो जाती है। सुख से उसका कोई संबंध नहीं है।

हम कहते हैं, शांत।

तो हमारे मन में अशांति के विपरीत शांति का ख्याल है। अशांति का उसे कभी अनुभव नहीं हुआ है। इसलिए हमारी शांति का उसे कोई पता नहीं हो सकता।

हमारी कोई तुलना काम की नहीं है। उस अनुभव के लिए, किसी और बात से कहने का कोई उपाय नहीं है। संतों ने कहा है, बस अपने ही जैसा; किसी और जैसा नहीं, बस अपने ही जैसा। खुद ही अपने समान है; खुद ही। कोई उपाय नहीं है उसे किसी और से बताने का। लेकिन बताया जाता है, वह अज्ञानी के लिए बताया जाता है कि ऐसा, ऐसा, ऐसा। आखिर में पता चलता है कि वह तो किसी जैसा नहीं है।

'एक और अद्वैत ब्रह्म ही सब कुछ है और कोई भी नहीं।'

'इस प्रकार अपने अनुभव से स्वयं ही अपनी आत्मा को अखंडित जान कर तू सिद्ध हो, और निर्विकल्प स्वरूप आत्मा से ही अत्यंत सुखपूर्वक स्थिति कर।'

'इस प्रकार अपने अनुभव से स्वयं ही अपनी आत्मा को अखंडित जान कर तू सिद्ध हो।'

शास्त्र से जान कर नहीं चलेगा काम। श्रुतियां कहें, स्मृतियां कहें, नहीं चलेगा काम। सुन कर हल नहीं होगी बात। अपने ही अनुभव से ऐसा जान कर तू सिद्ध हो।

सिद्ध का अर्थ है, जिसके आगे कोई यात्रा और गति नहीं। सिद्ध का अर्थ है, अंतिम पड़ाव, अंतिम मुकाम, जिसके आगे रास्ते समाप्त हो जाते हैं।

असिद्ध का अर्थ है, जैसे हम हैं। असिद्ध का अर्थ है, जिसका अभी कुछ काम बाकी है; अभी कुछ करना है; अभी कुछ होगा, तो सुख होगा। असिद्ध का अर्थ है, कुछ होगा, कुछ करना है; कुछ पूरा करना है, कुछ पाना है। वह मिल जाएगा तो सुख होगा। असिद्ध का सुख किसी चीज पर निर्भर है। कोई स्त्री मिल जाएगी, कोई पुरुष मिल जाएगा, कोई मकान मिल जाएगा, कोई जमीन मिल जाएगी, कोई पद मिल जाएगा; राष्ट्रपति हो जाऊंगा, प्रधानमंत्री हो जाऊंगा; यह हो जाऊंगा, वह हो जाऊंगा--कहीं सुख है, वह मिलेगा तो सुख मिलेगा--कंडीशनल है, सशर्त है।

सिद्ध का अर्थ है, जिसका अपने होने में ही सुख है। कुछ भी मिले, न मिले, उसका कोई सवाल ही नहीं है। छिन जाए, आ जाए। उसका सुख किसी बात पर निर्भर नहीं है, स्वयं के होने पर ही निर्भर है। बस मैं हूं, इतना काफी है। और कोई बात शर्त नहीं है। बेशर्त जिसका सुख है, वह सिद्ध है। अभी और यहीं उसका सुख है।

आपका सुख सदा कभी और कहीं है, अभी और यहीं कभी आपका सुख नहीं होता। कभी किसी आदमी को आपने देखा, जो कहे कि मैं सुखी हूं अभी और यहीं? अभी और यहीं तो सब दुखी होते हैं। सुख होता है कहीं आगे, कहीं आगे।

एक मेरे मित्र हैं। एक राज्य में उपमंत्री थे, डिप्टी मिनिस्टर थे। तो बड़े दुखी थे। मैंने उनसे पूछा कि मामला क्या है? कहा कि जब तक मिनिस्टर न हो जाऊं, मन में बड़ी बेचैनी है।

फिर वे मिनिस्टर हो गए। फिर मुझे मिले। वैसे ही दुखी थे! पूछा, क्या मामला है? अब तो मिनिस्टर हो गए। अब तो आपको सिद्ध हो जाना चाहिए।

उन्होंने कहा कि सिद्ध? जब तक चीफ मिनिस्टर न हो जाऊं, कुछ नहीं हो सकता! कोशिश में लगा हूं, कभी न कभी हो जाऊंगा।

इस बार वे चीफ मिनिस्टर भी हो गए! मैंने उन्हें खबर भिजवाई कि अब तो सिद्ध-अवस्था आ गई होगी? उन्होंने कहा, आप भी क्यों मेरे पीछे पड़े हैं? सिद्ध-अवस्था कहीं नहीं दिखाई पड़ती। चीफ मिनिस्टर तो हो गया, कुछ हल नहीं हुआ। कुछ हल नहीं हुआ। और आगे बहुत से बिंदु दिखाई पड़ रहे हैं जो पूरे हो जाएं, तो शायद... ।

सुख सदा आगे सरकता जाता है। असिद्ध का यह लक्षण है, सुख सदा आगे सरकता जाता है। सिद्ध का यह लक्षण है, सुख अभी और यहीं। कोई हो स्थिति, कुछ हो बाहर, भीतर की सुख-धार में जरा भी अंतर नहीं पड़ता। और कोई शर्त नहीं है कि यह शर्त पूरी होगी।

जिसकी शर्त है, वह दुखी रहेगा। कोई शर्त कभी पूरी नहीं होती। और शर्त पूरी हो जाए, तो शर्त बनाने वाला मन नई शर्तें बनाता है। जैसे वृक्ष पर पत्ते लगते हैं; पुराने गिर जाएं, कोई फर्क नहीं पड़ता, नए लग जाते हैं। सच तो यह है कि नए लगना चाहते हैं, इसीलिए पुराने गिरते हैं। नए भीतर से धक्का देने लगते हैं निकलने के लिए, पुराने पत्ते बाहर से गिरने लगते हैं। पुराना पत्ता गिरा कि नया लग गया। पुरानी शर्त गिरती है तभी, जब नई शर्त भीतर धक्का मारने लगती है और ऊगने लगती है। वृक्ष पर पत्ते लगते हैं, आदमी के मन में शर्तें लगती हैं।

सशर्त जिसका जीवन है, दुख उसका परिणाम होगा। बेशर्त जिसका जीवन है, अभी और यहीं, जो बिना किसी कारण के सुखी है, अकारण सुखी है... । अकारण सुखी का मतलब होता है, बाहर से सुख नहीं आता, भीतर से सुख जाता है; भीतर से सुख की धार बहती है; झरना अपना है, स्रोत अपना है। यह किसी से उधार मांगने की बात नहीं है। यह सारा जगत भी विलीन हो जाए, ये सब चांद-तारे टूट जाएं, ये सारे लोग खो जाएं, समाप्त हो जाएं, तो भी सिद्ध के सुख में अंतर नहीं पड़ेगा।

और आपके लिए? जैसा आप चाहते हैं, ठीक वैसा जगत बना दिया जाए, तो भी आपके दुख में कोई अंतर नहीं पड़ेगा। शायद आप और ज्यादा दुखी हो जाएं। जब आपकी मांगें पूरी हो जाती हैं, तब पता चलता है कि इतनी मेहनत की, इतना श्रम उठाया, पाया कुछ भी नहीं, और ज्यादा दुखी हो जाते हैं।

सिद्ध होने के लिए सूत्र कहता हैः

'अपने अनुभव से स्वयं ही अपनी आत्मा को अखंडित जान कर तू सिद्ध हो, और निर्विकल्प स्वरूप आत्मा से ही अत्यंत सुखपूर्वक स्थिति कर।'

उसमें बना रह, उसमें रुका रह, उसमें ठहर, स्थिति कर। उसमें ही लीन हो जा। उससे बाहर मत जा।

इसका थोड़ा स्मरण रखें। उठते, बैठते, बेशर्त सुख की खोज करें। चलते, सोते, जागते, खाते, पीते--परिस्थिति कुछ भी हो--बेशर्त सुख की तलाश करें। सुखी रहें।

यह बड़ा अजीब लगता है हमें कि किसी से कहो कि बस सुखी रहो। वह कहेगा, कैसे सुखी रहें? क्योंकि हमें ख्याल ही यह है कि सुख बाहर से आए, तो ही। भीतर से सुखी रहें! यह बात ही हमारी समझ में नहीं आती। हमने कभी जाना ही नहीं भीतर का सुख। इसकी थोड़ी खोज करें। भीतर सुख भरा है। जरा हिम्मत करें और भीतर जाएं। तोड़ दें बीच का पर्दा शर्त का, और आप पाएंगे कि भर गए सुख से। इतने भर गए कि आप चाहें तो अपने सुख से सारे जगत को भर दें; वह फैलता चला जाए।

हम सब मांग रहे हैं दूसरे से। और उससे मांग रहे हैं, जो खुद हमारे पास मांगने आया है। भिखमंगों की जमात है, एक-दूसरे के सामने भिक्षापात्र लिए खड़े हैं कि कुछ मिल जाए! और सभी मांग रहे हैं। कभी सोचा इस पर कि यह सारा संसार भिखमंगों की जमात है! मैं आपके पास आया हूं कि थोड़ा सुख दो, आप इसीलिए मेरे पास आए हैं कि थोड़ा सुख दो। न मैंने कभी अपने भीतर सुख पाया, न आपने कभी अपने भीतर सुख पाया। इसलिए जितने संबंध हमारे हैं, सब दुख देते हैं, कोई सुख नहीं देता। दे नहीं सकता; जो पास नहीं है, वह देंगे कैसे? जो खुद नहीं पाया, उसको दूसरों को देने चले गए हैं!

बाप बेटे को सुख दे रहा है! पत्नी पति को सुख दे रही है! बेटा मां को सुख दे रहा है! और पूछो, देने वाले का ख्याल है दे रहे हैं और मिलने वाले को दुख मिल रहा है। सारी दुनिया एक-दूसरे को सुख दे रही है, और सब छाती पीट कर रो रहे हैं कि हम दुखी हैं; कोई सुखी हो नहीं रहा है। पर जब आपके पास ही नहीं है, आप दूसरे को देने जा रहे हैं!

इस दुनिया में सुखी होने का एक ही उपाय है कि आप किसी से मांगने मत जाना। वह है ही नहीं दूसरे के पास, आपके पास है। आप सारी मांग छोड़ कर रुक जाओ। अगर दुख भी हो रहा हो तो उसी में रुक जाओ, प्रतीक्षा करो, मत जाओ मांगने। एक दिन आप अचानक पाओगे कि मांगने की आदत के छूट जाने से भीतर का पत्थर हट जाता है, झरना फूट पड़ता है; अचानक रोआं-रोआं सुख से भर जाता है। यह सुख अकारण है। फिर इसे कोई नहीं छीन सकता। यह आपके भीतर से आता है। फिर हो भी सकता है कि कोई आपकी सन्निधि में आपकी इस सुख की धार से आंदोलित हो जाए।

मगर बड़े मजे की बात है, हम सुख मांगते हैं और सुख देना चाहते हैं! सुख दे नहीं पाते, सुख मांग नहीं पाते, मिल नहीं पाता। ऐसा कोई व्यक्ति, जिसकी अपनी धारा फूट जाती है, अपना स्रोत खुल जाता है, किसी से सुख मांगता भी नहीं और किसी को सुख देना भी नहीं चाहता, पर ऐसे व्यक्ति से सुख मिल जाता है अनेकों को। देना नहीं चाहता।

कोई बुद्ध किसी को सुख देने नहीं जाते; बस उनकी मौजूदगी। उनके भीतर खिले हुए फूल, उनकी सुगंध, उनके भीतर फूटा हुआ झरना, उसका कल-कल नाद। वह कोई भी, जो उनकी सन्निधि में होता है, जो खुला होता है, जो अपने हृदय के द्वार बंद किए नहीं बैठा होता, उसको झनक पहुंच जाती है; स्वर उसको भी छू लेते हैं।

और बुद्ध जैसे व्यक्ति के पास जो आंख खुला होकर बैठा हो, उसे यह भी दिखाई पड़ जाता है कि इसका सुख कहीं से आता नहीं मालूम पड़ता, किसी पर निर्भर नहीं मालूम पड़ता, इसका सुख भीतर से ही फूटता मालूम पड़ता है। इसकी किरणें उधार नहीं हैं; इसकी किरणें अपनी हैं। यह चांद की तरह नहीं है कि सूरज की किरणों को लौटाता हो। यह सूरज की तरह है, जिसके पास अपनी किरण हैः सीधी निकल रही है, सीधी फूट रही है।

इसको हमने सत्संग कहा है। बुद्ध जैसे व्यक्तियों के पास होने का नाम सत्संग है। तो शायद हम भी अपनी मूढ़ता से डगमगा जाएं; शायद हमारा भी पत्थर सरकने की स्थिति में आ जाए; शायद यह देख कर कि कोई

अपने आप में भी सुखी हो सकता है, हमारी यह भ्रांति टूट जाए कि दूसरे से सुख मांगते हैं, मांगते चले जाते हैं, और भ्रांति को सजाए रहते हैं कि मिलेगा--कभी भी, आज नहीं कल, कल नहीं परसों--मगर मिलेगा दूसरे से; शायद यह भ्रांति टूट जाए।

स्वयं को बेशर्त कर लें, मांग को छोड़ दें, यह आशा तोड़ दें कि कहीं और से सुख आएगा, तो एक दिन सुख मिल जाता है। वह अवस्था सिद्ध की अवस्था है; जब अपने सुख की धार उपलब्ध होती है।

सत्रहवां प्रवचन

धर्म है परम रहस्य

स्वानुभूत्या स्वयं ज्ञात्वा स्वमात्मानमखंडितम्।
स सिद्धः सुसुखं तिष्ठन निर्विकल्पात्मनाऽऽत्मनि।। 65।।
क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत्।
अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महदद्भुतम।। 66।।
किं हेयं किमुपादेयं किमन्यत किं विलक्षणम्।
अखण्डानन्दपीयूषपूर्णब्रह्ममहार्णवे।। 67।।
न किंचिदत्र पश्यामि नशृणोमि न वेदम्यहम्।
स्वात्मनैव सदानन्दरूपेणास्मि स्वलक्षणः।। 68।।
संगोऽहमनंगोऽहमलिंगोऽहमहं हरिः।
प्रशान्तोऽहमनन्तोऽहं परिपूर्णश्चिरन्तनः।। 69।।
कर्ताऽहमभोक्ताऽहमविकारोऽहमव्ययः।
शुद्धबोधस्वरूपोऽहं केवलोऽहं सदाशिवः।। 70।।
एतां विद्यामपान्तरमाय ददौ। अपान्तरमो ब्रह्मणे ददौ।
ब्रह्म घोरांगिरसे ददौ। घोरांगिरा रैक्काय ददौ।
रैक्को रामाय ददौ। रामः सर्वेभ्यो भूतेभ्यो ददावित्येतन्निर्वाणा-
नुशासनं वेदानुशासनं वेदानुशासनमित्युपनिषत्।। 71।।

(गुरु के इस उपदेश को सुन कर शिष्य ज्ञानी बन गया और कहने लगाः)

जगत को मैंने अभी देखा था, वह कहां गया? किसने उसे ले लिया? और वह किस में लय हो गया? बड़ा आश्चर्य है कि क्या वह नहीं है?

अखंड आनंदरूप अमृत से भरे इस ब्रह्मरूप महासागर में अब मुझे क्या त्याग करना? क्या लेना? अन्य क्या है? विलक्षण क्या है?

यहां मैं कुछ देखता भी नहीं, कुछ सुनता नहीं और कुछ जानता नहीं, क्योंकि मैं सदा आनंदरूप अपने आत्मारूप में ही हूं, और मैं स्वयं ही अपने लक्षण वाला हूं।

मैं असंग हूं, शरीररहित हूं, बिना चिह्न वाला हूं, मैं ही श्रीहरि हूं, अत्यंत शांत हूं, मैं अनंत हूं, परिपूर्ण हूं, और प्राचीन से प्राचीन हूं।

मैं कर्ता नहीं हूं, मैं भोक्ता नहीं हूं, मैं विकाररहित और अविनाशी हूं, वैसे ही मैं शुद्ध और ज्ञान स्वरूप हूं, मैं ही केवल सदाशिव हूं।

यह विद्या गुरु ने अपांतरम को दी थी, अपांतरम ने ब्रह्मा को दी, ब्रह्मा ने घोरांगिरस को दी थी, घोरांगिरस ने रैक्क को दी थी, रैक्क ने राम को दिया और राम ने समस्त भूतप्राणियों को यह दिया। यह निर्वाण का उपदेश है, वेद की शिक्षा है और वेद की आज्ञारूप है। इस प्रकार यह उपनिषद समाप्त होता है।

भरोसा न हो ऐसी कठिन है बात। कठिन ही नहीं, हमें तो असंभव ही मालूम होगी। क्योंकि यह सूत्र कहता हैः गुरु की इन बातों को सुन कर शिष्य ज्ञान को उपलब्ध हो गया।

सुन कर उपलब्ध हो गया! हमारे तर्कशील मन को समझ में नहीं पड़ेगा। लेकिन अगर सच में ही सुना हो, तो असंभव नहीं है; अगर श्रवण किया हो, तो असंभव नहीं है। चूंकि हमें श्रवण आता नहीं, इसलिए बात असंभव मालूम पड़ती है। सुन कर शिष्य ज्ञान को उपलब्ध हो गया!

तो इस बात को थोड़ा हम समझ लें फिर सूत्र में प्रवेश करें।

जिस युग में उपनिषद निर्मित हुए, उस युग में और आज के युग में एक बुनियादी फर्क है। और इसलिए उपनिषद की घटना आज के लिए अघट मालूम होती है। जिन दिनों में उपनिषद जन्मे, निर्मित हुए, उन दिनों, मन का आधार थी श्रद्धा; आज मन का आधार है संदेह। उन दिनों श्रद्धा ऐसे ही सहज थी, जैसे आज संदेह सहज है। मन में एक क्रांतिकारी अंतर हुआ है। विज्ञान के जन्म के साथ ही संदेह प्रतिष्ठित हुआ। क्यों? क्योंकि विज्ञान का जन्म संदेह से हुआ।

विज्ञान करता है संदेह। सम्यक संदेह विज्ञान का सूत्र है; राइट डाउट। ठीक से संदेह करेंगे, तो ही विज्ञान विकसित होता है। संदेह करते चले जाएंगे, तो ही विज्ञान के तथ्य उपलब्ध होते हैं। संदेह, विज्ञान की खोज की प्रक्रिया है। और जब विज्ञान प्रतिष्ठित होने लगा, और जब विज्ञान की खोजें आदमी के उपयोग में आने लगीं, और जब छोटी सी सुई से लेकर एटम बम तक विज्ञान का फैलाव हो गया, और आदमी बिना विज्ञान के जीने में असमर्थ हो गया, और जब विज्ञान सब तरफ जीतने लगा, भौतिक जगत में सब तरफ उसकी पताका फहराने लगी, तो स्वभावतः, संदेह प्रतिष्ठित हो गया। क्योंकि संदेह से ही जन्मा विज्ञान, और विज्ञान जीता भौतिक जगत में--संदेह प्रतिष्ठित हो गया।

आज सारे जगत में जो भी शिक्षा हम देते हैं, वह सभी शिक्षा संदेह की शिक्षा है। पहली कक्षा से लेकर और अंतिम विश्वविद्यालय की श्रेणियों तक हम संदेह सिखाते हैं। क्योंकि विचार संदेह के बिना होता ही नहीं। विचार करना हो, तो संदेह करना ही चाहिए। विचार को जितना तीव्र करना हो, उतने तीव्र संदेह की धार आवश्यक है।

तो आधुनिक जगत की सारी संरचना विज्ञान से हुई है। खाते हैं, पीते हैं, उठते हैं, बैठते हैं, चलते हैं, जीते हैं, इस सब में विज्ञान प्रविष्ट हो गया है। और विज्ञान खड़ा है संदेह के आधार पर। इसलिए आज के मन की जो आधारशिला है वह संदेह है। आज कोई चीज चुपचाप मान लेने की नहीं।

श्रद्धा आज का शब्द नहीं है। जब उपनिषद रचे गए, तो जैसे आज संदेह प्रतिष्ठित है, तब श्रद्धा प्रतिष्ठित थी। जैसे संदेह आधार है विज्ञान का, ऐसे ही श्रद्धा आधार है धर्म की; इसको ठीक से ख्याल में ले लें। जैसे संदेह के बिना विचार नहीं हो सकता, ऐसे ही श्रद्धा के बिना निर्विचारणा नहीं आ सकती।

संदेह और श्रद्धा विपरीत हैं। अगर विचार करना है, तो ठीक संदेह आना चाहिए। फिर साहस से संदेह करना चाहिए। फिर इंच-इंच परख करनी चाहिए, और बिना तर्क को स्वीकृत हुए कोई चीज स्वीकार नहीं करनी चाहिए। जो हो परिणाम; लेकिन तर्क ही तब सहारा है, और संदेह ही तब नाव है--अगर विचार में गति पानी है। और अंततः अगर विचार से निष्कर्ष लेना है कोई, तो संदेह उपाय है।

लेकिन धर्म विचार से संबंध ही नहीं रखता। धर्म का मामला ही उलटा है। धर्म कहता है, निर्विचार होना है। चूंकि निर्विचार होना है, इसलिए संदेह की कोई जगह नहीं रह जाती। निर्विचार होना है तो संदेह का कोई उपाय ही नहीं है। यह नाव काम की नहीं है। अगर निर्विचार होना है, तो संदेह से उलटी चीज काम की होगी; क्योंकि संदेह विचार का आधार है।

श्रद्धा है संदेह से विपरीतः स्वीकार, मान लेना, ट्रस्ट, भरोसा।

ये दोनों नावें हैं, इनकी यात्रा अलग-अलग है। किसी को वैज्ञानिक बनना हो तो श्रद्धा से नहीं बन सकता। और किसी को धार्मिक बनना हो, तो श्रद्धा के बिना नहीं बन सकता। जैसे आज विज्ञान सफल हुआ है और सब

तरफ जीवन पर आच्छादित हो गया है, ऐसा ही उन दिनों धर्म सफल था और जीवन के रोएं-रोएं, पोर-पोर में समाविष्ट था। उन दिनों सफलता ही एक सफलता थी, वह धर्म की थी। कोई आदमी उन दिनों कितना ही बड़ा वैज्ञानिक हो जाता, तो भी लोगों के लिए वह पाने योग्य स्थिति न मालूम होती। उन दिनों पाने योग्य स्थिति थी किसी बुद्ध की, किसी कृष्ण की, किसी अंगीरस की, किसी रैक्क की; उस दिन पाने योग्य स्थिति थी। उस दिन हमने उन लोगों को देखा था, जैसे आज विज्ञान अपने चरम शिखर पर खड़ा है, ऐसा हमने उन दिनों धर्म को अपने चरम शिखर पर देखा था।

विज्ञान जब शिखर पर होता है, तो वस्तुएं बढ़ जाती हैं, यंत्र बढ़ जाते हैं, कुशलता बढ़ जाती है, भोग के साधन बढ़ जाते हैं। धर्म जब सफल होता है, तो चैतन्य बढ़ता है, आत्मा बढ़ती है, त्याग के अनूठे रहस्य उपलब्ध हो जाते हैं। विज्ञान बढ़ता है तो बहिर्यात्रा बढ़ती है, धर्म बढ़ता है तो अंतर्यात्रा बढ़ती है। वे बिल्कुल विपरीत हैं, उनकी दिशाएं प्रतिकूल हैं।

तो उस दिन हमने देखे थे धर्म के दीप-स्तंभ, और उन दीप-स्तंभों के ही आधार पर सारे मनुष्य का चित्त निर्मित हुआ था। विद्यालय था, विद्यापीठ थी, गुरुकुल था, वे सभी श्रद्धा सिखा रहे थे। तो श्रद्धा हमारे खून में थी। स्वीकार कर लेना सहज था, अस्वीकार कर लेना बड़ा उलटा काम था। अस्वीकार करने के लिए बड़ी चेष्टा करनी पड़ती किसी को, स्वीकार करने के लिए कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती थी।

आज उलटी है बात। आज अस्वीकार करने के लिए कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती, वह हमारा सहज रुख है। स्वीकार करने के लिए अथक चेष्टा करनी पड़ती है। और तब भी भीतर कोई न कोई कहता चला जाता है कि पता नहीं, ठीक हो कि न ठीक हो; कि पता नहीं, धोखा हो, प्रवंचना हो; कि पता नहीं, क्योंकि मैंने तो जाना नहीं है, दूसरे किसी ने जाना है, कहां तक सच होगा!

विज्ञान जब जीतता है तो संदेह जीतता है। इसीलिए भारत में विज्ञान का जन्म नहीं हो सका। हो नहीं सकता था। जहां श्रद्धा गहन हो, वहां विज्ञान की यात्रा हो ही नहीं सकती। इसलिए उपनिषद के दिन अवैज्ञानिक दिन थे, विज्ञान का कोई विकास नहीं था। इसीलिए पश्चिम में आज धर्म का कोई विकास नहीं हो सकता, क्योंकि विज्ञान सफल हो गया है, संदेह जीत गया है। और ये यात्राएं विपरीत हैं।

पूरब ने दिया धर्म, क्योंकि पूरब ने मन को आधार दिया श्रद्धा का; पश्चिम ने दिया विज्ञान, क्योंकि पश्चिम ने मन को आधार दिया संदेह का। मैं नहीं कहता कि संदेह गलत है। न ही मैं कहता हूं कि संदेह सही है। न मैं कहता हूं श्रद्धा सही है, और न मैं कहता हूं श्रद्धा गलत है।

मेरी बात को ठीक से समझ लें। अगर कोई विज्ञान में श्रद्धा का उपयोग करे तो गलत है। अगर कोई संदेह का धर्म में उपयोग करे तो गलत है। अगर कोई श्रद्धा का धर्म में उपयोग करे तो सही है, और अगर कोई संदेह का विज्ञान में उपयोग करे तो सही है। संदेह की अपनी सामर्थ्य है। पदार्थ को जानने में संदेह की प्रकट सामर्थ्य है, स्वयं को जानने में संदेह नपुंसक है। श्रद्धा की कोई सामर्थ्य पदार्थ को जानने की नहीं है, लेकिन स्वयं को जानने की सामर्थ्य केवल श्रद्धा की है। और जब हम एक उपाय का उसके जगत से विपरीत जगत में उपाय करते हैं तो हम मुश्किल में पड़ जाते हैं। कोई आवश्यकता नहीं है। जब मुझे घर के बाहर जाना है तो मुझे मेरा मुंह घर के बाहर की तरफ रखना पड़ता है और पीठ घर की तरफ करनी पड़ती है। जब मुझे घर आना है, तो मुझे मुंह घर की तरफ करना पड़ता है, पीठ बाहर की तरफ करनी पड़ती है।

श्रद्धा है घर की तरफ मुंह, संदेह है बाहर की तरफ मुंह। श्रद्धा और संदेह एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, लेकिन दोनों की उपयोगिता अलग है, दोनों की निष्पत्तियां अलग हैं। और जिसने इन दोनों में भ्रम किया, वह कठिनाई में पड़ जाता है।

जिन दिनों उपनिषद रचे गए, उन दिनों श्रद्धा थी आधार। जो सुना जाता था, वह सीधा आत्मसात हो जाता था। श्रद्धा का अर्थ है ग्राहकता। श्रद्धा का अर्थ है प्रेमपूर्ण स्वीकार। इस स्वीकार का सारा आयोजन था।

ऐसा कोई रास्ते चलते किसी से कुछ कह नहीं देता था, गुरु के पास वर्षों बैठना पड़ता था। गुरु को वर्षों तक पीना पड़ता था। गुरु के साथ वर्षों तक जीना पड़ता था। धीरे-धीरे गुरु की श्वास की गति शिष्य की भी श्वास की गति हो जाती थी। धीरे-धीरे गुरु का उठना-बैठना शिष्य का भी उठना-बैठना हो जाता था। धीरे-धीरे दोनों के बीच एक तालमेल, एक अंतर्सामंजस्य निर्मित हो जाता था। और तब शिष्य जानता था अपने अंतरतम से कि गुरु सत्य है। यह पहचान धीरे-धीरे होती थी। यह पहचान किसी को रास्ते में पकड़ कर पूछ लेने की नहीं थी कि क्या ब्रह्म है?

मुझे लोग मिल जाते हैं! मैं स्टेशन पर अपनी गाड़ी पकड़ने जा रहा हूं, वे बीच में ही मुझे रोक लेते हैं प्लेटफार्म पर, कि जरा एक मिनट, सच में ईश्वर है?

वे क्या कह रहे हैं? जैसे कि ईश्वर है या नहीं, ऐसा कोई उत्तर दिया जा सकता है! जैसे कि इस उत्तर को पाने के लिए किसी तैयारी की कोई भी जरूरत नहीं है! जैसे यह उत्तर कोई रोजमर्रा, दैनिक काम की चीज है कि किसी दुकानदार से पूछ रहे हैं कि सिगरेट का पैकेट है?

ईश्वर है? इसे पूछने के लिए वर्षों प्रतीक्षा चाहिए; इसे पूछने की योग्यता चाहिए; इसे पूछने की पात्रता चाहिए; इसे पूछने के योग्य मन निर्मित होना चाहिए कि जब उत्तर मिले, तो मैं उस उत्तर को सुन पाऊं, समझ पाऊं।

यह उन दिनों की घटना है, जब कोई साधक गुरु के पास वर्षों बैठता था। सिर्फ बैठता था। देखता था गुरु को। कुछ गुरु बोलता तो सुनता था, पूछता नहीं था। पूछता तो तभी था, जब उसे लगता कि अब गुरु से एक तालमेल बन गया, एक अंतर्संबंध निर्मित हुआ, एक सेतु निर्मित हो गया है। और अब गुरु जो भी कहेगा, वह मेरे कान तक नहीं रुक जाएगा, मेरे हृदय तक उतर जाएगा। जब तक गुरु के हृदय से हृदय का जोड़ न बन जाए, तब तक कोई बात कहने का अर्थ नहीं है। ऐसे क्षण में कहा गया होगा यह उपनिषद।

इसलिए यह सूत्र कहता है कि गुरु की इन बातों को सुन कर शिष्य ज्ञान को उपलब्ध हो गया।

सुन कर! साधा कुछ भी नहीं। यहां कहीं भी बात नहीं आई कि शिष्य ने साधा। सुन कर! सुनना भी साधना हो सकती है। साथ होना भी साधना हो सकती है। आंतरिकता साधना हो सकती है।

लेकिन हम अपरिचित हैं आज इस बात से। आज तो जिनसे हमारा बहुत प्रेम है, उनसे भी हमारी कोई आंतरिकता नहीं होती। जिन्हें हम अपने निकट पाते हैं, उनसे भी दूरी मालूम पड़ती है, निकटता नहीं होती। आज प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने में बंद हो गया है। हो जाने का कारण है संदेह। जिसके प्रति संदेह हो, उसके साथ आंतरिकता कैसे निर्मित होगी? जिसके साथ कोई संदेह न हो, उसी के साथ आंतरिकता निर्मित हो सकती है। संदेह तो द्वार बंद कर लेता है, ताले लगा लेता है अपने भीतर; सुरक्षा की जरूरत हो जाती है।

श्रद्धा असुरक्षित है। श्रद्धा कोई सुरक्षा नहीं करती है। श्रद्धा का मतलब ही यह है कि गड्ढे में गिरा दोगे, तो गिर जाएंगे। तुम गड्ढे में गिरा रहे हो, तो गड्ढे में गिरने में जरूर कोई राज होगा।

कौन गिरा रहा है यह सवाल है, गड्ढा सवाल नहीं है। अगर गुरु गड्ढे में धक्का दे रहा है, तो उपनिषद के दिनों का शिष्य चरण छूकर गड्ढे में गिर जाता। यह सवाल नहीं है कि गड्ढा है। यह सवाल है कि कौन गिरा रहा है! जिसे इतना चाहा, इतनी आंतरिकता जिससे बनी, वह अगर गड्ढे में गिरा रहा है तो गड्ढे में कोई हित होगा, कोई कल्याण होगा। यह भाव है श्रद्धा। इस भाव से जब कोई चीज सुनी जाती है, तो अंतरतम तक उतर जाती है। और फिर, फिर साधना की कोई जरूरत नहीं रह जाती।

साधना वस्तुतः श्रद्धा की कमी को पूरा करने का उपाय है। वह जो श्रद्धा नहीं है, उसकी जो जगह खाली है, उसे साधना से पूरा करना पड़ता है, वह सब्स्टीट्यूट है; नहीं तो कोई जरूरत नहीं है। क्योंकि उपनिषद की दृष्टि ही यही है कि जिसे पाना है वह तो भीतर मौजूद है। साधने का कोई सवाल नहीं है, कोई प्रयत्न आवश्यक

नहीं है, कोई प्रयास की जरूरत नहीं है, क्योंकि जिसे पाना है वह है ही मौजूद--सिर्फ उसकी तरफ आंख उठानी है। अगर श्रद्धा हो प्रगाढ़ और तैयारी हो उस अज्ञात में आंख उठाने की गुरु के इशारे पर, तो बात पूरी हो जाएगी।

मारपा ने कहा है, तिब्बत के एक अदभुत फकीर ने, कि मैंने कभी कुछ साधा नहीं, मैंने कभी कोई प्रयास नहीं किया। मैंने तो बस एक ही काम कियाः गुरु पर श्रद्धा की।

बड़ी मजेदार घटना है मारपा की। मारपा जब गुरु के पास आया, तो मारपा ने कहा कि मैं तो तैयार होकर आया हूं श्रद्धा के लिए।

तो उसके गुरु ने कहा, श्रद्धा पूरी है?

तो मारपा ने कहा, श्रद्धा अधूरी होती है, ऐसा मैंने सुना नहीं। श्रद्धा अधूरी हो कैसे सकती है! श्रद्धा होगी तो पूरी होगी, नहीं तो नहीं होगी।

इसे थोड़ा समझ लें। कुछ लोग कहते हैं, थोड़ी-थोड़ी श्रद्धा है, थोड़ी-थोड़ी नहीं है! उन्हें पता ही नहीं वे क्या कह रहे हैं! श्रद्धा विभाजित नहीं होती। किसी से कहो कि थोड़ा-थोड़ा प्रेम है, थोड़ा-थोड़ा नहीं है। क्या मतलब होता है? किसी से कहो कि थोड़ा-थोड़ा सच बोलते हैं!

थोड़ा-थोड़ा सच? अविभाज्य हैं ये बातें, इनको कोई बांट नहीं सकता। या श्रद्धा होती है या नहीं होती। थोड़े-थोड़े का मतलब यह होता है कि नहीं है, लेकिन आप इतने ईमानदार भी नहीं हैं कि स्वीकार कर लें कि श्रद्धा नहीं है। तो कहते हैं, थोड़ी-थोड़ी।

मारपा ने कहा, श्रद्धा पूरी होती है, अधूरी मैंने सुनी नहीं। मुझे श्रद्धा है।

तो उसके गुरु ने कहा कि यह सामने जो गड्ढ है, इसमें कूद जा!

मारपा तत्काल कूद गया! गुरु घबड़ाया कि यह मुफ्त जान गई। ऐसा न सोचा था कि यह कूद ही जाएगा! भागा गुरु, शिष्य भागे, नीचे जाकर देखाः मारपा ध्यान लगाए गड्ढ में बैठा है! गड्ढ भयंकर था; हजारों फीट गहरा था; कोई उपाय बचने का न था; लेकिन उसे खरोंच भी न लगी थी! गुरु ने समझा, संयोग है, फिर और परीक्षा करनी पड़ेगी।

घर में आग लगी थी। गांव भर घर की तरफ दौड़ रहा था। मारपा को लेकर गुरु भी गया और उसने कहा कि इस आग में प्रवेश कर जा!

मारपा आग में प्रवेश कर गया; अंदर चला गया; ध्यान लगा कर भीतर बैठ गया। सारा घर जल कर राख हो गया। गुरु और उनके सारे शिष्यों ने समझा कि मर गया बेचारा, अब कोई उपाय नहीं। जब राख हो गया घर, तब लोग अंदर घुसे; वह राख के बीच में बैठा था! उसे जरा सी भी खरोंच, आग की जरा सी भी खरोंच नहीं पहुंची थी!

तो गुरु ने कहा कि तेरे पास क्या तरकीब है? कौन सी तेरे पास शक्ति है जो तू ये काम कर रहा है?

उसने कहा, शक्ति? सिर्फ आप पर श्रद्धा!

गुरु ने उसे पानी पर चलने को कहा, वह पानी पर चल गया! तब तो गुरु ने सोचा कि जब मेरे नाम से मारपा ऐसे चमत्कार कर रहा है, तो मैं क्या नहीं कर सकता हूं! लेकिन गुरु चला और पानी में डूब गया।

गुरु का सवाल नहीं है। गुरु की कोई श्रद्धा नहीं थी, कि पानी पर चला जा सकता है, कि आग में बचा जा सकता है, कि गड्ढा चोट नहीं पहुंचाएगा। गुरु तो खुद डरा ही हुआ था कि यह हो कैसे रहा है! यह मारपा जरूर कोई और तरकीब जानता है, जो मुझे पता नहीं है। पानी पर चलेगा कोई कैसे! मारपा को चलते हुए देख कर भी गुरु को श्रद्धा नहीं आई कि पानी पर चला जा सकता है। उसे लगा कि जरूर कोई तरकीब है, कोई और राज

है, जो मुझे पता नहीं है। और यह मुझे धोखा दे रहा है कि सिर्फ श्रद्धा से चल रहा हूं। और अगर मुझ पर श्रद्धा रख कर यह पानी पर चल रहा है, तो मैं तो चल ही जाऊंगा।

यहां भूल हो गई। श्रद्धा से चल रहा था वह। किस पर श्रद्धा है, यह सवाल नहीं था। श्रद्धा थी हृदय में। उसको तो इतना ही भाव था कि जब गुरु कहता है पानी में चलो, तो चलना हो जाएगा। इसमें रत्ती भर कहीं कोई संदेह न था। इसमें क्षण भर को भी संदेह आता, तो मारपा डूब जाता।

श्रद्धा नाव है, लेकिन एक छेद भी हो तो डुबा देती है। गुरु चला, डूब गया। तो गुरु ने मारपा को कहा कि तू मुझे धोखा दे रहा है, कुछ न कुछ तेरे पास तरकीब है। मैं तो चला... मेरे नाम से तू चल गया, और मैं खुद नहीं चल पाया!

तो मारपा ने कहा, अब मेरा भी चलना मुश्किल है। जब मैंने आपको डूबते देखा, मामला खतम हो गया। मेरी श्रद्धा टूट गई। अब भूल कर मुझे आप आज्ञा मत देना, अब मैं पूरी न कर पाऊंगा। और अब मैंने पूरी की तो जिंदा नहीं लौटूंगा। मैंने आपको डूबते देख लिया। अब उपाय नहीं है मेरे पास। जिस नाव से मैं चलता था वह टूट गई।

फिर मारपा नहीं चल सका। यह कहानी मीठी है। उपयोगी है। श्रद्धा की अपनी एक शक्ति है। है अगर श्रद्धा, तो साधना अनावश्यक है, श्रद्धा काफी है। श्रद्धा नहीं है, तो साधना अति आवश्यक है, श्रद्धा काफी नहीं है।

एक बड़ी मजेदार बात हो गई है। चूंकि मध्य-युग में संतों को ऐसा लगा कि नास्तिकता बढ़ती जा रही है और कोई धर्म में उत्सुक नहीं दिखाई पड़ता--इसलिए कौन करेगा लंबी साधनाएं? कौन करेगा जप? कौन करेगा तप? कौन साधेगा योग? कौन उतरेगा तंत्र में? कोई उतरने वाला नहीं दिखाई पड़ता। लोग धीरे-धीरे, धीरे-धीरे धर्म में अनुत्सुक होते जा रहे हैं। इसलिए संतों ने कहा, कलियुग के लिए तो राम-नाम ही एक सहारा है, कि इतना तो कम से कम कलियुग में भी लोग कर लेंगे कि राम का नाम ले लें। इसमें कुछ खर्च तो होता नहीं।

लेकिन बड़ी भूल हो गई। धर्म का जो विज्ञान है, उसके विपरीत है यह बात। कलियुग में साधना की सबसे ज्यादा जरूरत है, क्योंकि श्रद्धा नहीं है। इसे थोड़ा समझ लें, क्योंकि यह बड़ा विपरीत दृष्टिकोण है जो मैं कह रहा हूं। कलियुग में साधना की सर्वाधिक जरूरत है, सतयुग में नहीं थी। क्योंकि श्रद्धा नहीं है, तो श्रद्धा को किस चीज से पूरा करिएगा? राम-नाम भी काम कर सकता है, लेकिन उसको ही जिसमें श्रद्धा हो। तो सतयुग में राम-नाम काम करता रहा होगा, अब नहीं करेगा।

तो मैं आपसे कहता हूं कि कलियुग में राम-नाम लेने से कुछ भी होने वाला नहीं है, क्योंकि जिस हृदय में राम-नाम जैसी बात भी कुछ कर सकती थी, वह श्रद्धालु हृदय अब नहीं है। अब तो कठोर साधना करनी पड़ेगी, बड़ा श्रम उठाना पड़ेगा, तब कुछ हो सकता है। क्यों? क्योंकि श्रद्धा की कमी किस चीज से पूरी होगी?

श्रद्धा का मतलब होता है, दूसरे पर भरोसाः गुरु पर, परमात्मा पर, किसी पर। श्रद्धा का मतलब होता है, दूसरे पर इतना प्रगाढ़ भरोसा कि वह जो कह दे हो जाए। जब श्रद्धा न हो, तो अपने पर ही भरोसा रह जाता है। साधना है अपने पर भरोसा। किसी और के सहारे कुछ न होगा, अब हम खुद ही मेहनत करेंगे।

कलियुग में कठोर साधना की जरूरत है। राम-नाम से कुछ भी कलियुग में नहीं होने वाला, सतयुग में होता था। नाम से भी हो जाता था। बहाने थे, कोई भी काम कर जाता था। आदमी तो तैयार ही था। भाव उसका गहरा था। जरा सी चिंगारी, बारूद तैयार थी, आग लग जाती थी। भीतर अब वह श्रद्धा की बारूद ही नहीं है, कि राम की जरा सी चिंगारी भी भीतर पड़ जाए, तो आग लग जाए। अब तो भीतर पानी भरा हुआ है संदेह का। चिंगारी क्या, बड़े से बड़ा बम भी फेंको, वह भीतर ठंडा हो जाता है। वह वहां पड़ता है अंदर, पानी में शांत होकर बैठ जाता है।

यह सूत्र समझने जैसा है।

'गुरु के इस उपदेश को सुन कर शिष्य ज्ञान को उपलब्ध हुआ और कहने लगा... ।'

जो गुरु ने कहा था, वह उसे दिखाई पड़ने लगा। जो गुरु ने कहा था, वह उसने सुना ही नहीं, वह उसका अनुभव बनने लगा। जो गुरु ने कहा था, उस पर उसने सोचा नहीं, विचारा नहीं, वह उसका प्रत्यक्षीकरण होने लगा।

'कहने लगाः जगत को मैंने अभी-अभी देखा था, कहां गया?'

सुनी यह बात कि जगत मिथ्या है। सुनी यह बात कि सौंदर्य अपना ही प्रक्षेपण है। सुनी यह बात कि आकर्षण सब अपने ही सपने हैं। अगर सच में सुना, तो तत्काल लगेगा, कि वे जो सपने मैं देख रहा था अब तक, वे कहां गए? वे टूट जाएंगे। सपना तो जानते ही टूट जाता है। जैसे जाना कि सपना है, कि टूटा। जैसे कोई कह दे कि यह सपना है, तो टूट जाएगा।

गुरु ने कहा कि सपना है सारा जगत। आपने भी सुना, सपना है सारा जगत। आपने कहा, होगा; हो सकता है, कौन जाने? और कैसे मानें कि जगत सपना है? जगत इतना साफ, स्पष्ट, चारों तरफ मौजूद है। यह बात कुछ जंचती नहीं कि जगत सपना है। जंचती भी हो तो हम इसे अपने मन को जंचाना नहीं चाहते, क्योंकि सपनों में हमारा बड़ा इनवेस्टमेंट है; सपनों में बड़ी संपदा लगा बैठे हैं। सपनों में ही सारा सुख है हमारा। अगर सपना है सारा जगत तो हमारे सारे सुखों का क्या होगा? और हमने जो-जो पूंजी लगा रखी है जीवन भर उनमें कि कभी पूरे होंगे, वह नियोजित पूंजी का क्या होगा? वह सब व्यर्थ चली जाएगी।

जगत में हमारा बड़ा इनवेस्टमेंट है। हमने बहुत कुछ न्यस्त किया है जगत में। तो एकदम से कोई कह दे, सपना!

ऐसा समझें कि सपने में आप सम्राट हो गए हैं और बड़ा मजा ले रहे हैं। स्वर्ण के सिंहासन पर बैठे हैं; हीरे-मोतियों की वर्षा हो रही है। और तभी आपकी पत्नी हिलाने लगे और कहे कि क्या सपना देख रहे हो! तो आप कहेंगे, चुप भी रह! शांत रह! सब गड़बड़ किए दे रही है। बामुश्किल तो ऐसा सपना देखने को मिला था!

उसे तोड़ना कठिन मालूम पड़ता है।

हम सब सपने देख रहे हैं। गुरु कहता है, यह सब सपना है, यह सब माया है। कौन इस बात को मानने को राजी होगा? वही, जो अपने सुखों और दुखों को, अपने लोभ को, मोह को एक तरफ हटा कर इस सत्य को देखे कि क्या यह सच है? क्या सचमुच ही यह जगत इंद्रधनुष जैसा है कि पास जाओ तो खो जाता है? सिर्फ दूर से दिखाई पड़ता है बहुत रंगीन, जैसे तितलियों के सब रंग चुरा लिए हों, कि जैसे सब फूल उड़ कर इंद्रधनुष बन गए हों, और पास जाओ तो कुछ भी नहीं? अगर मुट्ठी में बांधो तो कुछ पानी की बूंदें भर हाथ लगती हैं, जिनमें न कोई रंग होता है, न कोई रूप होता है।

'शिष्य ने यह सुना और कहने लगाः जगत को मैंने अभी-अभी देखा था... ।'

सुनने के पहले देखा था। गुरु से मिलने के पहले देखा था। खूब भर कर देखा था आंख और देखने का बड़ा मन बना था कि और देखता रहूं, देखता रहूं।

'अभी-अभी सब कुछ था, वह कहां गया?'

यह वक्तव्य बड़ा गहरा है। यह शिष्य कह रहा है कि यह तुमने क्या किया? कि जैसे कोई सपने को तोड़ दे, ऐसा तुमने तोड़ दिया। वह कहां गया जगत जो मैंने अभी-अभी देखा था? जो मैं अब तक मानता था कि था, जो अब तक मैं जानता था कि है, आज अचानक मेरे हाथ से छूट गया है और मैं खाली हो गया हूं। किसने उसे छीन लिया मुझसे?

इसमें पीड़ा भी है उसके छिन जाने की। इसमें बोध भी है कि अब वह दुबारा मिल न सकेगा। इसमें समझ भी है, एक घटना घट गई है।

'और वह किस में लय हो गया? बड़ा आश्चर्य है कि वह नहीं है!'

निश्चित ही, इससे बड़ा आश्चर्य और क्या होगा कि जिसे हमने जाना था कि है, जिसे हम जी रहे थे, जिसमें हम संलग्न थे, और जिसमें हमने सारे के सारे सुख संजोए थे, स्वर्ग बसाए थे, सब अचानक तिरोहित हो गया।

'बड़ा आश्चर्य है कि क्या वह नहीं है?'

अभी भी बीच में खड़ा हुआ है शिष्य। उस तरफ जो जगत था, खो गया है, अभी नए पर पकड़ नहीं बैठी। जैसे अचानक अंधेरे से प्रकाश हो जाए, तो अंधेरा तो खो जाता है लेकिन प्रकाश पर आंख नहीं बैठती, आंख झपकती है। जिस जगत को जन्मों-जन्मों तक जाना हो, अगर वह एक झलक में विलीन हो जाए, तो जगत तो खो जाता है, ब्रह्म का दर्शन नहीं होता। थोड़ा वक्त लगेगा, थोड़ा आंखों को राजी होना पड़ेगा। अंधेरे की देखने की आदत प्रकाश को देखने में थोड़ी सी बाधा लाएगी। आंखें चौंधिया जाएंगी।

इसलिए भी, इसलिए भी साधना का एक उपयोग है कि धीरे-धीरे प्रकाश हो, ताकि आंखें चौंधिया न जाएं। सत्य अगर सीधा-सीधा सामने आ जाए, आप अंधे हो जाएंगे। अंधे इसलिए हो जाएंगे कि उसे देखने की क्षमता आंख को जुटानी पड़ती है। आंख जैसी है, वैसी उसे देख नहीं सकती। आंख टूट जाएगी। इतना विराट है यह विस्फोट कि आपकी छोटी सी आंख उसे नहीं सह पाएगी, अंधी हो जाएगी, रोशनी खो जाएगी। सूरज के पास जैसे पहुंच जाएं तो जो हालत हो जाए, वह हालत हो जाएगी।

तो शिष्य को दिखाई तो पड़ रहा है कि जो मैं मानता था कि है, वह खो गया; अभी वह नहीं दिखाई पड़ रहा है जो उसकी जगह अब दिखाई पड़ेगा।

'बड़ा आश्चर्य है!'

इतनी बड़ी भूल भी हो सकती थी क्या? इतनी बड़ी भ्रांति भी संभव थी क्या कि पूरा जीवन ही स्वप्न हो?

हमें भी लगेगा कि अगर किसी दिन ऐसा हो जाए, तो इससे बड़ा आश्चर्य और कुछ भी नहीं हो सकता। यह होता है। यह होता है; बहुत बार हुआ है; बहुत लोगों को हुआ है। इस युग में ये घटनाएं कम होती चली गई हैं। कई कारण हैं। एक कारण आश्चर्य की कमी भी है। आश्चर्यचकित होने की क्षमता भी हमारी कम हो गई है। उसका भी कारण है। विज्ञान ने बहुत-बहुत से रहस्य हमें दे दिए। और जब कोई रहस्य जान लिया जाता है, तो रहस्य ही कम नहीं होता, हमारी आश्चर्य की क्षमता भी कम हो जाती है।

बच्चे आश्चर्य से भरे होते हैं। हर चीज में उन्हें चमत्कार मालूम पड़ता है। और हम उन्हें डांट-डपट कर बिठा देते हैं कि शांत भी रहो, कोई इसमें बड़ा आश्चर्य नहीं है! हम उन्हें समझा देते हैं। लेकिन आपको पता है कि आप बच्चे से उसका एक जगत छीन रहे हैं--आश्चर्य का जगत! जहां हर छोटी-मोटी घटना, एक छोटी सी उड़ती तितली, इतना सुख दे जाती थी कि जितना फिर सारा जगत भी आपके विज्ञान का नहीं दे पाएगा; कि एक छोटा सा खिलता फूल, कि आकाश से टूटा हुआ एक छोटा सा उल्का, एक छोटा सा उल्कापात, कि गिरता हुआ तारा एक बच्चे को इतने पुलक से भर जाता था कि फिर सारे जगत की संपदा उसे दे दी जाए और सारे तारों का उसे मालिक बना दिया जाए, तो भी वह पुलक फिर वापस नहीं आएगी। बच्चा आश्चर्य से देख रहा है हर चीज को। क्यों? क्योंकि उसे कुछ भी पता नहीं है, वह अज्ञानी है। उसे कुछ भी पता नहीं है। चूंकि पता नहीं है कुछ भी, इसलिए हर चीज आश्चर्य से भरती है।

विज्ञान ने आज बहुत सी बातें पता कर दी हैं। आपको लगता है, यह भी मालूम है, यह भी मालूम है, यह भी मालूम है; आश्चर्य-क्षमता कम हो गई है। जरूरी नहीं है, लेकिन आपको फिर अगर आश्चर्य को बनाए रखना है तो आपको विज्ञान का फिर बहुत गहन अध्ययन चाहिए, तो आश्चर्य जग सकता है, नहीं तो नहीं जग सकता।

आइंस्टीन ने मरने के पहले कहा है कि मैं एक रहस्यवादी की तरह मर रहा हूं--लाइक ए मिस्टिक। मैंने सोचा था कि जगत के सारे रहस्यों को खोल लूंगा, लेकिन रहस्य खोले जरूर, पर हर रहस्य के खुलने के बाद और बड़े रहस्य खड़े हो गए। जैसे जादूगर एक डब्बे से दूसरा डब्बा निकालता है, फिर तीसरा डब्बा निकालता है, और निकालता चला जाता है--ऐसे ही रहस्य के भीतर रहस्य हैं। लेकिन उन रहस्यों को जानने के लिए अब बहुत डब्बों के पार जाना पड़ेगा।

आइंस्टीन जैसी कोई प्रतिभा सब डब्बों के पार होकर जब देखती है, तो पाती है, रहस्य कम नहीं हुए। लेकिन हम, जो छोटा-मोटा ज्ञान इकट्ठा कर लेते हैं, हमारा रहस्य-भाव मर जाता है, हमारा आश्चर्य मर जाता है। हम हर चीज को कहने लगते हैं, उत्तर हमारे पास हो जाता है, कि इसका यह अर्थ है, इसका यह अर्थ है; यह इसलिए है, यह इसलिए है।

सब चीजों का अर्थ और व्याख्या हो गई हो, तो आश्चर्य का भाव कम हो जाता है। और जब आश्चर्य का भाव कम हो जाए, तो धर्म की संभावना टूट जाती है। धर्म है एक रहस्य, परम रहस्य। धर्म है परम आश्चर्य। इस जगत में जो बड़े से बड़ा चमत्कार घट सकता है, वह है धार्मिक हो जाना। क्यों? क्योंकि धार्मिक होते ही यह जो शिष्य कह रहा है बड़ा आश्चर्य है, क्या वह जगत नहीं है जो अभी-अभी था, जिसे मैंने अभी-अभी देखा, अभी-अभी जाना, वह कहां खो गया? वह किस में लीन हो गया?

लेकिन तत्क्षण दूसरी पंक्ति आप देखते हैं? पहली पंक्ति आश्चर्य की है, दूसरी पंक्ति आनंद की है। आश्चर्य के पीछे ही आनंद छिपा है। और जिसका आश्चर्य खो गया, उसे आनंद कभी भी न मिलेगा। आश्चर्य आनंद का द्वार है। जिसका द्वार ही बंद हो गया, वह आनंद के भवन में कभी प्रवेश न करेगा। दूसरी पंक्ति तत्काल है।

'अखंड आनंदरूप अमृत से भरे इस ब्रह्मरूप महासागर में अब मुझे क्या त्याग करना? क्या लेना? अन्य क्या है? विलक्षण क्या है?'

अगर यह सारा जगत ही मिथ्या हो गया, तो अब मुझे कुछ भी छोड़ना नहीं। जिसे छोड़ सकता था, वह खो ही गया। अब मुझे कुछ भोगना भी नहीं। क्योंकि जिसे भोग सकता था, वह अब नहीं है। न कुछ पकड़ना है, न कुछ छोड़ना है; न कुछ लेना है, न कुछ हटाना है; वह सारा का सारा जगत भोग और त्याग का विलीन हो गया है।

इस सूत्र को थोड़ा ख्याल में ले लें। जब जगत विलीन होता है, तो यह मत सोचना कि भोग ही विलीन होता है, त्याग भी विलीन हो जाता है। क्योंकि भोग और त्याग तो उस जगते के हिस्से थे, जो था। एक आदमी धन इकट्ठा करता था, वह भोगी था; एक आदमी धन त्याग करता था, वह त्यागी था। लेकिन जिसका जगत ही विलीन हो गया हो, धन ही विलीन हो गया हो, उसके लिए क्या त्याग और क्या भोग!

इसलिए उपनिषद के ऋषि आपकी परिभाषा में त्यागी नहीं थे। उपनिषद के ऋषि आपकी भाषा में भोगी भी नहीं थे, त्यागी भी नहीं थे। उपनिषद के ऋषि बहुत अलग तरह के, तीसरी तरह के लोग थे। जो आज हमारे मन में ख्याल है त्यागी का, वह भोगी के विपरीत है। यह जिन उपनिषद के ऋषियों ने ये बातें कही हैं, वे कोई नग्न खड़े हुए, सब छोड़ कर भाग गए लोग नहीं थे। वे कोई भटकते हुए संन्यासी नहीं थे। वे न त्यागी थे, न भोगी थे। वे अति सामान्य और सरल लोग थे, बच्चों की तरह जी रहे थे। और उनके लिए वह सारा जगत, जहां त्याग और भोग घटता है, दोनों विलीन हो गए थे। उन दोनों का कोई मूल्य न रहा था; दोनों का!

इसलिए जब इस मुल्क में बुद्ध और जैन धर्म के प्रभाव में भोग के विपरीत त्याग की धारणा प्रबल हुई, तो उपनिषद के ऋषि धीरे-धीरे हमें भूलते चले गए। क्योंकि वे एक अलग ही तरह के लोग थे। उनको हम भोगी नहीं कह सकते, क्योंकि वे कभी इकट्ठा करने के लिए उत्सुक न थे; उन्हें हम त्यागी भी नहीं कह सकते, क्योंकि वे छोड़ने के लिए भी आतुर नहीं थे। उन्हें कोई दे जाता तो वे ले भी लेते थे, और उनसे कोई ले जाता तो वे उसका पीछा करने भी जाने वाले नहीं थे।

एक घटना आपसे कहूं, उससे ख्याल आए। कबीर का लड़का था, कमाल। कबीर त्यागी थे, कमाल उपनिषद के ऋषियों जैसा था। तो कबीर के शिष्यों ने कबीर को कहा कि यह कमाल को यहां से अलग कर दो, क्योंकि कोई इसको रुपए-पैसे... आपको कोई रुपए-पैसे भेंट करता है, तो आप कहते हैं, नहीं, कोई जरूरत नहीं, इस मिट्टी का हम क्या करेंगे? वही कमाल बाहर बैठा रहता है, वे लोग जो आपको देने आते हैं और आप नहीं लेते, कमाल को दे देते हैं, कमाल कहता है, खुश रहो! रख लेता है! तो यह अड़चन है; यह लड़का... ।

पता नहीं कबीर ने यह वचन रचा, कि मैं मानता हूं कबीर ने नहीं रचा होगा। उनके किसी मानने वालों ने जो कमाल से परिचित रहे होंगे, रचा होगा। रचा है वचनः बूड़ा वंश कबीर का, उपजा पूत कमाल।

सारा वंश खराब कर दिया कबीर का इसने। यह कमाल जो पूत पैदा हो गए--सपूत; सब खराब कर दिया।

तो कबीर ने कमाल को कहा कि ये लोग ऐसा सोचते हैं, तेरा क्या ख्याल है?

कमाल ने कहा, तो हम यहां न रह कर दूसरे झोपड़े में रहने लगते हैं।

कमाल दूसरे झोपड़े में चला गया। काशी के नरेश को खबर मिली, काशी के नरेश को ऐसा नहीं लगता था कि कमाल भोगी है। त्यागी नहीं है, यह तो जाहिर था; भोगी है, ऐसा नरेश को शक नहीं था। फिर उसने कहा, फिर भी जांच कर लेनी चाहिए। तो नरेश एक बहुमूल्य हीरा लेकर आया। और उसने कमाल को भेंट किया। तो कमाल ने कहा कि अरे क्या पत्थर भेंट करने लाए! न खा सकते, न पी सकते!

तो सम्राट ने सोचा कि लोग तो मुझसे कहते हैं कि वह कुछ भी दो तो रख लेता है! और मैं हीरा लाया हूं, लाखों का है, और वह कहता है, क्या पत्थर ले आए! तो बात लोगों की ठीक नहीं जंचती।

तो सम्राट सोच कर कि कमाल नहीं लेता, उठा कर वापस रखने लगा, तो कमाल ने कहा, अरे बड़े पागल हो! एक तो पत्थर का बोझ यहां तक ढोया, अब क्या वापस भी ले जाओगे? रख दो! तब तो सम्राट को बड़ा शक हो गया, यह आदमी तो कुछ गड़बड़ है!

देखें, हमारा मन कैसा है! तर्कयुक्त तो यही है जो कमाल ने किया कि जब पत्थर ही है, तो यहां तक ढोया, यह मुसीबत झेली, अब वापस ढोओगे! छोड़ भी दो। पहली बात सम्राट को जंची थी। भोगी को त्याग की बात हमेशा जंचती है। दूसरी बात बिल्कुल नहीं जंची और लगा कि यह संदिग्ध मामला है।

फिर भी उसने कहा, कहां रख दूं? तो कमाल ने कहा, पूछते हो कहां रख दूं! तो मतलब तुम इसे पत्थर नहीं मानते। ले ही जाओ। कहां रखने का क्या सवाल है? पत्थर ही है, पड़ा रहने दो! तो सम्राट ने जांचने के लिए कहा कि अच्छा। झोपड़ा था सनौलियों का, उसमें खोंस दिया हीरे को। कहा, यहां रखे जाता हूं। कमाल ने कहा, तुम्हारी मर्जी, बाकी पत्थर का इतना क्यों हिसाब रखते हो?

महीने भर बाद सम्राट वापस लौटा। उसे पक्का था कि वह दूसरे दिन ही हीरा बिक गया होगा, या छिपा दिया गया होगा। महीने भर बाद आया, कमाल से पूछने लगा कि एक हीरा रख गया था महीने भर पहले। कमाल ने कहा कि मैंने तभी कहा था पत्थर है, अब तुम मुझे झंझट में डालोगे। कहां रख गए थे तुम? पता नहीं

कोई ले गया हो! सम्राट ने कहा कि ये होशियारी की बातें कर रहा है, पता नहीं कोई ले गया हो! या पता नहीं वहां हो भी, तुम देख लो। पर सम्राट हैरान हुआ, हीरा वहीं खुंसा था! वहीं सनौलियों में हीरा दबा था।

उपनिषद के ऋषि ऐसे लोग थे। न भोग में कोई अर्थ था, न त्याग में कोई अर्थ था। त्याग में सब अर्थ भोग के कारण ही है। इसलिए भोगी को त्यागी खूब जंचता है। विपरीत होता है, आकर्षण में आता है, आंख में चुभता है, लगता है कि यह हम नहीं कर सकते और यह आदमी कर रहा है! तो भोगी त्यागी के पैर छूते हैं, उसका कारण है। उनको लगता है कि हम तो भोजन छोड़ नहीं सकते, और यह आदमी महीने भर से उपवास कर रहा है! पड़ो, पैर में पड़ जाओ। और हम तो घर नहीं छोड़ सकते और इसने सब छोड़ दिया! हम वस्त्र नहीं छोड़ सकते, यह नग्न सड़क पर खड़ा है! इसके पैर में पड़ जाओ। जो हम नहीं कर सकते, वह कोई कर दे, तो हमें लगता है आदर योग्य है।

सब त्याग का आदर भोग के कारण है। इसलिए एक मजेदार घटना घटती है। जितना संपन्न समाज हो, भोगी समाज हो, उतना ज्यादा त्याग का आदर करता है। जैन हैं, संपत्ति ज्यादा है, सुख-सुविधा ज्यादा है, तो उनकी अपेक्षा अपने साधु से बहुत त्याग की होती है। यह बड़ी मजेदार बात है। समाज भोगियों का, सुविधा-संपन्न लोगों का, लेकिन अपने त्यागी से वे अपेक्षा बड़ी करते हैं त्याग की। नहीं तो वे आदर ही नहीं करेंगे उसका।

हिंदुओं का इतना भाव नहीं है त्यागी के प्रति, कि वह इतना त्याग करे, यह करे, वह करे। इसलिए कोई हिंदू त्यागी जैन त्यागी के मुकाबले कहीं टिकता नहीं है। पर उसका कुल कारण इतना है कि हिंदू समाज, समाज की दृष्टि से, कोई बड़ा संपन्न समाज नहीं है। बड़ा दरिद्र वर्ग है। बहुत दरिद्र वर्ग बहुत आशा नहीं बांधता त्याग की अपने संन्यासी से।

तो जितना संपन्न समाज होगा, उतना ज्यादा त्याग का मापदंड बड़ा होगा उसके पास। तभी वह मानेगा कि हां, अब कुछ किया, कुछ छोड़ा। हम अपने मन से तौलते हैं।

उपनिषद कहते हैं, जब तक त्याग का मूल्य है, तब तक समझना भोग का भी मूल्य है। जब तक त्याग के प्रति मन में आदर है, तब तक समझना भोग के प्रति लगाव है। उसी लगाव का प्रतिफलन है आदर। उपनिषद के ऋषि कहते हैं, यह पूरा जगत, त्याग और भोग दोनों ही खो जाते हैं; जागे हुए पुरुष के, होश में आ गई चेतना के, दोनों ही बातें खो जाती हैं।

वह शिष्य कहता हैः क्या करूं त्याग? क्या पाऊं? क्या छोडूं? अखंड आनंद के सागर में मैं डूब गया हूं।

तत्क्षण! वह जगत खोया नहीं, कि एक नया अमृत का जगत मिला नहीं--युगपत। उसी क्षण हो जाती है घटना, देखने में चाहे थोड़ी देर लग जाए।

'यहां मैं कुछ देखता भी नहीं, कुछ सुनता भी नहीं, कुछ जानता भी नहीं।'

और यह जो अमृत का अखंड सागर, जिसमें मैं डूब कर खड़ा हो गया हूं, यहां मैं कुछ देखता भी नहीं। मुझे कुछ दिखाई नहीं पड़ता। क्योंकि दिखाई तो वस्तुएं पड़ती हैं। मुझे कुछ सुनाई नहीं पड़ता। क्योंकि सुनाई तो सदा दूसरे की आवाज पड़ती है। मैं कुछ जानता भी नहीं। क्योंकि ज्ञान भी और का ही ज्ञान है। जानकारी और की ही जानकारी है। मैं तो बस सिर्फ एक आनंद का अनुभव कर रहा हूं।

'सदा आनंदरूप अपने आत्मा में हूं।'

न मेरा अब कोई और ज्ञान है, न मेरी कोई दृष्टि है, और न मुझे कुछ सुनाई पड़ता; मेरी कोई इंद्रियां अब काम नहीं करतीं। अब तो मेरे भीतर सिर्फ एक ही घटना घट रही है कि मुझे सदा आनंद का अनुभव हो रहा है। और यह जो मेरे भीतर आज मुझे अनुभव में आ रहा है, यह विलक्षण है, अद्वितीय है। कोई उपमा नहीं, जिससे मैं इसे समझाऊं। कोई प्रतीक नहीं, जिससे मैं इसकी व्याख्या करूं।

'मैं स्वयं ही अपने लक्षण वाला हूं।'

'मैं असंग हूं, शरीररहित हूं, बिना चिह्न वाला हूं, मैं ही श्रीहरि हूं, अत्यंत शांत हूं, मैं अनंत हूं, परिपूर्ण हूं, और प्राचीन से प्राचीन हूं।'

यह अनुभव हो रहा है उसे। संसार खोते ही ये अनुभव होने शुरू हो जाते हैं। स्वप्न टूटते ही यह सत्य की प्रतीति होनी शुरू हो जाती हैः असंग हूं मैं, शरीररहित हूं, चिह्न नहीं मेरा कोई, मैं ही श्रीहरि हूं; मैं ही भगवान हूं, मैं ही राम हूं, मैं ही कृष्ण हूं; अत्यंत हूं शांत, अनंत हूं, परिपूर्ण हूं, प्राचीन से प्राचीन हूं।

'मैं कर्ता नहीं, भोक्ता नहीं, विकाररहित अविनाशी हूं, वैसे ही मैं शुद्ध रूप, ज्ञानस्वरूप केवल हूं, सदाशिव हूं।'

यह घोषणा शिष्य की है। गुरु ने यह कहा था, समझाया था, कि ऐसा है। इसे शिष्य दो तरह से ले सकता था। इसे बौद्धिक ज्ञान बना लेता और कहता कि ठीक, मैं भी राजी हूं; आप जो कहते हैं, मेरी बुद्धि की समझ में आता है। तब यह उपनिषद व्यर्थ हो गया होता! लेकिन शिष्य का यह अनुभव बन गया। उसने कहा, जो आप कहते हैं, वह मुझे भी दिखाई पड़ रहा है, उसे मैं भी अनुभव कर रहा हूं। और शिष्य घोषणा करता है, मैं ही हरि हूं, मैं ही प्राचीन से प्राचीन हूं, मैं ही सदाशिव हूं।

'यह विद्या गुरु ने अपांतरम को दी।'

गुरु का नाम नहीं है। पहले खोजी का नाम नहीं है। किसने पहले इसे जाना, कुछ पता नहीं है। यह मजे की बात है और समझ लेने की है, क्योंकि अध्यात्म कोई नई बात नहीं है। अध्यात्म है प्राचीन से प्राचीन, सनातन। जब से मनुष्य रहा है, तब से अध्यात्म रहा है। हम ऐसे किसी युग की कल्पना नहीं कर सकते, जब अध्यात्म न रहा हो। हम ऐसे युग की कल्पना तो कर सकते हैं जब विज्ञान नहीं था, हम ऐसे युग की कल्पना कर सकते हैं जब कला नहीं थी--हजार चीजें नहीं थीं--पर ऐसे युग की हम कल्पना नहीं कर सकते जब आदमी रहा हो और अध्यात्म न रहा हो, क्योंकि अध्यात्म की प्यास ही आदमी का मौलिक लक्षण है। विज्ञान न हो तो भी आदमी आदमी हो सकता है। धन न हो तो भी आदमी आदमी हो सकता है। शिक्षा न हो तो भी आदमी आदमी हो सकता है। अशिक्षित आदमी भी आदमी है और अवैज्ञानिक समाज का आदमी भी आदमी है। लेकिन अध्यात्म न हो तो आदमी आदमी नहीं होता, पशु हो जाता है। अध्यात्म ही आदमी का लक्षण है।

अरस्तू ने कहा है मनुष्य की परिभाषा में कि मैन इ.ज ए रेशनल एनीमल; बुद्धिमान प्राणी है। वह बात उतनी सही नहीं है, क्योंकि बुद्धिहीन मनुष्य को भी मनुष्य तो कहना ही पड़ेगा; बुद्धि बिल्कुल न हो तो भी मनुष्य तो कहना ही पड़ेगा। वह कोई लक्षण नहीं है।

मैक्यावेली ने कहा है, मैन इ.ज ए पोलिटिकल एनीमल; आदमी जो है वह एक राजनैतिक जानवर है। आजकल के आदमी को देखें तो उसकी बात सही लगती है। एकदम राजनैतिक जानवर है। राजनीति ही खाता, राजनीति ही पीता, सुबह से अखबार, रात तक वही चर्चा, राजनीति ही जीवन मालूम पड़ती है।

लेकिन वह भी आदमी का लक्षण नहीं है। क्योंकि अभी खोजें हुई हैं और पता चला है कि बंदरों में भी काफी राजनीति चलती है; जंगली जानवरों में भी काफी राजनीति चलती है। और जैसे देशों में राष्ट्रपति होते, प्रधानमंत्री होते, फिर उनका कैबिनेट होता, ऐसे बंदरों के गिरोह में भी प्रधान होता, प्रधानमंत्री होते, उनका कैबिनेट होता है। राजनीति में और बंदरों में बहुत अंतर नहीं है। आदमियों में भी जिनके मन में बहुत ज्यादा बंदरपन है, वे ही राजनीति में उत्सुक होते हैं।

लेकिन आदमी आध्यात्मिक प्राणी है। वह उसकी वास्तविक लक्षणा है।

तो किसने सबसे पहले यह विद्या खोजी, उसका कोई नाम नहीं दिया है। यह बहुत अच्छा किया। इसका मतलब हुआ कि इतनी-इतनी पुरानी है, इतनी-इतनी सनातन है कि पहले आदमी का कोई पता नहीं। तो पहले आदमी के लिए तो सिर्फ कहा हैः गुरु ने अपांतरम को दी।

अपांतरम भी बड़ा अदभुत शब्द है। इसका मतलब है, नाम-मात्र के शिष्य को। गुरु ने नाम-मात्र के शिष्य को दी। पहले शिष्य का भी नाम पता नहीं है। इसलिए अपांतरम कहा है, नाम-मात्र के। नाम रख लिया कामचलाऊ। पहले गुरु का भी कोई पता नहीं, किसने इसको जाना; और पहले किसने इसे सुना, उसका भी कोई पता नहीं। और चूंकि पहला गुरु रहा होगा, तो पहले शिष्य को भी पता नहीं होगा कि मैं शिष्य हूं, कौन गुरु है! क्योंकि गुरु और शिष्य होना तो बाद की व्यवस्था होगी। पहले गुरु ने जब जाना होगा तो उसके पास जो आ गया होगा वह नाम-मात्र का ही शिष्य है। हम कहते हैं कि शिष्य था, उसको तो पता भी नहीं रहा होगा। खिंचा चला आया होगा चुंबक के पास। जान लिया होगा।

इसलिए सूत्र कहता हैः 'यह विद्या गुरु ने अपांतरम को दी, अपांतरम ने ब्रह्मा को दी।'

ब्रह्मा हमारा सृष्टि का निर्माता है। यह बड़े मजे की बात है कि जिसने सृष्टि बनाई है, वह भी अज्ञानी है; उसको भी विद्या लेनी पड़ी है। यहां हिंदू विचार की गहराइयों का अंदाज लगाना मुश्किल हो जाता है। हम ब्रह्मा को मानते हैं स्रष्टा, बनाने वाला। लेकिन उसको भी हम ज्ञानी नहीं मानते। क्योंकि अगर ज्ञानी होता, तो स्वप्न के इस संसार को बनाता नहीं, निर्मित नहीं करता। अगर संसार स्वप्न है, तो उसका स्रष्टा ज्ञानी नहीं हो सकता। स्वप्न को फैलाना, यही तो काम है ब्रह्मा का, स्वप्न को फैलाना।

इसलिए हमने ब्रह्मा के बहुत मंदिर नहीं बनाए; एक ही मंदिर है भारत में। बनाने सबसे ज्यादा चाहिए; क्योंकि जिसने संसार बनाया, उसके सबसे ज्यादा मंदिर होने चाहिए, बनाने वाले के। उसके मंदिर नहीं हैं। उसका एक ही मंदिर है। नाम-मात्र को ही कहना चाहिए उसका मंदिर है। क्यों? क्योंकि संसार को हमने समझा कि वह सपना है। और जिसने बनाया उसके क्या मंदिर बनाने!

मंदिर हमने शिव के सबसे ज्यादा बनाए, क्योंकि वह संसार को मिटाने वाला है। गांव-गांव, वृक्ष-वृक्ष के नीचे शिवलिंग रख दिए। सारी जमीन हमने शिव से भर दी। उसका कारण है। ब्रह्मा की क्या याद करें! उपद्रव में अटका दिया हमें उसी ने। शिव का हमने स्मरण किया है बहुत, जान कर, क्योंकि वह संहार है। वह विनाश करेगा, स्वप्न को मिटा देगा।

'अपांतरम ने ब्रह्मा को दी, ब्रह्मा ने घोरांगिरस को दी, घोरांगिरस ने रैक्व को दी, रैक्व ने राम को दी।'

ऐसे ही उस परंपरा में और हजारों लोग हुए हैं, ये महत्वपूर्ण नाम चुन लिए गए हैं। इस बीच हजारों लोग हुए हैं, जिनके नामों का भी पता नहीं है। लेकिन महत्वपूर्ण नाम चुन लिए गए हैं। ये बहुत प्रसिद्ध लोग हैं। घोरांगिरस उस जमाने का, उपनिषद के जमाने का बड़े से बड़ा ज्ञाता पुरुष है। उसने रैक्व को दी। रैक्व भी एक बहुत अदभुत ऋषि है। रैक्व ने राम को दी।

'और राम ने समस्त भूतप्राणियों को दी।'

राम के द्वारा यह बोध विराट हुआ, बहुत लोगों तक पहुंचा। उसके पहले यह इसोटेरिक थी। उसके पहले यह गुप्त विद्या थी, और कोई गुरु किसी शिष्य को चुपचाप देता था। राम ने इसे समस्त प्राणियों के लिए खुला कर दिया। राम के हाथों में आकर यह विद्या गुप्त न रही, प्रकट हो गई।

'राम ने इसे समस्त भूतप्राणियों को दिया। यह निर्वाण का उपदेश है।'

निर्वाण के उपदेश का अर्थ होता है, यह मिटने का उपदेश है। जैसे दीया बुझ जाए, ऐसा खुद को बुझा लेने का उपदेश है। लेकिन खुद को जो बुझाता है, वही उस परम सत्ता को पाता है, जिसे बुझाने का कोई उपाय नहीं है। जो बुझ सकता है मेरे भीतर, वह मेरा अहंकार है; जो नहीं बुझ सकता, वही मेरे भीतर ब्रह्म है। तो जो बुझ सकता है उसे बुझा दो, ताकि जो नहीं बुझ सकता उसका अनुभव हो सके।

'यही वेद की शिक्षा है। समस्त वेद का यही सार है और वेद का यही अनुशासन है।'

'इस प्रकार यह उपनिषद समाप्त होता है।'

यह उपनिषद बड़े अनूठे ढंग से समाप्त होता है। गुरु के उपदेश से समाप्त नहीं होता, शिष्य की उपलब्धि से समाप्त होता है। गुरु ने क्या कहा, इस पर ही समाप्त नहीं होता; शिष्य को क्या हो गया, इस पर समाप्त होता है। और जब तक कोई शिक्षा हो न जाए जीवन, तब तक उसका कोई भी मूल्य नहीं है। जब तक कोई शिक्षा जीवंत न हो सके, तब तक मन का विलास है।

उपनिषद मन का विलास नहीं है, जीवन का रूपांतरण है।

गुरु ने अपांतरम को दी, अपांतरम ने ब्रह्मा को दी, ब्रह्मा ने घोरांगिरस को दी, घोरांगिरस ने रैक्क को दी, रैक्क ने राम को दी, राम ने समस्त भूतप्राणियों को दी। और हमने पुनः इस अदभुत चिंतन, दर्शन, साधन की पद्धति को, फिर से अपने भीतर जगाने की कोशिश की, फिर से थोड़ी लौ को उकसाया।

यहां से जाने के बाद, उस लौ को उकसाते रहना। कभी ऐसी घड़ी जरूर आ जाएगी कि आप भी कह सकेंगेः

'अभी-अभी देखा था उस जगत को, वह कहां गया? क्या वह नहीं है?'

और जिस दिन आपको भी ऐसा अनुभव होगा, उस दिन आप भी कह सकेंगेः

'मैं हरि हूं, मैं सदाशिव हूं, अनंत हूं, आनंद हूं, मैं ब्रह्म हूं।'

और जब तक यह आपके भीतर न हो जाए, तब तक कैसा यह निर्वाण का उपदेश? कैसा यह वेद का सार? और तब तक यह उपनिषद यहां तो समाप्त हो गया, लेकिन आपके लिए समाप्त नहीं हुआ है।

एक दिन ऐसा आए कि आप भी कह सकें कि उपनिषद की शिक्षा मेरे लिए भी समाप्त हो गई। मैं वहां पहुंच गया जहां उपनिषद पहुंचाना चाहते हैं।